जगीश पाण्डेय

Sup. 812

युक्त्यनुशासन

3959

स्वामी समन्तभद्र

4453

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सैव
हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

व्याख्याकारः सम्पादकश्च
पं॰ रामस्वरुपशर्मा गौडः

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

11.2

4453

श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-५

4453

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१८

श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-५

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

भाग ४

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

PHONE : (Shop) 320414 (Office) 333445
चौखम्भा संस्कृत भवन
CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN
Post Box No. 1160
(Opp. Chitra Cinema)
Chowk, Varanasi-221 001

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ६३०७६

सर्वाधिकार सुरक्षित

Chaukhamba Vidyabhawan
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI - 221001
Telephone : 320404 Price : 200/-

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ५७२१४

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर
दिल्ली ११०००७
दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

THE
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
18

ATHARVA-VEDA-'SAṀHITĀ

Along with
SĀYAṆABHĀṢYA

Volume 4

Edited with Hindi Translation

By
Pt. Ramswaroop Sharma Gaud

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Publishers & Distributors)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : *63076*

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 57214

*

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

4453
श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-५

❀ श्रीहरिः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

विषय पृष्ठ

❀ सप्तम-काण्ड ❀

प्रथम अनुवाक-

प्रथमसूक्त। इसकी पहिली दो ऋचाओंसे अर्गोत्थापनविघ्नशमनकर्ममें घृत आदिका होम, वा इन ऋचाओंका जप किया जाता है, और सर्वफलकामको इन दोनों ऋचाओंसे इन्द्र तथा अग्निका उपस्थान वा याग करना चाहिये। इसकी 'अथर्वाणं पितरम्' इस आठ ऋचाओंके समुदायसे सर्वफलकाम अथर्वा (प्रजापति) का यजन वा उपस्थान करे। "अया विष्ठा" इस तृचसे नवीन रथको अभिमन्त्रित करके विजयाभिलाषी राजाको रथ पर चढ़ाया जाता है। इसकी "एकया" ऋचासे अश्वशान्तिमें सर्वौषधि चूर्णको अश्वके शिर पर बुरका देवे, तथा चातुर्मास्यके शुनासीरयागमें वायव्ययागका अनुमंत्रण करे। ब्रह्मा यज्ञेन, ऋचासे सोमयागको आतिथ्येष्टिमें हविका अभिमर्शन करे॥ सूक्त आदिमें देवताका वर्णन न होने पर देवताग्रहणका निर्णय, इन्द्र और अग्निदेवके धनप्रदत्वका वर्णन, इन्द्रको सकल देवताओंके आधे भागके पहुँचनेका वर्णन, परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी वाणीका वर्णन, अग्निके सर्वदेवमय होनेका प्रमाण ब्रह्मविषयक अर्थ, पुत्रशब्दकी व्युत्पत्ति, द्यौ और पृथिवीके पितृत्व मातृत्वका वर्णन, प्रजापतिकी सृष्टि, अथर्वा शब्दका प्रजापति अर्थ होनेका प्रमाण। वायुकी इक्कीस आदि घोड़ियोंका वर्णन, कर्म करके देवत्वको प्राप्त होनेका कथन, स्वर्ग शब्दकी व्याख्या, कर्मसे और विष्णुकी पूजासे स्वर्गप्राप्तिका वर्णन। देवताओंको हवि अर्पण करनेका प्रकार। ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता, और कर्मयज्ञकी निन्दा। १

द्वितीय सूक्त। इसकी पहिली चार ऋचाओंसे सर्वफलकाम अदितिका यजन वा उपस्थान करे, आधानकी पवमानेष्टिमें इसकी पहिली ऋचाका विनियोग होता है। 'महीमू षु' तृचसे नौका

विषय पृष्ठ

घट आदिसे तरना चाहने वाला स्वस्त्ययनके लिये नौका आदिको अभिमंत्रित करके तरे और नौका आदिसे दूर देशमें जाना हो तो इससे नौका आदिको सम्पातित करके तरे और इससे नौकामणिका सम्पातन और अभिमंत्रण करके नाविकोंके बाँध देय, और इसकी पहिली ऋचामें विवाह–चतुर्थिकाकर्ममें खट्वाका स्पर्श करे, आवसथ्याधानमें ऋग्याद्विसर्जनके अनन्तर घरके समीपमें खाई खोद उसको जलसे पूर्ण कर 'महीमूषु' और 'सुत्रामाणम्' ऋचाओंसे नौका पर चढ़े। सोमयागकी दीक्षामें यजमान कृष्णमृगचर्म पर बैठ कर 'सुत्रामाणम्' ऋचाका जप। ब्रह्मा अग्निचयनमें 'वाजस्य नु प्रसवे' से वाजप्रसवीय होमोंका अनुमन्त्रण करे। सर्वफलकाम 'इनेः पुत्राणाम्' से देवताओंका यजन वा उपस्थान करे। प्रवासमें द्रव्यप्राप्तिके अर्थ 'भद्रादधि' ऋचासे घृत आदिकी आहुति देय वा जप करे, अश्व आदि सवारीको इससे सम्पातित और अभिमंत्रित करके प्रोक्षित करें, लाभ चाहने वाले विक्रेय वस्तुको इससे अभिमंत्रित करके अभिमत देशको ले जावे और लाभ चाहने वाला इसीसे अभिमंत्रित करके ग्रहण करे, तथा ग्रहयज्ञमें बृहस्पतिके लिये हवि आदि अर्पण करे। 'प्रपथे पथाम्' इस चतुर्ऋचसे नष्टद्रव्यकी प्राप्तिके लिये नष्ट द्रव्यकी अभिलाषा रखने वालोंके दाहिने हाथको सम्पातित आदि करके उठवावे, तथा इक्कीस धूलिकणोंको अभिमन्त्रित करके चौराहेमें डाल देय, तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें इसके प्रथम मन्त्रसे पूषादेवताकी हविका अनुमंत्रण करे॥ कृष्णाजिन शब्दसे नौका अर्थ क्यों लिया गया। कश्यप प्रजापतिकी दो भार्याओंका वर्णन। दैत्योंके समुद्रस्थान होनेका प्रमाण, पूषादेवताका साक्षित्व। ३७

तृतीयसूक्त। इससे जंभगृहीतबालककी चिकित्सा, अशनिनिवारण कर्म, ग्रहयज्ञमें केतुके लिये हवि आदि, उपाकर्ममें घृतका होम, सभाजयकर्म, सभाजयकर्ममें क्षीरौदन आदिका प्राशन, सभागमन, सभास्तंभका ग्रहण, कृत्याप्रतिहरणकर्म, अभिचारकर्म होते हैं॥ सरस्वती-शब्दकी व्याख्या; सभाशब्द और धर्मशब्दकी व्याख्या, इन्द्रके वाणीके अधिष्ठात्री देवता होनेका वर्णन, सूर्योदय और सूर्यास्तके समय सोनेका निषेध। ५५

विषय पृष्ठ

द्वितीय अनुवाक–

प्रथमसूक्त। पुष्टिकामके कर्तव्य, सोमविचयन, सूर्योदय तक सोते रहने वाले ब्रह्मचारीको उठाना, संभारस्पर्शनदिवसमें सोये हुए यजमान आदिको उठाना, सर्वफलकामका धाताका यजन और वीरपुत्रके लिये गर्भिणीके उदरका अभिमन्त्रण इससे किये जाते हैं ॥ सूर्यस्तुति। ६७

द्वितीयसूक्त। वृष्टिकर्म, उपतारकाद्भुतशांति होम, दर्शपूर्णमास में पत्नीसंयाजके सोमयागका अनुमन्त्रण, वंध्याका पुत्रलाभकार्य अभिलषितकामका प्रजापतिका यजन वा उपस्थान · अनुमतिका यजन वा पूजन और परिग्रहण तथा पितृमेधकर्ममें श्मशानका परिषिञ्चन और पृश्निसवमें हविका सम्पातप्रदान आदि कर्म इस से किया जाता है ॥ ग्ना शब्दकी व्याख्या, जल और सोमकी प्रशंसा, सूर्य और अनुमतिकी स्तुति। ८०

तृतीय अनुवाक–

प्रथमसूक्त। सर्वफलकामका इन्द्र आदि नौ देवताओंका यजन उपस्थान, विष्णु और वरुणका यजन विष्णका यजन वा उपस्थान, वैष्णव हविका अभिमर्शन, उपस्तंभनकाष्ठका अनुमन्त्रण, सोमयागमें सोमक्रयणके लिये निष्क्रमण, ब्रह्माकृत वैष्णवपूर्णहोम का अनुमन्त्रण और अद्भुतशान्तिमें विष्णुका पूजन अभिवदन-प्रायश्चित्त, दक्षिणहविर्धानवर्त्महोम, उत्तरहविर्धानवर्त्महोम, सोमयागके अनन्तर चमसोंका जलमें प्रक्षेप, त्वाष्ट्री महाशान्तिमें त्रिवृन्मणिबन्धन, यूपका अनुमन्त्रण, अग्निचयनमें उलूखल और मुसलका अनुमन्त्रण-कर्म इस सूक्तसे किये जाते हैं। इन्द्र अग्नि रज और अर्कशब्दका अर्थ, वामनावतारका प्रमाण। ९७

द्वितीयसूक्त। सर्वसम्पत्कर्म, दर्शपूर्णमासमें वेदविमुञ्चन, प्रायणीयेष्टिमें स्वस्तियागका अनुमन्त्रण, सर्वव्याधिचिकित्सा, सर्वसम्पत्कामका अग्नि तथा विष्णुका यजन और उपस्थान, गोदानकर्म, ब्रह्मचारी के नेत्रोंका अभ्यञ्जन, ब्रह्माकृत यूपानुमन्त्रण, अभिचारकर्ममें अशनिहतवृक्षसमिधाओंका रखना, उपनयनमें आयुष्काम बालकके मस्तकका सूँघना, पुष्टिकामका तालाब आदि

विषय पृष्ठ

में मिश्रधान्यको डाल सम्पातित और अभिमन्त्रित करके खाना, अग्निकार्यमें माणवकका अग्निपर्युक्षण और अग्निचयनमें अभिषिच्यमान यजमानसे वाचन—ये कर्म इस सूक्तसे होते हैं ॥ विष्णु का परम पद । ११०

तृतीय सूक्त । विद्वेषीको तथा विद्वेषिणीको खिच्चरीके मूत्रसे पुंसन्तानसे हीन करना, अभिचारकर्ममें अशनिहतवृक्षसमिधाओंको रखना, असपत्नेष्टकाका अनुमन्त्रण, वरवधूका परस्पर नेत्रोंका अभ्यञ्जन, सौभाग्यसंवननकर्ममें सौवर्चलमूलका सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधना, शंखपुष्पीके पुष्पका बाँधना आदि कर्म इस सूक्तसे होते हैं ॥ अग्निशक्ति, पति और स्त्रीसम्वाद १२३

चतुर्थ अनुवाक—

प्रथम सूक्त । पुष्टिकर्ममें इन्द्रका यजन, अन्वारंभणीयेष्टिके सारस्वत पुरोडाशका अनुमन्त्रण, नवीन घर बनानेकी भूमिकी शुद्धिके लिये श्येनदेवताक चरुहोम, अग्निष्टोममें पिण्डोंका अनुमन्त्रण, सर्वव्याधिकी चिकित्सामें जलपूर्ण घटको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके रोगी पर अवसेक, सर्वसम्पत्कामका सोम और रुद्रका यजन वा उपस्थान, मिथ्याभिशस्तकी लोकनिन्दा-निवृत्ति, सांमनस्यकर्ममें हाथी आदि यानका अनुमन्त्रण तथा ओदन और मंथका भक्षण, अच्छावाकयाज्यहोमका अनुमन्त्रण, ईर्ष्याविनाशके लिये जप आदि ॥ निन्दा करने वाला और निन्दित इनमें अधिक पापसे कौन लिप्त होता है ? १३६

द्वितीय सूक्त । ईर्ष्याविनाशकर्ममें तपे हुए फरसेसे क्वाथित जलको अभिमन्त्रित कर ईर्ष्यालुको पिलाना, सर्वव्याधिचिकित्सामें रोगी पर आप्लावन वा अभिषेक, सर्वसम्पत्कामका सिनीवाली राका कुहू और देवपत्नीका यजन वा उपस्थान सिनीवाली देवताका परिग्रहण, दर्शपूर्णमासके देवपत्नीयागका अनुमन्त्रण—इतने काम इस सूक्तसे होते हैं । सिनीवाली अमावास्या, कुहू और राका शब्दकी व्याख्या । १५२

तृतीय सूक्त । द्यूतजयकर्ममें अक्षोंका अभिमन्त्रण, सर्वफलकामका बृहस्पतिका यजन वा उपस्थान, उक्थ्यक्रतुके याज्याहोमका अनुमन्त्रण, बृहस्पतिके निमित्त हविर्दान आदि, और

विषय पृष्ठ

बार्हस्पत्या शान्ति इस सूक्तसे कीजाती है॥ कितव शब्दकी व्याख्या, कृत आदि फाँसोंका वर्णन। १६५

पञ्चम अनुवाक-

प्रथम सूक्त। शान्त्युदकाभिमन्त्रण, साम्मनस्यकर्म, उपनयनमें आचार्यद्वारा माणवककी नाभिका स्पर्श, बार्हस्पत्या महाशान्ति, पुष्ट्यर्थ अग्रहायणीकर्ममें अग्निके पाससे उठना, अन्नप्राशनकर्ममें भूमिमें बैठे हुए बालकको सूर्यका दिखाना, सोमयागमें अवभृथ स्नानके अनन्तर जलसे उत्क्रमण, अध्यापकोंके अर्थार्जनविघ्नशमनकर्ममें घृतका होम ये कर्म इस सूक्तसे किये जाते हैं॥ सप्तर्षिशब्द १७८

द्वितीय सूक्त। इससे अध्यापकोंके अर्थार्जनविघ्नशमनके लिये घृतकी आहुति, मार्गस्वस्त्ययनके कर्म सर्वस्वस्त्ययनके कर्म किये जाते हैं। बीछू मच्छर चींटी आदिसे काटे हुएकी चिकित्साके लिये दष्ट पुरुषको मधुक अभिमन्त्रित करके पिलाया जाता है, और क्षेत्रमृत्तिका वा वल्मीकमृत्तिकाको सजीवपशुचर्ममें धर सम्पातन और अभिमन्त्रित करके बाँधा जाता है, और केवल मृत्तिकाको अभिमन्त्रित करके जलके साथ पिलाया जाता है, तथा हल्दी मिले जल वा घृतको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके पिलाया जाता है तथा उपाकर्ममें घृतकी आहुति दी जाती है॥ १९२

तृतीय सूक्त। इससे याचकोकी अभिलषित सिद्धिके कर्म, मैत्रावरुणयाज्याहोमका अनुमन्त्रण, अभिचार कर्मकी समिधाओंका रखना, ये कर्म किये जाते हैं॥ अग्निका द्यौको तृप्त करना। २०४

छठा अनुवाक-

प्रथमसूक्त-परदेशसे लौटे हुएके पुष्टिप्रद कर्म, साम्मनस्य कर्म, ऋण्याद्विसर्जनके अनन्तर गृहप्रवेश, शवदहनके अनन्तर संस्कर्ताका गृहप्रवेश, प्रवासके समय पुत्र आदिका निरीक्षण, आग्रहायणीमें मेधाकामके कर्म, उपनयनमें अग्निका परिसमूहन, अग्निचयनमें आतिच्छन्दसेष्टकानुमन्त्रणके अनन्तर गार्हपत्यकी इष्टकाका अनुमन्त्रण-ये कर्म इस सूक्तसे होते हैं और इसकी "अयं अग्निः" ऋचाका महाशान्तिगणमें पाठ है। २१०

विषय पृष्ठ

द्वितीय सूक्त। अरणीमें अग्निका आह्वान, काकाभिहतदोषकी शान्ति, विवाहमें कुमारीको स्नान करानेके अनन्तर वस्त्रसे पूँछना, प्रतिग्रहदोषकी शान्ति, न्यूनातिरेकदोषकी शान्ति, क्षुरका संमार्जन करके नापितको देना, सवयज्ञोंमें इन्द्रियोंका अनुमन्त्रण ब्रह्मचारीके दण्डका भंग और दूसरे दण्डको ग्रहण करना, अग्निष्टोमके तृतीयसवनमें अग्नियोंका अनुमन्त्रण, आहिताग्निके प्रेतसंस्कारमें घृताहुति-सारस्वतयागका और सारस्वतचरुयागका अनुमन्त्रण। इतने कर्म इस सूक्तके मन्त्रोंसे होते हैं। इसकी दो ऋचाओंका बृहद्गणमें भी पाठ है॥ वेद न पढ़नेके अवसर। २२३

तृतीयसूक्त। इसकी दो ऋचाओंका बृहद्गणमें पाठ है। तथा अभिचारकर्ममें मध्यमपलाशसे फलीकरणोंकी आहुति, दर्शपूर्णमासमें तण्डुलोंका पर्यग्निकरण, सोमयागमें जप, मृत्पिण्डका अनुमन्त्रण और अध्वर्यु आदिका अनुमन्त्रण-इस सूक्तसे किया जाता है। इसकी दो ऋचाओंका बृहद्गणमें पाठ है।

चतुर्थसूक्त। अग्निष्टोमके प्रवर्ग्यमें हूयमान घृतका अग्निष्टोमके माध्यन्दिनसवनमें दधिघर्महोमका और प्रवर्ग्यमें होतृकर्तृक वषट्कार और अनुवषट्कारका ब्रह्माके द्वारा अनुमन्त्रण, प्रवासके समय पशुओंका अभिमंत्रण, और मधुपर्कोत्सृष्ट गौका अतिथिके द्वारा अनुमन्त्रण इतने कर्म इस सूक्तसे किये जाते हैं॥ दधीचिका उपाख्यान। २४९

सप्तम अनुवाक-

प्रथमसूक्त। इस सूक्तसे गण्डमालाकी चिकित्सा, ईर्ष्याविनाशकर्म, दर्शपूर्णमासका व्रतोपायन, गोपुष्टि, राजयक्ष्माकी चिकित्सा की जाती है॥ जायान्य रोग। २६८

द्वितीयसूक्त। इससे राजयक्ष्माकी चिकित्सा, सोमयागके माध्यन्दिनसवनमें द्रोणकलशस्थ सोमका अनुमन्त्रण, अभिचारकर्म विद्युद्धतवृक्षसमिधाओंका रखना, सर्वव्याधिभैषज्यकर्ममें संपातित अभिमन्त्रित जलघटसे रोगीका आप्लावन और अवसेचन पत्नीके द्वारा मुच्यमान योक्त्रका अनुमन्त्रण, दर्शपूर्णमासमें ईंधन, अमावास्याका यजन वा उपस्थान और दर्शयागमें पार्वणहोमका

विषय पृष्ठ

अनुमन्त्रण और श्रौतदर्शयागमें कुहूदेवताका परिग्रहण किया जाता है ॥ २८४

तृतीय सूक्त । सर्वाभिलषित कर्म, पौर्णमासीका यजन वा उपस्थान, प्रजापतिका यजन वा उपस्थान, पूर्णमासी देवताका परिग्रहण, सन्नतिहोमके अनन्तर घृताहुति, प्राजापत्यं आघारका ब्रह्मकर्तृक अनुमन्त्रण, मारुद्गणी महाशान्ति, विवाहहोम, ग्रहयज्ञमें बुधके लिये हविःप्रदान–ये कर्म इस सूक्तसे होते हैं । सकल श्रौतकर्मोंमें अनुमन्त्रणका मन्त्र न दीखने पर इस सूक्तकी 'प्रजापते न त्वत्' ऋचासे अनुमन्त्रण किया जाता है ॥ २९९

अष्टम अनुवाक–

प्रथम सूक्त । सर्वफलकामका अग्निका यजन वा उपस्थान अग्निचयनमें ब्रह्मा द्वारा अभ्यर्चन ऋचाका जप, आग्नेयी और वास्तोष्पत्याशांतिमें, ब्रह्मचारीका स्वाग्निनाशका प्रायश्चित्त, आधानमें मथित अग्निका घृतसे आक्त करना, दर्शपूर्णमासके आज्यनिर्वापकालमें ब्रह्माके द्वारा अग्निका अनुमंत्रण, जलोदरकी चिकित्सा, धूमकेतुदर्शनमें होम, पशुतन्त्रमें जप, अद्भुत महाशान्तिमें वरुणका यजन, शवसंस्कारकर्ममें जलके समीपमें ब्रह्माका जप और अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययनके लिये जप–इतने कार्य इस सूक्तसे होते हैं ॥ जल अग्निका पौत्र है । देवताके नामसे शपथ करना पापजनक है । ३१६

द्वितीय सूक्त । अग्निका उपस्थान, इन्द्रमहाख्य उत्सवमें हविकी आहुति, अग्निचयनमें ब्रह्मकर्तृक चित्यनुमन्त्रण, इन्द्रका यजन वा उपस्थान; उपाकर्मका आज्यहोम, अन्त्येष्टिमें जप, स्वस्त्ययनकामका रुद्रोंका यजन वा उपस्थान, दर्शपूर्णमासमें संमार्गका अग्निमें निक्षेप, अग्निष्टोममें शालादहन होने पर अग्निके लिये नमस्कार, सर्पविषचिकित्सा, शान्त्युदकाभिमन्त्रण, वेदव्रत आदिमें समिधाओंका रखना, आचार्यमरणमें संस्कारके अनन्तर ब्रह्मचारीका स्नान, दर्शपूर्णमासमें इडाभागप्राशनके अनन्तर प्रस्तरमें मार्जन, अग्निष्टोममें अवभृथस्नानके अनन्तर आहवनीय अग्निका उपस्थान, अग्निकार्यमें ब्रह्मचारीका हस्तप्रक्षालन, चातुर्मास्यके वरुणप्रघासकर्ममें मार्जन, दर्शपूर्णमासमें दक्षिणाप्रतिग्रहके अन-

विषय पृष्ठ

न्तर अग्नीध्रका समिदाधान, स्मार्तदर्शपूर्णमासमें दूसरी तीसरी समिधाओंका आधान और मुखशुद्धि, जारोच्चाटन. ब्रह्मचारीका ऊष्माभक्षण–इतने कर्म इस सूक्तके मन्त्रोंसे होते हैं। और चातुर्मास्यसाकमेधपर्वके त्रैयम्बककर्ममें इसकी 'यो अग्नौ' ऋचाका विनियोग होता है ॥ ३३३

नवम अनुवाक–

प्रथम सूक्त । ग्रामकामका इन्द्रयजन वा इन्द्रोपस्थान आदि, इन्द्रमहाख्य उत्सवमें घृताहुति, अग्निष्टोममें आसन्दी–पालकी–पर धरे सोमका अनुमन्त्रण, अग्निष्टोममें आग्निमारुत स्तुतिके अनंतर अवनीयमान ध्रुवपात्रस्थ सोमका अनुमन्त्रण, अभिचारकर्ममें घृताहुति, मण्डूकमुखापनुदन अभिचार कर्ममें रक्तशालितण्डुलके क्षीरभातको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके शत्रुको देना, दर्शपूर्णमासमें संस्थितहोम, और उपनयनकर्ममें ब्रह्मचारीके द्वारा जलपात्रका अवेक्षण–इतने कर्म इस सूक्तसे होते हैं ३५५

द्वितीय सूक्त । दर्शपूर्णमासके संस्थितहोम श्रौतदर्शपूर्णमास संस्थितहोम, दर्शपूर्णमासमें प्रह्रियमाण प्रस्तरका अनुमन्त्रण, स्मार्तदर्शपूर्णमासमें बर्हिःप्रस्तरण, श्रौत दर्शपूर्णमासमें वेदीका परिस्तृणन करते हुए अध्वर्युका ब्रह्मकर्तृक अनुमन्त्रण, दुःस्वप्नदर्शनार्थ जप, स्वप्नमें अन्नभक्षणके दोषकी निवृत्तिके लिये जप, स्वस्त्ययनमें मन्त्रोक्त देवताओंके लिये उपस्थान वा नमस्कार–इतने कर्म इस सूक्तकी ऋचाओंसे किये जाते हैं ॥ ३६७

दशम अनुवाक–

प्रथमसूक्त । सर्वफलकामके द्वारा प्रजापतिका यजन वा उपस्थान. उपनयनमें सूर्यदर्शनके अनन्तर बालकको पूर्वकी ओर मुख करके बैठाना, दूसरेका संदेशा न कहने पर अग्निका उपस्थान, दर्शपूर्णमासमें कर्मविस्मरण होनेपर प्रायश्चित्ताहुति, अग्निष्टोममें दीक्षानियमलोपके प्रायश्चित्तके निमित्त अग्निका उपस्थान, कासश्लेष्मको चिकित्सामें अभिमन्त्रित अन्न जलका उपयोग वा सूर्योपस्थान, अभिचारकर्ममें अशनिहतवृक्षसमिधाओं रखना, द्यूतजयकर्ममें साम्मित अभिमन्त्रित अक्षोंसे द्यूतक्रीडा आदि कर्मों का इस सूक्तमें वर्णन है ॥

३८१

विषय पृष्ठ

द्वितीय सूक्त। इसके चतुर्ऋचका द्यूतजयकर्ममें विनियोग होता है। शत्रुसेनाविजयार्थ इसकी 'इन्द्र अग्नश्च' आदि ऋचाओं से नवीन रथको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके सारथिसहित राजाको रथ पर सवार करे। सवफलकाम 'इन्द्र अग्नश्च' आदि तीन ऋचाओंसे अग्नि और इन्द्रका यजन वा उपस्थान करे। आग्रयणेष्टिमें 'इन्द्र अग्नश्च' से आग्नेन्द्रपुरोडाशयागका अनुमन्त्रण करे। वृषोत्सर्गमें 'इन्द्रस्य कुक्षिः' से वृषभको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके छोड़ देय। अग्निष्टोमके प्रातःसवनमें सोमसहित पूतभृत्पात्रका ब्रह्मकर्तृक अनुमन्त्रण, सर्वव्याधिचिकित्सामें आप्लावन अभिषेचन भी इस सूक्तकी ऋचाओंसे होता है 'शुंभनी' द्व्यृचका अंहोलिंगगणमें कहे हुए कर्मोंमें भी विनियोग होता है। तथा विवाहमें इस ऋचासे घृताहुति देकर वरवधू के मस्तक पर सम्पातोंको लावे, वरवधूके हाथमें जलपूर्णपात्र रक्खे ॥ ३९७

तृतीय अनुवाक। स्त्री पुरुषोंमें द्वेष फैलाना, दौर्भाग्यकरण, रक्षोग्रहकी चिकित्सा, नैर्ऋतकर्म, दुःस्वप्नदर्शनदोषपरिहार, सर्वज्वरचिकित्सा, स्वस्त्ययनकामका इन्द्रयाग वा इन्द्रोपस्थान, शवसंस्कर्ताका प्रात्यहिक स्वस्त्ययन, अग्निष्टोममें हारियोजनहोमानुमन्त्रण, परसेनात्रासनकर्ममें अभिमन्त्रित कवचप्रदान, और महाव्रतमें राजाको कवच पहिराना–ये कर्म इससे किये जाते हैं ४०९

❋ अष्टम–काण्ड ❋

प्रथम अनुवाक–

प्रथम द्वितीय सूक्त। इनसे उपनयनकर्ममें माणवककी नाभिको छूकर आचार्यका जप करना, आयुष्कामके शरीरका अनुमन्त्रण, आयुष्कामके शरीरका अभिमन्त्रण–ये काम इन दोनों सूक्तोंसे होते हैं। तथा महाशान्तिमें भी इसका जप होता है ॥ मर्त्यलोकका अमृतत्व। इत्यादि ४२७

तृतीयसूक्त। इससे आयुष्काम शरीरका अभिमन्त्रण करे, ऋषिहस्तसे आयुष्काममें शरीरका अभिमन्त्रण करे, नामकरणमें कुमारके हाथमें अविच्छिन्न जलधारा डाले, देवदारुमणिको

विषय पृष्ठ

सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे, और घोटकर पिलादेय, प्रेताग्निको प्रज्वलित करे, महाशांतिमें जप करे, वैश्वदेवीशांतिमें देवदारुमणिको बाँधे ॥ ४५०

चतुर्थसूक्त । कलहरूपा राक्षसीसे गृहीतकुलमें शान्तिके लिये इसकी दो ऋचाओंसे घृतकी आहुति देय, नैर्ऋतकर्ममें इंगिडाज्य आदिको शर्करामिश्रित करके आहुति देय । गोदानादि संस्कार-कर्मोंमें द्वयृचसे बालकको ब्रीहि जौ और जण्डको अभिमन्त्रित करके बालकके मस्तक पर रक्खे, बालकका निष्क्रमण करे, अद्भुत महाशांतिमें सूर्य और चन्द्रमाका यजन करे, मिथ्याभिशापकी निवृत्तिके लिये सक्तुमंथ वा ओदनको अभिमन्त्रित करके मिथ्याभिशस्तको देय और पलाश आदिकी मणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके निन्दितके बाँधे । नामकरणमें वस्त्रसे बालकको आच्छादित करे, गोदानकर्ममें चौल तथा उपनयनमें भी क्षुरका अभ्युक्षण और मार्जन करे, अन्नप्राशन कर्ममें धान और जौंको पीसकर बालकको चटा देय । गोदान आदिमें धान और जौंको अभिमन्त्रण करके बालकके मस्तक पर रक्खे । ये कर्म इस सूक्तके भिन्न २ मन्त्रोंसे किये जाते हैं ॥ ४६२

पञ्चमसूक्त । इसके “शतं तेऽयुतम्” भागका ‘आरमहष’ के (८।२) अनुसार विनियोग होता है । गोदान आदि कर्मोंमें धान और जौंको अभिमन्त्रित करके ‘शरदेत्वा’ भागसे अनुमन्त्रण करके बालकके मस्तक पर रक्खे ॥ ४७५

द्वितीय-अनुवाक-

प्रथमसूक्त । इससे चातनगणके काम होते हैं और घृतकम्बल नामक महाभिषेकमें इस अनुवाकका जप किया जाता है । ४८२

द्वितीयसूक्त । गौ दूधके स्थानमें रक्त दुहाने लगे तो इस अद्भुतकी शान्तिके लिये इसकी पन्द्रह सोलह सत्रह और अठारहवीं ऋचाओंसे आहुति देय । ४९६

तृतीयसूक्त । इसका अनुवाकप्रयुक्त जप होता है । तथा अग्निरहितदेशमें अग्निदर्शनरूप अद्भुतकी शांति, सशब्द अग्नि होने पर अग्निका उपस्थान और अग्न्याधानमें पावकगुणकाग्नियागका अनुमंत्रण भी इस सूक्तसे किया जाता है । ५०६

विषय पृष्ठ

चतुर्थ पञ्चम और षष्ठ सूक्त। इनका अनुवाक प्रयुक्त जप होता है ५१२

तृतीय अनुवाक-

प्रथम द्वितीय सूक्त। इससे अभिलषित सिद्धिके काम, शान्त्युदकाभिमंत्रणहोम आदि, रौद्री महाशान्तिके अन्तर्गत तिलकमणिबंधन, पिष्टरात्रिविधानका प्रतिसरबंधन किया जाता है। ५३८

तृतीय चतुर्थ और पञ्चम सूक्त। इसका शान्त्युदकाभिमन्त्रण आदि और सीमन्तोन्नयनमें काम पड़ता है। ५६९

चतुर्थ अनुवाक-

प्रथम सूक्त। इससे यक्ष्मा आदि सकल व्याधियोंमें मणि बाँधी जाती है, और सौत्रामणिकी सुराका अनुमन्त्रण किया जाता है। ५८३

द्वितीय सूक्त। इससे शत्रुक्षयके कार्य किये जाते हैं। ५९६

पञ्चम अनुवाक-

प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ पञ्चम षष्ठ और सप्तम सूक्त। इसमें विराट् आदिके विषयका सम्वाद और विचार है। ६१०

4453
श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-५

श्रीहरिः

अथर्ववेदसंहिता

सप्तमं-काण्डम्

सायणभाष्य और अनुवादसहित

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

॥❀॥ श्रीगणेशाय नमः ॥❀॥ वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सब जगत्की रचना की है उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

सप्तमे काण्डे दशानुवाकाः। तत्र प्रथमेनुवाके त्रीणि सूक्तानि। तत्र "धीती वा ये" इति प्रथमे सूक्ते आद्याभ्यां द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्मणि आज्यसमित्पुरोडाशादिशष्कुल्यन्तानां त्रयोदशानां द्रव्याणाम् अन्यतमं जुहुयात् जपेद्व वा । तद् उक्तं संहिताविधौ । "धीती वेत्यर्थम् उत्थास्यन्नुपदधीत जपति" इति [कौ० ५. ५] ॥

तथा सर्वफलकामः आभ्याम् ऋग्भ्याम् इन्द्राग्नी यजते उपतिष्ठते वा । "तदिद्व आस [५. २] धीती वा [७. १] इतीन्द्राग्नी" [कौ० ७. १०] इति कौशिकसूत्रात् ॥

अत्र "अथर्वाणं पितरम्" इत्यष्टर्चेन सर्वफलकामः अथर्वाणं यजत उपतिष्ठते वा । "यस्येदमा रजः [६. ३३] अथर्वाणम्

[७. २] अदितिर्द्यौः" [७.६] इति [कौ० ७. १०] सूत्रात् ॥

"अया विष्ठा" इति द्व्यृचेन नवं रथम् अभिमन्त्र्य जयकामं राजानम् आरोहयेत् । सूत्रितं हि । "अया विष्ठा [७. ३] अग्न इन्द्रः [७. ११५] दिशश्चतस्रः [८. ८. २२] इति नवं रथं राजानं ससारथिम् आस्थापयति" इति [कौ० २. ६] ॥

"एकया च" [७. ४] इत्यनया अश्वशान्तौ सर्वौषधिचूर्णम् अश्वस्य मूर्ध्नि प्रकिरेत् । "वातरंहाः [६. ९२] इति स्नातेश्वे" इति प्रक्रम्य कौशिकेन सूत्रितम् । "चूर्णैरवकिरति त्रिरेकया च" इति [कौ० ५. ५] ॥

तथा चातुर्मास्ये शुनासीरीयपर्वणि वायव्ययागानुमन्त्रणम् अनया कुर्यात् । उक्तं वैताने । "वायव्यं शुनासीरीयं सौर्यम् एकया चेति" [वै० २. ५] ॥

"यज्ञेन" इत्यनया सोमयागे आतिथ्येष्टौ हविर्ब्रह्माभिमृशेत् । "आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ३] ॥

सप्तम काण्डमें दश अनुवाक हैं, पहिले अनुवाकमें तीन सूक्त हैं। प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे अर्थोत्थापन विघ्नशमनकर्ममें घृत समिधा पुरोडाशसे लेकर पूरी तकके तेरह द्रव्यों मेंसे किसी एक द्रव्यसे आहुति देय वा जप करे । इसी बातको संहिताविधिमें अर्थात् कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–"धीती वेत्यर्थं उत्थास्यन्नुपदधीत जपति" (कौशिकसूत्र ५ । ५) ।

तथा सब फलोंको प्राप्त करना चाहने वाला भी इन दो ऋचाओंसे इन्द्र और अग्निदेवका यजन वा उपस्थान करे । इसी बातको कौशिकसूत्र ७ । १० में कहा है, कि– "तदिद्द आस (५ । २) धीती वा (७ । १) इतीन्द्राग्नी" और सर्वफलकाम "अथर्वाणम् पितरम्" इन आठ ऋचाओंसे अथर्वाका यजन वा

उपस्थान करे इसी बातको कौशिकसूत्र ७ । १० में कहा है, कि-"यस्येदमा रजः ६।३३) अथर्वाणम् (७।२) अदितिर्द्यौः(७।६)"

"अया विष्ठा" इन दो ऋचाओंसे नवीन रथको अभिमन्त्रित कर विजयाभिलाषी राजाको बैठावे । इसी बातको कौशिकसूत्र २ । ६ में कहा है, कि-"अया विष्ठा (७ । ३) अग्न इन्द्रः (७ । ११५) दिशश्चतस्रः (८ । ८ । २२) इति नवं रथं राजानं ससारथिं आस्थापयति" ॥

"एकया च" इस (७ । ४) से अश्वशान्तिमें सर्वौषधिचूर्ण को घोड़ेके मस्तक पर बुरबुरा देय (बखेर देय) कौशिकसूत्र में 'वातरंहा' (६ । ९२) से घोड़ेको स्नान करानेके लिये कह कर आगे कहा है, कि-"चूर्णैरवकिरति त्रिरेकया च" ॥

तथा चातुर्मास्यके शुनासीरीयपर्वमें इस ऋचासे वायव्ययाग का अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र २ । ५ में कहा है, कि-"वायव्यं शुनासीरीयं सौर्यं एकया चेति" ॥

सोमयागकी आतिथ्येष्टिमें "यज्ञेन" इस ऋचासे ब्रह्मा हविका अभिमर्शन करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि-"आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम्" (वैतानसूत्र ३ । ३ ॥

तत्र प्रथमा ॥

धी॒ती वा॒ ये अन॑यन् वा॒चो अग्र॒ं मन॑सा वा॒ येव॑द-
न्नृ॒ता॑नि॑ ।
तृ॒तीये॑न॒ ब्रह्म॑णा वावृ॒धानास्तु॒रीये॑णामन्वत॒ नाम॑ धेनोः

धी॒ती । वा॒ । ये । अन॑यन् । वा॒चः । अग्र॑म् । मन॑सा । वा॒ । ये । अव॑दन् । ऋ॒ताानि॑ ।

तृतीयेन । ब्रह्मणा । वावृधानाः । तुरीयेण । अमन्वत । नाम । धेनोः

यद्यपि अस्मिन् ऋचे देवताविशेषो न प्रतीयते तथापि "अनिरुक्तो वै प्रजापतिः" इति [ऐ० ब्रा० ६, २०] श्रुतेर्देवता अत्र प्रजापतिः । "अथर्वाणं पितरम्" इत्यष्टर्चेपि प्रजापतिर्देवता । अथर्वशब्दः प्रजापतिवाचक इति वक्ष्यते । अतः कृत्स्नम् इदं सूक्तं प्राजापत्यम् । अत एव अर्थोत्थापनकर्मणि समिदाज्यादिहोमे देवताविशेषादर्शनात् प्रजापतिर्देवतेति निश्चीयते ।। अथवा "धीती वेति ऋचेन इन्द्राग्नी यजेत सर्वकामः" इति विनियोगविधानात् तयोश्च "उभा दाताराविषां रयीणाम्" [ऋ० ६. ६०. १३] इत्यादिषु फलदातृत्वप्रसिद्धेः देवताविशेषानादेशस्थलेषु च प्रजापतिवद् इन्द्रस्यापि देवतात्वेन स्मरणात् ऐन्द्रेषु च मन्त्रेषु "मुञ्चामि त्वा हविषा" [ऋ० १०. १६१. १]इत्यादिषु अग्नेर्निपातभाक्त्वाद् इन्द्राग्नी देवतेति अध्यवसीयते । अपि च "यत् सर्वेषाम् अर्धम् इन्द्रः प्रति" [तै० सं ५. ४. ८. ३]इति "अग्निः सर्वा देवताः" [तै० सं० २. २. ९. १]इति इन्द्रस्याग्नेश्च सर्वदेवतात्मकत्वाभिधानात् तयोर्यागेन सर्वकामप्राप्तिर्युक्ता । अतस्तस्य तयोर्वा इतरदेवतावन्न स्तुतिहविःप्रदानमात्रेण अर्थसिद्धिः किं तु तन्माहात्म्यज्ञानेनैव इत्यभिप्रेत्य आद्ययर्चा तज्ज्ञानप्रकारः उत्तरया तत्सार्वात्म्यम् अभिधीयते ।।

ईदृशी खलु विवक्षूणां शब्दाभिव्यक्तिः । प्रथमम् अभिलषितम् अर्थं विवक्षोः पुरुषस्य तद्वाचकशब्दप्रयोगार्थं तदिच्छावशेन जातात् प्रयत्नात् मूलाधारे प्राणवायोः परिस्पन्दो जायते । तेन परिस्पन्देन मूलाधारे सकलशब्दमूलकारणभूता निष्पन्दा सूक्ष्मा परा वाक् आविर्भवति । सैव मूलाधाराद् ऊर्ध्वं नाभिदेशं प्राप्ता सामान्यज्ञानरूपा विवक्षितपदार्थदर्शनात् पश्यन्तीति उच्यते ।

सैव हृदयदेशं प्राप्ता अर्थविशेषनिश्चयबुद्धियुक्ता मध्यदेशावस्थानाद् मध्यमेति गीयते । सैव कण्ठताल्वादिस्थानेषु वर्णरूपेण व्यज्यमाना विशेषेण परावबोधप्रचण्डा वैखरीति भण्यते । अत्र पराद्यवस्थात्मकास्त्रयः शब्दा देहान्तर्गतत्वाद् अस्फुटत्वेन विवक्षितम् अर्थं परेभ्यो न प्रतिपादयन्ति । वैखर्यात्मकः शब्द एव अर्थप्रत्यायनक्षमः । "गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति" इति हि निगमः [ऋ० १. १६४. ४५]। गुहायां त्रीणि पदानि निहितानि नार्थं वेदयन्ते इति हि यास्केन व्याख्यातम् [नि० प० १. ६] । आगमोपि ।

स्वरूपं ज्योतिरेवान्तः परा वाग् अनपायिनी ।
यस्यां दृष्टस्वरूपायाम् अधिकारो निवर्तते ॥
अविभागेन वर्णानां सर्वतः संवृतक्रमा ।
प्राणाश्रयात् तु पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा ॥
मध्यमा बुद्ध्युपादाना कृतवर्णपरिग्रहा ।
अन्तःसंजल्परूपा तु न श्रोत्रम् उपसर्पति ॥
ताल्वोष्ठव्यापृतिव्यङ्ग्या परबोधप्रकाशिनी ।
मनुष्यमात्रसुलभा बाह्या वाग् वैखरी मता ॥

इति । तथा च अस्या ऋचः अयम् अर्थः । ये प्रजापतेः इन्द्राग्न्योर्वा बाचकशब्दं विवक्षवः स्तोतारः धीती । ❀ ध्यायतेः क्तिनि छान्दसं संप्रसारणम् । "हलः" इति दीर्घः । "सुपां सुलुक्०" इति तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । धीत्या ध्यानात्मकेन विवक्षाजन्यप्रयत्नजातप्राणवायुपरिस्पन्दाविर्भूतेन परावस्थापन्नेन प्रथमेन शब्दब्रह्मणा इति यावत् । "तृतीयेन ब्रह्मणा" इति वक्ष्यमाणत्वाद् अत्रापि संख्याविशिष्टब्रह्मपदं संबध्यते । वाशब्दः चार्थे । वाचो अग्रम् । "सर्वे वेदा यत् पदम् आमनन्ति" इति [क० व० २. १५] श्रुतेः सकलवाङ्मयप्रतिपाद्यत्वेन मुख्यम्

निखिलवाग्व्यवहारस्य वा आदिभूतं प्रजापतिरूपम् अर्थम् इंद्राग्निरूपं वा अनयन् ध्यानविषयत्वं प्रापितवन्तः । ❀ "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातनिषेधः । अडागमस्य उदात्तत्वेन आद्युदात्तं पदं भवति ❀ । ये च विवक्षवः मनसा सामान्यधर्मग्राहकेण पश्यन्त्यात्मकेन द्वितीयेन शब्दब्रह्मणेत्यर्थः । ऋतानि सत्यभूतानि अखण्डपरावस्थापेक्षया ईषद् उद्गतानि वा वाक्यानि देवतावाचकशब्दविचारविषयाणि अवदन् । वदनम् अत्र सामान्यज्ञानं विवक्षितम् । पूर्ववाक्ये यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दः अध्याहार्यः । ते विवक्षवः तृतीयेन । ध्यानमनोवच्छिन्नपरापश्यन्त्यपेक्षया तृतीयत्वम् । त्रित्वसंख्यापूरकेण ब्रह्मणा । अन्तर्विभक्तवर्णात्मकेन अर्थविशेषाध्यवसायबुद्धियुक्तेन मध्यमाख्येनेत्यर्थः । वावृधानाः । ❀ अन्तर्भावितण्यर्थः । वृधेर्लिटः कानच् । तुजादित्वाद् दीर्घः । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । वर्धयन्तः अशब्दविषयम् अर्थं शब्दवाच्यत्वेन पोषयन्तः तुरीयेण चतुर्थेन । ❀ "चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च" इति छप्रत्ययः ❀ । चतुःसंख्यापूरकेण वैखर्यात्मकेन वर्णपदवाक्यरूपेण ब्रह्मणा धेनोः । वाङ्नामैतत् । वाच्यवाचकयोरभेदाद् वाच्ये वाचकशब्दः । मन्त्रप्रतिपाद्यस्य । यद्वा धेनुवद् धेनुः । अभिमतफलप्रदानेन प्रीणनकारिणः प्रजापतेः नाम नामधेयम् प्रजासर्जनपालनादिधर्मकं प्रजापतिरिति । इन्द्राग्निदेवतापक्षे इदंदर्शनभूतेन्धनादिगुणविशिष्टम् [नि० १०. ८] इन्द्र इति अग्रणीत्वाङ्गनादिगुणकम् अग्निरिति च नामधेयम् अमन्वत । उच्चारितवन्त इत्यर्थः । ❀ धातूनाम् अनेकार्थत्वात् । मनु अवबोधने । तानादिकः ❀ । एवं परादिवाचा प्रतिपादितस्वरूपः प्रजापतिः अस्माकम् अभीष्टं साधयित्विति इन्द्राग्नी वा साधयताम् इति प्रार्थना ॥

अथवा वाचो अग्रम् इति पदेन वेदात्मिकाया वाचो निदानं

पर्यवसानभूमिर्वा परमात्मतत्त्वं विवक्ष्यते । तथा च ऐतरेयारण्यके "तदिद् आस भुवनेषु ज्येष्ठम्" [ऋ० १०. १२०] इत्यस्य सूक्तस्य तच्छब्दप्रशंसावसरे समाम्नायते । "बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम् [ऋ० १०. ७१. १] इत्येतद्ध्येव प्रथमं वाचो अग्रम्" इति [ऐ० आ० १. ३. ३]। "तदिद् आस" इत्यत्र तच्छब्देन सर्वश्रुतिप्रसिद्धं सर्वजगत्कारणं ब्रह्म अभिहितं तद्ध अत्र एतच्छब्देन विवक्ष्यत इति तत्रार्थः । तादृशं सकलवाङ्निदानभूतं तत्त्वं ये जिज्ञासवो महर्षयो देवा वा धीती । कर्मनामैतत् । धीत्या । वाशब्दो विकल्पवाची । बाह्यविषयव्यापृतया । अक्षवृत्त्या अनयन् । ज्ञातुं प्रयत्नं कृतवन्त इत्यर्थः । अनेन जाग्रदवस्थाभिमानिविश्वसंज्ञात्मना तत्त्वं ग्रहीतुम् उद्युञ्जत इत्युक्तं भवति । ये वा ततोपि सूक्ष्मदर्शिनो मनसा केवलेन अन्तःकरणेन ऋतानि सत्यब्रह्मविषयाणि वाक्यानि अवदन् । अनेन स्वप्नावस्थायां केवलमनोव्यापारात् तदभिमानितैजसात्मकब्रह्मणा तत्त्वज्ञानाय प्रयतन्त इत्युक्तं भवति । ये वा ततोप्यान्तरं वस्तु जिज्ञासमाना वावृधानाः। ❀ वर्धतेः "लक्षणहेत्वोः०" इति हेतौ शानचि व्यत्ययेन शपः श्लुः ❀ । परिच्छेदापनयनरूपवर्धनाद्धेतोः तृतीयेन त्रित्वसंख्यापूरकेण ब्रह्मणा चैतन्यात्मना । अत्र सुषुप्तौ कारणशरीराभिमानी प्रज्ञानघनः प्राज्ञो विवक्षितः । तेन जागरस्वप्नावस्थावत् सुषुप्तौ बाह्यान्तरेन्द्रियजनितविक्षेपाभावात् अपरिच्छिन्नब्रह्मभावेन वर्तन्त इति शेषः । एवम् अवस्थात्रयाभिमानिविश्वादितादात्म्येन तत्त्वं बुभुत्सवः सर्वेपि तत्रतत्र निरस्तसमस्तभेदं तत्त्वम् अलभमानाः सन्तः धेनोः वाचो अग्रम् इति निर्दिष्टस्य फलप्रदस्य वा परमात्मनः नाम नामकं यत्स्वरूपं प्रति सर्वे प्रणताः तत् निरस्तसमस्तोपाधिकं सत्यज्ञानादिलक्षणं तत्त्वं तुरीयेण तुर्यावस्थापन्नेन कारणशरीराभिमानरहितेन सर्वसाक्षिणा चैतन्येनात्मना अमन्वत

२०१८

जानन्ति स्म । "गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्दद् अत्रिः" हि निगमः [ऋ० ५. ४०. ६]। "स ब्रह्मा [स शिवः] स हरिः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वराट्" इति श्रुतौ [तै० आ० १०. ११. २] परमात्मनो नानादेवतानानव्यवहार्यत्वदर्शनाद् अत्र प्रजापतिशब्दव्यपदेश्यम् इन्द्राग्निशब्दव्यपदेश्यं वा तदेव तत्त्वं सम्यग् अधिगतं सत् अस्माकम् अभिमतं साधयत्विति प्रार्थ्यते ॥

यद्यपि इस द्व्यृचमें किसा देवताकी प्रतीति नहीं होती है, तथापि 'अनिरुक्तो वै प्रजापतिः ॥—जहाँ किसी देवताको न कहा हो तहाँ प्रजापति देवता समझना चाहिये' इस ऐतरेय ब्राह्मण ६।२० की श्रुतिके अनुसार यहाँ प्रजापतिदेवता समझना चाहिये। 'अथर्वाणम् पितरम्' इस अष्टर्चमें भी प्रजापति देवता है, क्योंकि अथर्वा शब्द प्रजापतिका वाचक है—यह आगे कहा जावेगा, अत एव यह पूर्ण सूक्त प्रजापति देवता वाला है, अत एव अर्थोत्थापनकर्मके समिदाज्यादि होममें किसी देवताका वर्णन न होनेसे प्रजापति देवताका यहाँ निश्चय किया जाता है। अथवा—"धीती वेति द्व्यृचेन इन्द्राग्नी यजेत सर्वकामः ।—धीती वा इस दो ऋचा वाले सूक्तसे सर्वकाम इन्द्र और अग्निका पूजन करे" इस विनियोगके अनुसार इन्द्र और अग्नि देवताका निश्चय होता है और "उभा दातारविषां रयीणाम्—ये दोनों धन और अन्नके देने वाले हैं" इस ऋग्वेदके ६ । ६० । १३ वें आदि मन्त्रोंमें इन दोनों देवताओंका फलदातृत्व प्रसिद्ध है और जहाँ किसी देवताका वर्णन न हो तहाँ प्रजापतिकी समान इन्द्र भी देवतारूपसे स्मृत होते हैं और 'मुञ्चामि त्वा हविषा' (ऋ० १०।१६१।१) इत्यादि ऐन्द्र मन्त्रोंमें अग्निके निपातभाक् होनेके कारण इन्द्र और अग्निदेवताकी प्रतीति होती है ॥ और भी एक बात है कि-तैत्तिरीयसंहिता ५ । ४ । ८ । ३ में कहा है, कि—'यत् सर्वेषा-

मर्धं इन्द्रं प्रति–सबका आधा भाग इन्द्रकी ओर जाता है" तथा तैत्तिरीयसंहिता २ । २ । ९ । १ में कहा है, कि–'अग्निः सर्वा देवताः ॥–अग्नि सर्वदेवस्वरूप हैं' इस प्रकार इन्द्र और अग्निके सर्वदेवतात्मक होनेसे उनके यागसे सर्वकामप्राप्ति उचित ही है । अतएव प्रजापति देवता वा इन्द्र और अग्नि देवताओंकी दूसरे देवताकी समान स्तुतिहविः प्रदानमात्रसे ही अर्थसिद्धि नहीं होती, किंतु उनके माहात्म्यके ज्ञानसे ही अर्थसिद्धि होजाती है–इस बातको लक्ष्यमें रख कर पहिली ऋचासे इनके ज्ञानका प्रकार और दूसरी ऋचासे सार्वात्म्य कहा जाता है ।

कहनेकी इच्छा करने वालोंका शब्द इस प्रकार प्रकट होता है, कि–पहिले अभिलषित अर्थको कहनेकी इच्छा वाले पुरुषके तद्वाचकशब्दके लिये उसकी इच्छाके अनुसार उत्पन्न हुए प्रयत्न से मूलाधारमें प्राणवायुका परिस्पन्द होता है । उस परिस्पन्दसे मूलाधारमें सकल शब्दोंकी मूलकारणभूत स्पन्दरहित सूक्ष्म परा वाक् आविर्भूत होती है । वही मूलाधारसे ऊपर नाभिस्थानमें प्राप्तहुई सामान्यज्ञानरूपा विवक्षितपदार्थके दर्शनके कारण पश्यंती कहलाती है । वही हृदयदेशको प्राप्त हुई किसी अर्थकी निश्चय बुद्धिसे युक्त–मध्यदेशमें अवस्थान करनेके कारण मध्यमा कहलाती है । वही तालु आदि स्थानोंमें वर्णरूपसे प्रकट होती हुई विशेषरूपसे दूसरे के ज्ञानके लिये प्रचण्ड होनेके कारण वैखरी कहलाती है । यहाँ परा आदि तीन अवस्थाओंमें विद्यमान शब्द देहके मध्यमें होनेसे अस्फुट होनेके कारण विवक्षित अर्थको दूसरों को नहीं जताते हैं । वैखर्यात्मक शब्द ही अर्थको जतानेमें समर्थ है । ऋग्वेदसंहिता १ । १६४ । ५ में भी कहा है, कि–'गुहा त्रीणि निहिता नेंगयंति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥–अर्थात् पराद्यवस्थात्मक तीन शब्द गुहामें स्थित रहते हैं अत एव कुछ चेष्टा नहीं

करते हैं और चौथे स्थानमें स्थित शब्दको मनुष्य वाणी कहते हैं निरुक्तपरिशिष्ट १ । ६ में यास्कमुनिने व्याख्या की है, कि—“गुहायां त्रीणि पदानि निहितानि नार्थं वेदयन्ते ।” इस विषयमें आगम भी है, कि—“स्वरूपं ज्योतिरेवान्तः परा वाग् अनपायिनी । यस्यां दृष्टस्वरूपायां अधिकारो निवर्तते ॥ अविभागेन वर्णानां सर्वतः संवृतक्रमा । प्राणाश्रयात् तु पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा ॥ मध्यमा बुद्ध्युपादानात् कृतवर्णपरिग्रहा । अन्तःसञ्जल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति ॥ ताल्वोष्ठव्यापृतिव्यङ्ग्या पर बोधप्रकाशिनी । मनुष्यमात्रसुलभा बाह्या वाग् वैखरीमता ।-अन्तः ज्योतिःस्वरूप ही अनपायिनी परा वाक् है, उसके स्वरूपका दर्शन होने पर अधिकार निवृत्त होजाता है । मयूरके अण्डेके रसके समान वर्णोंमें अविभागरूपसे संवृतक्रम वाली प्राणका आश्रय करनेसे पश्यन्ती कहलाती है । बुद्धिरूप उपादान वाली वर्णोंको ग्रहण करनेवाली वाक्मध्यमा कहलाती है, यह भीतर ही भीतर कहनेके रूपमें होती है, किसीके कानके पास नहीं जाती है । और तालु ओष्ठ आदिके स्पर्शसे प्रकट होने वाली दूसरेको बोधरूपमें प्रकाशित होने वाली मनुष्यमात्रको सुलभ बाहरी वाक् वैखरी कहलाती है ॥”

अब इस ऋचाका यह अर्थ है, कि—प्रजापति वा इन्द्र और अग्निके वाचकशब्दको कहना चाहनेवाले स्तोता धीतिसे अर्थात् ध्यानात्मक विवक्षाजन्यप्रयत्नसे उत्पन्न प्राणवायुके परिस्पन्दसे आविर्भूत परावस्थाको प्राप्त हुए प्रथम शब्दब्रह्मसे, जिस ‘सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति—सब वेद जिस पदको कहते हैं’ (कठवल्ली २ । १५) श्रुतिके द्वारा सकल वाक्य प्रतिपाद्यत्वरूपसे मुख्य वा सम्पूर्ण व्यवहारोंके आदिभूत प्रजापतिरूप अर्थको वा इन्द्राग्निरूप अर्थको ध्यानविषयको प्राप्त करते हैं फिर जो विवक्षु (कहनेकी

इच्छा वाले स्तोता) मनसे अर्थात् सामान्यधर्मग्राहक पश्यन्तीरूप द्वितीय शब्दब्रह्मसे अखण्डपरावस्थाकी अपेक्षा ईषद् उद्गत सत्यों को वा देवतावाचक शब्दविचारविषयक वाक्योंको सामान्यज्ञान रूपमें जानते हुए । वे स्तोता ध्यान और मनसे अवच्छिन्न परा और पश्यन्तीकी अपेक्षा तृतीयब्रह्मसे अर्थात् अन्तर्विभक्तवर्णात्मक अर्थविशेषका निश्चय करनेकी बुद्धिसे युक्त मध्यमाख्यब्रह्म से अशब्दविषयक अर्थको शब्दवाच्यत्वरूपसे पुष्ट करते हुए, वे चौथे वैखर्यात्मक वर्णपदवाक्यरूप ब्रह्मसे वाणीको वा—अभिमत फलदाता होनेसे तृप्त करने वाले प्रजापतिके (प्रजाकी रचना पालन आदि धर्म वाले) नामको वा—इदं दर्शनभूतेन्धनादिगुणविशिष्ट इन्द्रके नामको और अग्रणीत्व अंगनादिगुणसंपन्न अग्नि के नामको उच्चारण कर रहे हैं । अतः यह प्रार्थना है, कि—इस प्रकार परा आदि वाणीसे जिनके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है वे प्रजापति वा इन्द्र और अग्निदेवता हमारे अभीष्टको सिद्ध करें ।

अथवा 'वाचो अग्रम्' पदसे वेदात्मिका वाणीका निदान वा पर्यवसानभूमि परमात्मतत्त्व कहा जासकता है। इसी प्रकार ऐतरेयारण्यकमें 'तदिद्द आस भुवनेषु ज्येष्ठम्' (ऋग्वेद १० । १२०) इस सूक्तके तत् शब्दकी प्रशंसाके अवसर पर कहा है । 'बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम् (ऋ० १० । ७१ । १) "एतद्धयेव प्रथमं वाचो अग्रम्" (ऐतेरेयारण्यक १ । ३ । ३)। अतः 'तदिद्द आस' यहाँ तत्—शब्दसे सर्वश्रुति प्रसिद्ध सब जगत्का कारण ब्रह्म कहा हैं वही यहाँ ऐतरेयमें एतत्-शब्दसे विवक्षित है ॥ अतएव ऐसे सब वाणियोंके निदानभूत तत्त्वको जाननेकी इच्छा वाले महर्षि तथा देवता धीतिसे अर्थात् बाह्यविषयव्यावृत्त अन्तवृत्तिसे उसको जाननेका प्रयत्न करते हैं।(इससे यह कहा, कि-

जाग्रत् अवस्थाके अभिमानी विश्व नाम वालेसे तत्त्वको ग्रहण करनेके लिये पुरुष उदयुक्त हो सकते हैं)। वा-जो इससे भी अधिकसूक्ष्मदर्शी केवल अन्तःकरणसे सत्यब्रह्मविषयक वाक्यों का मनन करते हैं। (इससे यह कहा, कि-स्वप्नावस्थामें केवल मनके व्यापारसे तदभिमानी तैजसात्मक ब्रह्मसे तत्त्वको जाननेके लिये पुरुष प्रयत्न करसकते हैं)। और इससे भी भीतरकी वस्तुको जाननेकी इच्छावश परिच्छेदके अपनयनरूप वर्धनके कारण तीसरे चैतन्यात्मा ब्रह्मसे रहते हैं। (यहाँ सुषुप्तिमें कारण शरीराभिमानी प्रज्ञानघन प्राज्ञ विवक्षित है । अत एव जागर और स्वप्नावस्थाकी समान सुषुप्तिमें बाह्य और भीतरी इन्द्रियोंसे उत्पन्न होने वाले विक्षेपके अभावके कारण वे अपरिच्छिन्न ब्रह्मभावसे रहते हैं)॥ इस प्रकार तीनों अवस्थाओंके अभिमानी विश्वादि तादात्म्यसे तत्त्वको जाननेकी इच्छा वाले सब ही तहाँ २ समस्त भेदोंसे शून्य तत्त्वको न पाते हुए वाणीके मुख्यरूपसे निर्दिष्ट फलप्रदके वा परमात्माके नाम वाले स्वरूपके प्रति प्रणत हो उस समस्त उपाधियोंसे निरस्त सत्य ज्ञान आदि लक्षण वाले तत्त्वको तुर्यावस्थापन्न कारणशरीराभिमानरहित सर्वसाक्षी चैतन्यरूपमें जानते हैं। ऋग्वेदसंहिता ५।४०।६ में भी कहा है, कि-'गूढ़ं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणान्वविन्दद् अत्रिः॥ अत्रि ऋषिने गुप्त सूर्यको तमसापव्रत तुरीय ब्रह्मसे पाया था"। तैत्तिरीय आरण्यक १०।११।२ में कहा है, कि-स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वराट्।-वह ब्रह्म ही ब्रह्मा है, शिव है, हरि है, इन्द्र है, अक्षर है और परम है वह अपने आप दीप्त रहता है" इस प्रकार श्रुतिमें परमात्माका अनेक देवताओंके नामसे व्यवहार करनेके कारण यहाँ प्रजापतिशब्दव्यपदेश्य वा इन्द्राग्निशब्दव्यपदेश्य वही तत्त्व अधिगत होकर हमारे अभिमतको सिद्ध करे, यह प्रार्थना की है॥१॥

2022

द्वितीया ॥

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत् पुनर्मघः ।
स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्व१ स इदं विश्वमभवत् स आभवत् ॥ २ ॥

सः । वेद । पुत्रः । पितरम् । सः । मातरम् । सः । सूनुः । भुवत् । सः । भुवत् । पुनःऽमघः ।
सः । द्याम् । और्णोत् । अन्तरिक्षम् । स्वः । सः । इदम् । विश्वम् । अभवत् । सः । आ । अभवत् ॥ २ ॥

अनया उक्तविधस्य देवस्य ब्रह्माभेदेन सार्वात्म्यम् अभिधीयते । स विश्वात्मकः प्रजापतिः पुत्रः स्वीयं रूपम् सम्यक् जानतः पुरुषान् अनर्थहेतोः संसारात् त्रायत इति पुत्र इति व्यपदिश्यते । ❀ पुत्रः पुरु त्रायते [नि० २. ११] इत्यादि निरुक्तम् ❀ । पितरम् द्युलोकं वेद वेत्ति । स एव मातरम् पृथिवीं वेत्ति । प्रजापतिः द्यावाभूमी स्वधार्यत्वेन जानातीत्यर्थः । "द्यौः पिता । पृथिवी माता" इति हि मन्त्रवर्णः [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ५.] । "ताभ्याम् इदं विश्वम् एजत् सम् एति यद् अन्तरा पितरं मातरं च" [ऋ० १०. ८८. १५] इति श्रुतेः द्यावापृथिव्योर्मध्ये विश्वस्यावस्थानात् तयोः प्राधान्येनाभिधानम् । अथवा "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" [ऋ० १०. १२१. १] इति मन्त्रवर्णात् प्रजापतिः परमात्मना प्रथमं सृष्टः । तस्य पिता सकलजगदधिष्ठानं परं ब्रह्म । माता चित्प्रतिबिम्बिता मूलप्रकृतिः तौ प्रजापतिः स्वाभेदेन जानाति । पुत्रशब्दः अत्र मुख्यार्थवाची । कारणपरिज्ञानेन कार्य-

मपि तदभेदात् परिज्ञातं भवतीति कारणभूतमातापितृपरिज्ञानमात्रम् अत्रोक्तम्। न केवलं परिज्ञाता अपि तु स प्रजापतिः सूनुः सर्वस्य जगतः स्वस्वकर्मसु प्रेरयिता सुवत् भवति। “एष उ एव साधु कर्म कारयति तम्” [कौ० उ० ३. ८] इत्यादिश्रुतेः। ❀ षू प्रेरणे इत्यस्माद् औणादिको नुप्रत्ययः। सुवत् इति। भवतेर्लङि व्यत्ययेन शः। “भूसुवोस्तिङि” इति गुणप्रतिषेधः ❀। स एव मघः। ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀। धनवाचिना मघशब्देन कर्मफलं विवक्ष्यते। कर्मफलमपि सुवत् भवति। पुनःशब्दः चार्थे। स च अनुक्तसमुच्चयार्थः। भोक्तापि स एवेत्यर्थः। “भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्” [श्वे० उ० १. १२] इति हि श्रुतिः। यद्वा पुनर्मघ इति समस्तं पदम्। स्तोतृभ्यो बहुधनप्रदानेपि पुनःपुनः अभिवृद्धधन इत्यर्थः। किं च स प्रजापतिः द्याम्। ❀ द्यु अभिगमने इत्यस्माद् उत्पन्नो द्योशब्दः ❀। सुकृतिभिरभिगन्तव्यां दिवम् और्णोत् स्वात्मना व्याप्नोति। ❀ ऊर्णुञ् छादने लङि। शब्लुकि वृद्ध्यभावे रूपम् ❀। अन्तरिक्षम्। अन्तरा क्षान्तम् इत्यन्तरिक्षम् आकाशं तदपि व्याप्नोति। स च स्वः स्वर्गं पुण्यभोगस्थानं च व्याप्नोति। इदं पृथिव्यादेरुपलक्षणम्। व्याप्यापेक्षया व्यापकस्य अधिकवृत्तिप्रदर्शनात् सर्वेभ्योपि लोकेभ्यः प्रजापतिः अधिकवृत्तिरित्यर्थः। “ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् अन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवः” [छा० ३. १४. ३] इत्यादिश्रुतेः। किं बहुना। स प्रजापतिः इदं परिदृश्यमानं नामरूपात्मकं विश्वं जगद् अभवत्। विश्वात्मना स एवावतिष्ठते। स आभवत् आ सर्वतो व्याप्य वर्तते। आवृत्यावृत्य तादृूप्येण कारणात्मना वा वर्तते। सोऽस्माकम् अभिमतसर्वफलानि साधयत्विति प्रार्थ्यते॥

(इस ऋचासे उक्तविध देवका ब्रह्मा भेदसे सार्वात्म्य कहा जाता है कि–)वह विश्वात्मक प्रजापति पुत्र है अर्थात् अपने रूप

२०२४

को भली भाँति जानने वाले पुरुषोंका अनर्थके हेतु संसारसे त्राण करता है अत एव पुत्र है। वह पिताको अर्थात् द्युलोकको जानता है और वह माताको अर्थात् पृथिवीको जानता है। तात्पर्य यह है, कि–प्रजापति द्यावापृथिवीको स्वधार्यत्वरूपसे जानता है। तैत्तिरीयब्राह्मण ३।७।५।५ के मन्त्रमें कहा है, कि–"द्यौः पिता पृथिवी माता–द्यौ पिता है, पृथिवी माता है" और ऋग्वेदसंहिता १०।८८।१५ में भी कहा है, कि–'ताभ्यां इदं विश्वं एजत् सम् एति यद् अन्तरा पितरं मातरं च।–माता पिताके बीचमें होनेसे यह विश्व भली प्रकार कम्पित होता रहता है" इस प्रकार द्यावा–पृथिवीके मध्यमें विश्वका अवस्थान होनेसे उनका प्रधानरूपसे वर्णन किया गया है। अथवा–"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे।–पहिले हिरण्यगर्भ हुआ" ऋग्वेदके इस १०।१२१।१ मन्त्रके अनुसार परमात्माने प्रजापतिको पहिले रचा है। उसका पिता सकल जगत्का अधिष्ठान परब्रह्म है और माता चित्प्रतिबिम्बिता मूल-प्रकृति है। उनको प्रजापति स्वाभेदसे जानते हैं। यहाँ पुत्रशब्द मुख्यार्थवाची है। कारणके परिज्ञानसे कार्य भी उससे अभिन्न होनेके कारण परिज्ञात होजाता है, इस प्रकार कारणभूत माता पिताका परिज्ञान मात्र यहाँ कहा, केवल परिज्ञाता नहीं कहा, और वह प्रजापति सब जगत्के सूनु होते हैं अर्थात् सब जगत्को अपने २ कर्ममें प्रेरित करते हैं। इसी बातको कौषीतकि उपनिषत् ३।८ में कहा है, कि–'एष उ एव साधु कर्म कारयति तम्।–यही उससे साधु कर्म कराता है' ०। और यही प्रजापति कर्म होते हैं और यही भोक्ता होते है और यह प्रजापति पुण्यात्माओंको मिलने योग्य द्यौको अपने आपेसे व्याप्त कर लेते हैं और आकाशमें भी व्याप्त रहते हैं। तथा वह पुण्यभोगके स्थान स्वर्गको भी व्याप्त करके स्थित हैं।

यह पृथिवी आदिका उपलक्षण है । व्याप्यकी अपेक्षा व्यापक अधिक वृत्तिमें रहता है अतएव प्रजापति सब लोकोंसे भी अधिकवृत्ति हैं—अधिक देशमें रहते हैं । इसी बातको छान्दोग्योपनिषत् की ३ । १४ । ३ श्रुतिमें भी कहा है, कि—"ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् अंतरिक्षाज्ज्यायान् दिवः ।—वह पृथिवीसे भी श्रेष्ठ है, अन्तरिक्षसे भी बड़ा है और द्यौसे भी बड़ा है" । अधिक क्या कहें, वह प्रजापति इस परिदृश्यमान नामरूपात्मक सकल जगत् होगए हैं। विश्वात्मारूपसे वही अवस्थित हैं, वह सब ओरसे व्याप्त होकर स्थित हैं । कारणात्मारूपसे स्थित हैं । ऐसे प्रजापति देवता हमारे सकल अभिमत फलोंको सिद्ध करें । यही हम प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अथ॑र्वाणं पि॒तरं॑ दे॒वब॑न्धुं मा॒तुर्गर्भं॑ पि॒तुरसुं॒ युवा॑नम् ।
य इ॒मं य॒ज्ञं मन॑सा चि॒केत॒ प्र णो॑ वो॒चस्तमि॒हेह ब्र॑व १

अथ॑र्वाणम् । पि॒तर॑म् । दे॒व॒ऽब॑न्धुम् । मा॒तुः । गर्भ॑म् । पि॒तुः ।
असु॑म् । युवा॑नम् ।
यः । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । मन॑सा । चि॒केत॑ । प्रः । नः॒ । वो॒च॒ः । तम् ।
इ॒ह । इ॒ह । ब्र॒व॒ः ॥ १ ॥

अथर्वशब्दः प्रजापतिवाची । तथा च गोपथब्राह्मणे । "ब्रह्म वा इदम् अग्र आसीत् । स्वयंभ्वेकमेव तद् ऐक्षत। मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे" [गो॰ ब्रा॰ १. १] प्रक्रम्य "तद्ध अथर्वाभवत्" इत्यथर्वसृष्टिम् अभिधाय तस्याथर्वणः परब्रह्मणश्च अभेदं प्रतिपाद्य समाम्नायते । "तम् अथर्वाणं ब्रह्माब्रवीत् प्रजापते प्रजा सृष्ट्वा

२०२६

पालयस्वेति। तद् यद् अब्रवीत् प्रजापते: प्रजा: सृष्ट्वा पालयस्वेति तस्मात् प्रजापतिरभवत्। तत् प्रजापतेः प्रजापतित्वम्। अथर्वा वै प्रजापतिः” इति [गो० ब्रा० १. ४]। “प्रजापतिरथर्वा देवस्तपस्तप्त्वैतं चातुष्प्राश्यं ब्रह्मौदनं निरमिमीत” इति [गो० ब्रा० २. १६]। अतः अथर्वशब्देन प्रजापतिरुक्तः। तस्य प्रजानां स्रष्टृत्वं पालकत्वं च अनेन प्रदर्श्यते। पितरम् पालकं प्रजानाम्। न केवलं पालकः अपि तु देवबन्धुम् देवानां बन्धुं कारणं स्रष्टारम्। “समुद्रो बन्धुः” [१५. ११. १०] [बृ० आ० १. १. २] इत्यत्र बंधुशब्दः कारणम् आहेति व्याख्यातम्। मनुष्यादिसृष्टेर्देवसृष्टिः पूर्वभाविनीति सा प्रथमम् उक्ता। स्त्रीपुंससृष्टिरपि तस्मादेव भवतीत्याह। मातुर्गर्भम् यस्य गर्भस्य या माता तस्यास्तं गर्भं युवानम् मिश्रयन्तं कुर्वन्तम्। पितुर्गर्भजनकस्य असुम् प्राणं प्राणसहितम्। रेत इत्यर्थः। तच्च युवानम् सिञ्चन्तम्। “न ह वा ऋते प्राणाद् रेतः सिच्यते” इति [ऐ० आ० ३. २. २] “आ सिञ्चन्तु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते” इति [ऋ० १०. १८४. १] च श्रुतिभ्यः। ❀ युवानम् इति। यौतेरादादिकात् लटः शानचि उवङादेशे रूपम् ❀। स्त्रीपुंससृष्टिः इतरसृष्टेरुपलक्षणम्। यद्वा “स इदं सर्वम् अभवत्” इति स्वस्यैव जगदात्मना भवनाद् गर्भरूपत्वम् असुरूपत्वं च संपद्यते। “यच्चासुः पुरुषो जायते यच्च पुत्रः” इति हि श्रुतिः। तथापि युवानम् नित्यतरुणम्। न कदाचिदपि जननादिभावविकारवन्तम् इत्यर्थः। एतादृशम् अथर्वाणम्। ❀ थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः इति हि यास्कः [नि० ११. १८]। अत्र चरतिना च्युतिर्विवक्ष्यते ❀। च्युतिरहितं प्रजापतिं स्वमनीषितसिद्धये प्रार्थय इति शेषः। एवं सम्यग्विदिताथर्वस्वरूपो मन्त्रद्रष्टा महर्षिः स्वेन ज्ञातं तत्स्वरूपं परेषां प्रत्याययितुं स्वयम् अजानन्निव तटस्थम् अभिज्ञं पृच्छति उत्तरार्धेन य इति। यः अथर्वा।

"एतद्ध वा अथर्वणो रूपं यद् उष्णीषी ब्रह्मा" [गो०ब्रा०२.१६] इत्याम्नानाद् अथर्वात्मक ऋत्विग्भूतो ब्रह्मा इमम् अनुष्ठीयमानं सर्वफलसाधनं यज्ञं स्वर्गादिसाधनं प्रसिद्धम् अग्निष्टोमादि यज्ञं वा मनसा चिकेत । ❀ किती संज्ञाने ❀ । जानाति अनुसंधत्ते । एतद्ध उक्तं भवति । यज्ञस्य हि द्वौ पक्षौ । तत्रैकः पक्षः त्रिभिर्होत्रादिभिर्वाचा संस्क्रियते । अपरस्तु ब्रह्मणा मनसेति । अत्र "तस्य वाक् च मनश्च वर्तनी" इति प्रक्रम्य ब्राह्मणे समाम्नायते । "स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति" इति [गो० ब्रा० ३. २] ।

तं मनसा यज्ञान् अनुसंदधानम् अथर्वाणं नः अस्माकं प्र वोचः प्रकर्षेण ब्रूहि । हे विद्वन्निति शेषः । किं यदाकदाचित् । नेत्याह । इहेह अस्मिन्नस्मिन् अभिलषितसाधने कर्मणि ब्रवः ब्रूहि । जानासि चेद् ब्रूहि । मद्व्यतिरिक्तो न कोपि जानातीत्यर्थः । ❀ वोच इति । ब्रवीतेश्छान्दसे लुङि च्लेरङि अडभावे रूपम् । इहेहेति । वीप्सायां द्विर्वचनम् । "अनुदात्तं च" इति आम्रेडितस्य अनुदात्तत्वम् । ब्रव इति । पञ्चमलकारे "लेटोडाटौ" इति अडागमः ❀ ॥ यद्वा प्रजापतिस्वरूपं सामान्यतो ज्ञात्वा तद्विशेषजिज्ञासायै पार्श्वस्थं पृच्छति । यो विद्वान् इमम् अथर्वाणं पितरं देवबन्धुमित्याद्युक्तलक्षणं सर्वैः स्वात्मत्वेन अनुभूयमानं वा यज्ञम् यष्टव्यं यज्ञात्मकं वा प्रजापतिं मनसा मनसैव चिकेत जानाति । न केवलं श्रुतिवाक्यश्रवणेन किं तु मनननिदिध्यासनाभ्यां यस्तत्त्वं साक्षात्करोति तम् अभिज्ञं नः अस्माकं प्रब्रूहि । "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इति श्रुतेः [छा० ६. १४. २] आचार्योपदेशेनैव अधिगतं देवतास्वरूपं पुरुषार्थार्थं भवतीति विवक्षया अभिज्ञप्रश्नः । अथ तेनाभिज्ञेन प्रदर्शितं तत्त्वोपदेष्टारं गुरुं पृच्छति तम् इहेह ब्रव इति । यष्टव्यदेवतास्वरूपपरिज्ञाने क्रियमाणं कर्म सगुणं भवेद् इति मनीषया

२०२८

प्रश्नः ॥ अथवा मन्त्रद्रष्टा महर्षिः स्वात्मानमेव संबोध्य ब्रूते । य उक्तविधः प्रजापतिः तं नः अस्मदर्थं प्र वोचः प्रकर्षेण ब्रूहि यष्टव्यदेवतास्वरूपं सम्यग् ज्ञात्वा ब्रूहि । इहेह ब्रूहीति पुनर्वचनम् आदरार्थम् । तथाहि देवतास्तुतिकरणविषये मन्त्रद्रष्टुः स्वात्मानम् अभिमुखीकृत्य वचनं शाखान्तरे समाम्नायते । "अग्निं स्तुहि दैववातं देवश्रवः" इति [ऋ० ३. २३. ३] ॥

अथर्वशब्द प्रजापतिका वाचक है। इस विषयमें गोपथब्राह्मण प्रमाण है । यथा—'ब्रह्म वा इदं अग्र आसीत् । स्वयंभ्वेकमेव तद् ऐक्षत । मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे । पहिले ब्रह्म ही था, उस अकेले स्वयंभुने देखा, उसने केवल मुझ दूसरे देवको रचा" यह आरम्भ कर 'तदथर्वा अभवत् ।—फिर वह अथर्वा हुआ' इस प्रकार अथर्वसृष्टिको कह कर उस अथर्वाके और परब्रह्मके अभेदका प्रतिपादन कर कहा है, कि—'तम् अथर्वाणं ब्रह्मा अब्रवीत् प्रजापते प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति तस्मात् प्रजापतिरभवत् । तत् प्रजापतेः प्रजापतित्वम् । अथर्वा वै प्रजापतिः ।—उस अथर्वासे ब्रह्माजीने कहा, कि—हे प्रजापते ! तुम प्रजाकी रचना कर उसका पालन करो, इस कारण वह प्रजापति हुए'। (गोपथब्राह्मण १ । ४) तथा 'प्रजापतिरथर्वा देवस्तपस्तप्त्वैतं चातुष्प्राश्यं ब्रह्मौदनं निरमिमीत ।—प्रजापति अथर्वादेवने तप करके इस चातुष्प्राश्य ओदनको बनाया" । [गोपथब्राह्मण २ । १९] अतः अथर्वा शब्दसे प्रजापति कहे जाते हैं। उनका प्रजाओंका स्रष्टत्व और पालकत्व इस मन्त्रमें कहा है, कि—वह देवताओंके बन्धु अर्थात् कारण हैं। 'समुद्रो बन्धुः' (५ । ११ । १०) में बन्धु शब्दसे कारण अर्थ लिया है अत एव यहाँ पर भी बन्धु शब्दका कारण अर्थ किया है। और मनुष्य आदिकी सृष्टिसे देवताओंकी सृष्टि पहिले होती है अत एव पहिले उसका वर्णन किया है।

और स्त्री पुरुषकी सृष्टि भी उन प्रजापतिसे ही होती है अत एव मन्त्रमें कहा है, कि वह प्रजापति जिस गर्भकी जो माता होती है उस गर्भको उस मातासे मिलाते हैं और गर्भजनक पिताके वीर्यसहित प्राणको सींचते हैं। ऐतरेय आरण्यक ३। २। २ में कहा है, कि–'न ह वा ऋते प्राणाद् रेतः सिच्यते।–प्राणके विना वीर्य सिक्त नहीं होता है। ऋग्वेदसंहिता १०। १८४। १ में भी कहा है, कि–'आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते।–प्रजापति तुझमें वीर्यको सिक्त करें और धाता देवता अपनी महिमाके द्वारा तेरे गर्भको स्थिर रक्खें"। स्त्रीपुरुषकी सृष्टिका वर्णन अन्य सृष्टियोंके उपलक्षणके लिये है। ऐसे च्युतिरहित प्रजापति अथर्वाकी मैं अपनी अभिलाषाको सिद्ध करनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। अथवा 'स इदं सर्वं अभवत्।–वह यह सब कुछ होगया' इस प्रकार अपनेको ही जगत्रूपमें होनेके कारण गर्भरूपत्व और प्राणरूपत्व संप्रतिपन्न होसकता है। श्रुतिमें भी कहा है, कि–'यच्चाप्तुः पुरुषो जायते यच्च पुत्रः' इस पक्षमें इस अर्धश्रुतिका यह अर्थ होगा, कि–"देवताओंके कारण प्रजाओंके पालक, माताके गर्भरूप और पिताके प्राणमय वीर्यरूप तथापि सर्वदा जनन आदि भावविकारोंसे रहित होनेके कारण नित्य तरुण प्रजापति (अथर्वा) की मैं अपनी अभिलाषाकी सिद्धिके लिये प्रार्थना करता हूँ।" इसप्रकार अथर्वाके स्वरूपसे भली प्रकार परिचित हुए मन्त्रद्रष्टा महर्षि अपने आप जाने हुए उस स्वरूपको दूसरोंको जतानेके लिये अपने आप अजानसे बन कर तटस्थ अभिज्ञसे मन्त्रके उत्तरार्धके द्वारा बूझते हैं, कि–जो 'एतद्ध वा अथर्वणो रूपं उष्णीषी ब्रह्मा।–जो पगड़ीधारी ऋत्विग्भूत ब्रह्मा है यही अथर्वाका रूप है" अथर्वात्मक ऋत्विग्भूत ब्रह्मा इस अनुष्ठीयमान सर्वफलसाधन यज्ञका वा अग्निष्टोम आदि स्वर्ग आदिके साधन यज्ञोंका मनसे अनुसंधान

२०३०

करता है, हे विद्वन्! उस अथर्वाको हमें प्रकृष्टरूपसे बताइये। कभी बता देंगे इस बात पर मत टाल दीजिये किंतु इस अभिलषित साधन कर्ममें ही कहिये॥ यहाँ यह विशेष बात है, कि-यज्ञके दो पक्ष होते हैं। उनमें होता आदि तीन पहिले पक्षको वाणीसे संस्कृत करते हैं और दूसरे पक्षको ब्रह्मा मनसे संस्कृत करता है। गोपथब्राह्मणमें 'तस्य वाक् च मनश्च वर्तनी' कहकर आगे कहा है, कि-'स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति' (गोपथब्राह्मण ३।२)॥

अथवा-प्रजापतिके रूपको सामान्यरीत्या जान कर विशेषभावसे जाननेके लिये पासमें बैठे हुएसे बूझते हैं, कि-जो विद्वान् इन पालक देवबन्धु आदि गुणोंसे संपन्न अथर्वाको स्वात्मत्वरूपसे अनुभव करके जानता हो वा यज्ञात्मक प्रजापतिको मनसे जानता हो अर्थात् केवल श्रुतिवाक्यश्रवणसे नहीं, किन्तु मनन निदिध्यासन आदिसे तत्त्वका साक्षात्कार करने वाला हो उस अभिज्ञ पुरुषका हमसे वर्णन करिये। छान्दोग्योपनिषत् ६।१४।२ में कहा है, कि-'आचार्यवान् पुरुषो वेद।-आचार्य वाला पुरुष तत्त्वको समझ सकता है' अत एव आचार्यके उपदेशसे ही जाना हुआ देवताका स्वरूप पुरुषार्थके युक्त होसकता है इस आकांक्षासे अभिज्ञ पुरुषको बूझा है। यहाँ गुरुको इस लिये बूझा है, कि-यष्टव्यदेवताके स्वरूपका परिज्ञान होने पर जो कर्म किया जाता है वह सगुण (सफल) होता है। अथवा-यह अर्थ भी होसकता है, कि-मन्त्रद्रष्टा महर्षि अपने आपेको ही सम्बोधित करके कहते हैं, कि-जो ऐसे प्रजापति हैं उनका हमसे भली प्रकार वर्णन करिये-यष्टव्य देवताके स्वरूपको भली भाँति समझ कर कहिये। अन्य शाखाओंमें भी मन्त्रद्रष्टा ऋषिने देवता-स्तुतिकरणविषयमें अपने आपेको अभिमुख करके वचन कहा है। यथा-'अग्निं स्तुहि दैववातं देवश्रवः।" (ऋग्वेदसंहिता ३।२३।३) १

२०।१

चतुर्थी ॥

अ॒या वि॒ष्ठा ज॒नय॒न् कर्व॑राणि॒ स हि घृणि॑रु॒रुर्वरा॑य
गा॒तुः ।
स प्र॒त्युदै॑द्द् ध॒रुणं॒ मध्वो॒ अ॒ग्रं॒ स्वया॑ त॒न्वा॑ त॒न्व॑मैरयत

अ॒या । वि॒ऽस्था । ज॒नय॑न् । कर्व॑राणि । सः हि । घृणिः॑ । उ॒रुः ।
वरा॑य । गा॒तुः ।
सः । प्र॒ति॒ऽउ॒दै॑त् । ध॒रुण॑म् । मध्वः॑ । अग्र॑म् । स्वया॑ । त॒न्वा॑ ।
त॒न्व॑म् । ऐ॒र॒य॒त ॥ १ ॥

अया अनया । ❀ तृतीयाया याजादेशः । “हलि लोपः” इति लोपः ❀ । उक्तरीत्या विष्ठाः । विविधं तिष्ठतीति । ❀“क्विप् च” इति क्विप् ❀ । सर्वात्मभावेन स्थित इत्यर्थः । अथवा अया अयम् ।❀प्रथमाया आकारः ❀ । अयं प्रजापतिः विष्ठा विश्वात्मना स्थितः कर्वराणि । कर्मनामैतत् । यज्ञादिकर्माणि कार्यजातानि वा जनयन् उत्पादयन् वर्तते । स प्रजापतिः घृणिः दीप्यमानः । ❀ घृण दीप्तौ । औणादिक इन् प्रत्ययः ❀ । वराय वरणीयाय कर्मफलाय । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । उरुः महान् गातुः मार्गः । फलप्राप्तै अयमेव साधनान्तरनिरपेक्षो महान् उपाय इत्यर्थः । हि शब्दो हेतौ । यस्मात् फलप्राप्तिमार्गः तस्मात् स तादृशो धरुणम् धारकं चिरकालं भगत्वेनावस्थायि मध्वः मधुनः । ❀ नुमभावश्छान्दसः ❀ । मधुवद्ध आस्वाद्यस्य फलस्य अग्रं सारं प्रत्युदैत् । ❀ अन्तर्भावितण्यर्थः ❀ । प्रत्युद्गमयति स्तोतृभ्यः । ❀ एतेश्छान्दसो लुङ् । गादेशाभावे सिचि वृद्धिः ❀ । सर्वेषां फलप्रदत्वं स्वस्य सर्वनियन्तृत्वम् अन्तरेण न संभवतीति तद्ध उप-

२०३२

पादयति स्वयेति । स्वया स्वीयया तन्वा विराडात्मिकया तन्वम् । ❀ जात्येकवचनम् ❀ । सर्वप्राणिशरीराणि ऐरयत प्रेरयति तत्तत्कर्मस्विति । ❀ ईर गतौ कम्पने च । छान्दसो लङ् ❀ ॥ अस्य मन्त्रस्य अभिनवे रथे जयकामस्य नृपतेरास्थापने विनियोगात् तत्परतया व्याख्यायते । अया अयं जयकामो राजा कर्वराणि शत्रुत्रासनादीनि कर्माणि जनयन् । ❀ "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः ❀ । त्रासनादिजननाद्धेतोः विष्ठाः विशेषेण विशिष्टे वा रथे स्थितः । मन्त्रायुधादिसंस्काराद्ध रथस्य वैशिष्ट्यम् । स तादृशः खलु राजा दीप्यमानः स्वसेनयेति शेषः । तेजस्वी वा वराय वरिष्ठाय जयलक्षणाय फलाय महान् मार्गः । स राजा धरुणम् ध्रियमाणं परैः अनभिभाव्यं मधुनः जयलक्षणस्य सारं प्रत्युदैत् प्रत्युद्गच्छतु प्राप्नोतु । स च पराभिभवनम् अन्तरेण न घटत इति तद्ध उपपादयति स्वया स्वीयेन तन्वा शरीरेण स्वगतबलेन सेनालक्षणबलेन वा तन्वम् शत्रुशरीराणि कम्पयति उच्चाटयति ॥

यह प्रजापति विश्वात्मारूपसे स्थित रहते हुए यज्ञ आदि कर्मोंको उत्पन्न करते रहते हैं, यह दीप्यमान प्रजापति वरण करने योग्य कर्मफलके महान् मार्ग हैं, तात्पर्य यह है, कि—फलप्राप्तिके यही किसी अन्य साधनकी अपेक्षासे शून्य महान् उपाय हैं, क्योंकि—यह फलप्राप्तिके मार्ग हैं, इस कारण यह चिरकाल तक भाग्यरूपसे स्थिर रहने वाले धारक मधुकी समान आस्वाद्य फलके सारभागको स्तोताओंकी ओर प्रेरित करते हैं । (सबका फलप्रदत्व और अपना ही सर्वनियन्तृत्व दूसरेके विना नहीं होसकता अत एव कहते हैं, कि—वह अपने विराडात्मक शरीरसे सब प्राणियोंके शरीरोंको उनके कर्मों में प्रेरिन करते हैं । (इस मन्त्रका विजयाभिलाषी राजाको नवीन

रथमें बैठानेके लिये भी विनियोग किया है, उस पक्षमें यह अर्थ होगा, कि–) यह विजयाभिलाषी राजा शत्रुत्रासन आदि कर्मों को करनेके लिये मन्त्रायुधादिसंस्कारसम्पन्न विशिष्ट रथमें स्थित होगया है, अब यह दमकता हुआ राजा जयरूप श्रेष्ठ फलका महान् मार्ग है, यह राजा धारण किये हुए और शत्रुसे तिरस्कृत न होसकने वाले जयरूप सारको प्राप्त हो, यह अपने सेनारूप शरीरसे अपने शरीरमें स्थित बलसे शत्रुओंके शरीरोंका उच्चाटन कर रहा है ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

एक॑या च द॒शभि॑श्च सुहुते॒ द्वाभ्या॑मि॒ष्टये॑ विंश॒त्या च॑ ।
ति॒सृभि॑श्च॒ वह॑से त्रिं॒शता॑ च वि॒युग्भि॑र्वाय इ॒ह ता
वि मु॑ञ्च ॥ १ ॥

एक॑या । च॒ । द॒शऽभि॑ः । च॒ । सु॒ऽहु॒ते॒ । द्वाभ्या॑म् । इ॒ष्टये॑ । वि॒श॒त्या । च॒ ।
ति॒सृऽभि॑ः । च॒ । वह॑से । त्रिं॒शता॑ । च॒ । वि॒युक्ऽभि॑ः । वा॒यो॒ इति॑ ।
इ॒ह । ताः । वि । मु॒ञ्च॒ ॥ १ ॥

हे सुहुते शोभनाह्वान सुष्ठु ह्वातव्य वा हे वायो । सर्वप्रेरकः प्रजापतिः प्रसिद्धो वा वायुः । एकया च दशभिश्च । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चशब्दौ ❀ । एकादशभिः वियुग्भिः विशेषेण युज्यन्ते रथे इति वियुजो वडवाः । ❀ युजेः कर्मणि क्विप् ❀ । ताभिर्वहसे । वहतिरत्र गतिमात्रवाची । आगच्छ । किमर्थम् । इष्टये यागाय । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी ❀ । अस्माभिरनुष्ठीयमानं कर्म आयाहि । यद्वा इष्टये इच्छायै । ❀ "मन्त्रे वृषेषपच०" इति क्तिन्नुदात्तः । "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀ । अस्मदीयफलकामनां पूरयितुम्

एकाशद्भिरश्वाभिः वहसे । ❀ व्यत्ययेन कर्मार्थे कर्तृप्रत्ययः ❀। उह्यसे । ❀ दशभिरिति “झल्युपोत्तमम्” इति स्वरेण मध्योदात्तं पदम् ❀ । तथा द्वाभ्यां च विंशत्या च द्वाविंशत्या वडवाभिर्वहसे । ❀ विंशत्येति । “उदात्तयणो हल्पूर्वात्” इति विभक्तिरुदात्ता ❀। तथा तिसृभिश्च त्रिंशता च त्रयस्त्रिंशता अश्वाभिर्वहसे । अयम् अर्थः । सुहुत इति विधेयविशेषणम् यतस्त्वं सुहुतिः अतः अस्मदाह्वानानुसारेण अस्माकं फलप्रदानादरानुसारेण वा शीघ्रम् आगन्तुं कदाचिद् एकादशभिः कदाचिद् द्वाविंशत्या कदाचित् त्रयस्त्रिंशता वडवाभिः अस्मदीयं यागं प्राप्नुहीति । अतित्वरागमनविवक्षायां वायोः अपरिमिता अश्वाः शाखान्तरे समाम्नायन्ते । “आ वायो भूष शुचिपा उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार” इति [ऋ० ७. ९२. १] । वायोरश्वा नियुत इत्युच्यन्ते । आगत्य च हे वायो इह अस्मिन् अस्मदीये कर्मणि अश्वशान्तिलक्षणे वा ता वडवा वि मुञ्च । इहैव स्थापय । इतः प्रदेशात् प्रदेशान्तरम् आभिर्वडवाभिर्मा प्राप इत्यर्थः ॥

हे शोभनरीतिसे आह्वान करने योग्य सर्वप्रेरक प्रजापते वा वायो ! आप ग्यारह घोड़ियोंसे, बाईस घोड़ियोंसे वा तैंतीस घोड़ियोंसे यज्ञमें (हमारी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये) आइये और उन घोड़ियोंको यहाँ छोड़ दीजिये अर्थात् यहाँसे अन्यत्र न जाइये † ॥ १ ॥

---

† फलप्रदानकी आवश्यकतानुसार वायु ग्यारह बाईस व तैंतीस घोड़ियों पर शीघ्रतासे आसकते हैं । अति–शीघ्रताकी इच्छा होने पर वायुके असंख्य घोड़ोंका वर्णन अन्य शाखाओंमें मिलता है । यथा–‘आ वायो भूष शुचिपा उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार” (ऋग्वेदसंहिता ७ । ९२ । १.) ॥

षष्ठी ॥

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑
दे॒वाः ॥ १ ॥

य॒ज्ञेन॑ । य॒ज्ञम् । अ॒य॒ज॒न्त॒ । दे॒वाः । तानि॑ । धर्मा॑णि । प्र॒थ॒मानि॑ ।
आ॒स॒न् ।
ते । ह॒ । नाक॑म् । म॒हि॒मानः॑ । स॒च॒न्त॒ । यत्र॑ । पूर्वे॑ । सा॒ध्याः ।
सन्ति॑ । दे॒वाः ॥ १ ॥

देवाः कर्मणा देवत्वं प्राप्ता यजमानाः पूर्वं यज्ञेन अग्निना निर्मन्थ्येन यज्ञं होमाधारम् आहवनीयम् अग्निम् अयजन्त। ❀ यजिरत्र संगतकरणवाची ❀। अनुष्ठानाय संयोजितवन्त इत्यर्थः। "यद् अग्नावग्निं मथित्वा प्रहरति तेनैवाग्नय आतिथ्यं क्रियते" इति हि तैत्तिरीयकम् [तै० सं० ६. २. १. ७]। तानि धर्माणि अग्निसाधनानि कर्माणि प्रथमानि। प्रथम इति मुख्यनाम। प्रतमानि प्रकृष्टतमानि आसन्। फलप्रसवसमर्थानि अभवन्नित्यर्थः। ❀ धर्माणीति। धर्मशब्दः अपूर्वे पुंलिङ्गः तत्साधने नपुंसक इति "अर्धर्चाः पुंसि०" इति सूत्रे वृत्तिकारेण लिङ्गानुशासनं कृतम् ❀। ते ह ते खलु देवा महिमानः महत्त्वयुक्ता नाकम् कं सुखम् अकं दुःखं तद् अत्र नास्तीति नाकः स्वर्गः त सचन्तः संगताः। ❀ षच समवाये। लङि "०अमाङ्योगेपि" इति अडभावः ❀। यत्र यस्मिन् नाके पूर्वे पुरातनाः साध्याः। प्राणाभिमानिनो देवाः, साध्या इत्युच्यन्ते। तथा च वाजसनेयकम्। "प्राणा वै साध्या

देवास्त एतम् अग्रम् एवम् असाधयन्" इति [श० ब्रा० १०. २. २. ४]। यद्वा छन्दोभिमानिनो देवा आदित्या अङ्गिरसश्च साध्या देवा इत्युच्यन्ते। ते देवाः सन्ति निवसन्ति। तस्माद् इदानीमपि यज्ञाधिकारिभिः एवं कर्तव्यम् इत्यर्थः। अत्र ऐतरेयकब्राह्मणम्। "यज्ञेन देवा वैतद् देवा यज्ञम् अयजन्त यद् अग्निनाग्निम् अयजन्त ते स्वर्गं लोकम् आयन्" इति [ऐ० ब्रा० १. १६]। "यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा इति। छन्दांसि वै साध्या देवाः। तेग्रेग्निनाग्निम् अयजन्त। ते स्वर्गं लोकम् आयन्नादित्याश्चैवेहासन्नङ्गिरसश्च। तेग्रेग्निनाग्निम् अयजन्त। ते स्वर्गं लोकम् आयन्" इति [ऐ० ब्रा० १. १६]। यद्वा देवा इदानीं देवभावम् आपन्नाः पूर्वं यज्ञेनाग्निना पशुभूतेन यज्ञं यष्टव्यम् अग्निम् अयजन्त पूजितवन्तः। अग्नेरेव मूर्तिभेदेन देवत्वं पशुत्वं च द्रष्टव्यम्। "अग्निः पशुरासीत्। तम् आलभन्त। तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम्" इति हि यास्कः [नि० १२. ४१]। साध्याः यज्ञादिसाधनवन्तः। "साधनाः द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः" इति हि यास्कः [नि० १२. ४१]। शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम्। अथवा यज्ञेन ज्ञानयज्ञरूपेण यज्ञः। "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० १. ३. ८. ५] विष्णुः। तम् अयजन्त आत्मत्वेन ध्यातवन्तः। ते नाकं स्वर्गम्

दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तम् अनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम्

इत्युक्तनित्यसुखरूपम्

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।

इति [भ० गी० १५. ६] भगवतोक्तं स्थानं सचन्त सेवन्ते प्राप्नुवन्ति। साध्याः। ❀ व्यत्ययेन कर्तरि कृत्यप्रत्ययः ❀। साधकाः। अहंग्रहोपासका इत्यर्थः। यद्वा साध्यं ज्ञानेन प्राप्यं वस्तु येषाम् आत्मत्वेन अस्तीति। ❀ अर्शआदित्वाद् अच् प्रत्ययः ❀। शिष्टं समानम्॥

2036

देवता अर्थात् कर्मसे देवत्वको प्राप्त हुए यजमानोंने, मथ कर निकाली हुई अग्निरूप यज्ञसे होमाधार आहवनीय अग्निरूप यज्ञको संगत किया था †। ये अग्निसाधन आदि कर्म मुख्य हुए थे अर्थात् फलको देनेमें समर्थ हुए थे। वे देवता महत्त्वसंपन्न होकर जहाँ दुःखका लेश भी नहीं होता, उस नाकस्थानसे संगत होगए हैं, उस नाक (स्वर्ग) में पुरातन प्राणाभिमानी साध्य देवता रहते हैं §। इस कारण इस समय भी यज्ञाधिकारियोंको ऐसा ही करना चाहिये ×।

अथवा–इस समय जो देवत्वको प्राप्त हैं उन्होंने पहिले यज्ञसे अर्थात् पशुभूत अग्निसे पूजनीय अग्निका पूजन किया था +।

---

† तैत्तिरीयसंहिता ६। २। १। ७ में कहा है, कि–'यदग्नावग्निं मथित्वा प्रहरति तेनैवाग्नय आतिथ्यं क्रियते।–जो अग्निमें अग्निको मथकर डाला जाता है उसीसे अग्निके लिये अतिथिसत्कार किया जाता है"।

§ प्राणाभिमानी देवता साध्य कहलाते हैं, इसी बातको वाजसनेयकमें कहा है, कि–'प्राणा वै साध्या देवास्त एतं अग्रं एवं असाधयन्।–प्राण ही साध्य देवता हैं, उन्होंने इस मुख्य धर्मका साधन किया था। अथवा छन्दोऽभिमानी देवता आदित्य और अंगिरस् भी साध्य देवता कहलाते हैं।

× इस विषयमें ऐतरेयक ब्राह्मणमें कहा है, कि–'यज्ञेन वै तद्द देवा यज्ञम् अयजन्त। यद् अग्निनाऽग्निम् अयजन्त ते स्वर्गं लोकं आयन्" (ऐतरेयब्राह्मण १। १६) "यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा इति। छन्दांसि वै साध्या देवाः। तेऽग्रेऽग्निनाऽग्निम् अयजन्त। ते स्वर्गं लोकं आयन्" (ऐतरेय ब्राह्मण १। १६)

+ निरुक्त १२। ४१ में कहा है, कि–"अग्निः पशुरासीत्।

२०३८

ये पूजन आदि धर्म मुख्य हैं, ऐसा करनेसे ये स्वर्गसे संयुक्त होगए हैं, तहाँ पहिले साध्य देवता रहते हैं।

अथवा–देवताओंने ज्ञानरूपयज्ञसे यज्ञरूप ‡ विष्णुका आत्मत्वरूपसे ध्यान किया। अतः वे दुःखसे शून्य ÷ भगवान्‌के कहे हुए स्थानको ❀ प्राप्त होगए। ये आत्मरूपसे ध्यान आदि मुख्य कर्म हैं, तहाँ साध्य अर्थात् ज्ञानसे प्राप्य वस्तुको आत्मरूपमें मानने वाले देवता रहते हैं॥ १॥

सप्तमी॥

य॒ज्ञो ब॑भूव॒ स आ ब॑भूव॒ स प्र ज॑ज्ञे॒ स उ॑ वावृधे॒ पुन॑ः।

स दे॒वाना॒मधि॑पतिर्बभूव॒ सो अ॒स्मासु॒ द्रवि॑ण॒मा द॑धातु

य॒ज्ञः। ब॒भू॒व॒। सः। आ। ब॒भू॒व॒। सः। प्र। ज॒ज्ञे॒। सः। ऊं॒

इति॑। व॒वृ॒धे॒। पुन॑ः।

तम् आलभन्त। तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम्।–अग्नि पशु था, उसका आलभन किया और उससे यजन किया"।

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण १। ३। ८। ५ में कहा है, कि–'यज्ञो वै विष्णुः।–यज्ञ विष्णु हैं।

÷ 'दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तं अनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम्॥–जो दुःखसे भिदता न हो और जिसके अनन्तर प्राणी दुःखसे ग्रस्त न होजाता हो और जो अभिलाषा करते ही मिला हो उस सुखको स्वर्ग कहते हैं' वह नित्य सुखरूप स्थान नाक कहलाता है।

❀ भगवान्‌ने भगवद्गीताके १५ वें अध्यायके ६ठे श्लोकमें कहा है, कि–"यद्ग गत्वा न निवर्तन्ते तद्ध धाम परमं मम।–प्राणी जहाँ जाकर फिर नहीं लौटते हैं वह मेरा परम धाम है"॥

सः । दे॒वाना॑म् । अधि॑ऽपतिः । ब॒भू॒व॒ । सः । अ॒स्मासु॑ । द्रवि॑णम् । आ । द॒धा॒तु॒ ॥ २ ॥

यज्ञः यज्ञरूपः प्रजापतिः प्रसिद्धो वा यज्ञः स बभूव विश्वात्मना व्याप्तः निर्वृत्तो वा अभूत् । स आ बभूव सर्वतः कारणात्मना अभवत् । [यद्वा] स निर्वृत्तो यज्ञः आवृत्य भवतु पुनःपुनर्भवतु । ❀ छान्दसो लिट् ❀। स प्र जज्ञे ।❀ जानातेर्जायतेर्वा रूपम् ❀। प्रज्ञातः प्रसिद्धो यज्ञः प्रकर्षेण जातः । फलोन्मुखो जात इत्यर्थः । उशब्दः अवधारणे । स एव पुनर्वावृधे अद्यापि जगदात्मना पुनःपुनर्वर्धते वर्धतां वा यज्ञः । ❀ तुजादित्वाद् अभ्यासस्य दीर्घः ❀। स देवानाम् इन्द्रादीनाम् अधिपतिः अधिको मुख्यः स्वामी बभूव । यज्ञो वा हेतुत्वाद् देवानाम् अधिकं पालयिताभूत् । स यज्ञः अस्मासु हविषा परिचरत्सु द्रविणम् धनम् अभिमतं फलम् आ दधातु स्थापयतु ॥

यज्ञरूप प्रजापति वा प्रसिद्ध यज्ञ विश्वात्मारूपसे व्याप्त हुआ है और चारों ओर कारणात्मारूपसे व्याप्त है और वह यज्ञ फलोन्मुख होता है और वह आजकल जगदात्मारूपसे वारंवार बढ़ता है, नह इन्द्र आदि देवताओंका स्वामी हुआ है । ऐसा यज्ञ हम हवि से सेवा करने वालोंमें—धन—अभिमत फल—को स्थापित करे॥२॥

अष्टमी ॥

यद् दे॒वा दे॒वान् ह॒विषाय॑ज॒न्ताम॑र्त्या॒न् मन॒सामर्त्ये॑न ।
मदे॑म॒ तत्र॑ पर॒मे व्यो॑म॒न् पश्ये॑म॒ तदुदि॑तौ॒ सूर्य॑स्य ३.

यत् । दे॒वाः । दे॒वान् । ह॒विषा॑ । अय॑जन्त । अम॑र्त्यान् । मन॑सा । अम॑र्त्येन ।

मदेम । तत्र । परमे । विऽओमन् । पश्येम । तत् । उत्ऽइतौ । सूर्यस्य

देवाः कर्मणा देवत्वं प्राप्ताः यत् फलम् । उद्दिश्येति क्रियाध्याहारः । अमर्त्यान् अमरणधर्मणो देवान् इन्द्रादीन् अमर्त्येन अमर्त्यसंबन्धिना । देवविषयेणेत्यर्थः । अविनाशिना वा । भोगायतनेष्वागमापायिष्वपि मनसोवस्थानाद् नित्यत्वम् । तादृशेन चिरकालावस्थायिना मनसा हविषा चरुपुरोडाशादिना। अयजन्त इष्टवन्तः इति स्वेषामेव परोक्षेणाभिधानम् । "विद्वान् यजेत" इति "विद्वान् याजयेत" इति वचनाद् अनुष्ठेयार्थप्रकाशकमन्त्रार्थयष्टव्यदेवताकर्तृज्ञानरूपं वैदुष्यं कर्मसु अपेक्षितम् तच्च पूर्वापरानुसंधानसाधनभूतेन मनसा विना न संभवतीति मनसेत्युक्तम् । "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट्करिष्यन्" इति हि [ऐ० ब्रा० ३. ८] श्रुतिः । वषट्कारवचनम् उपलक्षणम् । तत्र तस्मिन् परमे उत्कृष्टे केवलपुण्यफलभोगस्थाने व्योमन् व्योमनि द्युलोके मदेम वयं यजमाना हृष्यास्म । ❀ माद्यतेः "लिङ्याशिष्यङ्" प्रत्ययः ❀ । अपि च सूर्यस्योदितौ । द्युलोके हि नित्योदितः सूर्यः । सूर्यप्रकाशे यावत्सूर्यप्रकाशं तत् फलं पश्येम । ❀ पश्यतिरत्र आलोचनवाची ❀ । भोग्यत्वेन जानीमः । चिरकालं पुण्यफलम् अनुभवेमेत्यर्थः ॥ एवं द्रव्ययज्ञस्वरूपतत्फलतद्भोगस्थानपरतया व्याख्यातः ज्ञानयज्ञपरत्वेनापि अयं मन्त्रो व्याख्यायते । आत्मविषयविद्यया दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः विविदिषवः । यत् । ❀ सप्तम्या लुक् ❀ । यस्मिन् ब्रह्माग्नौ देवान् । देवशब्देन देवनसाधनभूता इन्द्रियवृत्तयो विवक्ष्यन्ते । तासां मनसश्च विषयेषु सांतत्येन प्रवर्तनाद् अमर्त्यत्वाभिधानम् । अथवा तत्त्वविद्योदयपर्यन्तम् इन्द्रियवासनानां मनसश्चावस्थानाद् अविनश्वरत्वम् । ❀ मनसेति सहार्थे तृतीया ❀ । अह्नहृत्युपर-

२०४१

मेपि मनसो व्यापारसद्भावात् पृथगुपादानम् । मनःसहिता अस्मद्वृत्तीः हविषा । ❀ भावप्रधानोऽयं निर्देशः ❀ । हविष्ट्वेन । संकल्प्येति शेषः । ❀ यद्वा हविष्ट्वसंकल्पे मनसः करणत्वात् तृतीया ❀ अमर्त्येन । मर्त्यशब्देन नाशिनो बाह्यविषया उच्यन्ते । विनाशिविषयानासक्तेनेत्यर्थः ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तेर्निर्विषयं स्मृतम् ॥

इति श्रुतेः [‡] तादृशेन विषयानासङ्गिना मनसा इन्द्रियवृत्तीर्हविष्ट्वेन संकल्प्य अयजन्त तथाविधा वयं तत्र तस्मिन् परमे । तस्य सर्वजगदधिष्ठानत्वात् तस्य वा अधिष्ठानान्तराभावात् परमत्वम् । "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" इति [छा० उ० ७. २४. १] श्रुतेः स्वमहिमप्रतिष्ठे व्योमनि व्योमवद् असंगे सर्वगते चिदानन्दलक्षणे ब्रह्मणि विषये मदेम तुष्याम । न केवलं संतोषः अपि तु सूर्यस्य सुष्ठुप्रेरकस्य परमात्मनः उदितौ परिपूर्णप्रकाशसाक्षात्कारेण अविद्यास्तमये सति तत् प्रकाशात्मकं तत्त्वं पश्येम स्वात्मतया अनुभवेम । ❀ संप्रश्ने लिङ् ❀ ॥

कर्मसे देवत्वको प्राप्त हुए मनुष्य जिस फलको उद्देश्यमें रख कर अमरणधर्मा इन्द्र आदि देवताओंका—उत्पन्न और नष्ट होनेवाले भोगरूप स्थानोंमें भी रहनेके कारण नित्य मनसे—चरु पुरोडाश आदिके द्वारा यजन करते हुए [‡] ऐसे हम यजमान केवल पुण्यफलभोगके स्थान द्युलोकमें आनन्द पावें और द्युलोकमें

[‡] मनके विषयमें श्रुतिमें कहा है, कि—'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्तेर्निर्विषयं मतम् ॥ मन ही मनुष्योंके बंध और मोक्षका कारण है, विषयासक्त मन—बंधनका कारण होता है और विषयशून्य मन मुक्तिका कारण होता है' अतः यहाँ विषयासक्त मनकी आहुति देनेका ही अभिप्राय है।

सूर्य नित्य उदित रहता है अतः हम सूर्यके उदयको देखते रहें अर्थात् चिरकाल तक पुण्यफलका अनुभव करें ॥

यह मन्त्र ज्ञानयज्ञपरक भी है, उस समय इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी, कि–आत्मविषयक विद्यासे क्रीड़ा करने वाले जाननेकी इच्छा वाले यहाँ देवता माने गए हैं अतः ऐसे देवता ब्रह्माग्निमें विषयोंमें सन्तत प्रवर्तनके कारण अमर्त्य देवनकी साधनभूत इन्द्रियरूप देवताओंको, तत्त्वविद्याके उदय तक स्थिर रहनेके कारण नित्य मनके साथ हविरूपमें कल्पना करके होमते हुए ऐसे हम सब जगत्का अधिष्ठान होनेसे परम और दूसरा अधिष्ठान भी न होनेसे परम ‡ अपनी महिमामें प्रतिष्ठित व्योमकी समान असंगत,सर्वगत चिदानन्दरूप ब्रह्ममें हर्षको पावें, केवल हर्ष (सन्तोष) को ही न पावें, किंतु भली प्रकार प्रेरणा करने वाले (सूर्य) परमात्माका उदय होने पर परिपूर्ण प्रकाशका साक्षात्कार होनेसे अविद्याका अस्त होजानेके कारण प्रकाशात्मक तत्त्वका स्वात्मरूपसे अनुभव करें ॥ ३ ॥

नवमी ॥

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥

यत् । पुरुषेण । हविषा । यज्ञम् । देवाः । अतन्वत ।
अस्ति । नु । तस्मात् । ओजीयः । यत् । विऽहव्येन । ईजिरे ४

---

‡ छान्दोग्योपनिषत् ७ । २४ । १ की श्रुतिमें कहा है, कि–'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ।–हे भगवन् ! वह किसमें प्रतिष्ठित है, वह अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है" ॥

सर्वातिशायिसर्वात्मकहिरण्यगर्भरूपफलप्रापकात् पुरुषमेधाख्यमहाक्रतोरपि सर्वात्मकब्रह्मस्वरूपावाप्तिफलप्रापको ज्ञानयज्ञः श्रेयान् इत्यनया अभिधीयते । पुरुषमेधविधायकं वाक्यम् एवं वाजसनेयब्राह्मणे समाम्नायते । "पुरुषो ह वै नारायणोकामयत । अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्याम् इति । स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुम् अपश्यत् । तम् आहरत् । तेनायजत । तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत् । सर्वाणि भूतानीदं सर्वम् अभवत्" इति [श० ब्रा० १३. ५. ५. १]। देवाः दीव्यन्तीति देवा यजमानाः पुरुषेण अश्वरूपेण हविषा । "अथ स पुरुषोश्व आसीत्" इति वाजसनेयश्रुतेः । अत्र साक्षात् पुरुषस्य अनालम्भनात् पर्यग्निकरणानन्तरम् उत्सर्गविधानाद् अश्वमेधातिदिष्टोश्वः पशुः पुरुषशब्देन विवक्ष्यते । तेन हविषा यज्ञं पुरुषमेधाख्यम् अतन्वत विस्तारितवन्तः । ❀ यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः ❀ । "ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभते" [तै० ब्रा० ३. ४. १. १] इत्यादिना समाम्नाता ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिरूपा बहवः पुरुषपशवो विद्यन्ते इति यज्ञविस्तारोक्तिः । एवं पुरुषहविष्कयज्ञ इति यद् अस्ति तस्माद् ओजीयः अतिशयेन ओजस्वि सारवत् अस्ति नु विद्यते खलु । सामान्यनिर्देशेन यज्ञस्वरूपापेक्षया वा नपुंसकत्वम् । ❀ ओजीय इति ओजस्विशब्दाद् ईयसुनि विनो लुकि रूपम् ❀ । ओजीयोस्तीति प्रतिज्ञातम् तद् दर्शयाते । विहव्येन हव्यं होतव्यं हविः । विगतहविष्केण ज्ञानयज्ञेन ईजिरे इष्टवन्तः स्वात्मानं परमात्माभेदेन साक्षात्कृतवन्त इति यत् तद् ओजीय इति । द्रव्ययज्ञज्ञानयज्ञयोरुभयोः सार्वात्म्यलक्षणफलसाम्येपि पुरुषमेधफलस्य कर्मजन्यत्वेन विनाशित्वं ज्ञानयज्ञफलं तु न तथेति तस्माद् ओजीय इत्युक्तम् । भगवतापि उक्तम् ।

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप । इति [भ० गी० ४. ३३] ॥

२०७४

[सबसे अधिक सत्त्वात्मक हिरण्यगर्भरूप फलको प्राप्त कराने वाले पुरुषमेध नाम वाले महाक्रतुसे भी सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूप फलकी प्राप्ति कराने वाला ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, इसी बातका इस ऋचामें प्रतिपादन किया है, पुरुषमेधविधायक वाक्य वाजसनेयकमें इस प्रकार कहा है, कि—"पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत। अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्याम् इति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुं अपश्यत्। तम् आहरत्। तेनायजत। तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत्। सर्वाणि भूतानीदं सर्वं अभवत्।—पुरुषरूपमें स्थित नारायणने कामना की, कि—मैं सब भूतोंमें अधिष्ठित होऊँ, यह सब मैं ही होजाऊँ। तब उसने इस पाँच रात्रिमें पूर्ण होनेवाले पुरुषमेध यज्ञक्रतुको देखा। उसकी सामग्रीको एकत्रित कर उससे यजन किया और यजन करनेके अनन्तर स्थित होगया, फिर सब भूत और यह सब होगया" (शतपथब्राह्मण १३।५।५।१)। मन्त्रके पुरुषशब्दका अर्थ अश्वरूप हवि है। क्योंकि—वाजसनेयककी श्रुतिमें कहा है, कि—"अथ स पुरुषोऽश्व आसीत्।—तदनन्तर वह पुरुष अश्व होगया"। यहाँ साक्षात् पुरुषका आलंभन न होने पर पर्यग्निकरणके अनन्तर उत्सर्गका विधान होनेसे अश्वमेधके लिये अतिदिष्ट अश्वपशु पुरुषशब्दसे विवक्षित है।] स्तुति करने वाले यजमानरूप देवताओंने पुरुषपशुकी हविसे पुरुषमेध नाम वाले यज्ञको विस्तृत किया †। ऐसे पुरुषहविष्क यज्ञसे भी, हविरहित यज्ञसे जो यजन किया जाता है वह ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ‡ ॥ ४ ॥

---

† 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभते' (तैत्तिरीयब्राह्मण ३।४।१।१) में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदिरूप बहुतसे पुरुषपशु हैं उनसे यज्ञके विस्तार करनेका वर्णन किया है।

‡ अपने आत्माका परमात्माके अभेदसे साक्षात्कार करना

दशमी ॥

मु॒ग्धा दे॒वा उ॒त शुना॑यजन्तो॒त गोरङ्गैः॑ पुरु॒धाय॑जन्त ।
य इ॒मं य॒ज्ञं मन॑सा चि॒केत॒ प्र णो॑ वोच॒स्तमि॒हेह ब्र॑वः ॥

मु॒ग्धाः । दे॒वाः । उ॒त । शुना॑ । अयजन्त । उ॒त । गोः । अङ्गैः॑ ।
पु॒रु॒ऽधा । अ॒य॒ज॒न्त॒ ।

यः । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । मन॑सा । चि॒केत॑ । प्र । नः॒ । वो॒चः॒ । तम् ।
इ॒ह । इ॒ह । ब्र॒वः॒ ॥ ५ ॥

एवं कर्मयज्ञात् ज्ञानयज्ञस्य उत्कर्षं श्रुत्वा कर्मयज्ञं निन्दन् अविनाशिफलकामस्तटस्थो ब्रूते । मुग्धाः कार्याकार्यविवेकरहिता देवा यजमानाः । उतशब्दः अप्यर्थे । शुनापि अयजन्त । यज्ञो हि पशुसाधनकः । तत्र अत्यन्तगर्हितस्यापि शुनः पशुत्वेन निर्देशात् कर्मयज्ञस्य निन्दा दर्शिता । अखाद्यानां परमावधिः श्वा । तथा । उतशब्दः अप्यर्थे । गोः गोरूपपशोः अङ्गैः अवयवैरपि । "हृदयस्याग्रेवद्यति" [तै० सं० ६. ३. १०. ४] इति अंगावदानश्रवणाद् अङ्गैरित्युक्तम् । अवध्यानां परमावधिर्गौः । पुरुधा बहुधा अयजन्त । एकदा करणे प्रमादाज्ञानादिकृतम् इति संभावना भवति । अतस्तन्निरासाय पुरुधेत्युक्तम् । सर्वदा शुनकगवादिरूपैः पशुभिर्यज्ञं कुर्वन्तीत्यर्थः । एवं पूर्वार्धेन कर्मयज्ञं निन्दित्वा

ही ज्ञानयज्ञ कहलाता है । इन द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ दोनोंमें सार्वात्म्यलक्षणफलकी समानता होने पर भी पुरुषमेधका फल कर्मजन्य होनेसे विनाशी है और ज्ञानयज्ञका फल विनाशी नहीं है अत एव वह श्रेष्ठ है । भगवान्‌ने भी कहा है, कि—'श्रेयान् द्रव्यमयाद्‌ यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप' । (भगवद्गीता ४ । ३३) ॥

उत्तरार्धेन ज्ञानयज्ञप्राप्तये तदभिज्ञं प्रार्थयते । यो विद्वान् इमं यज्ञम् यष्टव्यं परमात्मानं मनसा चिकेत जानाति स्म तं तथाविधं गुरुं नः अस्माकं प्र वोचः प्रकर्षेण ब्रूहि । तेन प्रदर्शितं गुरुं ब्रूते । इहैव इहैव इदानीमेव अत्रः परमात्मस्वरूपं ब्रूहि ॥

[इति] सप्तमे काण्डे प्रथमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

(इस प्रकार कर्मयज्ञसे ज्ञानयज्ञके उत्कर्षको सुनकर कर्मयज्ञकी निन्दा करता हुआ अविनाशी फलको चाहने वाला तटस्थ कहता है, कि-) कार्य और अकार्यके विवेकसे रहित यजमानोंने कुत्तेसे यज्ञ किया है और गौके अंगोंसे भी अनेक वार यज्ञ किया है (यज्ञ पशुसे सिद्ध होता है । उसमें परमगर्हित कुत्तेको भी पशुरूपसे ग्रहण किया है अतः कर्मयज्ञको निन्दनीय बताया है, क्योंकि—अखाद्य वस्तुओंमें कुत्ता परम अखाद्य है और गौ परम अवध्य है तथापि "हृदयस्याग्रेऽवद्यति" तैत्तिरीयसंहिता ६ । ३ । १० । ४ में अंगोंका अवदान करना कहा है । एक वार कोई बात प्रमाद से भी होसकती है अतः अनेक वार कहा है । इस प्रकार पूर्वार्धसे कर्मयज्ञकी निन्दा करके उत्तरार्धसे ज्ञानयज्ञकी प्राप्तिके लिये उस को जानने वालेकी प्रार्थना करते हैं, कि-) जो विद्वान् यष्टव्य परमात्माको मनसे जान चुका हो ऐसे गुरुको ध्यान देकर बताइये (और प्रदर्शित गुरुसे कहते हैं, कि—) इसी समय आप परमात्मस्वरूपको कहिये ॥ ५ ॥

सप्तम काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त

"अदितिर्द्यौरदितिः" इति द्वितीयं सूक्तम् । तत्र आधाभिश्चतसृभिः सर्वफलकामः अदितिं यजते उपतिष्ठते वा । "अथर्वाणम् [७. २] अदितिर्द्यौः [७. ६] दितेः पुत्राणाम्" [७.८] इति [कौ० ७. १०] सूत्रात् ॥

तथा आधाने पवमानेष्टौ आदित्यहविरनुमन्त्रणे "अदितिर्द्यौः"

इति विनियुक्ता । आधानं प्रक्रम्य वैताने सूत्रितम् । "पवमानः पुनातु [६. १९. २] त्वेषस्ते [१८. ४. ५९] अग्नी रक्षांसि [८. ३. २६] अदितिर्द्यौः" [७. ६] इति [वै० २. २] ॥

"महीमू षु" [७. ६. २] इति तृचेन नौघटादिभिरुदकतरणे स्वस्त्ययनकामो नावादिकम् अभिमन्त्र्य तेन तरेत् ॥

तथा नावादिभिर्दूरदेशगमने स्वस्त्ययनकामः अनेन तृचेन नावं संपात्य तरेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन नौमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य नाविकेभ्यो बध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । "महीमू ष्विति तरणान्यारोहयति । दूरान्नावं संपातवतीं नौमणिं बध्नाति" इति [कौ० ७. ३] ॥

"महीमू षु" इति ऋचा विवाहे चतुर्थिकाकर्मणि खट्वां स्पर्शयेत् । "महीमू ष्विति तल्पम् आलम्भयति" इति [कौ० १०.५] सूत्रात् ॥

तथा आवसथ्याधाने क्रव्यद्विसर्जनानंतरं गृहसमीपे नदीरूपाणि कृत्वा उदकेन आपूर्य "महीमू षु" "सुत्रामाणम्" इत्याभ्यां नावम् आरोहयेत् । सूत्रितं हि । ' प्राग्दक्षिणं सप्त नदीरूपाणि कारयित्वा उदकेन पूरयित्वा आ रोहत सवितुर्नावम् एताम् [१२. २. ४८] सुत्रामाणम् [७. ७. १] महीमू षु [७. ६. २] इत्रि सहिरण्यां सयवां नावम् आरोहयति" इति [कौ० ९. ३] ॥

सोमयागे दीक्षायां "सुत्रामाणम्" इत्येनां कृष्णाजिनस्थो यजमानो जपेत् । "पुनन्तु मा [६. १९. १] इति पाव्यमानः सुत्रामाणम् [७. ७. १] इति कृष्णाजिनम् उपवेशितः" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. १] ॥

अग्निचयने "वाजस्य नु प्रसवे" इति वाजप्रसवीयहोमान् ब्रह्म

अनुमन्त्रयेत । "वाजस्य नु प्रसव इति वाजप्रसत्रीयहोमान्" इति [वै० ५. २] वैतानसूत्रात् ॥

सर्वफलकामो "दितेः पुत्राणाम्" इति देवान् यजते उपतिष्ठते वा । "अथर्वाणम् अदितिर्द्यौर्दितेः पुत्राणाम्" इति [कौ० ७.१०] हि कौशिकं सूत्रम् ॥

प्रवासे द्रव्यलाभार्थं "भद्रादधि" इति ऋचा आज्यसमित्पुरोडाशादीनाम् अन्यतमं जुहुयाद् ऋचं जपेद् वा ॥

तथा अश्वादियानेन गच्छन् अनया अश्वादिकं संपात्य अभिमन्त्र्य उदकेन संप्रोक्षयेद् मोचयेच्च ॥

तथा विक्रेयं वस्त्रादिकम् अनया संपात्य अभिमन्त्र्य लाभकामः अभिमतं देशं नयेत् ॥

तथा लाभकामः अनया वस्त्रादिकम् अभिमन्त्र्य स्वीकुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "भद्रादधीति प्रवत्स्यन्नुपदधीत । जपति । यानं संप्रोक्ष्य विमोचयति । द्रव्यं संपातवद् उत्थापयति । निमृज्योपयच्छति" इति [कौ० ५. ६] ॥

तथा ग्रहयज्ञे "भद्रादधि" इत्यनया हविराज्यसमिदाधानोपस्थानानि बृहस्पतये कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । "स बुध्न्यात् [४. १. ५] भद्रादधि श्रेयः प्रेहि [७. ९] बृहस्पतिर्नः [७.५३] इति बृहस्पतये" इति [शा० क० १५] ॥

"प्रपथे पथाम्" इति चतुर्ऋचेन नष्टद्रव्यलाभार्थं नष्टद्रव्याकाङ्क्षिणां दक्षिणं पाणिम् उन्मृज्य संपात्य विमृज्य वा उत्थापयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन चतुर्ऋचेन एकविंशतिशर्करा अभिमन्त्र्य चतुष्पथे निधाय विकिरेत् ॥

सूत्रितं हि । "प्रपथ इति नष्टैषिणां प्रक्षालिताभ्यक्तपाणिपादानां दक्षिणं पाणिं निमृज्योत्थापयेत् । एवं संपातवतो विमृज्यैकविंशतिशर्कराश्चतुष्पथे निक्षिप्यावकिरति" [कौ० ७. ३] ।

तथा चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वणि "प्रपथे पथाम्" इत्यनया पौष्णं हविरनुमन्त्रयेत । "चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत" इति प्रक्रम्य "प्रपथे पथाम् [७. १०] मरुतः पर्वतानाम् [५.२४.६]" इति [वै०- २. ४] वैताने सूत्रितम् ॥

"अदितिर्द्यौरदितिः" यह दूसरा सूक्त है। सर्वफलकाम व्यक्ति इसकी पहिली चार ऋचाओंसे अदितिका उपस्थान वा यजन करे । कौशिकसूत्र ७ । १० में कहा है, कि–"अथर्वाणम् (७।२) अदितिर्द्यौः (७ । ६) दितेः पुत्राणाम् (७ । ८)" ॥

तथा आधानकी पवमानेष्टिके आदित्यहविके अनुमन्त्रणमें 'अदितिर्द्यौः' का विनियोग होता है। आधानके प्रकरणमें वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"पवमानः पुनातु (६ । १६ । २) त्वेषस्ते (१८ । ४ । ५६) अग्नी रक्षांसि (८ । ३ । २६) अदितिर्द्यौः (७।६)" (वैतानसूत्र २ ! २) ॥

'महीमू षु' (७ । ६ । २) इस तृचसे नौका घट आदिके द्वारा जलके तरनेमें स्वस्त्ययनको चाहने वाला नौका आदिको अभिमन्त्रित करके उस नौका आदिसे तरे ।

तथा दूरदेशमें नौका आदिसे जाना चाहने वाला स्वस्त्ययन चाहता हो तो इस तृचसे नौकाको सम्पातित करके तरे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस तृचसे नौमणिका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके नाविकोंके बाँध देय ।

कौशिकसूत्र ७ । ३ में कहा है, कि–"महीमू ष्विति तरणान्यारोहयति । दूराभात्रं संपातवतीं नौमणिं बध्नाति" (कौशिकसूत्र ७ । ३) ॥

विवाहके चतुर्थिकाकर्म में 'महीमू षु' इस ऋचासे खट्वाका स्पर्श करे । कौशिकसूत्र १० । ५ में कहा है, कि–"महीमू ष्विति तल्पं आलम्भयति" ॥

तथा आवसथ्याध्यानमें क्रयद्विसर्जनके अनन्तर घरके नदीरूपोंको बना कर जलसे भरे फिर 'महीमू षु' 'सुत्रामाणम्' इन दोनोंसे नौका पर चढ़े। सूत्रमें इस विषयका प्रमाण है, कि—"प्राग्दक्षिणं सप्त नदीरूपाणि कारयित्वा उदकेन पूरयित्वा आ रोहत सवितुर्नावम् एताम् (१२ । २ । ४८) सुत्रामाणम् (७ । ७ । १) महीमू षु (७ । ६ । २) इति सहिरण्यां सयवां नावं आरोहयति ।—अर्थात् प्राग्दक्षिण सात नदीरूपोंको बना कर उनको जलसे भरे फिर बारहवें काण्डके दूसरे अनुवाकके अड़तालीसवें 'आरोहत सवितुर्नावम् एताम्' सूक्तसे, सप्तम काण्डके सातवें अनुवाकके प्रथम सूक्त 'सुत्रामाणम्' से और सातवें काण्डके छठे अनुवाकके दूसरे सूक्त 'महीमू षु' से सुवर्ण और जौं वाली नौका पर चढ़े" (कौशिकसूत्र ९ । ३)।

सोमयागकी दीक्षामें कृष्णमृगचर्म पर विराजमान यजमान 'सुत्रामाणम्' इस ऋचाका जप करे। वैतानसूत्र ३ । १ में कहा है, कि—पुनन्तु मा (६ । १९ । १) इति पाव्यमानः सुत्रामाणम् (७ । ७ । १) इति कृष्णाजिनं उपवेशितः" ॥

अग्निचयनमें ब्रह्मा वाजप्रसवीयहोमका 'वाजस्य नु प्रसवे' से अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र ५ । २ में कहा है, कि—'वाजस्य नु प्रसव इति वाजप्रसवीयहोमान्' ॥

सर्वफलकाम "दितेः पुत्राणाम्" से देवोंका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—'अथर्वाणं अदितिर्द्यौर्दितेः पुत्राणाम्' (कौशिकसूत्र ७ । १०)॥

प्रवासमें द्रव्यका लाभ होनेके लिए 'भद्रादधि' इस ऋचासे घृत समिधा पुरोडाश आदिमेंसे किसी एककी आहुति देवे वा इस ऋचाका जप करे।

तथा अश्वादियानसे चलता हुआ इससे अश्व आदिका संपालन और अभिमन्त्रण करके जलसे प्रोक्षण करे और छोड़ देय।

२०५१

तथा वेचनेके वस्त्र आदिको इससे सम्पातित और अभिमन्त्रित करके लाभ चाहने वाला अभीष्ट स्थानको चला जावे।

तथा लाभ चाहने वाला इससे वस्त्र आदिको अभिमन्त्रित करके स्वीकार करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'भद्रादधीति प्रवत्स्यन्नुपदधीत। जपति।यानं संप्रोक्ष्य विमोचयति।द्रव्यं संपातवद् उत्थापयति।निमृज्योपयच्छति"(कौशिकसूत्र (५ । ६)॥

तथा ग्रहयज्ञमें 'भद्रादधि' इस ऋचासे हविं घृत समिदाधान और उपस्थानोंको बृहस्पतिके लिये करे। इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि–"स बुध्न्यात् (४ । १ । ५) भद्रादधि श्रेयः प्रेहि (७ । ८) बृहस्पतिर्नः (७ । ५३) इति बृहस्पतये (शान्तिकल्प १५)॥

नष्ट द्रव्य चाहने वालोंके नष्ट द्रव्यके लाभके लिये 'प्रपथे पथाम्' इस चतुरृचसे दक्षिण पाणिको शुद्ध संपातित करे उठावें॥ तथा तहाँ ही कर्ममें इस चतुरृचसे इक्कीस रेतेके कणोंको अभिमन्त्रित करके चौराहेमें रख कर वखेर देय।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'प्रपथ इति नष्टैषिणां प्रक्षालिताभ्यक्तपाणिपादानां दक्षिणं पाणिं निमृज्योत्थापयेत्। एवं संपातवतो विमृज्यैकविंशतिशर्कराश्चतुष्पथे निक्षिप्यावकिरति' (कौशिकसूत्र ७। ३)॥

तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें 'प्रपथे पथाम्' इस ऋचासे पूषा देवताकी हविका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत' इति प्रक्रम्य 'प्रपथे पथाम् (७। १०) मरुतः पर्वतानाम् (५ । २४ । ६)" (वैतानसूत्र २।४)

तत्र प्रथमा॥

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः

विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ १ ॥

अदितिः । द्यौः । अदितिः । अन्तरिक्षम् । अदितिः । माता । सः । पिता । सः । पुत्रः ।

विश्वे । देवाः । अदितिः । पञ्च । जनाः । अदितिः । जातम् । अदितिः । जनित्वम् ॥ १ ॥

अदितिः अदीना अखण्डनीया वा पृथिवी देवमाता वा । सैव द्यौः द्योतनशीलो नाकः । सैव अन्तरिक्षम् अन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये ईक्ष्यमाणं व्योम । सैव माता निर्मात्री जगतो जननी । सैव पिता उत्पादकस्तातश्च । स पुत्रः मातापित्रोर्जातः पुत्रोपि सैव । विश्वे देवाः सर्वेपि देवा अदितिरेव । पञ्च जनाः निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः । यद्वा गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि । तद् उक्तं यास्केन । गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः इति [नि० ३. ८]। ऐतरेयब्राह्मणे तु एवम् आम्नातम् । "सर्वेषां वा एतत् पञ्चजनानाम् उक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितॄणां च" इति [ऐ० ब्रा० ३. ३१]। तत्र गन्धर्वाप्सरसाम् ऐक्यात् पञ्चजनत्वम् । एवंविधाः पञ्च जना अपि अदितिरेव । जातम् जननं प्रजानाम् उत्पत्तिः सापि अदितिरेव । जनित्वम् जन्माधिकरणम् । यद्वा जातम् उत्पन्नं जनित्वम् उत्पत्स्यमानं च यद् अस्ति तदपि अदितिरेव । एवं सकलजगदात्मना अदितिः स्तूयते । उक्तं च यास्केन । इत्यदितेर्विभूतिम् आचष्टे इति [नि० ४. २३]।

❀ अदितिः । दो अवखण्डने । अस्मात् कर्मणि क्तिनि "द्यतिस्यतिमास्थाम्०" इति इत्त्वम् । यास्कपक्षे तु दीङ् क्षये इत्यस्मात्

क्तिनि व्यत्ययेन ह्रस्वत्वम् । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । स पितेति स पुत्र इति “निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकताम् आपादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गताम् उपाददते” इत्युद्देश्यलिंगतया पुंलिङ्गत्वम् । जनित्वम् । जनेरौणादिक इत्वन् प्रत्ययः ॐ ॥

अखण्डनीय पृथिवी वा अदीना देवमाता–अदिति ही द्योतनशीला द्यौः (स्वर्ग) है, वही द्यावापृथिवीके मध्यमें दीखता हुआ अन्तरिक्ष है, और वही अदिति माता अर्थात् जगत्का निर्माण करने वाली जननी है, वही पिता अर्थात् उत्पादक तात है, माता पितासे उत्पन्न हुआ पुत्र भी वही है और सब देवता भी अदिति ही है, निषाद पञ्चम जन भी अदिति ही हैं । प्रजाकी उत्पत्ति जनन भी अदिति ही हैं, जो कुछ उत्पन्न हुआ है और होरहा है वह सब अदिति ही है (इस प्रकार सकलजगदात्मारूपसे अदितिकी स्तुति की है यास्कमुनिने भी कहा है, कि–‘इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे’ (नि० ४ । २३) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्

महीम् । ऊं इति । सु । मातरम् । सुऽव्रतानाम् । ऋतस्य ।
पत्नीम् । अवसे । हवामहे ।

तुविऽक्षत्राणाम् । अजरन्तीम् । उरूचीम् । सुऽशर्माणम् । अदितिम् ।
सुऽप्रनीतिम् ॥ २ ॥

महीम् महतीं मंहनीयां वा सुव्रतानाम् । व्रतम् इति कर्मनाम ।

२०५४

शोभनकर्मणां पुरुषाणां मातरम् मातृस्थानीयाम् ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा पत्नीम् पालयित्रीं तुविक्षत्राम् बहुबलां बहुधनां वा। ❀ त्रिचक्रादित्वाद् उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀। अजरन्तीम् अविनश्वरीम् उरूचीम् उरून् महतः अञ्चतीम् उरु महद् अतिदूरं वा गच्छन्तीं बहुप्रकारगतिं वा। ❀ "चौ" इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् ❀। सुशर्माणम् सुसुखाम्। ❀ "सोर्मनसी अलोमोषसी" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀। सुप्रणीतिम् सुखेन कर्मणां प्रणेत्रीं सुष्ठु प्रणीयमानां वा अदितिम् अखण्डनीयां देवमातरं नावं वा अवसे रक्षणाय सु सुष्ठु हवामहे आह्वयामः। ❀ व्यत्ययेन शः ❀। उ इति पदपूरणे ॥

शोभन कर्म वाले पुरुषोंकी मातृस्थानीया, सत्य और यज्ञका पालन करने वाली, परम धनबलवती, अविनाशिनी, सुन्दर सुख से सम्पन्न अनेक प्रकारकी गति वाली, सुखसे प्रणीत विशाल देवमाता अदिति वा नौकाका हम रक्षाके लिये आह्वान करते हैं २

तृतीया ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ १ ॥

सुऽत्रामाणम् । पृथिवीम् । द्याम् । अनेहसम् । सुऽशर्माणम् । अदितिम् । सुऽप्रणीतिम् ।
दैवीम् । नावम् । सुऽअरित्राम् । अनागसः । अस्रवन्तीम् । आ । रुहेम । स्वस्तये ॥ १ ॥

२०५५

सुत्रामाणम् सुष्ठु त्रायमाणां पृथिवीम् विस्तीर्णाम्। ❀ प्रथेः षिवन् संप्रसारणं च [उ० १. १४८] इति प्रत्ययसंप्रसारणे। षित्वात् ङीष् ❀। द्याम् द्योतमानाम् अभिगन्तव्यां वा अनेहसम् अपापाम्। सुशर्माणम् इति पादः पूर्वस्याम् ऋचि व्याख्यातः। स्वरित्राम् शोभनारित्राम्। अरित्रम् उदकक्षेपणसाधनभूतो दण्डः। अस्रवन्तीम् अच्छिद्रां दैवीम् देवानाम् इयम्। ❀ “देवाद्यञञौ” इति अञ् प्रत्ययः ❀। देवमातरं देवसंबन्धिनीं वा नावम् नौसदृशीं प्रसिद्धां वा नावम् अनागसः अनपराधा वयं स्वस्तये क्षेमाय आ रुहेम आरूढा भूयास्म। ❀ “लिङ्याशिष्यङ्”। “अन्येषामपि दृश्यते” इति सांहितिको दीर्घः ❀॥ अस्य मन्त्रस्य दीक्षायां कृष्णाजिनादिरूढेन यजमानेन जप्यत्वाद् नौशब्देन कृष्णाजिनं विवक्ष्यते। तथा च ऐतरेयब्राह्मणे। “कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौः” इत्याम्नातम् [ऐ०- ब्रा० १. १३]। सर्वाणि विशेषणानि पूर्ववद् योज्यानि ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाली विस्तीर्ण, गन्तव्य, पापरहित सुन्दर सुखसे सम्पन्न अखण्डनीय देवमाता अदिति वा नौका की हम शरण लेते हैं—आरोहण करते हैं—। यह सुखपूर्वक कर्मोंका प्रणयन करती हैं वा भली प्रकार प्रणीत हैं। छिद्ररहित हैं देवताओंसे इनका सम्बन्ध है और नौकाकी समान तारने वाली हैं इनके पार उतारनेका (वा नौकाका दण्ड शोभन है, और यह निरपराधा हैं अत एव ऐसी नौका पर हम चढ़ते हैं, वा देवमाता अदितिकी हम शरण लेते हैं ‡ ॥ १ ॥

---

‡ इस मन्त्रको कृष्णमृगचर्म पर आरूढ़ यजमान जपता है अत एव नौकाशब्दसे कृष्णमृगचर्म लिया जाता है। इसी बातको ऐतरेयब्राह्मणमें कहा है, कि–‘कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौः–कृष्णमृगचर्म सुन्दरतासे तारने योग्य नौ है” (ऐतरेयब्राह्मण १ । १३) ॥

चतुर्थी ॥

वा॑जस्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑ति॒ं नाम॒ वच॑सा करा-
महे ।
यस्या॑ उ॒पस्थ॑ उ॒र्व॑१॒न्तरि॑क्ष॒ं सा न॒ः शर्म॑ त्रि॒वरू॑थ॒ं
नि य॑च्छात् ॥ २ ॥

वा॑जस्य । नु । प्र॒ऽस॒वे । मा॒तर॑म् । म॒हीम् । अदि॑तिम् । नाम ।
वच॑सा । क॒रा॒म॒हे॒ ।
यस्या॑ः । उ॒पऽस्थे॑ । उ॒रु । अ॒न्तरि॑क्षम् । सा । न॒ः । शर्म॑ । त्रि॒ऽवरू॑-
थम् । नि । य॒च्छा॒त् ॥ २ ॥

वाजस्य अन्नस्य प्रसवे उत्पत्तौ उत्पत्त्यर्थम् । ❀ "थाथ०" इत्यादिस्वरेण अन्तोदात्तः ❀ । मातरम् अन्नस्य निर्मात्रीं महीम् महतीम् अदितिं नाम । अदितिः अदीना अखण्डनीया वा । एवं-नामधेयाम् एवंस्वभावां नावं वा नु क्षिप्रं वचसा स्तुत्या करामहे कुर्महे । अदितिं नावं वा अन्नप्रसवार्थं स्तुम इत्यर्थः । ❀ करोतेर्व्यत्ययेन शप् ❀ । यस्या अदित्या उपस्थे उत्सङ्गे समीपे उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् आकाशं वर्तते सा अदितिः नः अस्माकं त्रिवरूथम् त्रिभूमिकं त्रिकक्ष्यं शर्म गृहं नि यच्छात् नियच्छतु प्रयच्छतु । ❀यमेर्लेटि आडागमः । "इषुगमियमां छः" इति छादेशः❀ ॥

अन्नकी उत्पत्तिके लिये, अन्नका निर्माण कर सकने वाली विशाल अखण्डनीय नौकाकी हम वाणीसे स्तुति करते हैं, जिस अखण्डनीय नौकाके समीपमें विशाल आकाश है, वह अदिति अर्थात् अखण्डनीया नौका हमको तिखन्ना भवन देवे ।

२०५६

अथवा–अन्नकी उत्पत्तिके लिये हम, अन्नका निर्माण करने वाली विशाला देवमाता अदिति देवीकी वाणीसे स्तुति करते हैं, उन अदिति देवीकी गोदमें बड़ा आकाश है वह अदितिदेवी हम को तिमँजला भवन देवें ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

दि॑तेः पु॒त्राणा॒मदि॑तेरका॒रि॒षमव॑ दे॒वाना॑ं बृह॒ताम॑न॒र्म-
णा॑म् ।
ते॒षा॑ं हि धा॑म गभि॒षक् सं॑मु॒द्रियं॒ नैना॒न् नम॑ंसा प॒रो
अ॑स्ति॒ कश्च॒न ॥ १ ॥

दि॑तेः । पु॒त्राणा॑म् । अदि॑तेः । अ॒का॒रि॒ष॒म् । अव॑ । दे॒वाना॑म् ।
बृ॒ह॒ताम् । अ॒न॒र्म॑णाम् ।
ते॑षाम् । हि । धा॑म । ग॒भि॒ऽसक् । स॒मु॒द्रिय॑म् । न । ए॒ना॒न् ।
नम॑सा । प॒रः । अ॒स्ति॒ । कः । च॒न ॥ १ ॥

कश्यपस्य द्वे भार्ये अदितिर्दितिश्च । तत्र अदितेरुत्पन्ना देवाः । दितेस्तु दैत्या दानवाः । तथा सति देवयागे अस्या ऋचो विनियोगाद् देवप्रशंसापरत्वेन व्याख्यायते । दितेः पुत्राणाम् दैत्यानां संबन्धि । तेषां हि धामेति तृतीयपादे दैत्यस्थानस्य उक्तत्वाद् अत्र षष्ठ्या तत्संबन्धि स्थानं विवक्ष्यते । दैत्यानां स्थानम् अव । ❀उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः❀ । अवकृष्य दैत्येभ्यः अपहृत्य अदितेः । जन्ये जनकशब्दः । पुत्राणाम् इति वा अनुषङ्गः । अदितेः पुत्राणां देवानाम् । अर्थायेति शेषः । दितेः पुत्राणां स्थानम् अवा-

कारिषम् अवकिरामि अवक्षिपामि। यथा तद् धाम दैत्यानां निवासाय न भवेत् तथा विप्रकीर्णं करोमीत्यर्थः । ❀ कॄ विक्षेपे । लुङि "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" इति इडागमे वृद्धौ रूपम् ❀ । देवा विशेष्यन्ते । बृहताम् गुणैर्महताम् अनर्मणाम् अर्म हतस्थानम् तद्रहितानां शत्रुभिरनभिभाव्यानाम् । हिर्हेतौ । हि यस्मात् समुद्रियं समुद्रे भवम् । ❀ "समुद्राभ्राद् घः" इति घः ❀ । समुद्रम् अन्तरिक्षं प्रसिद्धो वा समुद्रः । तत्र दैत्या निवसन्तीति हि प्रसिद्धिः । तादृशं समुद्रभवं तेषां दैत्यानां धाम स्थानं गभिषक् । गम्भीरम् इत्यर्थः । परैर्दुष्प्रवेशम् । दुर्जयम् इति यावत् । अतः अवकृष्य किरामि अवक्षिपामि तेषामिति संबन्धः । किमिति दैत्यतिरस्कारः तद् आह । एनान् । देवानां बृहताम् अनर्मणाम् इति गुणाधिक्यस्य उक्तत्वात् ते देवा अत्र अन्वादिश्यन्ते । एनान् देवान् परः । ❀ परशब्दयोगे पञ्चम्या भवितव्यम् । अत्र छान्दसो विभक्तिव्यत्ययः ❀ । एतेभ्यो देवेभ्यः परः अन्यः कश्चन । चनेति निपातसमुदायः अप्यर्थे । कश्चिदपि नमसा नमस्कारेण हविर्लक्षणेन अन्नेन वा न संभाव्योस्ति । अतो देवानामेव यष्टव्यत्वेन प्रशस्तत्वात् तदर्थेनानेन यागेन अस्माभिरभिलषितसिद्धिराशास्यते

(कश्यप मुनिकी दिति और अदिति नाम वाली दो भार्यायें थीं । इनमें अदितिसे देवता उत्पन्न हुए और दितिसे दैत्य उत्पन्न हुए । और देवयागमें इस ऋचाका विनियोग है अतः देवताओंकी प्रशंसामें इसकी व्याख्या की जाती है, कि--) दैत्योंके स्थानको मैं दैत्योंसे छीन कर अदितिके पुत्र देवताओंका करता हूँ अर्थात् जिस प्रकार वह धाम दैत्योंके निवासके लिये न हो तिस प्रकार उसको विप्रकीर्ण करता हूँ, ये देवता गुणोंसे बड़े हैं और हतस्थानसे रहित हैं । उन दैत्योंका स्थान समुद्र (वा) अन्तरिक्षमें है और वह गम्भीर है अर्थात् शत्रु उसमें कठिनतासे प्रवेश कर

20५६

सकते हैं और इन देवताओंसे अधिक हविका वा नमस्कारका पात्र और कोई नहीं है, अत एव पूजनीय होनेके कारण देवताओंके निमित्त किये हुए इस यागसे हम अपनी अभिलषित सिद्धिकी आशा करते हैं ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम्

भद्रात् । अधि । श्रेयः । प्र । इहि । बृहस्पतिः । पुरःऽएता । ते । अस्तु ।

अथ । इमम् । अस्याः । वरे । आ । पृथिव्याः । आरेऽशत्रुम् । कृणुहि । सर्वऽवीरम् ॥ १ ॥

हे वस्त्रधनादिलाभकाम पुरुष भद्रात् मङ्गलात् संपदः। ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀। श्रेयः संपदं प्रेहि प्रगच्छ प्रकर्षेण गच्छ। उत्तरोत्तरं संपदं प्राप्नुहीत्यर्थः। यद्वा भद्रात् भन्दनीयाद् अस्मात् स्थानात् श्रेयः अतिशयितलाभहेतुं स्थानं प्रेहि। देशान्तरं गच्छतः पुरुषस्य बृहस्पतिसाहायकं दर्शयति। ते लाभार्थं गच्छतस्तव बृहस्पतिः बृहतां देवानां पतिः हिताचरणेन पालयिता एतनामा देवः पुरएता अस्तु पुरतो गन्ता अग्रगामी भवतु। ❀ प्राप्तकाले लोट्। "पुरोव्ययम्" इति गतित्वाद् "गतिकारकोपपदात् कृत्" इति उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀॥ उत्तरार्धे बृहस्पतिः संबोध्यते। हे बृहस्पते त्वम् अथ पुरतो गमनानन्तरम् इमं लाभकामं पुरुषम् अस्याः पृथिव्या वरे उत्कृष्टे लाभस्थाने आ। ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀। आस्थापय। यस्मिन् प्रदेशे

धनादिलाभविशेषो भवति तत्र इमं पुरुषं संयोजयेत्यर्थः । अपि च सर्ववीरम् सर्वे वीराः पुत्रभृत्यादयः [यस्य] तादृशं शत्रुम् आरे दूरे कृणुहि कुरु । लाभस्थाने लाभकामस्य पुरुषस्य ये परिपन्थिनो जनाः तान् दूरम् अपसारयेत्यर्थः । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः । "उतश्च प्रत्यया-च्छन्दसि वा वचनम्" इति हेर्लुगभावः ❀ ॥

हे वस्त्र धन आदिके लाभको चाहने वाले ! आप इस मङ्गलमय कर्मसे उत्कृष्टसम्पत्तिको प्राप्त करिये, अथवा—इस कल्याणमय स्थानसे परमलाभ कराने वाले स्थानको भेजिये (देशान्तर को जाने वाले पुरुषकी बृहस्पतिसाहाय्यको दिखाते हैं, कि—) लाभार्थ जानेवाले तुम्हारे आगे २ बड़े २ देवताओंके पति बृहस्पतिदेव चलें । और हे बृहस्पते ! आप आगे २ होने पर इस लाभ चाहने वाले पुरुषको इस पृथिवीके लाभके श्रेष्ठ स्थानमें स्थापित करिये । और जिसके पास पुत्र भृत्य आदि सब वीर हैं उस शत्रुको दूर करिये अर्थात् लाभस्थानमेंसे इसके प्रतिद्वन्द्वियोंको हटादीजिये ।

सप्तमी ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति
प्रजानन् ॥ १ ॥

प्रऽपथे । पथाम् । अजनिष्ट । पूषा । प्रऽपथे । दिवः । प्रऽपथे ।
पृथिव्याः ।
उभे इति । अभि । प्रियतमे इति प्रियऽतमे । सधस्थे इति सधऽस्थे ।
आ । च । परा । च । चरति । प्रऽजानन् ॥ १ ॥

2061

पूषा पोषको मार्गरक्षको देवः पथाम् मार्गाणां प्रपथे प्रक्रान्तः पन्थाः प्रपथः । मार्गमुखे अजनिष्ट प्रादुर्भवति रक्षणार्थम् । तथा पूषैव दिवः द्युलोकस्य प्रपथे प्रवेशद्वारे पृथिव्याः प्रपथे प्रवेशद्वारे । अजनिष्ट इति संबन्धः । सोयं पूषा प्रियतमे अतिशयेन प्रीतिमत्यौ सधस्थे परस्परं सहैव अवस्थिते । ❀ "सध मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀ । तादृश्यौ उभे द्यावापृथिव्यौ अभिलक्ष्य प्रजानन् यजमानैः कृतं कर्म तत्फलं च प्रकर्षेण विद्वान् आ चरति च परा चरति च दिवः पृथिवीम् आगच्छति पृथिव्या दिवं परागच्छति । सर्वप्राणिकृतस्य कर्मणः साक्षी भूत्वा उभयोरपि लोकयोर्गमनागमने करोतीत्यर्थः ॥

मार्गरक्षक पोषक पूषा देवता प्रवेश मार्गमें रक्षा करनेके लिये प्रादुर्भू होजाते हैं, तथा पूषा देवता ही द्युलोकके प्रवेशद्वारमें रक्षा करनेके लिये आविर्भूत होते हैं और पृथिवीके प्रवेशद्वारमें रक्षाके लिये आविर्भूत रहते हैं। और यह पूषा देवता परमप्रेमी परस्पर साथ ही साथ स्थित दोनों द्यावापृथिवीको लक्ष्य कर यजमानोंके किये हुए कर्म और कर्मफलको जानते हुए द्यौसे पृथिवी पर आते हैं और पृथिवी परसे द्यौ पर जाते हैं । अर्थात् सब प्राणियोंके किये हुए कर्मोंके साक्षी बन कर दोनों लोकोंमें गमनागमन करते हैं १

अष्टमी ॥

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्

पूषा । इमाः । आशाः । अनु । वेदः । सर्वाः । सः । अस्मान् । अभयऽतमेन । नेषत् ।

स्व॒स्ति॒ऽदाः । आघृ॑णिः । सर्व॑ऽवीरः । अभ॑ऽयुच्छन् । पु॒रः । ए॒तु॒ । प्र॒ऽजा॒नन् ॥ २ ॥

पूषा पोषको देवः इमाः सर्वा आशाः दिशः अनु वेद अनुक्रमेण जानाति । स पूषा देवः अस्मान् अभयतमेन अत्यन्तभयरहितेन मार्गेण नेषत् नयतु । ❀ नयतेर्लेटि "सिब्बहुलम्०" इति सिप् । अडागमः ❀ । सोयं पूषा स्वस्तिदाः क्षेमस्य कल्याणस्य वा दाता आघृणिः आगतदीप्तिर्व्याप्तदीप्तिर्वा सर्ववीरः सर्वैर्वीरैः पुत्रादिभिर्युक्तः अप्रयुच्छन् । ❀ युछ प्रमादे ❀ । प्रमादम् अकुर्वन् प्रजानन् अस्मदभिप्रायं मार्गं वा प्रकर्षेण जानन् पुर एतु पुरतो गच्छतु । अस्मदभिलषितसाधनायेति शेषः ॥

पोषक पूषा देव इन सब दिशाओंको अनुक्रमसे जानते हैं, वह पूषा देवता हमको परम निर्भय मार्गसे लेजावें यह पूषादेवता क्षेम और कल्याणके देने वाले हैं और दीप्तिसे व्याप्त रहते हैं, पुत्र आदि सब वीरोंसे युक्त हैं—ऐसे सूर्यदेव हमारे अभिलषित मार्गको जानते हुए हमारे आगे २ हमारे अभिलषितको जाननेके लिये चलें ॥ २ ॥

नवमी ॥

पू॒षन् तव॑ व्र॒ते व॒यं न रि॑ष्येम क॒दा च॒न ।
स्तो॒तार॑स्त इ॒ह स्म॑सि ॥ ३ ॥

पू॑षन् । तव॑ । व्र॒ते । व॒यम् । न । रि॒ष्ये॒म॒ । क॒दा । च॒न ।
स्तो॒ता॑रः । ते॒ । इ॒ह । स्म॒सि॒ ॥ ३ ॥

हे पूषन् पोषक देव तव व्रते कर्मणि यागरूपे वर्तमाना वयं कदा चन कदाचिदपि न रिष्येम न विनश्येम । पुत्रमित्रादिभि-

2053

धनेन च वियुक्ता मा भूमेत्यर्थः । ❀ रुष रिष हिंसायाम् । दैवादिकः ❀ ॥ किं च इह अस्मिन् कर्मणि इदानीं वा ते तव स्तोतारः स्तुतिं कुर्वाणाः स्मसि भवामः ॥

हे पूषन् ! हम आपके यागरूप कर्ममें वर्तमान रहते हुए कभी भी नष्ट न होवें अर्थात् पुत्र मित्र और धनसे भी वियुक्त न होवें, क्योंकि–हम इस कर्ममें आपकी स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

दशमी ॥

परि॑ पू॒षा प॒रस्ता॒द्धस्तं॑ दधातु दक्षि॑णम् ।
पुन॑र्नो न॒ष्टमा॒ज॑तु सं न॒ष्टेन॑ गमेमहि ॥ ४ ॥

परि॑ । पू॒षा । प॒रस्ता॑त् । हस्त॑म् । द॒धा॒तु॒ । दक्षि॑णम् ।
पु॑नः । नः॒ । न॒ष्टम् । आ । अ॒ज॒तु॒ । सम् । न॒ष्टेन॑ । ग॒मे॒म॒हि॒ ॥४॥

पूषा पोषको देवः परस्तात् परतः अतिदूराद् देशादपि । धनम् आदातुम् इति शेषः । दक्षिणं हस्तं परिदधातु प्रसारयतु । यत्रयत्र अस्माकं दित्सितं धनम् अस्ति तद् धनम् अस्माकं दातुं तत्रतत्र देशे हस्तं प्रसारयतु इत्यर्थः । न अस्मान् नष्टं धनं पुनः आजतु पुनरागच्छतु । ❀ अज गतिक्षेपणयोः ❀ । न केवलम् आगमनं किं तु नष्टेन पुनरागतेन धनेन सं गमेमहि संगच्छेमहि । धनेन संगता भवेमेत्यर्थः । ❀ संपूर्वाद् गमेरात्मनेपदिनो "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ ॥

इति सप्तमे काण्डे प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

पोषक पूषा देव अतिदूर देशसे भी धन लेनेके लिये दाहिने हाथको फैलावें । अर्थात् जहाँ २ हमारे देने योग्य धन है उस धनको हमको देनेके लिये उस २ देशमें हाथ फैलावें, हमारा नष्ट

हुआ धन हम पर आवे, वह धन हम पर आवे ही नहीं, किन्तु हम उस पुनर्वार आये हुए धनसे संयुक्त होवें ॥ ४ ॥

सप्तम काण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३२१) ॥

"यस्ते स्तनः" इति तृतीयं सूक्तम् । तत्र जम्भगृहीतबालकभैषज्यार्थं "यस्ते स्तनः" इत्यनया स्तनम् अभिमन्त्र्य बालं पाययेत्

तथा तत्रैव कर्मणि प्रियंगुतण्डुलानाम् उपरि क्षीरं दुग्ध्वा अनया ऋचा अभिमन्त्र्य व्याधितं पाययेत् ॥

सूत्रितं हि । "यस्ते स्तन इति जम्भगृहीताय स्तनं प्रयच्छति । प्रियंगुतण्डुलान् अभ्यवदुग्धान् पाययति" इति [कौ० ४. ८] ॥

अशनिनिवारणकर्मणि "यस्ते पृथु स्तनयित्नुः" इति ऋचा अशनिम् उपतिष्ठेत । "यस्ते पृथु स्तनयित्नुरित्यशनिम्" इति [कौ० ५. २] सूत्रात् ॥

तथा ग्रहयज्ञे अनया हविराज्यहोमसमिदाधानोपस्थानानि केतवे कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । "यस्ते पृथु स्तनयित्नुः [७. १२] देवो देवान्" [१८. १. ३०] इत्यादि "केतुं कृण्वन्नकेतवे [ऋ० १. ६. ३] इति केतवे" [शा० क० १५] इत्यन्तम् ॥

तथा उपाकर्मणि अनया आज्यं जुहुयात् ॥

"सभा च मा" इति पञ्चर्चेन सभाजयकर्मणि क्षीरौदनं पुरोडाशं रसान् वा संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि पञ्चर्चं जपन् सभास्तम्भं गृह्णीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन पञ्चर्चेन सभाम् उपतिष्ठते ॥

"सभा च मेति भक्षयति । स्थूणे गृह्णाति उपतिष्ठते" इति [कौ० ५. २] कौशिकसूत्रात् ॥

कृत्याप्रतिहरणकर्मणि कृत्यानिःसारणानन्तरं स्वगृहम् आगत्य "यथा सूर्यः" इत्यृचं जपन् प्रदक्षिणं गच्छेत् । "यथा सूर्य इत्यावृत्याव्रजति" इति सूत्रात् [कौ० ५. ३] ॥

अभिचारकर्मणि "यथा सूर्यो नक्षत्राणाम्" इति सूक्तं शत्रुं दृष्ट्वा जपेत् ॥

तत्रैव कर्मणि "यावन्तो मा सपत्नानाम्" इति जपित्वा शत्रून् निरीक्षते ॥

तथा नैर्ऋतकर्मणि निर्ऋतिप्रतिकृतिविसर्जनानन्तरं "यथा सूर्यः" इति जपन् पुनः स्वगृहम् आगच्छेत्। तदुक्तं नक्षत्रकल्पे । "उपानहावुपमुच्य यथा सूर्य इत्यावृत्याव्रजति" इति [न० क० १५]

"यस्ते स्तनः" यह दूसरा सूक्त है । इसकी 'यस्ते स्तनः' ऋचासे जम्भगृहीत बालककी चिकित्साके लिये स्तनको अभिमन्त्रित करके पिला देय ।

तथा वहाँ ही कर्ममें कँगनीके चावलोंके ऊपर दूध दुह कर इस ऋचासे अभिमन्त्रित कर रोगीको पिला देय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"यस्ते स्तन इति जंभगृहीताय स्तनं प्रयच्छति । प्रियंगुतण्डुलान् अभ्यवदुग्धान् पाययति" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

अशनिनिवारणकर्ममें 'यस्ते पृथु स्तनयित्नुः' इस ऋचासे अशनिका उपस्थान करे । कौशिकसूत्र ५ । २ में कहा है, कि– 'यस्ते पृथु स्तनयित्नुरित्यशनिम्' ।

तथा ग्रहयज्ञमें इस ऋचासे हवि घृत होम समिदाधान और उपस्थानोंको केतुके लिये करे । इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है कि–'यस्ते पृथुः स्तनयित्नुः (७ । १२) देवो देवान्' (१८ । १ । ३०) इत्यादि 'केतुं कृण्वन्नकेतवे (ऋ० १ । ६ । ३) इति केतवे" (शान्तिकल्प १५) ॥

तथा उपाकर्ममें इस ऋचासे आहुति देय ।

'सभा च मा' इस पञ्चर्चसे सभाजयकर्ममें क्षीरौदनको पुरोडाशको वा रसोंको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके प्राशन करे।

२०६६

तथा तहाँ ही कर्म में पञ्चर्चको पढ़ता हुआ सभास्तम्भको ग्रहण करे ।

तथा तहाँ ही कर्म में इस पञ्चर्चसे सभामें बैठे ।

कौशिकसूत्र ५ । २ में कहा है, कि–‘सभा च मेति भक्षयति। स्थूणे गृह्णाति उपतिष्ठते’ ॥

कृत्याप्रतिहरणकर्म में कृत्यानिःसारणके अनन्तर अपने घरमें आकर ‘यथा सूर्यः’ इस ऋचाको जपता हुआ प्रदक्षिण जावे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ३ का प्रमाण है, कि–“यथा सूर्य इत्यावृत्याव्रजति” ॥

अभिचार कर्ममें ‘यथा सूर्यो नक्षत्राणाम्’ इस त्र्यृचका शत्रुको देख कर जप करे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें ‘यावन्तो मा सपत्नानाम्’ को जप कर शत्रुओंको देखे ।

तथा नैर्ऋतकर्म में निर्ऋतिकी प्रतिकृतिके विसर्जनके अनन्तर ‘यथा सूर्यः’ को जपता हुआ फिर अपने घरको आवे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–‘उपानहावुपमुच्य यथा सूर्य इत्यावृत्याव्रजति’ (नक्षत्रकल्प १५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यस्ते॒ स्तन॑ः शश॒युर्यो म॑यो॒भूर्य॑ः सु॑म्न॒युः सु॒हवो॒ यः
सु॒दत्र॑ः ।
येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह
धात॑वे कः ॥ १ ॥

२०६७

यः । ते॒ । स्तन॑ः । शि॒श॒युः । यः । म॒य॒ःऽभूः । यः । सु॒म्न॒ऽयुः ।
सु॒ऽहव॑ः । यः । सु॒ऽदत्र॑ः ।
येन॑ । विश्वा॑ । पुष्य॑सि । वार्या॑णि । सर॑स्वति । तम् । इ॒ह ।
धात॑वे । क॒ः ॥ १ ॥

हे सरस्वति वर्णपदवाक्यादिना सरणवति वाग्देवते ते तव यः स्तनः शिशयुः शिशोः पोषं कुर्वन् भवति । ❀ "प्रातिपदिकाद्ध धात्वर्थे बहुलम् इष्ठवच्च" इति शिशुशब्दात् पुष्णातिधात्वर्थे णिच् प्रत्ययः । इष्ठवद्भावात् शिशोष्टिलोपः । ण्यन्ताद् औणादिक उप्रत्ययः । णिलोपाभावश्छान्दसः । ण्यन्तत्वादेव अनवग्रहः ❀ । शेतेर्वा । शिशयुः निगूढः । अनुपासकानाम् अप्रकाश इत्यर्थः । "यस्ते स्तनो गुहायां निहितः" इति वाजसनेयश्रुतेः । यश्च स्तनो मयोभूः । मय इति सुखनाम । सुखस्य भावयिता । यश्च सुम्नयुः सुम्नं सुखं परेषाम् इच्छतीति सुम्नयुः । ❀ "छन्दसि परेच्छायाम्" इति क्यच् ❀ । सामान्यविशेषविवक्षया मयोभूः सुम्नयुरिति विशेषणद्वयम् । सुहवः शोभनाह्वानः सर्वैराप्यायनार्थं सम्यग् आहूयमानः । काम्यमान इत्यर्थः । यश्च सुदत्रः कल्याणदानः सुधनो वा । येन च स्तनेन विश्वा विश्वानि वार्याणि वरणीयानि धनानि पुष्यसि पोषयसि । स्तोतृभ्य इति शेषः । तं तादृशगुणोपेतं स्तनम् इह अस्मिन् जन्मगृहीते बालके धातवे धातुं पातुं योग्यं कः कुरु । ❀ धेट् पाने । तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः । करिति । करोतेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुकि गुणे । "हल्ङ्या०" इत्यादिना सिपो लोपे "०अमाङ्योगेऽपि" इति अडभावे रूपम् ❀ ॥

हे वर्णपदवाक्यादिरूपसे सरने वाली सरस्वती देवि ! आपका

२०६८

जो स्तन बालकोंको पुष्ट करने वाला है अथवा अनुपासकोंके लिये सोता रहता है † और आपका जो स्तन सुख देने वाला है, सबसे काम्यमान है, सुन्दर धन वाला है और जिस स्तनसे आप वरणीय समस्त धनोंको स्तोताओंके पुष्ट लिये करती हैं ऐसे स्तनको पीनेका पात्र इस बालकको करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

य॒स्ते॑ पृ॒थु स्तनयि॒त्नुर्य ऋ॒ष्वो दैवः॑ के॒तुर्विश्व॑मा॒भूष॑-
ती॒दम् ।
मा नो॑ वधीर्वि॒द्युता॑ देव स॒स्यं मोत व॑धी र॒श्मिभि॒ः
सूर्य॑स्य ॥ १ ॥

यः । ते॒ । पृ॒थुः । स्त॒न॒यि॒त्नुः । यः । ऋ॒ष्वः । दैवः॑ । के॒तुः ।
विश्व॑म् । आ॒ऽभूष॑ति । इ॒दम् ।
मा । नः॒ । व॒धीः॒ । वि॒ऽद्युता॑ । दे॒व॒ । स॒स्यम् । मा । उ॒त । व॒धीः॒ ।
र॒श्मिऽभिः॑ । सूर्य॑स्य ॥ १ ॥

हे देव द्योतनशील पर्जन्य ते तव स्वभूतः पृथुः विस्तीर्णो महान् यः स्तनयित्नुः गर्जनरूपशब्दं कुर्वन् अशनिः यश्च ऋष्वः बाधकः। ❀ रुष हिंसायाम् । औणादिकः क्वन् प्रत्ययः ❀। दैवः देवस्य पर्जन्यस्य संबन्धी देवैर्निर्मितो वा । ❀ 'देवाद् यञञौ" इति

---

†वाजसनेयश्रुतिमें कहा है, कि- 'यस्ते स्तनो गुहायां निहितः ।— आपका जो स्तन (अज्ञानियोंके लिये) गुहामें स्थित रहता है— अप्रकाशित रहता है" ।

२०६,८

अच् प्रत्ययः ❀ । केतुः अनर्थज्ञापकोशनिः केतुरूपो वा ग्रहः,इदं परिदृश्यमानं विश्वम् आभूषति व्याप्नोति । बाधितुम् इति शेषः। हे देव पर्जन्य विद्युता तादृश्या अशन्या नः अस्माकं सस्यम् शाल्यादिकं मा वधीः मा बाधिष्ठाः। ❀ हन्तेर्लुङि वधादेशः ❀ । उत अपि च सूर्यस्य सवितुः रश्मिभिः संतापकरैः किरणैः अस्मदीयं सस्यं मा वधीः मा शोषय । अयम् अर्थः । क्षेत्रेषु उप्ताः शाल्यादयः अतिवृष्ट्यनावृष्टिभ्यां बाध्यन्ते । सस्यविनाशेन तदुपजीविन्यः प्रजा विनश्यन्ति । अतोत्र तत्परिहारः प्रार्थ्यत इति ॥

हे द्योतनशील पर्जन्य ! आपका जो विस्तृत गर्जनरूप शब्दको करने वाला अशनि है वह बाधक केतु (वह अनर्थसूचक अशनि वा केतुग्रह) बाधा देनेके लिये सारे विश्वमें व्याप्त होजाता है । हे देव ! तैसी अशनिसे हमारे सट्टी आदि धान्यको नष्ट न होने दीजिये और सूर्यदेवकी (सन्तापदायिनी) किरणोंके द्वारा हमारे धान्यको न सुखाइये । तात्पर्य यह है, कि—खेतोंमें बोये हुए अन्न अतिवृष्टि और अनावृष्टिसे नष्ट होजाते हैं और धान्य का नाश होनेसे उससे आजीविका चलाने वाली प्रजा विनष्ट होजाती है, अतः उसका परिहार करनेके लिये यहाँ प्रार्थना की है १

तृतीया ॥

स॒भा च॑ मा॒ समि॑तिश्चावतां प्र॒जाप॑तेर्दुहि॒तरौ॑ संविदा॒ने
येना॑ सं॒गच्छा॒ उप॑ मा॒ स शि॑क्षा॒च्चारु॑ वदानि पितर॒ः
संग॑तेषु ॥ १ ॥

स॒भा । च॒ । मा॒ । सम्ऽइ॑तिः । च॒ । अ॒व॒ता॒म् । प्र॒जाऽप॑तेः । दु॒हि॒तरौ॑ । सं॒वि॒दा॒ने इति॑ स॒म्ऽवि॒दा॒ने ।

२०६०

येन । सम्ऽगच्छै । उप । मा । सः । शिक्षात् । चारु । वदानि । पितरः । सम्ऽगतेषु ॥ १ ॥

सभा विदुषां समाजः । समितिः संयन्ति संगच्छन्ते युद्धाय अत्रेति समितिः संग्रामः । सांग्रामीणजनसभेत्यर्थः । यद्वा संग्रामनामानि यज्ञनामानि भवन्तीति यास्केनोक्तत्वात् समितिशब्देन यज्ञ उच्यते । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । ते उभे अपि मा मां वादिनम् अवताम् रक्षताम् । कीदृश्यौ । प्रजापतेः सर्वजगत्स्रष्टुर्दुहितरौ पुत्र्यौ ।

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा ।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात् [या० स्मृ० १. ६]

इति “यद् आर्याः प्रशंसन्ति स धर्मः” इति [च] स्मृतेर्विद्वत्संघस्य सभात्वात् तदुक्तेश्च सर्वशास्त्रनिर्णीतधर्मरूपत्वात् प्रजापतिपुत्रीत्वव्यपदेशः । ते च सभे संविदाने अस्मद्रक्षणविषयम् ऐकमत्यं प्राप्ते । ❀ विदेः संपूर्वात् “समो गम्यृच्छि०” इति आत्मनेपदम् ❀ । किं च येन वादिना संगच्छै वक्तुं संगतो भवानि । ❀ पूर्ववद् आत्मनेपदिनो गमेर्लोटि रूपम् ❀ । स विद्वान् मा मां संगतम् उप शिक्षात् उपेत्य शिक्षयतु । समीचीनं वादयत्वित्यर्थः । ❀ शिक्ष विद्योपादाने । ण्यन्तात् लेटि आडागमः ❀ । यद्वा शिक्षात् मा वक्तुं शक्तं समर्थम् इच्छतु । ❀ शकेः सन्नन्तात् पञ्चमलकारे रूपम् ❀ । अयम् अर्थः । येन सह अहं विवदे स स्वयं मदुक्तवचनविघटनपटूनि वाक्यानि अभाषमाणः प्रत्युत मामेव स्ववचनतिरस्कारकवाक्यवादिनं करोत्विति । अपि च हे पितरः पालकाः मदुक्तं वाक्यं साधु साध्विति अनुमोदमानाः पितृभूता वा हे सभासदो जनाः संगतेषु मया सह वक्तुं मिलितेषु वादिषु चारु न्यायोपेतं सदुत्तरं वदामि । यथा सम्यग् वदामि तथा अनुगृह्णीतेत्यर्थः ॥

२०८१

विद्वान् पुरुषोंका समूह सभा कहलाती है, और यज्ञसभा वा संग्रामसभा समिति कहलाती है ये दोनों सभासमितियें प्रजापतिकी पुत्रियें एकमत होकर ‡ मुझ वादीकी रक्षा करें। जिस वादीसे मैं संगत होऊँ वह मुझसे अपने वचनोंका तिरस्कार कराने वाले वाक्योंका ही उच्चारण करा सके, हे पालकों ! वा मेरे कहे हुए वाक्यका साधु २ कहकर अनुमोदन करनेसे पितारूप सभासदों ! मैं अपने साथ वाद करते हुए मनुष्योंसे सदुत्तर ही कहूँ, तिस प्रकार मुझ पर अनुग्रह करो ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

वि॒द्म ते॑ स॒भे नाम॑ न॒रिष्टा॒ नाम॒ वा अ॑सि ।
ये ते॒ के च॑ स॒भास॒द॒स्ते मे॑ सन्तु॒ सवा॑चसः ॥ २ ॥

वि॒द्म । ते॒ । स॒भे॒ । नाम॑ । न॒रिष्टा । नाम॑ । वै । अ॒सि॒ ।
ये । ते॒ । के । च॒ । स॒भा॒ऽसदः॑ । ते । मे॒ । स॒न्तु॒ । स॒ऽवा॑चसः २

हे सभे त तव नाम नामधेयं विद्म जानीमः । ❀ "विदो लटो वा" इति मसो मादेशः ❀ । तन्नाम दर्शयति । हे सभे नाम ।

---

‡ सभा और समितिको प्रजापतिकी पुत्री कहनेका तात्पर्य यह है' कि-'चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा । सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात् ॥-वेद धर्मको जाननेवाले चार पुरुष वा त्रैविद्य पुरुष परिषत् कहलाते हैं, ऐसी परिषत् (सभा) जो कुछ कहे वह धर्म है' (याज्ञवल्क्यस्मृति १ । ९) और यद्ध आर्याः प्रशंसन्ति स धर्मः ।-शिष्ट पुरुष जिसकी प्रशंसा करें वह धर्म है" । के अनुसार विद्वत्संघके सभा होनेसे और उसकी उक्तिके सर्वशास्त्रनिर्णीतधर्मरूप होनेसे उन दोनोंको सब जगत्के रचयिता प्रजापतिकी पुत्री कहा है ।

2062

नाम्नेति यावत् । नरिष्टा । ❀ रिषिणा क्तान्तेन नसमासः ❀ । अहिंसिता परैरनभिभाव्या । एतन्नामिका असि वै भवसि खलु । एकस्य वचनम् अन्यैराद्रियते तिरस्क्रियतेपि । बहवः संभूय यद्येकं वाक्यं वदेयुस्तद्धि न परैरतिलङ्घ्यम् अतः अनतिलङ्घ्यवाक्यत्वाद्ध नरिष्टेति नाम सभाया युज्यते । अतस्ते तव संबन्धिनः ये के च सभासदः सभायां सीदन्तो विद्वांसस्ते सर्वे मे मम सवाचसः समानवाक्याः [सन्तु] भवन्तु । न हि सभा सर्वा संभूय एकं प्रति ब्रूते अपि तु तत्रत्याः कतिपये । तेपि मद्विषये अनुकूलवाक्या भवन्तु इति प्रार्थ्यते ॥

हे सभे ! हम तेरे नामको जानते हैं, तू नरिष्टा नाम वाली है (अर्थात् दूसरोंसे अनभिभूत नामवाली है, एकके वाक्यको कुछ पुरुष आदर करते हैं और कुछ तिरस्कार भी करते हैं और जो बहुतसे एकत्रित होकर एक वाक्यको कहें तो वह वाक्य अलंघनीय होता है अतः अनतिलघ्य वाक्य वाली होनेसे सभाका नाम नरिष्टा नाम ठीक ही है) अतः तेरे जो संबन्धी सभासद् हैं वे सब विद्वान् मेरे समानवाक्य होवें ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥

एषाम् । अहम् । सम्ऽआसीनानाम् । वर्चः विऽज्ञानम् । आ । ददे ।
अस्याः । सर्वस्याः । सम्ऽसदः । माम् । इन्द्र । भगिनम् । कृणु ३

समासीनानाम् सभायाम् अत्रतिष्ठमानानाम् एषाम् पुरोवर्तिनां वादिनां वर्चः तेजो वैदुष्यजनितप्रभावविशेषम् विज्ञानम् वेदशास्त्रार्थविषयं ज्ञानं च । विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोरिति तद्विदः । तद्ध अहम्

2063

आ ददे स्वीकरोमि। अपहरामीत्यर्थः। ❀ददातेः "आङो दोनास्यविहरणे" इति आत्मनेपदम् ❀। किं बहुना। हे इन्द्र। इन्द्रस्यैव वागनुशासनकर्तृत्वात् सभाजयकर्मणि तस्यैव प्रार्थनम्। तथा च तैत्तिरीयके। "ते देवा इन्द्रम् अब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुरु" इति प्रक्रम्य आम्नातम्। "ताम् इन्द्रो मध्यतोवक्रम्य व्याकरोत् तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते" इति [तै० सं० ६. ४. ७. ३]। तादृशेन्द्र अस्याः पुरः स्थितायाः सर्वस्याः संसदः सभाया भगिनम्। भगो भाग्यं वैदुष्यलक्षणं जयलक्षणं वा। तद्वन्तं मां कृणु कुरु। सर्वामपि सभां मदेकवाक्यश्रवणपरां कुर्वित्यर्थः। अथवा भगो भागः। तद्वन्तं कुरु। सर्वस्याः सभाया यावती वैदुष्यकृता संभावना तावद्भागभाजं कुर्विति इन्द्रः प्रार्थ्यते॥

इन सभामें सामने बैठे हुए वादियोंके विद्वत्ताके कारण उत्पन्न हुए प्रभावविशेषात्मक तेजको और वेदशास्त्रार्थविषयकज्ञानरूप विज्ञानको मैं अपहृत करता हूँ (अधिक क्या ? इन्द्र ही वाणीके अनुशासनकर्ता हैं अतः सभाजय कर्ममें उनकी ही प्रार्थना की जाती है। इसी बातको तैत्तिरीयकमें कहा है, कि—'ते देवा इन्द्रं अब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुरु।—उन देवताओंने इन्द्रसे कहा, कि—हमारी इस वाणीको व्याकृत करिये। इसका आरम्भ करके कहा है, कि—'तां इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते।—इन्द्रने उसको मध्यमें अवक्रम करके व्याकृत किया है, इस कारण यह व्याकृत वाणी कही जाती है") ऐसे इन्द्रदेव ! इस पूरी सभाके सामने मुझे भाग्यसम्पन्न करें ॥३॥

षष्ठी ॥

यद् वो॒ मन॒ः परा॑गतं॒ यद् ब॒द्धमि॒ह वेह॒ वा॑ ।
तद् व॒ आ व॑र्तयामसि॒ मयि॑ वो रमतां॒ मन॑ः ॥ ४ ॥

२०६४

यत् । वः । मनः । पराऽगतम् । यत् । बद्धम् । इह । वा । इह । वा ।

तत् । वः । आ । वर्तयामसि । मयि । वः । रमताम् । मनः ४

हे सभासदः वः युष्माकं यन्मनः मानसं परागतम् अस्मत्तः परागत्य अन्यत्र गतम् । अस्मदनभिमुखम् इत्यर्थः । यच्च मनः इह वा अस्मिन् वा विषये बद्धं संसक्तम् । मनसो विषयानासङ्गेन अनवस्थानात् तत्संबन्धार्हान् सर्वान् पदार्थान् अभिनयेन दर्शयति । इह वा इह वेति अस्मद्व्यतिरिक्तसर्वविषयेषु संसक्तं वर्तते । तत् तादृशं वः युष्माकं मनः आ वर्तयामसि अस्मदभिमुखं कुर्मः । आवर्तितं च वो मनः मयि रमताम् मदनुकूलार्थचिन्तापरं भवत्वित्यर्थः॥

हे सभासदों ! तुम्हारा जो मन हमसे विमुख होकर अन्यत्र चला गया है और जो मन हमसे व्यतिरिक्त अमुक अमुक विषय में आसक्त होरहा है, तुम्हारे ऐसे मनको हम अपनी ओर अभिमुख करते हैं, और मेरी ओर लौटा हुआ तुम्हारा मन मुझमें रमण करे-मेरे अनुकूल विचार करे ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥१॥

यथा । सूर्यः । नक्षत्राणाम् । उत्ऽयन् । तेजांसि । आऽददे ।

एव । स्त्रीणाम् । च । पुंसाम् । च । द्विषताम् । वर्चः । आ । ददे १

उद्यन् उदयं प्राप्नुवन् सूर्यः नक्षत्राणाम् तारकाणाम् तेजांसि दीप्तिं यथा आददे आदत्ते निस्तेजस्कानि करोति । ❀ छान्दसो लिट् ❀ । एव एवम् । ❀ अन्त्यलोपश्छान्दसः ❀ । स्त्रीणां पुंसां च द्विषताम् स्त्रीणां द्विषतीनां पुरुषाणां द्विषतां च । ❀ "पुमान्

स्त्रिया” इति पुंसो द्विषत एकशेषः ❀। वर्चः तेजः पराभिभवनसामर्थ्यम्। आ ददे स्वीकरोमि अपहरामि। ❀ ददातेर्वर्तमाने लटि उत्तमैकवचने रूपम् ❀ ॥

जिस प्रकार उदय होते हुए सूर्य नक्षत्रोंके तेजको ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् नक्षत्रोंको निस्तेज कर देते हैं, इसी प्रकार मैं द्वेष करने वाले स्त्री पुरुषोंके पराभिभवनशक्तिरूप तेजको हरता हूँ १

अष्टमी ॥

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥२॥

यावन्तः। मा। सऽपत्नानाम्। आऽयन्तम्। प्रतिऽपश्यथ।
उत्ऽयन्। सूर्यःऽइव। सुप्तानाम्। द्विषताम्। वर्चः। आ। ददे २

सपत्नानाम् शत्रूणां मध्ये यावन्तः यत्परिमाणाः शत्रवो यूयम् आ यन्तम् युद्धाय युष्मान् अभिगच्छन्तम् मा मां प्रतिपश्यत प्रतिकूलं निरीक्षध्वम्। ❀ अतिसर्गे लोट् ❀। द्विषताम् तेषां प्रतिकूलं पश्यतां शत्रूणां युष्माकं वर्चः पराक्रमरूपं तेजः आ ददे अपहरामि। तत्र दृष्टान्तः। उद्यन् उदयं गच्छन् [सूर्य इव] सूर्यो यथा सुप्तानां उदयकाले स्वपतां जनानां वर्चः अपहरति तद्वत्। सूर्यस्योदये अस्तमये वा स्वपतां पुरुषाणां वर्चसः सूर्येण अपहृतत्वात् तत्समाधानाय आपस्तम्बेन प्रायश्चित्तरूपाणि कर्माणि विहितानि। “स्वपन्नभिनिर्मुक्तोनाश्वान् वाग्यतो रात्रिम् आसीत। श्वोभूत उदकम् उपस्पृश्य वाचं विसृजेत्। स्वपन्नभ्युदितोनाश्वान् वाग्यतोहस्तिष्ठेत्। आ तमितोः प्राणम् आयच्छेदित्येके” इति [आप० ध० २. ५. १२. १२–१५] ॥

सप्तमकाण्डे प्रथमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

[इति] अथर्ववेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे प्रथमोऽनुवाकः ॥

२०८६

हे शत्रुओंमेंसे जितने शत्रु तुम मुझको आता हुआ देख रहे हो, द्वेष करने वाले तुम शत्रुओंके तेजको मैं इस प्रकार अपहृत करता हूँ जिस प्रकार सूर्य उदय होते समय सोने वालोंके तेजको हर लेता है ‡ ॥ २ ॥

सप्तम काण्डके प्रथम अनुवाकमें तृतीय सूक्त और प्रथम
अनुवाक समाप्त (३२९)

द्वितीयेनुवाके द्वे सूक्ते । तत्र "अभि त्यम्" इत्याद्ये सूक्ते आदितश्चतुर्ऋचेन सूक्तोक्तं स्थानं गत्वा तत्र उदपात्रं संपात्य सोममिश्रं कृत्वा सारूपवत्सम् ओदनं संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिकामः अश्नीयात्

"तां सवितः" इति ऋचा एकवारप्रसूताया गोर्बन्धरज्जुमणिं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिकामो बध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । "अभि त्यम् [७. १५] इति महावकाशेरण्य उन्नते विमिते प्राग्द्वारे प्रत्यग्द्वारे वाप्सु संपातान् आनयति । कृष्णाजिने सोमांशून् विचिनोति । सोममिश्रेण संपातवन्तम्

---

‡ सूर्योदय वा सूर्यास्तके समय सोने वालोंके तेजको सूर्यदेव हर लेते हैं, इसका समाधान करनेके लिये आपस्तम्ब मुनिने प्रायश्चित्तरूप कर्म कहे हैं, कि—'स्वपन्नभिनिर्मुक्तो नाश्वान् वाग्यतो रात्रिम् आसीत । श्वोभूत उदकमुपस्पृश्य वाचं विसृजेत् । स्वपन्नभ्युदितोऽनाश्वान् वाग्यतोऽहस्तिष्ठेद् । आ तमितो प्राणम् आयच्छेद् ।—सूर्यके अस्तके समय सोनेसे अभिनिर्मुक्तसंज्ञक होजावे तो कुछ खावे नहीं, वाणीको नियममें रक्खे और रात्रि भर बैठा रहे और दूसरा दिन होने पर जलमें स्नान कर वाणीको खोले, सूर्योदयके समय सोता हो तो भोजन न करे और दिन भर वाणीको नियममें रक्खे वा जब तक अंगोंमें ग्लानि न आवे तब तक प्राणवायुको धारण करे' (आपस्तम्बधर्मसूत्र द्वितीयप्रश्न पञ्चम पटल बारहवीं खण्डिकाके १३ । १४ । १५ सूत्र) ॥

२०८८

अश्नाति । आदीप्ते संपन्नं तां सवितः [७. १६] इति गृष्टिदाम बध्नाति" इति [कौ० ३. ७] ॥

तथा सोमक्रयणानन्तरम् "अभि त्यम्" इत्यनेन ब्रह्मा हिरण्यपाणिः सोमं विचिनुयात् । "चर्मणि सोमम् अभि त्यम् इति हिरण्यपाणिर्विचिनोति" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ३] ॥

"बृहस्पते सवितः" इत्यनया सूर्योदयपर्यन्तं सुप्तं ब्रह्मचारिणम् उत्थापयेत् ॥

तथा आधाने संभारस्पर्शनदिवसे सुप्तान् यजमानादीन् अनया उत्थापयेत् । "अथाग्न्याधेयम्" इति प्रक्रम्य वैताने सूत्रितम् । "वाग्यता जाग्रतो रात्रिम् आसते । अपररात्रे वा बृहस्पते सवितरिति सुप्तान् बोधयेत्" इति [वै० २. १] ॥

"धाता दधातु" इति चतुर्ऋचेन सर्वफलकामो धातारं यजेत उपतिष्ठेत वा । सूत्रितं हि । "अदितिर्द्यौः [७. ६] दितेः पुत्राणाम् [७. ८] बृहस्पते सवितः [७. १७] धाता दधातु" [७. १८] इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा वीरपुत्रप्रजननार्थम् अनेन चतुर्ऋचेन गर्भिण्या उदरम् अभिमन्त्रयेत । "याम् इच्छेद् वीरं जनयेद् इति धातर्व्याभिरुदरम् अभिमन्त्रयते" इति [कौ० ४. ११ सूत्रात्] ॥

द्वितीय अनुवाकमें दो सूक्त हैं । तहाँ 'अभित्यम्' ये आदिके सूक्त हैं इनमेंके पहिले चतुर्ऋचसे सूत्रोक्त स्थानमें जाकर तहाँ जलपूर्ण पात्रका सम्पातन कर सोमसे मिलावे फिर सारूपवत्स ओदनका सम्पातन और अभिमन्त्रण कर पुष्टि चाहने वाला उसका भक्षण करे ।

'तां सवितः' इस ऋचासे एक वार ब्याही हुई गौके बाँधनेकी रस्सीकी मणि बना सम्पातन और अभिमन्त्रण कर पुष्टिको चाहने वाला बाँध लेय ।

२०६-८.

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'अभित्यम्' (७।१५) इति महावकाशेरण्य उन्नते विमिते प्राग्द्वारे वाप्सु सम्पातान् आनयति। कृष्णाजिने सोमांशून् विचिनोति। सोममिश्रेण सम्पातवन्तं अश्नाति। आदीप्ते सम्पन्नं तां सवितः (७।१६) इति गृष्टिदाम बध्नाति' (कौशिकसूत्र ३।७)॥

तथा सोमक्रयणके अनन्तर हाथमें सुवर्ण लिये हुए ब्रह्मा 'अभित्यम्'से सोमको हिलावे। इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण है, कि–'चर्मणि सोमं अभि त्यम् इति हिरण्यपाणिर्विचिनोति' (वैतानसूत्र ३।३)॥

'बृहस्पते सवितः' इस ऋचासे सूर्योदय तक सोने वाले ब्रह्मचारीको उठावे।

तथा आधानके संभारस्पर्शन दिवसमें सोते हुए यजमान आदिको इस ऋचासे उठावे। 'अथाग्न्याधेयम्' का आरंभ करके वैतानसूत्रमें कहा है, कि–'वाग्यता जाग्रतोरात्रिम् आसते। अपरात्रं वा बृहस्पते सवितरिति सुप्तान् बोधयेत्' (वैतानसूत्र२।१)॥

सर्वफलकाम 'धाता दधातु' इस चतुर्ऋचसे धाताका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'अदितिर्द्यौः (७।६) दितेः पुत्राणाम् (७।८) बृहस्पते सवितः (७।१७) धाता दधातु (७।१८) (कौशिकसूत्र ७।१०)॥

तथा वीरपुत्र उत्पन्न होनेके लिये इस चतुर्ऋचसे गर्भिणीके उदरका अभिमंत्रण करे। कौशिकसूत्र ४।११ में कहा है, कि–'याम् इच्छेद्द वीरं जनयेद्द इति धातव्याभिरुदरम् अभिमंत्रयते'॥

तत्र प्रथमा॥

अ॒भि त्यं दे॒वं स॑वि॒तार॑मो॒ण्यो॑ः क॒विक्र॑तुम्।
अर्चा॑मि स॒त्यस॑वं रत्न॒धाम॒भि प्रि॒यं म॒तिम्॥ १॥

२०७६

अभि । त्यम् । देवम् । सवितारम् । ओण्योः । कविऽक्रतुम् ।

अर्चामि । सत्यऽसवम् । रत्नऽधाम् । अभि । प्रियम् । मतिम् १

त्यं तं प्रसिद्धं देवम् द्योतनात्मकम् ओण्योः सर्वस्य अवित्र्योः द्यावापृथिव्योः सवितारम् प्रसवितारम् एतन्नामधेयं देवम् अभ्यर्चामि अभिष्टौमि । ❀ ओण्योरिति । अवतेः औणादिको निप्रत्ययः । "ज्वरत्वर०" इत्यादिना ऊठ् गुणः । छान्दसं णत्वम् । "उदात्तस्वरितयोः०" इति ओकारः स्वर्यते "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इत्येष स्वरो व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀ । सवितारं विशिनष्टि । कविक्रतुं कवीनां मेधाविनामिव क्रतुः कर्म यस्य तादृशं कमनीयकर्माणं वा सत्यसवम् सत्यानुज्ञं यथार्थप्रेरणम् रत्नधाम् रमणीयधनानां धारयितारं दातारं वा प्रियमभि प्रियं प्रेम प्रीणयितारं स्तोतारं वा अभिलक्ष्य । रत्नधाम् इति संबन्धः । यद्वा अभि आभिमुख्येन प्रियं सर्वस्य प्रीतिकरम् अत एव मतिम् सर्वैर्मन्तव्यम् । ❀ "मन्त्रे वृषेष०" इति क्तिन्नुदात्तः ❀ । ईदृशं देवम् अभ्यर्चामि । ❀ अर्चतिः स्तुतिकर्मा । पादादित्वात् न निघातः ❀ ॥

उन कमनीय कर्म वाले, यथार्थ प्रेरणा वाले, रमणीय धनोंको धारण करने वाले अत एव सबको प्रिय और मन्तव्य तथा रक्षा करने वाली द्यावापृथिवीके सविता नामक देवकी मैं पूजा करता हूँ १

द्वितीया ॥

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि ।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥

ऊर्ध्वा । यस्य । अमतिः । भाः । अदिद्युतत् । सवीमनि ।

हिरण्यऽपाणिः । अमिमीत । सुऽक्रतुः । कृपात् । स्वः ॥ २ ॥

२०८०

यस्य सवितुर्देवस्य अमतिः अमनशीला व्यापनशीला। ❀ अमतेर्गतिकर्मण औणादिकः अतिप्रत्ययः। अत एव मध्योदात्तः ❀। एतादृशी भाः दीप्तिः ऊर्ध्वा उत्कृष्टा अदिद्युतत् द्योतयति। विश्वम् इति शेषः। ❀ द्योततेर्ण्यन्तात् चङि उपधाह्रस्वत्वम् ❀। यस्य च देवस्य सवीमनि सवे अनुज्ञायां सत्याम्। ❀ षू प्रेरणे। "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति मनिन्। छान्दसम् इटो दीर्घत्वम् ❀। येन सवित्रानुज्ञातः सुक्रतुः शोभनकर्मा पुष्टिकामो व्रह्मा वा हिरण्यपाणिः हिरण्यहस्तः सन् कृपा कल्पनया अंगुल्यादिविषयया स्वः स्वर्गप्रदं सुखप्रदम्। सोमम् इत्यर्थः। अमिमीत मिमीते। ❀ छान्दसो लङ् ❀। [त्यं प्रसिद्धम् इति पूर्वमन्त्रेण संवन्धः]॥ यद्वा। ❀ सवीमनीति निमित्तसप्तमी। सुनोतेरौणादिक ईमनिन् प्रत्ययः❀। अभिषवार्थं हिरण्यपाणिः हितरमणीयरश्मिः हिरण्यहस्तो वा। "हिरण्यपाणिम् ऊतये सवितारम् उप स्तुहि" इति हि निगमः [ऋ० १. २२. ५]। स्वः आदित्यः सविता कृपा कृपया पुष्टिकामं व्रह्माणं वा आविश्य स्वयमेव मिमीते। सोमम् इति शेषः। ❀ कृपा। कृपू सामर्थ्ये। क्विप्। "सावेकाचः०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀॥

जिन सविता देवताकी व्याप्तिस्वभावा कान्ति उत्कृष्ट रूपसे विश्वको दमकाती है और जिन देवताकी अनुज्ञा होने पर शोभन कर्म वाला व्रह्मा हितरमणीय हाथसे अंगुलि आदिकी कल्पनासे स्वर्ग देने वाले सोमको वनाते हैं उन सविता देवताकी हम स्तुति करते हैं॥ २॥

तृतीया ॥

सावी॒र्हि॑ दे॑व प्रथ॒माय॑ पि॒त्रे व॒र्ष्माण॑मस्मै वरि॒माण॑मस्मै

अथा॒स्मभ्यं॑ सवित॒र्वार्या॑णि दि॒वोदि॑व॒ आ सु॑वा॒ भूरि॑
प॒श्वः ॥ ३ ॥

सावी॑ः । हि । दे॒व॒ । प्र॒थ॒माय॑ । पि॒त्रे । व॒र्ष्माण॑म् । अ॒स्मै॒ । व॒रि॒-
माण॑म् । अ॒स्मै॒ ।

अथ॑ । अ॒स्मभ्य॑म् । स॒वि॒त॒रिति॑ । वार्या॑णि । दि॒वःऽदि॑वः । आ ।
सु॒व॒ । भू॑रि । प॒श्वः ॥ ३ ॥

हे देव द्योतनात्मक सवितः प्रथमाय । प्रथम इति मुख्यनाम । प्रतमनाय प्रकृष्टमाय पित्रे पालकाय यजमानाय सावीर्हि प्रेरयैव । फलम् इति शेषः । सामान्येनोक्तं विशिनष्टि । अस्मै पुष्टिकामाय वर्ष्माणम् देहम् । पुत्रपौत्रादिलक्षणां संततिम् इत्यर्थः । तां प्रयच्छेति संबन्धः । अस्मै पुष्टिकामाय यजमानाय वरिमाणम् उरुत्वं च प्रयच्छ । यद्वा वर्ष्माणम् देहं यथा यजमानस्य देहः पुत्रपौत्रादिजननक्षमो भवति तथा कुरु । वरिमाणम् पुत्रपौत्रादिलक्षणम् उरुत्वं प्रयच्छेति ॥ अथ अनन्तरं हे सवितः अस्मभ्यं वार्याणि वरणीयानि फलानि आ सुवेति क्रियया संबन्धः । अपि च दिवोदिवः दिवसान् दिवसान् प्रतिदिवसम् । "दिवेदिव आ सुव" इति शाखान्तरे [ऋ० ३. ५६, ६]पठ्यते । भूरि भूरीन् । ❀ सुपो लुक् ❀ । पश्वः पशून् । ❀ छान्दसो यण् आदेशः ❀ । आ सुव अस्मदभिमुखं प्रेरय ॥

हे द्योतनात्मक सवितः देव ! आप इस श्रेष्ठ पालक यजमानके लिये फलोंको प्रेरित ही करिये । इस पुष्टि चाहने वालेको देहको अर्थात् पुत्र पौत्र आदिरूप देहको दीजिये और इसको महत्व दीजिये, वा—इस यजमानका देह जिस प्रकार पुत्र पौत्र आदिको

उत्पन्न करनेमें समर्थ हो तैसा करिये और इसको पुत्र पौत्र आदिरूप महत्व दीजिये। और हे सवितः देवता! आप हमारे लिये प्रतिदिन वरणीय फलोंको और बहुतसे पशुओंको हमारे अभिमुख प्रेरण करते रहिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य
आयूंषि ।
पिबात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य
धर्मणि ॥ ४ ॥

दमूनाः । देवः । सविता । वरेण्यः । दधत् । रत्नम् । दक्षम् ।
पितृऽभ्यः । आयूंषि ।
पिबात् । सोमम् । ममदत् । एनम् । इष्टे । परिऽज्मा । चित् ।
क्रमते । अस्य । धर्मणि ॥ ४ ॥

दमूनाः दान्तमना दानमना वा वरेण्यः वरणीयः सविता सर्वप्रेरको देवः रत्नम् रमणीयं धनं दक्षम्। बलनामैतत्। बलं च दधत् प्रयच्छन् तथा पितृभ्यः पूर्वेभ्यः सकाशात् आयूंषि शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः। तपनपरिस्पन्दबाहुल्यात् तत्कालावच्छिन्नस्यापि आयुषो बहुत्वम् पुत्रपौत्राद्यपेक्षया वा बहुवचनम्। तादृशम् आयुश्च दधत् विदधत् प्रयच्छन् सोमम् अभिषुतं पिबात् पिबतु। ❀ पातेर्लेटि आडागमः ❀। पीतः स सोमः इष्टे यागे सवितृदेवत्ये एनं सवितारं ममदत् मदयतु। ❀ मादेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम्। वाक्यादित्वात् न निघातः "चङ्यन्यतरस्याम्"

२०८३

इति उपोत्तमस्य उदात्तत्वम् ❀ । ततः परिज्मा चित् परितो व्यापनशीलोपि स सोमः अस्य सवितुः धर्मणि धारके स्थाने जठररूपे क्रमते अप्रतिबद्धो वर्तताम् । ❀ "वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

दान देनेमें मनको परायण रखने वाले, वरणीय सर्वप्रेरक सविता देवता रमणीय धन और बलको देते हुए हमें पितरोंसे आयुओंको देते हुए इस अभिषुत सोमको पियें, और वह पिया हुआ सोम इस सवितृदेवत्य यागमें सविता देवताको प्रसन्न करे । उस समय वह व्यापनशील भी सोम इन सविता देवताके धारक जठरस्थानमें अप्रतिबद्धरूपसे रहे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तां स॑वितः स॒त्यस॑वां सुचि॒त्रामाहं वृ॑णे सुम॒तिं वि॒श्ववा॑राम् ।
याम॑स्य॒ कण्वो॒ अदु॑ह॒त् प्रपी॑नां स॒हस्र॑धारां महि॒षो भगा॑य ॥ १ ॥

ताम् । स॒वि॒तः॒ । स॒त्यऽस॑वाम् । सु॒ऽचि॒त्राम् । आ । अ॒हम् । वृ॒णे॒ ।
सु॒ऽम॒तिम् । वि॒श्वऽवा॑राम् ।
याम् । अ॒स्य॒ । कण्वः॑ । अदु॑हत् । प्रऽपी॑नाम् । स॒हस्र॑ऽधाराम् ।
म॒हि॒षः । भगा॑य ॥ १ ॥

हे सवितः प्रसवितः सर्वस्य प्रेरयितः तां तादृशीम् उत्तरार्धे वक्ष्यमाणगुणां त्वदीयां सत्यसवाम् सत्यानुज्ञां सुचित्राम् सुष्ठु चायनीयां विश्ववाराम् सर्वैर्वरणीयां सुमतिम् शोभनाम् अनुग्रहबुद्धिम् ।

२०८४

❀ "मन्क्तिन्व्याख्यान०" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । ताम् अहम् आ वृणे आभिमुख्येन याचे । याम् अस्य सवितुः संबन्धिनीं सुमतिं महिषः । महन्नामैतत् । महान् कण्वः एतन्नामा ऋषिः अदुहत् दुग्धवान् । स्वाधीनां कृतवान् इत्यर्थः । कीदृशीम् । प्रपीनाम् प्रवृद्धाम् । ❀ प्यायतेः पीभावः ❀ । सहस्रधाराम् बहुधाराम् । ❀ सुमतेर्गोसादृश्यविवक्षया पीनत्वादिविशेषणयोगाद् दुहिधातुप्रयोगः ❀ । किमर्थं दुग्धवान् । भगाय भाग्याय । यां कण्वो दुग्धवान् तां सवितृसंबन्धिनीं सुमतिम् आ वृणे इति संबन्धः॥

हे सर्वप्रेरक सविता देव ! मैं उस सत्य अनुज्ञा वाली, भली प्रकार चयन करने योग्य, सर्वोंसे वरणीय शोभना अनुग्रहरूपा बुद्धिकी याचना करता हूँ, कि-जिस आपकी प्रवृद्ध अनेक धारा वाली बुद्धिको भाग्यके लिये महान् कण्व ऋषिने दुहा था - अपने अधीन किया था ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय ।
संशितं चित् संतरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु
देवाः ॥ १ ॥

बृहस्पते । सवितः । वर्धय । एनम् । ज्योतय । एनम् । महते । सौभगाय ।
सम्ऽशितम् । चित् । सम्ऽतरम् । सम् । शिशाधि । विश्वे ।
एनम् । अनु । मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

हे बृहस्पते बृहतां महतामपि देवानां पते हे सवितः प्रसवितः एतन्नामक देव । ❀ "नामन्त्रिते समानाधिकरणे०" इति पूर्वस्यामन्त्रितस्य अविद्यमानत्वप्रतिषेधाद् द्वितीयं इदं सवितृपदं निहन्यते ❀ ।

२०८५

एनं सूर्योदयपर्यन्तं सुप्तं ब्रह्मचारिणं यजमानादिकं वा वर्धय । उदयकाले स्वपतः पुरुषस्य दोषश्रवणात् तद्दोषपरिहारेण एनं यजमानं समर्धयेत्यर्थः । ❀ द्वितीयस्य आमन्त्रितस्य अविद्यमानत्वाद् वर्धयेति पदं न निहन्यते ❀ । किं च एनं यजमानादिकं महते प्रभूताय सौभगाय सौभाग्याय द्योतय । यथा महत् सौभाग्यं भवति तथा दीप्तं कुर्वित्यर्थः । अपि च संशितम् संशितव्रतं चित् अपि व्रतवन्तमपि संतरम् सम्यक् अतिशयेन । ❀ समस्तरपि प्रत्यर्थे "अमु च च्छन्दसि" इति अम् ❀ । सं शिशाधि सम्यक् तीक्ष्णीकुरु । संतरं सं शिशाधि इत्युपसर्गद्वयश्रुतेर्व्रतलोपपरिहारेण यजमानादेः कर्मसाफल्यम् आशास्यते । ❀ शो तनूकरणे । लोटि "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । इत्वं च अभ्यासस्य छान्दसम् । "वा छन्दसि" इति अपित्त्वे प्रतिषिद्धे पित्त्वेन ङित्त्वाभावात् "अङितश्च" इति हेर्धिभावः ❀ । किं च विश्वे सर्वे देवाः एनं यजमानादिकम् अनु मदन्तु अनुमोदन्ताम् । साधीयान् असाविति सर्वेऽनुमन्यन्ताम् इत्यर्थः ॥

हे बृहस्पति नामक देव ! और हे सविता देव ! इस सूर्योदय तक सोते रहने वाले ब्रह्मचारी वा यजमान आदिको बढ़ाइये, तात्पर्य यह है, कि-उदयकालमें भी सोने वालेके लिये दोषश्रुति है उस दोषको दूर कर इस यजमानको बढ़ाइये। और इस यजमानको बड़े भारी भाग्यके लिये प्रदीप्त करिये, यद्यपि यह व्रत का पालन करता है, इसको और भी व्रतोंका भी पालन करने वाला करिये सब देवता इसका अनुमोदन करें, कि-यह साधु है १

सप्तमी ॥

धा॒ता द॑धातु नो र॒यिमीशा॑नो॒ जग॑त॒स्पति॑ः ।
स न॑ः पू॒र्णेन॑ यच्छतु ॥ १ ॥

२०८६

धा॒ता । द॒धा॒तु॒ । नः॒ । र॒यिम् । ईशा॑नः । जग॑तः । पतिः॑ ।

सः । नः॒ । पू॒र्णे॑न । य॒च्छ॒तु॒ ॥ १ ॥

धाता विश्वस्य धारयिता एतन्नामको देवः नः अस्मभ्यं रयिम् धनं दधातु विदधातु प्रयच्छतु । कीदृशः । ईशानः सर्वार्थसाधनशक्तः । ❀ अनुदात्तेत्त्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वम् ❀ । जगतस्पतिः पालयिता । ❀ "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति सत्वम् ❀ । किं च स धाता देवः नः अस्मान् पूर्णेन आप्यायितेन समृद्धेन धनेन यच्छतु नियच्छतु । योजयत्वित्यर्थः ॥

विश्वको धारण करने वाले धाता नामक देवता हमको धन देवें, यह धाता देवता सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेमें समर्थ हैं और जगत्का पालन करने वाले हैं, ऐसे ये धाता देवता हमको पूर्ण धनसे संयुक्त करें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

धा॒ता द॑धातु दा॒शुषे॒ प्राचीं॑ जी॒वातु॒मक्षि॑ताम् ।
व॒यं दे॒वस्य॑ धीमहि सुम॒तिं वि॒श्वरा॑धसः ॥ २ ॥

धा॒ता । द॒धा॒तु॒ । दा॒शुषे॑ । प्राची॑म् । जी॒वातु॑म् । अक्षि॑ताम् ।

व॒यम् । दे॒वस्य॑ । धी॒म॒हि॒ । सु॒ऽम॒तिम् । वि॒श्वऽरा॑धसः ॥ २ ॥

धाता सर्वस्य विधारको देवः दाशुषे हविर्दत्तवते मह्यं यजमानाय प्राचीम् प्रकृष्टगमनाम् अस्मदभिमुखगमनां जीवातुम् जीवनकारिणीम् । ❀ जीवेः आतुप्रत्ययः ❀ । अक्षिताम् अनुपक्षीणाम् । सुमतिम् इति अनुषज्यते । तां दधातु धारयतु ॥ वयमपि विश्वराधसः सर्वधनस्य अतिप्रभूतधनस्य देवस्य धातुः सुमतिम् कल्याणीं मतिम् अनुग्रहात्मिकां धीमहि धारयेम । ❀ धीङ् आधारे ।

श्यनोलुक् ❀ । यद्वा दाशुषे यजमानाय प्राचीम् प्राञ्चनाम् अनुगुणां जीवातुम् जीवनाय पर्याप्ताम् अक्षितां रयिं दधातु ॥ वयमपि धनप्रदानार्थं धातुः सुमतिं धीमहि ध्यायेम । याचेमेत्यर्थः ॥

सबको धारण करने वाले धाता देवता मुझ हवि अर्पण करने वाले यजमानको जीवनदायिनी अक्षय सुमतिको देवें, हम परम धनी देवकी अनुग्रहात्मिका बुद्धिको धारण करते हैं । अथवा–वह मुझ हवि देने वाले यजमानको प्राचीन कालके योग्य जीवननिर्वाहक्षम अक्षत धनको देवें, हम भी धनप्रदानके लिये धाताकी अनुग्रहरूपा बुद्धिका ध्यान करते हैं–अर्थात् याचना करते हैं २

नवमी ॥

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः
सजोषाः ॥ ३ ॥

धाता । विश्वा । वार्या । दधातु । प्रजाऽकामाय । दाशुषे । दुरोणे ।
तस्मै । देवाः । अमृतम् । सम् । व्ययन्तु । विश्वे । देवाः ।
अदितिः । सऽजोषाः ॥ ३ ॥

धाता देवः विश्वा विश्वानि वार्या वार्याणि वरणीयानि फलानि दधातु विदधातु । कस्मै कस्मिन्निति तद् आह । प्रजाकामाय पुत्रादिकम् इच्छते दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय दुरोणे । ❀ दुरोण इति गृहनाम दुरवा भवन्तीति यास्कः [नि० ४.५]❀ । दुरवने । गृहे । अपि च तस्मै यजमानाय देवा इन्द्राद्याः अमृतम् अमरणसाधनम् अविनाशं वा सं व्ययन्तु संवृण्वन्तु । प्रयच्छन्तु इत्यर्थः । ❀ व्येञ् संवरणे ❀ । के ते देवाः । विश्वे सर्वे देवाः ।

अदितिः अदीना अखण्डनीया वा देवमाता । सजोषाः सहप्रीयमाणा परस्परं स्निग्धा । ❀ जुषी प्रीतिसेवनयोः । असुनि रूपम् । अदितेर्विशेषणम् । देवविशेषणपक्षे जसो लुक् ❀ ॥

धाता देवता समस्त वरणीय फलोंको हवि देने वाले प्रजाभिलाषी यजमानको देवें और इस यजमानके घरमें देवता अमरणसाधन वस्तु स्थापित करें सब देवता और अदितिदेवी प्रसन्न होकर (इसको वरणीय फल देवें) ॥ ३ ॥

दशमी ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । प्रजाऽपतिः । निधिऽपतिः । नः । अग्निः ।
त्वष्टा । विष्णुः । प्रऽजया । सम्ऽरराणः । यजमानाय । द्रविणम् । दधातु ॥ ४ ॥

धाता सर्वस्य स्रष्टा रातिः दाता सर्वश्रेयसाम् । ❀ कर्तरि क्तिच् । यद्वा "मन्त्रे वृषेष०" क्तिन्नुदात्तः व्यत्ययेन कर्त्रर्थे भवति ❀ । सविता सर्वस्य प्रेरकः अभ्यनुज्ञाता वा । प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा पालयिता च परमेष्ठी । स एव विशेष्यते । निधिपतिः निधीयन्ते पुरुषार्था येष्विति निधयो वेदाः तेषां पाता रक्षिता । अग्निः अंगनादिगुणयुक्तो वह्निः । त्वष्टा रूपाणां कर्ता । विष्णुः व्यापको देवश्च । एते धात्रादयः सर्वे नः अस्मदीयम् इदं हविः जुषन्ताम् सेवन्ताम् । इदानीम् एत एव एकैकश उच्यन्ते । एष धात्रादि

देवः प्रजया पुत्रपौत्रादिकया संरराणः सम्यग् रममाणः प्रजोत्पत्त्यादिहेतुः। यद्वा प्रजया सह संरराणः संप्रयच्छन्। अभिमतं फलम् इति शेषः। ❀ रमतेः अन्त्यलोपश्छान्दसः। रातेर्वा शपः श्लुः ❀। यजमानाय यागं कुर्वते द्रविणम् धनं दधातु प्रयच्छतु ॥

[इति] सप्तमे काण्डे द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

सबके स्रष्टा धाता देवता, सब कल्याणोंके दाता सर्वप्रेरक सूर्यदेव प्रजाओंके पालक और जिनमें पुरुषार्थ स्थापित किये गए हैं उन वेदोंके रक्षक परमेष्ठी, अंगनादि गुणयुक्त अग्निदेव, रूपोंके कर्ता त्वष्टा देवता, व्यापक विष्णुदेव—इनमेंसे प्रत्येक देवता इस हमारी हविका सेवन करें। और प्रजाके साथ अभिमत फलको देकर इस याग करने वाले यजमानको धन भी देवें ॥ ४ ॥

सप्तम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३३३) ॥

"प्र नभस्व" इति त्र्यृचेन वृष्टिकामो मरुद्भ्यो मान्त्रवर्णिकीभ्यो वा देवताभ्यः क्षीरौदनहोमः आज्यहोमः काशादिविधुवकवेतसाख्या ओषधीरेकस्मिन् पात्रे कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य जलमध्ये अधोमुखं निनयनम् तासामेव काशादीनां संपातिताभिमन्त्रितानाम् अप्सु प्लावनम् श्वशिरसो मेषशिरसश्च अभिमन्त्रितस्य अप्सु प्रक्षेपणम् मानुषकेशजरदुपानहां वंशाग्रे बन्धनम् तुषसहितम् आमपात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन संप्रोक्ष्य त्रिपदे शिक्ये निधाय अप्सु प्रक्षेपणं च इत्येतानि अभिवर्षणकर्माणि कुर्यात्। सूत्रितं हि। "समुत् पतन्तु [४. १५] प्र नभस्व [७. १८] इति वर्षकामो द्वादशरात्रम्" इत्यादि "त्रिपादेश्मानम् अवधायाप्सु निदधाति" इत्यन्तम् [कौ० ५. ५] ॥

तथा उपतारकाद्भुतशान्तौ अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात्। सूत्रितं हि। "अथ यत्रैतदुपतारका" इति प्रक्रम्य "समुत्पतन्तु प्र

नभस्वेति वार्षीर्जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इत्यन्तम् [कौ० १३. ११] ॥

दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु सौम्ययागं "न घ्रंस्ततताप" इत्यनया अनुमन्त्रयेत । "न घ्रंस्ततताप [७. १६. २.] सं वर्चसा [६. ५३. ३] देवानां पत्नीः [७. ५१] सुगार्हपत्यः [१२. २. ४५] इति पत्नीसंयाजान्" इति वैतानात् [वै० १. ४] ॥

"प्रजापतिर्जनयतु" इति ऋचा वन्ध्यायाः पुत्रलाभकर्मणि तस्या उत्संगे आज्यं जुहुयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनया लोहिताजमांसं संपात्य अभिमन्त्र्य भक्षयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया ऋचा उदककुम्भं सुराकुम्भं वा संपात्य अभिमन्त्र्य प्रजाकामां स्त्रियं परिभ्राम्य अग्रे निनयेत् ॥

तथा अनया ओदनं सुरां प्रपां वा संपात्य अभिमन्त्र्य प्रजाकामायै दद्यात् ॥

सूत्रितं हि । "प्रजापतिरिति प्रजाकामाया उपस्थे जुहोति । लोहिताजाया पिशितान्याशयति प्रपान्तानि" इति [कौ० ४. ११] ॥

तथा अभिलषितफलकामः अनया प्रजापतिं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

"अन्वद्य नोनुमतिः" इति षड्टचेन अभिलषितफलकामः अनुमतिं यजेन उपतिष्ठेत वा । सूत्रितं हि । "धाता दधातु [७. १८] प्रजापतिर्जनयतु [७. २०] अन्वद्य नोनुमतिः" [७. २१] इति [कौ० ७. १०] ॥

पूर्णमासयागे अनुमतिदेवताम् "अन्वद्य नः" इति षड्टचेन परिगृह्णीयात् । उक्तं वैताने । "देवताः परिगृह्णाति" इति प्रक्रम्य "अन्वद्य न इति पौर्णमास्याम्" इति [वै० १. १] ॥

पितृमेधकर्मणि इष्टकाभिश्चितं श्मशानं "समेत विश्वे" [७. २२] इत्यनया सर्वे बान्धवाः परिषिञ्चेयुः ॥

20८1

"अयं सहस्रम्" इति द्वाभ्यां पृश्निसवे हविर्मर्शनसंपातप्रदानादीनि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि । "आयं गौः पृश्निः [६. ३१] अयं सहस्रम् [७. २३] इति पृश्निं गाम्" इति [कौ० ८. ७] ॥

"प्र नभस्व" इस ऋचसे वृष्टि चाहने वाला मरुत् देवताओंके लिये वा मन्त्रोक्त देवताओंके लिये क्षीरौदनहोम और घृतहोम करे । काश दिविधुवक और वेत नाम वाली औषधियोंको एक पात्रमें करके सम्पातन और अभिमन्त्रण करके जलमें नीचेको मुख करके लेजाय, उन ही सम्पातित और अभिमन्त्रित कास आदिको जलमें डुबावे, कुत्तेके और मेढ़के अभिमन्त्रित शिरको जलमें फेंक देवे, मनुष्यके केश और पुराने जूतोंको बाँसके अग्रभागमें बाँधे, भूसीसहित कच्चे पात्रको अभिमन्त्रित जलसे संप्रोक्षित करके तीन लड़ वाले छींके पर रक्खे फिर उसको जलमें फेंक देवे—इन अभिवर्षण कर्मोंको करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'समुत्पतन्तु (४ । १५) प्र नभस्व (७।१६) इति वर्षकामो द्वादशरात्रम्" इत्यादि "त्रिपादेऽश्मानम् अवधायाप्सु निदधाति" इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र ५ । ५) ॥

तथा उपतारकाद्भुतशान्तिमें इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अथ यत्रैतदुपतारका इति प्रक्रम्य "समुत्पतन्तु प्र नभस्वेति वार्षीर्जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र १३ । ११) ॥

दर्शपूर्णमासके पत्नी संयाजोंमें सौम्ययागका "न घ्रंस्तताप" ऋचासे अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि—"न घ्रंस्तताप (७ । १६ । २) सं वर्चसा (६ । ५३ । ३) देवानां पत्नीः (७ । ५१) सुगार्हपत्यः (१२ । २ । ४५) इति पत्नीसंयाजान्" "प्रजापतिर्जनयतु" इस ऋचासे वन्ध्याके पुत्रलाभकर्ममें उसके उत्संग (समीप) में घृतको होमे ॥

तथा तहाँ ही कर्ममें इससे लाल बकरेके मांसको सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे।

तथा इसी कर्ममें इस ऋचासे जलपूर्ण कलश वा सुराकुम्भ का संपातन और अभिमन्त्रण करके प्रजाभिलाषिणी स्त्रीको घुमा कर आगे लावे।

तथा इस ऋचासे ओदन सुरा वा पौका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके उसको प्रजाभिलाषिणी स्त्रीको देदेय।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"प्रजापतिरिति प्रजाकामाया उपस्थे जुहोति। लोहिताजायाः पिशितान्याशयति प्रपातान्तानि" (कौशिकसूत्र ४। ११)॥

तथा अभिलषित फलको चाहने वाला इस ऋचासे प्रजापतिका यजन वा उपस्थान करे।

"अन्वद्य नोनुमितिः" इस षडृचसे अभिलषित फलको चाहने वाला अनुमतिका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"धाता दधातु (७। १८) प्रजापतिर्जनयतु (७। २०) अन्वद्य नोनुमिति (७। २१)" (कौशिकसूत्र ७।१० ॥

पूर्णमासयागमें अनुमति देवताको "अन्वद्य नः" इस षडृचसे परिग्रहण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"देवता परिगृह्णाति" इति प्रक्रम्य "अन्वद्य न इति पौर्णमास्याम्" (वैतानसूत्र १। १)॥

पितृमेधकर्ममें ईंटोंसे चिने हुए श्मशानकी "समेत विश्वे" (७। २२) ऋचासे सब बान्धव परिषिञ्चन करें॥

"अयं सहस्रम्" इन दो ऋचाओंसे पृश्निसत्रमें हविमर्शन संपात प्रदान आदि कर्म करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है, कि—"आयं गौः पृश्निः (६। ३१) अयं सहस्रम् (७। २३) इति पृश्नि गाम्" (कौशिकसूत्र ८। ७)॥

२०६३

तत्र प्रथमा ॥

प्र न॑भस्व पृथिवि भि॒न्द्धी॒३॒॑दं दि॒व्यं नभः॑ ।
उ॒द्नो दि॒व्यस्य॑ नो धा॒त॒रीशा॑नो॒ वि ष्या॒ दृति॑म् ॥१॥

प्र । न॒भ॒स्व॒ । पृ॒थि॒वि॒ । भि॒न्द्धि । इ॒दम् । दि॒व्यम् । नभः॑ ।
उ॒द्नः । दि॒व्यस्य॑ । नः॒ । धा॒त॒रिति॑ । ईशा॑नः । वि । स्य॒ । दृति॑म् १

अत्र द्वितीयादिपादत्रये वृष्ट्यर्थं पर्जन्यः प्रार्थ्यते। तदर्थम् आदौ अतिवृष्ट्या भूमेर्बाधा मा भूद् इति तस्याः स्थैर्यं प्रथमपादे आशास्यते। हे पृथिवि विस्तीर्णे भूमे त्वं प्र नभस्व। ❀ नभतिर्गतिकर्मा ❀। प्रकर्षेण संगता उच्छ्वसिता भव। अयम् अर्थः। सस्यादिवृद्ध्यर्थं पर्जन्यस्तत्रोपरि महतीं वृष्टिं करिष्यति तयातिवृष्ट्या त्वं शिथिलावयवा मा भव किं तु दृढा भवेति। यद्वा। ❀ नभ तुभ हिंसायाम्। क्रैयादिकः। व्यत्ययेन शप् ❀। कृष्ट्या प्रकर्षेण बाधिता मृदिता भव। शाल्यादिबीजवापनार्थं क्षेत्रादिकर्षणक्लेशवती भवेत्यर्थः। ❀ नह्यतेर्वा विकरणव्यत्ययः। हकारस्य भकारः ❀। प्र नह्यस्व संनद्धा भवेति। एवं पृथिवीं संस्तुभ्य वृष्ट्यर्थं देवः प्रार्थ्यते। इदं पुरोवर्ति दिव्यम् दिवि भवं नभः मेघं भिन्द्धि विदारय। इति सामर्थ्यात् पर्जन्यः संबोध्यते। तथा कृत्वा दिव्यस्य दिवि भवस्य उद्नः उदकस्य। ❀ "पद्दन्०" इत्यादिना उदकस्य उदन् आदेशः। कर्मार्थे षष्ठी ❀। उदकस्य भागम् इति वा नः अस्मभ्यं धात धेहि प्रयच्छ। ❀ दधातेर्लोटि शपो लुकि "तिङां तिङो भवन्ति" इति हेस्तादेशः ❀। एतदेव प्रकारान्तरेणाह। ईशानः वृष्टिप्रदानशक्तस्त्वं दृतिम् जलपूर्णां भस्त्रां मेघरूपां वि ष्य विमुञ्च। ❀ स्यतिः उपसृष्टो विमोचने। षो अन्तकर्मणि। ओतः श्यनि" इति ओकारलोपः ❀। यथा जलपूर्णदृतिमुखात् महज्जलं स्रवति एवं मेघेभ्यो महतीं वृष्टिं कुर्वित्यर्थः ॥

हे पृथिवि ! तू प्रकृष्टरूपसे संगत होकर उच्छ्वसित हो, तात्पर्य यह है, कि—सस्य आदिकी वृद्धिके लिये पर्जन्य तेरे ऊपर बड़ी भारी वृष्टि करेगा उस वृष्टिसे तू शिथिल अवयव वाली न होना दृढ़ ही रहना अथवा जोतनेसे बाधित होकर मृदित हो—सट्टी आदिके बीज बोनेके लिये क्षेत्रादिकर्षण क्लेश वाली हो। हे पर्जन्य ! आप इस दिव्य मेघको विदीर्ण करिये और ऐसा करके दिव्य अर्थात् आकाशमें हुए जलको हमें दीजिये। वृष्टिको प्रदान करने में समर्थ आप जलपूर्ण मेघरूपा भस्त्राको खोलिये अर्थात् जैसे जलसे भरी हुई मशकके मुखसे पानी निकलता है तिस प्रकार मेघोंसे बड़ी भारी वृष्टिको करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न घ्रंस्त॑ताप॒ न हि॒मो ज॑घान॒ प्र न॑भतां पृथि॒वी जी॒रदा॑नुः
आप॑श्चिदस्मै घृ॒तमित् क्ष॑रन्ति॒ यत्र॒ सोम॒ः सद॒मित्
तत्र॑ भ॒द्रम् ॥ २ ॥

न । घ्रन् । त॒ता॒प॒ । न । हि॒मः । ज॒घा॒न॒ । प्र । न॒भ॒ता॒म् । पृ॒थि॒वी ।
जी॒रऽदा॑नुः ।
आप॑ः । चि॒त् । अ॒स्मै॒ । घृ॒तम् । इत् । क्ष॒र॒न्ति॒ । यत्र॑ । सोम॑ः ।
सद॑म् । इत् । तत्र॑ । भ॒द्रम् ॥ २ ॥

घ्रन् । अनुकरणशब्दोयम् । घर्म इत्यर्थः । "यद् घ्रन्नित्यपतत् तद् घर्मस्य घर्मत्वम्" इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० आ० ५. १. ५]। अनेन घर्मशब्दवाच्यः कालो लक्ष्यते। स घर्मः ग्रीष्मो न ततापः। ❀ अन्तर्भावितण्यर्थः ❀ । न तापयति संतापेन न बाधते। हिमः

हेमन्तर्तुः न जघान। अतिशैत्येन गात्रसंकोचनरूपबाधां न करोतीत्यर्थः। पृथिवी च जीरदानुः जीवनप्रदा। ❀ जीवे रदानुप्रत्ययः ❀। यद्वा। ❀ रक्कि ज्यः प्रसारणे जीर इति भवति। “दाभ्नाभ्यां नुः” [उ० ३. ३२] इति नुप्रत्यये दानुरिति। अस्यां व्युत्पत्तौ अवग्रहो युज्यते ❀। जीरदानुः प्रवृद्धदाना सती प्र नभताम्। उक्तो नभतिशब्दार्थः। वर्षेण आप्यायिता भवत्वित्यर्थः। किं च अस्मै यजमानाय आपश्चित् आपोपि घृतम् इत् घृतमेव सत्यः क्षरन्ति घृतवत् प्रीतिकारण्यो भवन्ति। “आपो भद्रा घृतमिद् आप आसुः” इति [तै० सं० ५. ६. १. ३] श्रुत्यन्तरात्। यद्वा आपः घृतमेव क्षरन्ति कुर्वन्ति। वृष्ट्या गोसमृद्धौ घृतवृद्धिर्भवतीति यावत्। घर्महेमन्तजनितसंतापशैत्यबाधाभावः पृथिव्याप्यायनं घृतक्षरणं च केन हेतुना भवतीति तद् आह। यत्र यस्मिन् देशे सोमः एतन्नामा देवः। इज्यत इति शेषः। तत्र तस्मिन् देशे सदम् इत् सर्वदैव भद्रम् कल्याणं भवति। सौम्ययागेन अनिष्ट निवृत्तिः इष्टप्राप्तिश्च भवतीत्यर्थः॥

जिस देशमें सोम नामक देवताकी पूजा होती है उस देशमें सर्वदा कल्याण ही होता है। उसमें घ्रन् अर्थात् ‡ ग्रीष्म ताप नहीं देता है और हेमन्त ऋतु भी अतिशीतके कारण गात्रसंकोचनरूप बाधाको नहीं करता है। और पृथिवी भी जीवनप्रदान करती हुई बढ़ती है और जल भी घृतरूप होते हुए ही बरसते

---

‡ घ्रन यह अनुकरण शब्द है इसका घर्म अर्थात् ग्रीष्म अर्थ है। तैत्तिरीय आरण्यक ५। १। ५ में कहा है कि-‘यद् घ्रन्नित्यपतन् तद् घर्मस्य घर्मत्वम्। जो घ्रन् करता हुआ गिरता है यही घर्मका घर्मत्व है।”

२०७६

हैं-घृतका समान प्रीति देने वाले होते हैं † अथवा जल घृतको ही करते हैं अर्थात् वृष्टिसे गोसमृद्धि होने पर घृतकी वृद्धि होती है २

तृतीया ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ॥ १ ॥

प्रजाऽपतिः । जनयति । प्रऽजाः । इमाः । धाता । दधातु । सुऽमनस्यमानः ।

सम्ऽजानानाः । सम्ऽमनसः । सऽयोनयः । मयि । पुष्टम् । पुष्टऽपतिः । दधातु ॥ १ ॥

प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा पालयिता स देवः इमाः प्रजाः पुत्रादिका जनयतु उत्पादयतु । धाता पोषको देवः सुमनस्यमानः सुमना इवाचरन् । ❀ "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ् । सलोपो व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀ । सौमनस्यं प्राप्तो दधातु पोषयतु । प्रजा इत्यनुषङ्गः । किं च ताः प्रजाः संजानानाः समानज्ञानाः । कार्यविषये परस्परम् ऐकमत्यं प्राप्ता इत्यर्थः । ❀ "संप्रतिभ्याम् अनाध्याने" इति जानातेरकर्त्रभिप्रायेपि आत्मनेपदम् ❀ । संमनसः संगतमनस्काः । अन्योन्याविसंवादिकार्यचिन्तापरा इत्यर्थः । सयोनयः समानकारणाः । यथा प्रजा उक्तविशेषणविशिष्टा भवन्ति

---

† तैत्तिरीयसंहिता ५ । ६ । १ । ३ में कहा है कि-"आपो भद्रा घृतमिद आप आसुः ।-जल कल्याणकारक है और जल ही घृत है" ॥

तथा पुष्टपतिः पोषस्य पतिः एतन्नामा देवो मयि पुष्टम् पोषं प्रजाविषयं दधातु विदधातु ॥

प्रजाओंके स्रष्टा प्रजापति देव पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाओंको उत्पन्न करें, पोषक धाता देव सुमनकी समान आचरण करते हुए पुष्ट करें । और वह प्रजायें प्रत्येक कार्यमें एकमत रहें—एक मन रहें और एक कारण रहें—ऐसा करनेके लिये पुष्टिपति नामक देवता मुझमें प्रजाविषयक पुष्टिको स्थापित करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अन्वद्य नोनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् ।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥ १ ॥

अनु । अद्य । नः । अनुऽमतिः । यज्ञम् । देवेषु । मन्यताम् ।
अग्निः । च । हव्यऽवाहनः । भवताम् । दाशुषे । मम ॥ १ ॥

अनुमतिः अनुमन्त्री सर्वकर्मसु अनुज्ञात्री पौर्णमासाभिमानिनी देवता । कलाहीने सानुमतिः पूर्णे राका निशाकरे । इति हि तद्विदः । अद्य इदानीं नः अस्माकं यज्ञं देवेषु यष्टव्येषु अनु मन्यताम् अनुजानातु । ज्ञापयत्वित्यर्थः । अग्निश्च अग्निरपि दाशुषे । ❀ विभक्तिव्यत्ययः ❀ । हविर्दत्तवतो मम हव्यवाहनः हव्यं प्रापयिता यष्टव्यान् देवान् भवताम् भवतात् । ❀ व्यत्ययेनात्मनेपदम् । हव्यवाहन इति । "हव्येनन्तःपादम्" इति ञ्युट् ❀ ॥

सब कर्मोंकी अनुमन्त्री पौर्णमासकी अभिमानी देवता ‡ आज

‡ कलाहीने सानुमतिः पूर्णे राका निशाकरे ।—कलाहीनमें वह अनुमति कहलाती है और पूर्णकला वाला चन्द्रमा होने पर वह पूर्णमासी राका कहलाती है ॥

हमारे यज्ञको पूजनीय देवताओंको विदित करे और अग्निदेव भी मुझ हवि देने वालेकी हविको पूजनीय देवताओंको प्राप्त कराने वाले बनें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥

अनु । इत् । अनुऽमते । त्वम् । मंससे । शम् । च । नः । कृधि ।
जुषस्व । हव्यम् । आऽहुतम् । प्रऽजाम् । देवि । ररास्व । नः २

हे अनुमते एतन्नामिके देवते त्वं अनु मंसिषे अनुमन्येथाः । ❀ इत् अवधारणे । मन्यतेः पञ्चमलकारे रूपम् ❀ । किं च नः अस्माकं शम् सुखं कृधि कुरु । आहुतम् आभिमुख्येन अग्नौ प्रक्षिप्तं हव्यम् हविः जुषस्व सेवस्व । हे देवि द्योतमाने अनुमते नः अस्मभ्यं प्रजां पुत्रादिलक्षणां ररास्व प्रयच्छ । ❀ रातेः "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ ॥

हे अनुमति-नामक देवते ! तुम अनुमति दो, और हमैं सुख दो और अग्निमें होमी हुई हविका सेवन करो, हे देवि अनुमते ! हमैं पुत्र आदिरूपा प्रजा दीजिये ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम्
तस्य वयं हेडसि मापि भूम सुमृडीके अस्य सुमतौ
स्याम ॥ ३ ॥

२०८६

अनु॑ । म॒न्य॒ता॒म् । अ॒नु॒ऽमन्यमा॑नः । प्र॒जा॑ऽवन्तम् । र॒यिम् ।
अक्षी॑यमाणम् ।
तस्य॑ । वयम् । हेड॑सि । मा । अपि॑ । भू॒म॒ । सु॒ऽमृ॒डी॒के । अ॒स्य॒ ।
सु॒ऽम॒तौ । स्या॒म॒ ॥ ३ ॥

अनुमन्यमानः अनुमन्ता पुंदेवः । यद्वा लिङ्गव्यत्ययः । अत एव शाखान्तरे स्त्रीलिंगत्वेन पठ्यते । "अनु मन्यताम् अनुमन्यमाना" इति "तस्यै वयं हेडसि" इति च [तै० सं० ३. ३. ११. ४]। अनुमन्त्री अनुमतिर्देवता रयिम् अनु मन्यताम् अनुजानातु । कीदृशम् । प्रजावन्तम् पुत्रादियुक्तम् अक्षीयमाणं च । किं च तस्य अनुमन्तुः पुंदेवस्य तस्या अनुमतेर्वा हेडसि । ❀ क्रोधनामैतत् ❀। क्रोधेपि वयं मा भूम । क्रोधविषया मा भूमेत्यर्थः । किं तु अस्य अनुमन्तुः अस्या अनुमतेर्वा सुमृलीके । मृलीकम् इति सुखनाम । शोभनसुखरूपे शोभनसुखकारिण्यां वा सुमतौ अनुग्रहात्मिकायां शोभनायां बुद्धौ स्याम भवेम ॥

अनुमन्यमान अर्थात् अनुमन्ता पुंदेव ! हमैं पुत्र आदिसे सम्पन्न अक्षय धन देवें, इन देवताके क्रोधमें हम न पड़ें और इनकी सुखदायिनी अनुग्रहात्मिका बुद्धिमें रहें ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

यत् ते॒ नाम॑ सु॒हवं॑ सुप्रणी॒तेनु॑मते॒ अनु॑मतं सु॒दानु॑ ।
तेना॑ नो॑ य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववारे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे
सु॒वीर॑म् ॥ ४ ॥

यत् । ते॒ । नाम॑ । सु॒ऽहव॑म् । सु॒ऽप्र॒नी॒ते॒ । अनु॑ऽमते । अनु॑ऽमतम् ।
सु॒ऽदानु॑ ।

तेन । नः । यज्ञम् । पिपृहि । विश्वऽवारे । रयिम् । नः । धेहि ।

सुऽभगे । सुऽवीरम् ॥ ४ ॥

हे सुप्रणीते सुप्रणयने यजमानानां धनादेः सुष्ठु प्रणेत्रि वा हे अनुमते ते तव सुहवम् सुष्ठु ह्वातव्यम् अनुमतम् सर्वेषाम् अभिमतं सुदानु शोभनदानम् अभिमतफलप्रदायकं यन्नाम नामधेयम् अनुमतिरूपम् अस्ति तेन नाम्ना नः अस्मदीयं यज्ञं पिपृहि पूरय । ❀ "अर्तिपिपर्त्योश्च" इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀ । हे विश्ववारे विश्वैः सर्वैर्वरणीये किं च हे सुभगे शोभनभाग्ययुक्ते अनुमते नः अस्माकं सुवीरम् शोभनापत्यं रयिम् धनं धेहि ॥

हे यजमानोंके धनका भली प्रकार प्रणयन करने वाली अनुमति देवते ! तेरा जो भली प्रकार आह्वान करने योग्य सबोंका अभिमत, अभिमत फलको देने वाला अनुमतिरूप नाम है, उस नामसे हमारे यज्ञको पूर्ण कर, हे सबोंसे वरणीय शोभनभाग्ययुक्त अनुमति देवते ! तू हमको शोभनधनसम्पन्न धन दे ॥ ४ ॥

अष्टमी ॥

एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्

भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा ५

आ । इमम् । यज्ञम् । अनुऽमतिः । जगाम । सुऽक्षेत्रतायै ।

सुऽवीरतायै । सुऽजातम् ।

भद्रा । हि । अस्याः । प्रऽमतिः । बभूव । सा । इमम् । यज्ञम् ।

अवतु । देवऽगोपा ॥ ५ ॥

अनुमतिर्देवी इमम् अनुष्ठीयमानम् अस्मदीयं यज्ञम् आ जगाम

आगच्छतु । ❀ छान्दसो लिट् ❀ । किमर्थम् । सुक्षेत्रतायै सुभूमित्वाय फलाय । सुवीरतायै शोभनपुत्रत्वरूपफलाय सुक्षेत्रपुत्रादिरूपं फलं दातुम् । कीदृशं यज्ञम् । सुजातम् मन्त्रद्रव्यादिना सुष्ठु निष्पन्नम् । किं च हि यस्माद् अस्या अनुमतेः भद्रा भन्दनीया कल्याणी प्रमतिः प्रकृष्टानुग्रहबुद्धिः बभूव अतः देवगोपा देवानाम् अग्न्यादीनां गोप्त्री सा अनुमतिः इमं यज्ञम् अवतु रक्षतु ॥

अनुमति देवी हमारे इस अनुष्ठीयमान मन्त्र द्रव्य आदिसे भली प्रकार सम्पन्न यज्ञमें सुक्षेत्र पुत्र आदिरूप फल देनेके लिये आवे, क्योंकि–इस अनुमतिसे कल्याणी श्रेष्ठ अनुग्रहरूपा बुद्धि होती है अतः अग्नि आदिकी रक्षक अनुमति इस यज्ञकी रक्षा करे५

नवमी ॥

अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत् तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति ।
तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः

अनुऽमतिः । सर्वम् । इदम् । बभूव । यत् । तिष्ठति । चरति ।
यत् । ऊं इति । च । विश्वम् । एजति ।
तस्याः । ते । देवि । सुऽमतौ । स्याम । अनुऽमते । अनु । हि ।
मंससे । नः ॥ ६ ॥

अनुमतिर्देवी इदं परिदृश्यमानं सर्वं जगद् बभूव । सर्वशब्दार्थं विशिनष्टि । यत् जगत् तिष्ठति स्थावरवृक्षगुल्मादिरूपेण वर्तते । चरति यत् जगत् अबुद्धिपूर्वं चेष्टते । यदु च यदपि च विश्वम् सर्वं जगद् एजति बुद्धिपूर्वकं चेष्टते । ❀ एजृ कम्पने ❀ । स्था-

चरजङ्गमात्मकं सर्वं जगद् अनुमतिर्बभूव । हे हेवि अनुमते तस्यास्तादृश्यास्ते तव सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहबुद्धौ स्याम भवेम । हे अनुमते हि यस्मात् नः अस्मान् अनु मंसिषे अनुमन्यसे । ❀ मन्यतेः पञ्चमलकारे "सिप् बहुलं लेटि" इति सिप् ❀ ॥

जो जगत् स्थावर वृक्ष गुल्म आदिरूपसे स्थित है और जो जगत् अबुद्धिपूर्वक चेष्टा करता है और जो जगत् बुद्धिपूर्वक चेष्टा करता है वह सब स्थावरजङ्गमात्मक जगत् अनुमतिरूप है, हे ऐसी अनुमतिदेवि ! ऐसी आप हमारा अनुमोदन करिये ॥ ६ ॥

दशमी ॥

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु ॥ १ ॥

सम्ऽएत । विश्वे । वचसा । पतिम् । दिवः । एकः । विऽभूः । अतिथिः । जनानाम् ।
सः । पूर्व्यः । नूतनम् । आऽविवासत् । तम् । वर्तनिः । अनु । वावृते । एकम् । इत् । पुरु ॥ १ ॥

पैतृमेधिककर्मणा संस्कृतस्य पुरुषस्य सूर्यप्रशंसापूर्वकं तदनुग्रहं प्रार्थयते । हे विश्वे सर्वे बान्धवाः दिवः द्युलोकस्य पतिम् स्वामिनं सूर्यं वचसा मन्त्ररूपेण स्तोत्रेण समेत संप्राप्नुत । संस्तुतेत्यर्थः । ❀ इण् गतौ । लोटि तस्य तबादेशः ❀ । सूर्यो विशेष्यते । जनानाम् जन्मवतां प्राणिनाम् एकः मुख्यो विभूः स्वामी

अतिथिः संततम् अतनशीलः। ❀ अत सातत्यगमने। ऋतन्यञ्जीत्यादिना [उ० ४. २] इथिन् प्रत्ययः ❀। अतिथिवद् अर्घ्यादिना पूज्यो वा। पूर्व्यः पुरातनः। ❀ स्वार्थिको यत् ❀। [स] सूर्यः नूतनम् पितृभूतम् इमं पुरुषम् आविवासत्। ❀ विवासतिः परिचरणकर्मा ❀। परिचरतु। स्वीयोयम् इति अनुगृह्णात्वित्यर्थः। यद्वा पूर्व्यः। ❀ "पूर्वैः कृतम् इनयौ च" इति यप्रत्ययः ❀। पूर्वैः पितृभिः अस्मदीयोयम् इति स्वीकृतः स पुरुषो नूतनम् पुनःपुनरुदयेन अभिनवं सूर्यं परिचरतु। अथ वा पूर्व्यः स पितृभूतः नूतनम् इष्टरुचितम् अभिनवं प्रदेशम् अभिगच्छत्विति। तम् एकमेव सूर्यं पुरु बहुधा वर्तनिः सत्कर्ममार्गः अनु वहते अनुवर्तते॥

(पैतृमेधिककर्म से संस्कृत होने वाले पुरुष पर अनुग्रह करने के लिये सूर्यकी प्रशंसा करते हैं, कि—) हे सब बान्धवों ! द्युलोक के स्वामी सूर्यकी मन्त्ररूप वचनसे स्तुति करो, यह सूर्यदेव जन्म वाले प्राणियोंके प्रधान स्वामी हैं और अतिथिकी समान अर्घ आदिसे पूजनीय हैं, यह प्राचीन सूर्यदेव इस पितृभूत नूतन पुरुष को अपना समझ कर इस पर अनुग्रह करें। इन एक सूर्य से ही अनेक प्रकारका सन्मार्ग चलता है॥ १॥

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि १

अयम्। सहस्रम्। आ। नः। दृशे। कवीनाम्। मतिः। ज्योतिः।
विऽधर्मणि॥ १॥

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्।
अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः॥२॥

ब्रध्नः। समीचीः। उषसः। सम्। ऐरयन्।

अरेपसः । सऽचेतसः । स्वसरे । मन्युमत्ऽतमाः । चिते । गोः २

एकादशी ॥ अयं परिदृश्यमानः सर्वैः स्वात्मत्वेन अनुभूयमानो वा सूर्यः न अस्माकं सहस्रम् । ❀ "कालाध्वनोः०" इति द्वितीया ❀ । सहस्रसंवत्सरकालपर्यन्तं दृशे दर्शनाय । ❀ "दृशे विख्ये च" इति केप्रत्ययान्तत्वेन निपातितः । आ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । [आ भवतु] अनेककालपर्यन्तं सूर्यः अस्मच्चक्षुर्गोचरो भवत्वित्यर्थः । तं विशिनष्टि । कवीनाम् क्रान्तदर्शिनां पुंसां मतिः मननीयः । ❀ कर्मणि क्तिन् ❀ । ज्योतिः प्रकाशरूपः । किं च विधर्मणि विविधे धर्मसाधने कर्मणि । ❀ निमित्तसप्तमी ❀ । ब्रध्नः सर्वेषां स्वस्वकर्मसु तत्फलेषु च बन्धकः संयोजकः सूर्यः । ❀ बन्धेर्ब्रधिबुधी च [उ० ३. ५] इति नक् प्रत्ययः ❀ । उषसः उषःकालोपलक्षितानि अहानि समीचीः संगतानि अनुक्रमेण प्राप्तानि समैरयन् । ❀ वचनव्यत्ययः ❀ । सम्यक् प्रेरयतु । सत्कर्मकरणाय पुनःपुनरहानि प्रेरयत्वित्यर्थः ॥

द्वादशी ॥ उषसो विशेष्यन्ते । अरेपसः अपापाः पापहारिण्यः सचेतसः समानज्ञानाः स्वसरे । अहर्नामैतत् अह्नि विषये मन्युमत्तमाः । ❀ मन्यतिर्दीप्तिकर्मा ❀ । अतिशयेन दीप्तिमत्यः प्रकाशयुक्ताः गोः पृश्निरूपायाः चिते । ❀ चायतेश्चितशब्दो निपातितः ❀ । पूजादानादिकर्मणि निमित्ते ब्रध्नः प्रेरयत्विति पूर्वेण संबन्धः । यद्वा । ❀ चिनोतेः संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ❀ । गोशब्देन आदित्य उच्यते । ❀ गौः विष्टप् नभ इति षट् पदानि दिवश्चादित्यस्य च साधारणानीति हि यास्कः [निघ० १. ४] ❀ । तस्य आदित्यस्य चिते चयनाय ज्ञापनाय । भवन्तु इति शेषः । अथ वा स्वसरे गोश्चित इति सामानाधिकरण्येन संबन्धः । ❀ चायतेर्निशामनार्थादेव चितशब्दः ❀ । गोः आदित्यस्य चिते दर्शनयोग्ये स्वसरे अह्नि विषये उषसो भवन्तु इति ॥

यह सबसे स्वात्मत्वरूपसे अनुभूयमान सूर्य हमैं सहस्र वर्ष तक दर्शन देते रहैं, यह सूर्यदेव चतुर पुरुषोंके माननीय हैं, प्रकाश रूप हैं और अनेक प्रकारके धर्मोंका साधन करने वाले कर्म में और फलमें सबको टिके रखने वाले हैं, ऐसे सूर्यदेव उषःकालोपलक्षित दिनोंको अनुक्रमसे संगत करते रहें—सत्कर्म करनेके लिये दिनोंको बारम्बार प्रेरित करें ॥ १ ॥

पापहारिणी समान ज्ञान वाली उषाएँ दिनमें परमप्रकाशयुक्त होती हैं वे आदित्यको जताने वाली होवें ॥ २ ॥

त्रयोदशी ॥

दौष्व॑प्न्यं॒ दौर्जी॑वित्यं॒ रक्षो॑ अ॒भ्व॑मरा॒य्यः॑ ।
दु॒र्णाम्नीः॒ सर्वा॑ दु॒र्वाच॒स्ता अ॒स्मन्ना॑शयामसि ॥१॥

दौःऽस्वप्न्यम् । दौःऽजीवित्यम् । रक्षः॑ । अ॒भ्व॑म् । अ॒रा॒य्यः॑ ।
दु॒ःऽना॑म्नीः । सर्वाः॑ । दु॒ःऽवा॑चः । ताः । अ॒स्मत् । ना॒श॒या॒म॒सि॒ १

व्याख्याता । [४. १७. ५] ॥

द्वितीयं सूक्तम् । [इति] सप्तमे काण्डे द्वितीयोऽनुवाकः ॥

दुःस्वप्नमें होने वाले अरिष्टदर्शनरूपी दौःस्वप्न्यको, कठिनतासे जीवन बितानेकी स्थितिको, राक्षसजातिको, अभिचारक्रियासे उत्पन्न हुए बड़े भारी भयको, असमृद्धि करनेवाली पापलक्ष्मियोंको, छदिका भेदिका आदि बुरे नाम वाली पिशाचियोंको, और काट डालूँ खालूँ आदि दुर्वचनोंका नित्य उच्चारण करनेवाली पिशाचियोंको हम इससे दूर करते हैं ॥ १ ॥

सप्तम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३३६) ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र "यन्न इन्द्रः" इति प्रथमं सूक्तम् । यत्र आद्ययर्चा मन्त्रोक्ता इन्द्राद्या नव देवताः सर्वफलकामो यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तत्रैव कर्मणि "ययोरोजसा" इति द्वाभ्यां विष्णुवरुणौ यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

सर्वसंपत्कामो "विष्णोर्नु कम्" इत्यष्टर्चेन विष्णुं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "यन्न इन्द्रः [७. २५] ययोरोजसा [७. २६] विष्णोर्नु कम्" [७. २७] इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा "वैष्णवीम् अन्नकामस्यान्नक्षये च" इति [न० क० १७] विहितायां वैष्णव्याख्यायां महाशान्तौ "विष्णोर्नु कम्" इति आवपेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "विष्णोर्नु कम् इति वैष्णव्याम्" इति [न० क० १८] ॥

आतिथ्येष्टौ "विष्णोर्नु कम्" इति वैष्णवं हविरभिमृशेत् । तद् उक्तं वैताने । "आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम् [७. ५] इति वैष्णवं विष्णोर्नु कम्" [७. २७] इति [वै० ३. ३]॥

तथा सोमयागे औपवसथ्याहनि हविर्धानयोः उपस्तभ्यमानम् उपस्तम्भनकाष्ठम् अनया अनुमन्त्रयेत । "विष्णोर्नु कम् इत्युपस्तम्भनम् उपस्तभ्यमानम्" इति वैतानसूत्रात् [वै० ३. ५] ॥

सोमयागे "यस्योरुषु" इति सोमक्रयणार्थं निष्क्रामेत् । "यस्योरुष्विति निष्क्रम्य" इति [वै० ३. ३] वैतानसूत्रात् ॥

पशुयागात् प्राक् क्रियमाणायाम् इष्टौ "उरु विष्णो" इत्यनया वैष्णवं पूर्णहोमं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "अथ पशुः । वैष्णवं पूर्णहोमम् उरु विष्णो" [वै० २. ६] इति हि वैतानम् ॥

तथा अद्भुतशान्तौ "उरु विष्णो" इत्यनया विष्णुं यजेत । उक्तं नक्षत्रकल्पे । "उरु विष्णो विक्रमस्वेति विष्णोः" इति [न० क० १४] ॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रणीताप्रणयनप्रभृति हविष्कृदुद्वादनाद् अर्वाक् अभिवदनप्रायश्चित्तार्थम् "इदं विष्णुः" इति जपेत् । "प्रणीतासु प्रणीयमानासु वाचं यच्छत्या हविष्कृत उद्वादनाद् । यदि वदेद् वैष्णवीं जपेत्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० १. २] ॥

सोमयागे उत्तरवेद्यग्निप्रणयनानन्तरं दक्षिणहविर्धानस्य वर्त्महोमम् "इदं विष्णुः" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि उत्तरहविर्धानस्य वर्त्महोमं "त्रीणि पदा" इति अनुमन्त्रयेत ॥ तद् उक्तं वैताने । "दक्षिणहविर्धानस्य वर्त्माभिहोमम् इदं विष्णुः [७. २७. ४] इत्युत्तरस्य त्रीणि पदा [७. २७. ५]" इति [वै० ३. ५] ॥

तृतीयसवने सोमयागानन्तरम् "इदं विष्णुः" इति चमसान् अप्सु प्रक्षिपेत् । "अप्सुसोमचमसान् वैष्णव्यर्चा निनयति" [वै० ३. १३] इति वैताने सूत्रितम् ॥

तथा "त्वाष्ट्रीं वस्त्रक्षये" इति [न० क० १७] विहितायां त्वाष्ट्र्याख्यायां महाशान्तौ "इदं विष्णुः" इत्यनया त्रिवृन्मणिबन्धनं कुर्यात् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "अग्निः सूर्यः [५. २८. २] इदं विष्णुः [७. २७. ४] इति त्रिवृतं त्वाष्ट्र्याम्" इति [न० क० १९] ॥

पशुतन्त्रे अवटे स्थापितं यूपं "विष्णोः कर्माणि" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "धर्ता ध्रियस्व [१२. ३. ३५] इति पादेनावटे निधीयमानं विष्णोः कर्माणि [७, २७. ६] इति द्वाभ्याम् उच्छ्रितम्" इति [वै० २, ६] वैतानं सूत्रम् ॥

तथा अग्निचयने कूर्माभ्यञ्जनानन्तरम् उलूखलमुसलं च "विष्णोः कर्माणि" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "विष्णोः कर्माणीत्युलूखलमुसलं निधीयमानम्" इति [वै० ५. २] वैताने सूत्रितत्वात् ॥

तीसरे अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । उनमें 'यन्न इन्द्रः" यह

सूक्त है। इसकी पहिली ऋचासे मन्त्रोक्त इन्द्र आदि नौ देवताओं का यजन वा उपस्थान करे।

तहाँ ही कर्म में 'ययोरोजसा' इन दो ऋचाओंसे विष्णु और वरुणदेवका यजन वा उपस्थान करे।

सर्वसम्पत्कःम 'विष्णोर्नु कम्' इस अष्टर्चसे विष्णुका यजन वा उपस्थान करे।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–"यन्न इन्द्रः (७।२५) ययोरोजसा (७।२६) विष्णोर्नु कम् (७। २७)" इति (कौशिकसूत्र ७।१०)॥

तथा "वैष्णवीं अन्नकामस्यान्नक्षये च–। अन्नक्षय होने पर अन्नकामके लिये वैष्णवी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित वैष्णवी नाम वाली महाशान्तिमें "विष्णोर्नु कम्" को पढ़े। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"विष्णोर्नु कम् इति वैष्णवकाम्" (नक्षत्रकल्प १८)॥

आतिथ्ययेष्टिमें "विष्णोर्नु कम्" से वैष्णव हविका अभिमर्शन करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम् (७।५) इति वैष्णवं विष्णोर्नु कम्" (७।२७) इति (वैतानसूत्र ३।३)॥

तथा सोमयागके औपवसथ्य दिनमें हविर्धानमें उपस्तभ्यमान उपस्तंभन काष्ठका इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र ३।५ में कहा है, कि–"विष्णोर्नु कम् इत्युपस्तम्भनम् उपस्तभ्यमानम्"॥

सोमयागमें 'यस्योरुषु' से सोमक्रयणके लिये निष्क्रमण करे। वैतानसूत्र ३।३ में कहा है, कि–"यस्योरुष्विति निष्क्रम्य"॥

पशुयागसे पहिले की जाने वाली इष्टिमें 'उरु विष्णो' ऋचा से वैष्णव पूर्णहोमका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतान-

सूत्र २ । ६ में कहा है, कि-"अथ पशुः । वैष्णवं पूर्णहोमं उरु विष्णो" ॥

तथा अद्भुतशान्तिमें "उरु विष्णो" इस ऋचासे विष्णुका यजन करे । इसी बातको नक्षत्रकल्प १४ में कहा है, कि-"उरु विष्णो विक्रमस्वेति विष्णोः" ॥

दर्शपूर्णमासके प्रणीताप्रणयन आदि हविष्कृदुद्वादनसे पहिले अभिवदनके प्रायश्चित्तके लिये "इदं विष्णुः" का जप करे । वैतानसूत्र १ । २ में कहा है, कि-"प्रणीतासु प्रणीयमानासु वाचं यच्छत्या हविष्कृत उद्वादनात् । यदि वदेद् वैष्णवीं जपेत्" ॥

सोमयागमें उत्तरवेदीकी अग्निके प्रणयनके अनन्तर दक्षिण-हविर्धानके वर्त्म होमका 'इदं विष्णुः' से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे ।

उसी क्रममें उत्तरहविर्धानके वर्त्म होमको "त्रीणि पदा" से अनुमन्त्रित करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि "दक्षिण-हविर्धानस्य वर्त्माभिहोमं 'इदं विष्णुः (७ । २७ । ४) इत्युत्तरस्य त्रीणि पदा (७ । २७ । ५) (वैतानसूत्र ३ । ५ ॥)

तृतीयसवनमें सोमयागके अनन्तर 'इदं विष्णुः' से चमसोंको जलमें डाले । इस बातका वैतानसूत्र ३ । १३ में प्रमाण है, कि-"अप्सु सोमचमसान् वैष्णव्यर्चा निनयति" ॥

तथा "त्वाष्ट्रीं वस्त्रक्षये-वस्त्रक्षय होने पर त्वाष्ट्री शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित त्वाष्ट्री नाम वाली महाशान्तिमें 'इदं विष्णु' इस ऋचासे तिलड़ी मणिको बाँधे इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"अग्निः सूर्यः (५ । २८ । २) इदं विष्णुः (७ । २७ । ४) इति त्रिवृतं त्वाष्ट्र्याम्" (नक्षत्रकल्प १६) ॥

पशुतन्त्रमें अवटमें स्थापित यूपका "विष्णोः कर्माणि" इन दो ऋचाओंसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्रका

प्रमाण भी है, कि—“धर्ता ध्रियस्व (१२ । ३ । ३५) इति पादेनावटे निधीयमानं विष्णोः कर्माणि (७ । २७ । ६) इति द्वाभ्यां उच्छ्रितम्” (वैतानसूत्र २ । ६ ॥

तथा अग्निचयनमें कूर्माभ्यञ्जनके अनन्तर उलूखल और मुसलको भी “विष्णोः कर्माणीत्यूलुखलमुसलं निधीयमानम्” (५ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यन्न॒ इन्द्रो॒ अख॑न॒द् यद॒ग्निर्विश्वे॑ दे॒वा॑ म॒रुतो॒ यत् स्व॒र्काः
त॒दस्मभ्यं॑ सवि॒ता स॒त्यध॑र्मा प्र॒जाप॑ति॒रनु॑मति॒र्नि य॑च्छात्

यत् । न॒ः । इ॑न्द्रः । अख॑नत् । यत् । अ॒ग्निः । विश्वे॑ । देवाः । म॒रुतः॑ । यत् । सु॒ऽअ॒र्काः ।

तत् । अ॒स्मभ्य॑म् । स॒वि॒ता । स॒त्यऽध॑र्मा । प्र॒जाऽप॑तिः । अनु॑ऽमतिः । नि । य॒च्छा॒त् ॥ १ ॥

इन्द्रः । ❀ इदि परमैश्वर्ये । “ऋजेन्द्राग्र०” इत्यादिना [उ० २. २८] रक्प्रत्ययान्तो निपातितः । यास्कस्तु इन्द्र इरां दृणाति [नि० १०. ८] इत्यादिना इन्द्रशब्दं बहुधा निरुवाच ❀ । परमैश्वर्यादिगुणविशिष्टो देवः न अस्मभ्यं यत् फलम् असनत् अददात् । ❀ षणु दाने । व्यत्ययेन शप् ❀ । संभजनार्थस्य भौवादिकस्य वा रूपम् । यत् फलं समभजत् । अग्निः अङ्गनादिगुणविशिष्टो देवो यत् । असनद् इति सर्वत्र क्रियानुषङ्गः । विश्वे देवाः एतन्नामका गणदेवाः । मरुतः एकोनपञ्चाशत्संख्याका मरुद्गणाः । स्वर्काः । ❀ अर्को मन्त्रो भवति यद् अनेनार्चन्ति । अर्को देवो भवति यद् एनम् अर्चन्तीति यास्कः [नि० ५. ४] ❀ । सु-

मन्त्राः सुदेवा वा एतन्नामानो देवाश्च । यद् असनन् इति क्रियापदस्य बहुवचनान्तत्वेन विपरिणामः । तत् फलम् अस्मभ्यं सविता सर्वस्य प्रेरकः सत्यधर्मा यथार्थकर्मा एतन्नामा देवः प्रजापतिः अनुमतिश्च नि यच्छात् नि यच्छतु स्थापयतु । ❀ प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् यम उपरमे । अस्मात् पञ्चमलकारे "इषुगमियमां छः" । आडागमः ❀ ॥

परम ऐश्वर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न इन्द्रदेवने हमको जो फल दिया है, अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेवने हमको जो फल दिया है, विश्वेदेवा और उड़श्वास मरुद्गण देवताओंने हमको जो फल दिया है, उस फलको सूर्यदेव, सत्यधर्मा, प्रजापति और अनुमति देवी भी हमको देवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ १ ॥

ययोः । ओजसा । स्कभिता । रजांसि । यौ । वीर्यैः । वीरऽतमा । शविष्ठा ।
यौ । पत्येते इति । अप्रतिऽइतौ । सहःऽभिः । विष्णुम् । अगन् । वरुणम् । पूर्वहूतिः ॥ १ ॥

ययोः विष्णुवरुणयोः ओजसा बलेन रजांसि । ❀ लोका रजांस्युच्यन्त इति हि निरुक्तम् [४१. ६] ❀ । रञ्जनात्मकानि पृथिव्यादीनि स्थानानि स्कभिता स्कम्भितानि । दृढीकृतानीत्यर्थः ।

❀ शेर्लोपः ❀। यौ विष्णुवरुणौ वीर्यैः वीरकर्मभिः शत्रुजयादिरूपैः पराक्रमैः वीरतमा अत्यन्तशूरौ शविष्ठा। शव इति बलनाम। अतिशयेन बलवन्तौ। ❀ शवस्विशब्दाद् इष्ठनि विनो लुक्। उभयत्र सुप आकारः ❀। किं च यौ विष्णुवरुणौ सहोभिः बलैः अप्रतीतौ अप्रतिगतौ अतिरस्कृतौ सन्तौ पत्येते। ❀ पत्यतिरैश्वर्यकर्मा ❀। ऐश्वर्यं सामर्थ्यं प्राप्नुतः। तादृशं विष्णुम् व्यापनशीलं देवं वरुणम् अनर्थनिवारकं देवं च पूर्वहूतिः पूर्वाह्वानः इतरेभ्यः फलार्थिभ्यः प्रथमाह्वानोयं यष्टा अगन् गच्छतु। हविषा संयोजयतु इत्यर्थः। गमेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुकि "मो नो धातोः" इति मकारस्य नत्वे रूपम् ❀॥

जिन विष्णु और वरुणके बलसे रंजनात्मक पृथिवी आदि लोक दृढ़ हुए हैं, जो विष्णु और वरुण शत्रुजय आदि रूप वीरकर्मोंसे अत्यम्त शूर हैं और जो विष्णु और वरुण अतिरस्कृत रह कर ही ऐश्वर्यको प्राप्त होते हैं, ऐसे व्यापनशील विष्णुदेव और अनर्थनिवारक वरुणदेवको अन्य फलार्थियोंसे पूर्व आह्वान वाला यह यष्टा हविसे संयुक्त करे॥ १॥

तृतीया॥

यस्ये॒दं प्र॒दिशि॒ यद् वि॒रोच॑ते॒ प्र चान॑ति॒ वि च॒ चष्टे॒
शचीभिः।
पु॒रा दे॒वस्य॒ धर्म॑णा॒ सहो॑भि॒र्विष्णु॑मग॒न् वरु॑णं पू॒र्वहू॑तिः २

यस्य॑। इ॒दम्। प्र॒ऽदिशि॑। यत्। वि॒ऽरोच॑ते। प्र। च॒। अन॑ति।
वि। च॒। चष्टे॑। शची॑भिः।

पु॒रा । दे॒वस्य॑ । धर्म॑णा । सहः॑ऽभिः । विष्णु॑म् । अ॒ग॒न् । वरु॑णम् ।

पू॒र्वऽहू॑तिः ॥ २ ॥

यस्य विष्णोः वरुणस्य च ! ❀ प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ❀ । प्रदिशि प्रदेशने आज्ञायां यद् इदं विश्वं विरोचते विशेषेण दीप्यते । प्रानिति च प्रकर्षेण चेष्टते च । ❀ श्वस प्राणने । अन च इति धातुः ❀ । शचीभिः कर्मभिः वि चष्टे च । ❀ पश्यतिकर्मैतत् ❀ । स्वस्वकर्तव्यं फलं वा विशेषेण पश्यति च । किं च देवस्य द्योतमानस्य विष्णोर्वरुणस्य च धर्मणा धारकेण कर्मणा सहोभिः बलैश्च पुरा पूर्वं जगद् व्यरोचिष्ट प्रानीत् व्यचष्टेति कालविपरिणामेन योज्यम् । ❀ पुराशब्दस्य निपातस्य रोचते इत्यादिधातुयोगे "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इति भविष्यदर्थे लट् ❀ । देवस्य धारकेण कर्मणा बलैश्च यद् इदं विश्वं विरोचिष्यते प्राणिष्यति विख्यास्यति विशेषेण द्रक्ष्यति । एवं विष्णुवरुणयोराज्ञायां विश्वं जगद् भूतभविष्यद्वर्तमानकालेषु रोचनादिव्यापारास्पदं भवति । तादृशं विष्णुं वरुणं च पूर्वहूतिः इतरेभ्यः प्रथमाह्वानोयं फलार्थी जनः अगन् गच्छतु । हविषा संयोजयतु इत्यर्थः ॥

जिन विष्णु और वरुणकी आज्ञामें जो यह विश्व दमक रहा है और चेष्टा कर रहा है । और अपने २ कर्तव्य और फलोंको विशेषरूपसे देखता है । और जिन प्रकाशमान विष्णु और वरुणके धारक कर्मसे और बलोंसे जगत् चेष्टा कर चुका है कर रहा है और करेगा उन विष्णु और वरुणको यह पूर्वाह्वान होता हविसे संयुक्त करे ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

विष्णो॒र्नु कं॒ प्र वो॑चं वी॒र्या॑णि॒ यः पार्थि॑वानि विम॒से

रजां॑सि ।

यो अस्क॑भाय॒दुत्त॑रं स॒धस्थं॑ विचक्रमा॒णस्त्रे॒धोरु॑गा॒यः १

विष्णोः॑ । नु । क॒म् । प्र । वो॒च॒म् । वी॒र्या॑णि । यः । पार्थि॑वानि ।
वि॒ऽम॒मे । रजां॑सि ।

यः । अस्क॑भायत् । उत्ऽत॑रम् । स॒धऽस्थ॑म् । वि॒ऽच॒क्र॒मा॒णः ।
त्रे॒धा । उ॒रु॒ऽगा॒यः ॥ १ ॥

विष्णोः व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु क्षिप्रं प्र वोचम् प्रकर्षेण ब्रवीमि । ❀ छान्दसो लुङ् ❀ । कम् इति पूरणः । विष्णुर्विशेष्यते । यो देवः पार्थिवानि पृथिवीमयानि रजांसि लोकान् विममे निर्ममे । "तिस्रो भूमीर्धारयन्त्रीरुत द्यून्" इति [ऋ० २. २७. ८] मन्त्रवर्णे एकैकस्य लोकस्य त्रित्वसंख्या श्रूयते । यद्वा "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः" इति [ऐ० ब्रा० २. १७] एकैकस्य त्रिवृत्करणश्रवणात् पार्थिवानीत्यत्र पृथिवीशब्देन पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोका उच्यन्ते । "द्वितीयस्यां पृथिव्यां तृतीयस्यां पृथिव्याम्" इति हि तैत्तिरीयश्रुतिः [तै० सं० १. २. १२. १] । पृथिवीषु भवानि । ❀ पृथिवीशब्दाद् भवार्थे अञ् प्रत्ययः ❀ । रजांसि ज्योतींषि अग्निविद्युत्सूर्यात्मकानि विममे निर्मितवान् । किं च यो विष्णुः उत्तरम् उद्गततरं सधस्थं स्थानम् । सह तिष्ठन्त्यस्मिन् देवा इति सधस्थम् स्वर्गम् । ❀ "सध मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀ । अस्कभायत् अस्तभ्नात् अधारयत् । ❀ "स्तन्भुस्तुन्भु०" इत्यादिना स्कभेः श्नाप्रत्यये "शायच् छन्दसि सर्वत्र" इति शायजादेशः ❀ । किं कुर्वन् । त्रेधा त्रिधा पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विचक्रमाणः पादप्रक्षेपं कुर्वन् उरुगायः उरुभिर्महात्मभिर्गीयमानः स्तूयमानः उरुगमनो वा । तस्य विष्णोर्वीर्याणि प्रब्रवीमीति संबन्धः ॥

व्यापनशील विष्णुके वीरकर्मोंको मैं तुमसे शीघ्रतासे कहता हूँ, कि-इन्होंने पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्गको रचा है और इन विशालकीर्ति विष्णुदेवने श्रेष्ठ स्वर्गको धारण किया है इनको उन्होंने तीन पैर रख कर किया है ॥ १ ॥

प्र तद् विष्णु स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो
गिरिष्ठाः ।
परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥ २ ॥

प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्याणि । मृगः । न । भीमः । कुचरः ।
गिरिऽस्थाः ।
पराऽवतः । आ । जगम्यात् । परस्याः ॥ २ ॥

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि
विश्वा ।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥

यस्य । उरुषु । त्रिषु । विऽक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति । भुवनानि ।
विश्वा ।
उरु । विष्णो इति । वि । क्रमस्व । उरु । क्षयाय । नः । कृधि ।
घृतम् । घृतऽयोने । पिब । प्रऽप्र । यज्ञऽपतिम् । तिर ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥ तत् । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ । स महानुभावो विष्णुः

वीर्याणि वीरकर्माणि । उद्दिश्येति क्रियाध्याहारः । प्र स्तवते प्रकर्षेण स्तूयते । ❀ स्तौतेः कर्मणि व्यत्ययेन शप् ❀ । मृगो न मृग इव सिंह इव भीमः भयानकः कुचरः कुत्सितं चरन् कौ भूम्यां वा चरन् गिरिष्ठाः पर्वते तिष्ठन् भूमौ संचरन्नपि सिंहः उत्प्लवनेन पर्वतस्थितो भवति । एवं स विष्णुः परस्याः परावतः अतिदूराद्द देशादपि आ जगम्यात् स्तुतिकर्मत्वेन आगच्छतु । ❀ गमेश्छान्दसः शपः श्लुः ❀ । यस्य विष्णोः उरुषु विस्तीर्णेषु त्रिषु विक्रमणेषु पादनिधानस्थानेषु विश्वा विश्वानि भुवनानि भूतानि अधिक्षियन्ति अधिवसन्ति । ❀ क्षि निवासगत्योः ❀ । प्रथमे विक्रमे भौमानि द्वितीये अन्तरिक्ष्याणि तृतीये दिव्यानि भूतानि वसन्तीत्यर्थः ॥

षष्ठी ॥ हे विष्णो व्यापक उरु प्रभूतं वि क्रमस्व लोकत्रये पादत्रयं कुरु । किं च नः अस्माकं क्षयाय निवासाय । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । निवासस्य उरु प्रभूतं धनादिकं कृधि कुरु । अस्माकं निवासं बहुधनादियुक्तं कुर्वित्यर्थः । हे घृतयोने घृतस्य योने कारणभूत घृतं योनिर्यस्येति वा घृतयोनिः । अत्र अग्न्यात्मना विष्णुः स्तूयते । हे विष्णो इदं हूयमानं घृतम् आज्यं पिब । अपि च यज्ञपतिम् । यजमानं प्रप्र तिर प्रवर्धय । ❀ प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः । "प्रसमुपोदः पादपूरणे" इति प्रशब्दस्य द्विर्वचनम् ❀ ॥

उन महानुभाव विष्णुके वीरकर्मोंकी प्रशंसाकी जाती है, कि जैसे भयानक सिंह पृथिवी पर घूमता हुआ भी कूद कर पर्वत पर जा चढ़ता है, इसी प्रकार बहुत दूर पर भी विराजमान विष्णुदेव स्तुतिके कारण यहाँ आजावें, जिन विष्णुके विस्तीर्ण पादनिधानस्थानोंमें सकल भुवन निवास कर रहे हैं अर्थात् पहिले पादनिधानस्थान में भूलोकके दूसरेमें अन्तरिक्षके और तीसरेमें दिव्य भूत निवास कर रहे हैं (ऐसे विष्णुदेव स्तुतिकर्मसे यहाँ आजावें) । हे व्या-

पक विष्णुदेव ! आप तीनों लोकोंमें पैरोंको रखिये, और हमारे निवासके लिये बहुतसा धन आदि हमको दीजिये (अग्निरूपमें विष्णुकी स्तुति करते हैं, कि–) हे घृतसे होने वाले ! इस होममे जाते हुए घृतको पीजिये और यज्ञपति यजमानको बढ़ाइये॥२॥३॥

सप्तमी ॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा । समूढमस्य
पांसुरे ॥ ४ ॥

इदम् । विष्णुः । वि । चक्रमे । त्रेधा । नि । दधे । पदा ॥ सम्ऽऊढम् ।
अस्य । पांसुरे ॥ ४ ॥

विष्णुः व्यापी भगवान् इदं विश्वं वि चक्रमे विक्रान्तवान् । कतिधा विचक्रमे इति तद् आह । त्रेधा त्रिधा पदा पदानि नि दधे स्थापयामास । "पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विष्णुर्वामनो भूत्वेमाँल्लोकांस्त्रिभिः क्रमैरभ्यजयत्" इति श्रुतेः । अस्य विक्रममाणस्य विष्णोः पांसुरे पांसुमति । ❀ रो मत्वर्थीयः ❀ । पादे लोकत्रयं समूढम् सम्यग् ऊढं समवस्थापितं समाकृष्टं वा अभवत् । ❀ अत्र "विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा । यद् इदं किं च तद् वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः" [नि० १२. १८] इत्यादि निरुक्तम् अनुसंधेयम् ❀ ॥

व्यापनशील भगवान् विष्णुदेवने इस विश्वका विक्रमण किया अर्थात् इसके ऊपर पैर रक्खे उन्होंने पैरको तीन वार रक्खा † इन विक्रममाण भगवान्के धूलिसे भरे चरणमें तीनोंलोक समागए थे

---

† इस श्रुतिमें वामन अवतारका वर्णन है । अन्य श्रुतियोंमें भी कहा है, कि–"पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विष्णुर्वामनो भूत्वेमाँल्लोकांस्त्रिभिः क्रमैरभ्यजयत् ।–भगवान् विष्णुने वामन

अष्टमी ॥

त्रीणि॑ प॒दा वि च॑क्रमे॒ विष्णु॑र्गो॒पा अदा॑भ्यः ।
इ॒तो धर्मा॑णि धा॒रय॑न् ॥ ५ ॥

त्रीणि॑ । प॒दा । वि । च॒क्र॒मे॒ । विष्णुः॑ । गो॒पाः । अदा॑भ्यः ।
इ॒तः । धर्मा॑णि । धा॒रय॑न् ॥ ५ ॥

त्रीणि पदा पदानि वि चक्रमे विक्रान्तवान् । गोपाः गोपायिता अदाभ्यः अहिंस्यः परैरनभिभाव्यो विष्णुः । अतः अस्मात् लोकात् पृथिव्या आरभ्य धर्माणि कर्माणि अग्निहोत्रादीनि धारयन् । अपि वा । अतः एभ्यस्त्रिभ्यः पदेभ्यो धर्माणि भूतधारकाणि रजांसि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकरूपाणि धारयन् । विचक्रमे इति संबन्धः ॥

दूसरोंसे न दबने वाले रक्षक विष्णुदेवने तीन पैर रक्खे इन तीन पैरोंसे ही उन्होंने पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको धारण किया था ॥ ५ ॥

नवमी ॥

विष्णोः॒ कर्मा॑णि पश्यत॒ यतो॑ व्र॒तानि॑ पस्प॒शे ।
इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥ ६ ॥

विष्णोः॑ । कर्मा॑णि । प॒श्य॒त॒ । यतः॑ । व्र॒तानि॑ । प॒स्प॒शे ।
इन्द्र॑स्य । युज्यः॑ । सखा॑ ॥ ६ ॥

वन कर पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीनोंमें तीन पैरोंसे तीनों लोकोंको नाप लिया था" ॥

विष्णोः व्यापकस्य देवस्य कर्माणि पश्यत । हे स्तोतार इति शेषः । यतः । ❀ “इतराभ्योपि दृश्यन्ते” इति तृतीयार्थे तसिल् प्रत्ययः ❀ । यैः कर्मभिः व्रतानि नानाविधानि युष्मदीयानि कर्माणि पस्पशे स्पृशति बध्नाति वा । ❀ स्पश बन्धनस्पर्शनयोः । स्वरितेत् । छान्दसो लिट् । शर्पूर्वस्य खयः शेषः ❀ । पुनः कीदृशो विष्णुः । इन्द्रस्य देवस्य युज्यः योग्यः अनुगुणः सखा समानख्यानो मित्रभूतः ॥ ❀ युज्य इति । युजेः संपदादिलक्षणे क्विपि युग् इति पदं भवति । युजि योगे साधुः । “तत्र साधुः” इति यत् ❀ ॥

[इति] तृतीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे स्तोताओ ! व्यापक विष्णुदेवके कर्मोंको देखो ! कि—जिन कर्मोंसे वे तुम्हारे कर्मोंको बाँधते हैं । और यह विष्णु भगवान् इन्द्रके योग्य सखा हैं ॥ ६ ॥

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३४१) ॥

“तद् विष्णोः” इति द्वितीयं सूक्तम् । तत्र आद्ययोर्ऋचोः सर्वसंपत्कर्मणि “विष्णोर्नु कम्” इत्यत्र विनियोगोऽभिहितः ॥

दर्शपूर्णमासयोः “वेदः स्वस्तिः” इति वेदं विमुञ्चेत् । “वेदः स्वस्तिरिति वेदं विचृतति” इति [वै० १. ४] वैतानसूत्रात् ॥

प्रायणीयेष्टौ अनया स्वस्तियागम् अनुमन्त्रयेत । “प्रायणीयायां पथ्यायाः स्वस्तेः” इति प्रक्रम्य “पथ्या रेवतीर्वेदः स्वस्तिः” इति [वै० ३. ३] सूत्रितम् ॥

सर्वव्याधिभैषज्यार्थं व्याधितशरीरं मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा “अग्नाविष्णू” इति द्वाभ्यां शरपिञ्जूलीभिः सह उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितम् आप्लावयेद् अवसिञ्चेद् वा । तद् उक्तं संहिताविधौ । “अग्नाविष्णू [७. ३०] सोमारुद्रा [७. ४३]” इति प्रक्रम्य “मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति” इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा सर्वसंपत्कामः अनेन तृचेन अग्नाविष्णू यजेत उपतिष्ठेत वा । [कौ० ७. १०] ॥

गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि "स्वाक्तम्" [१] इत्यनया अञ्जनम् अभिमन्त्र्य ब्रह्मचारिणोऽक्षिणी अभ्यञ्ज्यात् । "आयुर्दाः [२. १३] इति गोदानं कारयिष्यन्" इति [कौ० ७. ४] प्रक्रम्य "स्वाक्तं म इत्यनक्ति" इति [कौ० ७. ५] हि सूत्रितम् ॥

पशावज्यमानं यूपम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "स्वाक्तं म इत्यज्यमानम्" इति वैतानसूत्रात् [वै० २. ६] ॥

अभिचारकर्मणि "इन्द्रोतिभिः" [१] इत्यनया अशनिहतवृक्षसमिधम् आदध्यात् ॥

उपनयने आयुष्कामस्य माणवकस्य मूर्धानम् "उप प्रियम्" इत्यनुमन्त्रयेत । "आवतस्ते [५, ३०. १] उप प्रियम् [७. ३२] अन्तकाय मृत्यवे" [८. १] इति [कौ० ७. ६] सूत्रितम् ॥

पुष्टिकर्मणि तटाकादिसर्वजनसाधारणोदके मिश्रधान्यं प्रक्षिप्य "सं मा सिञ्चन्तु" [१] इत्यनया संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिकामोऽश्नीयात् । "सं मा सिञ्चन्त्विति सर्वोदके मैश्रधान्यम्" इति [कौ० ३. ७] कौशिकसूत्रात् ॥

तथा अग्निकार्ये अनया माणवकोऽग्निं पर्युक्षेत् । "सं मा सिञ्चन्त्विति त्रिः पर्युक्षति" इति [कौ० ७. ८] कौशिकसूत्रात् ॥

तथा अग्निचयने अभिषिच्यमानं यजमानं ब्रह्मा एनाम् ऋचं वाचयेत् । "सं मा सिञ्चन्त्वित्यभिषिच्यमानं वाचयति" इति वैतानसूत्रात् [वै० ५. २] ॥

"तद्. विष्णोः" यह दूसरा सूक्त है। इसकी पहिली दो ऋचाओं का सर्वसम्पत्कर्म के 'विष्णोर्नु कम्' में विनियोग कहा है ।

दर्शपूर्णमासके 'वेदः स्वस्तिः' से वेदका विमुञ्चन करे । वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि—"वेदः स्वस्तिरिति वेदं विचृतति"

प्रायणीयेष्टिमें इस ऋचासे स्वस्तियागका अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र ३ । ३ में कहा है, कि—"प्रायणीयायां पथ्यायाः स्वस्तेः" इति प्रक्रम्य "पथ्या रेवतीर्वेदः स्वस्तिः" ॥

सर्वव्याधिभैषज्यके लिये रोगीके शरीरको मूँजके पाशोंसे जोड़ों पर बाँध कर 'अग्नाविष्णू' इन दो ऋचाओंसे सेंटोंके मुट्ठों के साथ जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके रोगी को स्नान करा देय अथवा उस पर जल छिड़के ॥ इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—"अग्नाविष्णू (७ । ३०) सोमारुद्रा (७ । ४३)" इति प्रक्रम्य "मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिरासावयत्यवसिञ्चति" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा सर्वसम्पत्काम इस द्यृचसे अग्नि और विष्णुका यजन वा उपस्थान करे । इस बातका कौशिकसूत्र ७ । १० में वर्णन है ।

गोदान नाम वाले संस्कारकर्ममें 'स्वाक्तम्' इस ऋचासे अञ्जनका अभिमन्त्रण करके उसको ब्रह्मचारीकी आँखोंमें डाले 'आयुर्दाः (२ । २३) इति गोदानं कारयिष्यन्" इति कौशिकसूत्र ७ । ४) प्रक्रम्य "स्वाक्तं म इत्यनक्ति" इति (कौशिकसूत्र ७ । ५) हि सूत्रितम् ॥

पशुमें बाँधे जाते हुए यूपका ब्रह्मा इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र २ । ६ में कहा है, कि—"स्वाक्तं म इत्यज्यमानम्"

अभिचारकर्ममें "इन्द्रोतिभिः" ऋचासे विजलीसे मारे हुए वृक्षकी समिधाको रक्खे ।

उपनयनमें आयु चाहने वाले बालकके मूर्धाको 'उपप्रियम्' से अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि—"आवतस्ते (५ । ३० । १) उप प्रियम् (७ । ३३) अन्तकाय मृत्यवे" (८ । १) इति (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

पुष्टिकर्ममें पुष्टिकी कामना वाला तालाब आदि सर्वजनसुलभ

जलमें मिश्रधान्यको डाल कर 'सं मा सिञ्चन्तु' ऋचासे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ का प्रमाण भी है, कि—"सं मा सिञ्चन्त्विति सर्वोदके मैश्रधान्यम्" ॥

तथा माणवक इससे अग्निकार्यमें अग्निका पर्युक्षण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ८ का प्रमाण भी है, कि—"सं मा सिञ्चन्त्विति त्रिः पर्युक्षति" ॥

तथा ब्रह्मा अग्निचयनमें अभिषिच्यमान यजमानसे इस ऋचा का उच्चारण करावे । वैतानसूत्र ५ । २ में कहा है, कि—" स मां सिञ्चन्त्वित्यभिषिच्यमानं वाचयति" ॥

तत्र प्रथमा ॥

तद् विष्णो॑ः प॒रमं॑ प॒दं सदा॑ पश्य॑न्ति सू॒रयः॑ ।
दि॒वी᳡व॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥ ७ ॥

तत् । विष्णोः॑ । प॒र॒मम् । प॒दम् । सदा॑ । प॒श्य॒न्ति॒ । सू॒रयः॑ ।
दि॒वि॑ऽइव । च॑क्षुः । आ॑ऽततम् ॥ ७ ॥

तत् प्रसिद्धं पूर्वत्रोक्तं वा विष्णोः व्यापकस्य देवस्य परमम् उत्कृष्टं पूर्णं वा पदम् स्थानम् पद्यते गम्यत इति पदं ज्ञातव्यं तत्त्वम् सदा सर्वदा सूरयः मेधाविनः पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति । कीदृशम् । दिवि द्युलोके चक्षुरिव आततम् । सर्वेषां चक्षुःस्थानीयं सूर्यमण्डलम् इह चक्षुःशब्देनोच्यते । "चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः" इति हि निगमः [ऋ० १. ११५. १] । आततम् समन्ताद् विस्तारितम् । ❁ "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❁ । सूर्यमण्डलमिव सर्वत्र प्रकाशस्वरूपं तत्त्वं पश्यन्तीत्यन्वयः ॥

भगवान् विष्णुके उस उत्कृष्ट पूर्ण पद या ज्ञातव्य तत्त्वको

बुद्धिमान् पुरुष देखते हैं, वह जैसे सबका चक्षुः स्थानीय सूर्यमण्डल (रूप चक्षु) द्युलोकमें विस्तृत है, इसी प्रकार उस सर्वत्र प्रकाशस्वरूप तत्त्वको बुद्धिमान् पुरुष देखते हैं ॥ ७ ॥

द्वितीया ॥

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत
सव्यात् ॥ ८ ॥

दिवः । विष्णो इति । उत । वा । पृथिव्याः । महः । विष्णो इति ।
उरोः । अन्तरिक्षात् ।
हस्तौ । पृणस्व । बहुऽभिः । वसव्यैः । आऽप्रयच्छ । दक्षिणात् ।
आ । उत । सव्यात् ॥ ८ ॥

हे विष्णो देव दिवः द्युलोकात् उत वा अपि वा पृथिव्याः महः महतः दिवः पृथिव्याश्च महतोन्यस्मात् महर्लोकादेः । ❀ महच्छब्दात् पञ्चम्येकवचने टिलोपश्छान्दसः । महतेर्वा पूजार्थात् क्विबन्तात् पञ्चम्येकवचनम् ❀ । यद्वा मह इति पदम् अन्तरिक्षस्य विशेषणम् । हे विष्णो । पुनरामन्त्रणम् आदरार्थम् । उरोः विस्तीर्णात् । ❀ भाषितपुंस्कत्वेन नुमभावः ❀ । अन्तरिक्षात् लोकात् । आनीतैरिति शेषः । बहुभिः अधिकैः वसव्यैः वसूनां समूहैः । ❀ "वसोः समूहे च" इति यत्प्रत्ययः ❀ । हस्तौ त्वदीयौ पृणस्व पूरय । द्युलोकादिभ्य आनीतैर्बहुभिर्धनैस्त्वदीयौ हस्तौ पूरय । प्रभूतं धनराशिं हस्ताभ्यां गृहाणेत्यर्थः । ततस्तं प्रभूतं धनराशिं दक्षिणात् हस्तात् आप्रयच्छ आभिमुख्येन अस्मभ्यं

देहि । उत अपि च सव्यात् वामहस्ताच्च आ । प्रयच्छेत्यनुषङ्गः । ❀ दाण् दाने । "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀ ॥

हे विष्णुदेव ! आप द्युलोकसे पृथिवीलोकसे महर्लोकसे और विशाल अन्तरिक्षलोकसे लाये हुए पदार्थोंसे अपने दोनों हाथोंको भरिये अर्थात् विशाल धनको अपने दोनों हाथोंसे ग्रहण करिये, फिर उस विशाल धनराशिको अपने सीधे और बायें हाथसे हमको भली प्रकार दीजिये ॥ ८ ॥

तृतीया ॥

इ॒डैवास्माँ अनु॑ वस्तां॑ व्र॒ते॒न यस्याः॑ प॒दे पु॒नते॑ दे॒व॒यन्तः॑ ।
घृ॒तप॑दी॒ शक्व॑री॒ सोम॑पृ॒ष्ठोप॑ य॒ज्ञम॑स्थित वैश्वदे॒वी १

इ॑डा । ए॒व । अ॒स्मान् । अनु॑ । व॒स्ता॒म् । व्र॒तेन । यस्याः॑ । प॒दे ।
पु॒न॑ते । दे॒व॒ऽयन्तः॑ ।

घृ॒तऽप॑दी । शक्व॑री । सोम॑ऽपृष्ठा । उप॑ । य॒ज्ञम् । अ॒स्थि॒त॒ । वै॒श्व॒ऽदे॒वी

इडा धेनुरूपा । एवशब्दः अवधारणे । अस्मान् सत्कर्मकारिणः व्रतेन कर्मणा अनु वस्ताम् अनुक्रमेणाच्छादयतु । अस्माभिरनुष्ठीयमानं कर्म यथा फलप्रदं भवति तथा करोत्वित्यर्थः । ❀ वस आच्छादने । आदादिकः अनुदात्तेत् ❀ । यस्या इडायाः पदे पादे देवयन्तः देवकामा यजमानाः पुनते स्वात्मानं पुनन्ति । ❀ देवशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" ❀ । घृतपदी घृतं पदे यस्याः सा । "यत्रयत्र न्यक्रामत् तत्र घृतमपीड्यत तस्माद्घृतपद्युच्यते" इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० स २. ६. ७. १] । शक्वरी शक्ता फलदाने समर्था । ❀ शकेः क्वनिपि "वनो र च" इति ङीब्रेफौ ❀ । सोमपृष्ठा सोमः पृष्ठे यस्यास्तादृशी वैश्वदेवी विश्वेषां

देवानाम् इयं विश्वदेवात्मिका इडा नाम धेनुः यज्ञम् अस्मदीयम् उपास्तृत सर्वत्र विस्तृतं करोतु । ❀ स्तृञ् आच्छादने । छान्दसे लुङि सिचो लुकि रूपम् ❀ ॥

धेनु हम सत्कर्म करने वालोंको कर्म से आच्छादित करे अर्थात् किया हुआ कर्म जिस प्रकार फलप्रद हो तिस प्रकार करे, जिस धेनुके पादमें देवताओंसे कामना करने वाले यजमान अपनेको पवित्र करते हैं, ऐसी यह घृतपदी ‡ फलदानमें समर्थ, सोमपृष्ठा सम्पूर्ण देवताओंसे सम्बन्ध रखने वाली यह इडा (धेनु) हमारे यज्ञको-सर्वत्र विस्तृत करे ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति ।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ॥ १ ॥

वेदः । स्वस्तिः । द्रुऽघनः । स्वस्तिः । परशुः । वेदिः । परशुः । नः । स्वस्ति ।

हविःऽकृतः । यज्ञियाः । यज्ञऽकामाः । ते । देवासः । यज्ञम् । इमम् । जुषन्ताम् ॥ १ ॥

वेदो नाम दर्भमुष्टिः स्वस्तिः अविनाशहेतुः अस्माकं भवतु ।

---

‡ तैत्तिरीयसंहिता २ । ६ । ७ । १ में कहा है, कि—“यत्र यत्र न्यक्रामत् तत्र घृतमपीड्यत तस्माद् घृतपद्युच्यते ॥—उस गौने जहाँ २ पैर रक्खा तहाँ २ घृत पीड़ित हुआ—निकला, अत एव यह घृतपदी कहलाती है” ॥

❀ अयं स्वस्तिशब्दो निपातो गुणमात्रे अविनाशे वर्तते । अत्र मतुब्लोपाद् गुणिनि अविनाशहेतौ वर्तते । अत एव सुबुत्पत्तिः। यद्वा सुपूर्वात् अस्तेः क्तिनि भूभावाभावश्छान्दसः ❀ । द्रुघणः द्रुः द्रुमो हन्यते अनेनेति द्रुघणः लवित्रादिः । ❀ “करणेयोविद्रुषु” इति अप् घत्वं च ❀ । स च स्वस्तिः अविनाशहेतुर्भवतु । परशुः पर्शुः पार्श्ववङ्क्रिः तृणादिच्छेदनी वेदिः हविरासादनाधारभूता परशुः वृक्षच्छेदनसाधनभूतश्च नः अस्माकं स्वस्तिः अविनाशहेतुर्भवतु । किं च हविष्कृतः हविःसंपादका यज्ञियाः यज्ञार्हा यज्ञकामा यज्ञं कामयमानाः । अथ वा हविष्कृतः ।❀ षष्ठ्यन्तं पदम् ❀। हविःसंपादकस्य मम यज्ञकामास्ते भक्तुतरः वेदद्रुघणादयो देवासः देवात्मकः इमम् अस्मदीयं यज्ञं जुषन्ताम् सेवन्ताम् ॥

वेद अर्थात् दर्भकी मुट्ठी हमारे अविनाशमें कारण हो और जिस से पेड़ काटा जाता है वह लवित्र (गडाँसा) आदि द्रुघण हमारे लिये स्वस्ति (अविनाशहेतु) हो जिस पर फरसेसे तृण आदि काटे जाते हैं वह परशुर्वेदि और फरसा हमारे लिये स्वस्ति हो ये देवात्मक वेद द्रुघण आदि हविका सम्पादन करने वाले मुझ यजमानके सेवन करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अग्ना॑विष्णू॒ महि॒ तद् वां॑ महि॒त्वं पा॒थो घृ॒तस्य॒ गुह्य॑स्य॒
नाम॑ ।
दमे॑दमे स॒प्त रत्ना॒ दधा॑नौ॒ प्रति॑ वां॑ जि॒ह्वा घृ॒तमा
च॑रण्यात् ॥ १ ॥

अग्ना॑विष्णू॒ इति॑ । महि॑ । तत् । वा॒म् । म॒हि॒ऽत्वम् । पा॒थः । घृ॒तस्य॑ ।
गुह्य॑स्य । नाम॑ ।

दमेऽदमे । सप्त । रत्ना । दधानौ । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् ।
आ । चरण्यात् ॥ १ ॥

हे अग्नाविष्णू । ❁ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् ❁ । वाम् युवयोस्तत् वक्ष्यमाणं प्रसिद्धं वा महित्वम् माहात्म्यं महि महत् महनीयं पूजनीयम् । ❁ इन् सर्वधातुभ्यः इति [उ० ४.११७] महेरिन् प्रत्ययः ❁ । यतः गुह्यस्य गोपनीयस्य गुहारूपजुहूगतस्य वा नाम आज्यसांनाय्यादिनामवतो घृतस्य क्षरणशीलस्य वस्तुनः पाथः पिबथः । ❁ पा पाने । शपो लुक् छान्दसः ❁ । कीदृशौ । दमेदमे गृहेगृहे सर्वेषु यज्वगृहेषु सप्त सप्तसंख्याकानि रत्ना रत्नानि रमणीयानि गवाश्वादिसप्तपशुरूपाणि रत्नानि दधानौ धारयन्तौ । किं च वाम् युवयोः प्रति प्रत्येकं जिह्वा रसना घृतम् हूयमानम् आज्यम् आ चरण्यात् आभिमुख्येन प्राप्नोतु । भक्षयत्वित्यर्थः । एतत् महित्वम् इति पूर्वेण संबन्धः । ❁ चरण गतौ इति कण्ड्वादौ पठ्यते । तस्मात् लेटि आडागमः ❁ ॥

हे अग्नि और विष्णुदेव ! आपका परमपूजनीय माहात्म्य है कि—जो स्रुवरूप गुफा वाले क्षरणशील आज्य सांनाय्य आदि नामक घृतको पीते हो, आप यजमानोंके घर २ में गौ अश्व आदि सात पशुरूप रत्नोंको स्थापित करते हैं, आप दोनोंमेंसे प्रत्येककी जिह्वा होमे हुए घृतको अभिमुख होकर प्राप्त करे १

षष्ठी ॥

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या
जुषाणौ ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात ॥ २ ॥

अग्ना॑विष्णू॒ इति॑ । महि॑ । धाम॑ । प्रि॒यम् । वा॒म् । वी॒थः । घृत॒स्य॑ ।

गु॑ह्या । जु॒षा॒णौ ।

दमे॑ऽदमे । सु॒ऽस्तु॒त्या । वा॒वृ॒धा॒नौ । प्रति॑ । वा॒म् । जि॒ह्वा । घृ॒तम् ।

उत् । च॒र॒ण्या॒त् ॥ २ ॥

हे अग्नाविष्णू वाम् युवयोः धाम स्थानं तेजो वा महि महत् महनीयं वा प्रियम् इष्टं सर्वेषां प्रीतिकारि वा भवति । किं च घृतस्य गुह्या गुह्यानि सांनाय्यचरुपुरोडाशादीनि स्वरूपाणि वीथः भक्षयथः । ❀ वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु ❀ । जुषाणौ परस्परं प्रीयमाणौ दमेदमे गृहेगृहे सर्वेषु यजमानगृहेषु सुष्टुत्या शोभनया गुणिनिष्ठगुणाभिधानरूपया स्तुत्या वावृधानौ अत्यर्थं वर्धमानौ । यस्माद् एवं तस्माद् वाम् युवयोः जिह्वा प्रति प्रत्येकं घृतम् उच्चरण्यात् प्राप्नोतु भक्षयतु । ❀ चरण्यते रूपसिद्धिरुक्ता ❀ ॥

हे अग्नि और विष्णुदेव ! आप दोनोंका तेज (वा धाम) विशाल है और सबको प्रिय हैं, आप घृतके सांनाय्य चरु पुरोडाश आदि स्वरूपोंका भक्षण करते हैं और आप परस्पर प्रेम रख कर सब यजमानोंके घरमें अपने गुणोंकी वर्णनरूपा स्तुतिसे बढ़ते हैं, इस कारण आपमेंसे प्रत्येककी जिह्वा घृतका भक्षण करे२

सप्तमा ॥

स्वा॑क्तं मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी स्वा॑क्तं मि॒त्रो अ॑कर॒यम् ।
स्वा॑क्तं मे॒ ब्रह्मण॒स्पति॒ः स्वा॑क्तं सवि॒ता क॑रत् ॥ १ ॥

सु॒ऽआ॑क्तम् । मे॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । सु॒ऽआ॑क्तम् । मि॒त्रः । अ॒कः॒ ।

अ॒यम् ।

सुऽआक्तम् । मे । ब्रह्मणः । पतिः । सुऽआक्तम् । सविता । करत्

द्यावापृथिवी द्यावापथिव्यौ मे मदीयम् अक्षियुगं यूपं वा स्वाक्तम् अञ्जनेन सुष्ठु आ सर्वतः अक्तम् रञ्जितं कुरुताम् । अयं परिदृश्यमानो मित्रः सूर्यः स्वाक्तम् अकः करोतु । सर्वत्र अक्षियुगं यूपो वा कर्म । ❀ अकः इति करोतेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुकि गुणे "हल्ङ्या०" इत्यादिना तिपो लोपे रूपम् ❀ ॥ तथा ब्रह्मणः मन्त्रस्य पतिः पालयिता देवः मे मदीयम् अक्षि यूपं वा स्वाक्तं करोतु । सविता सर्वस्य प्रेरयिता देवोपि स्वाक्तं करत् करोतु । ❀ करोतेर्लुङि "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेः अङ् । "अमाङ्योगेपि" इति अडभावः । पञ्चमलकारे वा अडागमे रूपम् ❀ ॥

द्यावापृथिवी मेरे नेत्रयुगलको वा यूपको अञ्जनसे भली प्रकार रञ्जित करें, यह सूर्यदेव मेरे दोनों नेत्रोंको वा यूपको भली प्रकार रञ्जित करें, तथा ब्रह्मणस्पति देवता भी मेरे नेत्रयुग्मको वा यूपको भली प्रकार रञ्जित करें और सविता देवता मेरे दोनों नेत्रोंको वा यूपको भली प्रकार रञ्जित करें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर
जिन्व ।
यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो
जहातु ॥ १ ॥

इन्द्र । ऊतिऽभिः । बहुलाभिः । नः । अद्य । यावत्ऽश्रेष्ठाभिः । मघऽवन् । शूर । जिन्व ।

यः । नः । द्वेष्टि । अधरः । सः । पदीष्ट । यम् । ऊं इति । द्विष्मः ।

तम् । ऊं इति । प्राणः । जहातु ॥ १ ॥

हे इन्द्र बहुलाभिः बह्वीभिः ऊतिभिः रक्षाभिः अद्य इदानीं नः अस्मान् । पालयेति शेषः । हे मघवन् धनवन् हे शूर शौर्यवन् इन्द्र श्रेष्ठाभिः प्रशस्यतमाभिस्ताभिरूतिभिःयावत् साकल्येन अस्मान् जिन्व प्रीणय । ❀ जिवि प्रीणने । इदित्वात् नुम् ❀ । यः शत्रुः नः अस्मान् द्वेष्टि हिनस्ति सः अधरः अधोमुखः सन् पदीष्ट पततु । ❀ सांहितिकः सकारश्छान्दसः ❀ । यं च शत्रुं वयं द्विष्मस्तं तदीयः प्राणो जहातु परित्यजतु । ❀ ओहाक् त्यागे । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "श्लौ" इति द्विर्वचनम् । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

हे इन्द्र ! आप अनेक रक्षाओंसे हमारी रक्षा करिये, हे धनवन् शूर इन्द्र ! आप श्रेष्ठतासे रक्षा कर हमको जीवित रखिये, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है वह औंधे मुख होकर गिर पड़े, और जिस शत्रुसे हम द्वेष करते हैं उसको उसका प्राण त्याग देय १

नवमी ॥

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम् ।
अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

उप । प्रियम् । पनिप्नतम् । युवानम् । आहुतिऽवृधम् ।

अगन्म । बिभ्रतः । नमः । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

प्रियम् सर्वेषाम् इष्टं प्रीणनकारिणं वा पनिप्नतम् शब्दायमानं स्तूयमानं वा । ❀ पण व्यवहारे स्तुतौ च । पन च इत्यस्माद् यङ्लुगन्ताच्छतरि छान्दसी रूपसिद्धिः ❀ । युवानम् फलस्य

मिश्रयितारं नित्यतरुणं वा आहुतिवृधम् आज्याद्याहुतिभिर्वर्धमानम् अग्निं नमः नमस्कारम् हविर्लक्षणम् अन्नं वा बिभ्रतः धारयन्तो वयम् उपागन्म उपगच्छेम परिचरेम । ❀ गमेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुकि "मो नो धातोः" "म्वोश्च" इति नकारे रूपम् ❀ । अतः मे मम मदीयस्य वा माणवकस्य दीर्घं शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः कृणोतु करोतु ।

सबको प्रसन्न करनेवाले–सबको इष्ट, स्तुति पाते हुए, फलको कर्तासे मिलाने वाले, घृत आदिकी आहुतियोंसे बढ़ने वाले, अग्निदेवके पास हम हविरूप अन्न वा नमस्कारको लेकर जाते हैं इस कारण वह मेरी वा मेरे बालककी सौ वर्ष तककी आयु करें१

दशमी ॥

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः
कृणोतु मे ॥ १ ॥

सम् । मा । सिञ्चन्तु । मरुतः । सम् । पूषा । सम् । बृहस्पतिः ।
सम् । मा । अयम् । अग्निः । सिञ्चतु । प्रऽजया । च । धनेन ।
च । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

मरुदादयो देवताः मा मां फलार्थिनं यष्टारं प्रजया पुत्रादिरूपया धनेन च सं सिञ्चन्तु संयोजयन्तु अभिषिञ्चन्तु वा । ❀ परस्परंसमुच्चयार्थौ चशब्दौ । प्रतिदेवतं क्रियानुषङ्गद्योतनार्थं सम् इति उपसर्गः ❀ । किं च मे मम मदीयस्य माणवकस्य वा दीर्घम् आयुः कृणोतु । अग्निः संनिहितत्वाद् आयुष्करणे संबध्यते । अपि वा मरुदादयः । तदा कृणोत्विति प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ॥

इति तृतीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

मरुत् आदि देवता मुझ फल चाहने वाले यजमानको पुत्र आदिरूप प्रजासे और धनसे संयुक्त करें और मेरे बालककी दीर्घायु करें, पूषा देवता, बृहस्पति देवता और यह अग्निदेवता भी मुझ को प्रजा धन और दीर्घायु देवें ॥ १ ॥

तीसरे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३४९) ॥

विद्वेषिणः पुमपत्यराहित्याय "अग्ने जातान्" इत्यनया अश्वतरीमूत्रं पाषाणेन संघृष्य अभिमन्त्र्य ओदनेन सह विद्वेषिण्यै प्रयच्छेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया अश्वतरीमूत्रं पाषाणाभ्यां संघृष्य अभिमन्त्र्य तस्या अलंकारान् आलिम्पेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया विद्वेषिण्याः सीमन्तम् ईक्षेत ॥

विद्वेषिण्या वन्ध्याकरणकर्मणि "प्रान्यान्" इति तृचेन पूर्वमन्त्रोक्तानि कर्माणि कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "अग्ने जातान् [१] इति न वीरं जनयेत् प्रान्यान् [७. ३६] इति न विजायेतेत्यश्वतरीमूत्रम् अश्ममण्डलाभ्यां संघृष्य भक्तेऽलंकारे । सीमन्तम् अन्वीक्षते" इति [कौ० ४. १२] ॥

अभिचारकर्मणि "अग्ने जातान्" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् अशनिहतवृक्षसमिध आदध्यात् ॥

अग्निचयने पञ्चम्यां चितौ असपत्नेष्टकाम् उपधीयमानाम् "अग्ने जातान्" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "अग्ने जातान् इति द्वाभ्यां पञ्चम्यां चितावसपत्नेष्टका निधीयमानाः" इति [वै० ५. २] हि वैतानं सूत्रम् ॥

विवाहे चतुर्थदिवसे "अक्षौ नौ" इत्यनया वरवध्वौ अन्योन्यम् अक्षिणी अञ्जाताम् । "अक्षौ नाविति समञ्जाते" इति [कौ० १०. ५] सूत्रम् ॥

सौभाग्यसंवननकर्मणि "इदं खनामि" इति पञ्चर्चेन सौवर्चलमूलं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन पञ्चर्चेन शङ्खपुष्पीपुष्पम् अभिमन्त्र्य स्त्रियः शिरसि बध्नीयात् ॥

"इदं खनामीति सौवर्चलम् ओषधिवत् शुक्लप्रसूनं शिरस्युपहृत्य ग्रामं प्रविशति" इति सूत्रम् [कौ० ४. १२] ॥

विद्वेषीके पुरुषको पुरुषसन्तानसे हीन करनेके लिये 'अग्ने जातान्' इस ऋचासे खिच्चरीके मूत्रको पत्थरसे घोटकर अभिमन्त्रित करे फिर उसको ओदनके साथ मिलाकर विद्वेषिणीको देदेय

तथा इसी कर्ममें इससे खिच्चरीके मूत्रको पाषाणोंसे घोट और अभिमंत्रित करके उसके अलंकारोंको भिगोवे ।

तथा इसी कर्ममें इससे विद्वेषिणीके सीमन्तको देखे ।

विद्वेषिणीको वन्ध्या करनेके कर्ममें "प्रान्यान्" तृचसे पूर्वमन्त्रके लिये कहे हुए कर्मोंको करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अग्ने जातान् (१) इति न वीरं जनयेत् प्रान्यान् (७ । ३६) इति न विजायेतेत्यश्वतरीमूत्रम् अश्ममण्डलाभ्यां संघृष्य भक्तेऽलंकारे । सीमन्तम् अन्वीक्षते" (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

अभिचारकर्ममें "अग्ने जातान्" इन दो ऋचाओंसे अशनिसे मारे हुए वृक्षकी समिधाओंको रक्खे ॥

अग्निचयनकी पाँचवीं चितिमें रक्खी जाने वाली असपत्नेष्टका को "अग्ने जातान्" इन दो ऋचाओंसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ५ । २ का प्रमाण है, कि—"अग्ने जातान् इति द्वाभ्यां पञ्चम्यां चितावसपत्नेष्टका निधीयमानाः" ॥

विवाहके चतुर्थ दिनमें "अक्षौ नौ" ऋचासे वर और वधू

परस्परके नेत्रोंको स्वच्छ करें। कौशिकसूत्र १०।५ में कहा है, “अक्तौ नाविति समञ्जाते” ॥

सौभाग्यसंवननकर्म में “इदं खनामि” इस पञ्चर्चसे सौवर्चलसूलको सम्पातित्त और अभिमन्त्रित करके बाँधे।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस पञ्चर्चसे शङ्खपुष्पीके पुष्पको अभिमन्त्रित करके स्त्रीके शिरमें बाँधे।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—“इदं खनामीति सौवर्चलम् ओषधिवत् शुक्लप्रसूनं शिरस्युपवृत्य ग्रामं प्रविशति (कौशिकसूत्र ४।१२)॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्ने॑ जा॒तान् प्र णु॑दा मे स॒पत्ना॒न् प्रत्यजा॑तान् जात-
वेदो नुदस्व ।
अ॒ध॒स्प॒दं कृ॑णुष्व॒ ये पृ॑त॒न्यवोना॑गस॒स्ते व॒यमदि॑तये
स्याम ॥ १ ॥

अ॑ग्ने । जा॒तान् । प्र । नु॒द॒ । मे॒ । स॒ऽपत्ना॑न् । प्रति॑ । अजा॑तान् ।
जा॒त॒ऽवे॒द॒ः । नु॒द॒स्व॒ ।
अ॒ध॒ःऽप॒दम् । कृ॒णु॒ष्व॒ । ये । पृ॒त॒न्यव॑ः । अना॑गसः । ते । व॒यम् ।
अ॑दितये । स्या॒म॒ ॥ १ ॥

हे अग्ने मे मदीयान् जातान् निष्पन्नान् सपत्नान् शत्रून् प्रणुद प्रकर्षेण प्रेरय अतिदूरम् अपसारय ॥ तथा हे जातवेदः जातानां वेदितः जातप्रज्ञ वा अजातान् अनुत्पन्नान् उत्पत्स्यमानान् शत्रुपुत्रान् प्रति नुदस्व विनाशय ॥ किं च ये शत्रवः पृत-

न्यवः संग्रामेच्छवः। ❀ पृतनाशब्दात् इच्छायां क्यचि "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इति अन्त्यलोपः ❀। तान् अस्माभिः सह योद्धुम् इच्छन् सपत्नान् अधस्पदम् पादस्याधस्तात् देशे कृणुष्व कुरु। मदीयपादाधःप्रदेशवर्तिनः कुरु। एवं शत्रुबाधा प्रार्थिता। अथ तद्दोषपरिहारश्चतुर्थपादेन प्रार्थ्यते। ते तादृशाः शत्रुपीडाकांक्षिणो वयम्। ❀ पुत्रादिसाहित्यं वक्तुं बहुवचनम् ❀। अदितये अदितिः अखण्डनीया पृथिवी अदीना वा देवमाता तस्यै। ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀। अदित्याः प्रसादात् अनागसः स्याम पापरहिता भवेम। अयम् अर्थः। भूमिर्हि पुण्यकृतः स्वस्योपरि चिरकालम् अवस्थापयति पापकृतस्तिरस्करोति। अतः अत्र शत्रुपीडाकांक्षिणोपि अस्मान् तत्पापपरिहारेण भूमिश्चिरकालम् अवस्थापयत्विति प्रार्थ्यते। शत्रुहननार्थम् अग्नेः प्रार्थनात् वा तन्माता अदितिः पापरहितान् अस्मान् करोत्विति आशास्यते। यद्वा अदितये अखण्डितत्वाय अदीनत्वाय अनभिशस्तये वा अनागसः स्यामेति ॥

हे अग्ने! मेरे उत्पन्न हुए शत्रुओंको दूर हटाइये, और हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले जातवेदा अग्ने! आप अभी उत्पन्न न हुए किंतु उत्पन्न होने वाले शत्रुके पुत्रोंको नष्ट करिये और जो हमसे संग्राम करना चाहते हैं, उन संग्रामाभिलाषी शत्रुओं को पैरके नीचे दबाइये। (इस प्रकार शत्रुबाधाकी प्रार्थना की अब उसके दोषके परिहारकी चौथे पादमें प्रार्थना करते हैं, कि–) अखण्डनीया पृथिवी वा अदीना देवमाता अदितिके प्रसादसे हम पापरहित होवें, अर्थात् अखण्डित रहनेके लिये अदीन रहनेके लिये और आक्रोशशून्य रहनेके लिये हम निष्पाप होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः १

प्र । अन्यान् । सऽपत्नान् । सहसा । सहस्व । प्रति । अजातान् । जातऽवेदः । नुदस्व ।
इदम् । राष्ट्रम् । पिपृहि । सौभगाय । विश्वे । एनम् । अनु । मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

हे जातवेदः अन्यान् अस्मत्प्रातिकूल्यकारित्वेन विभिन्नान् सपत्नान् सहसा बलेन शीघ्रं वा प्र सहस्व प्रकर्षेण अभिभव । प्रत्यजातान् इति पादो व्याख्यातः । किं च इदम् अनुभूयमानं स्वनिवासाश्रयं राष्ट्रम् अस्मदीयं जनपदं सौभगाय सौभाग्याय पिपृहि पूरय । यस्मिन् देशे परोपद्रवकारी वर्तते स देशः सस्यादिना अभिवृद्धो न भवतीति प्रसिद्धिः । अतः अत्र राज्यस्य सौभाग्यपूर्तिः प्रार्थ्यते । किं च विश्वे सर्वे देवाः एनं शत्रुहननकर्मणः प्रयोक्तारम् अनु मदन्तु अनुमोदन्ताम् ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप हमारे साथ प्रतिकूलताका व्यवहार करनेके कारण शत्रुओंको शीघ्रतासे धर दबाइये, और जो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उन उत्पन्न होने वाले शत्रुपुत्रोंको भी आप नष्ट करें, और इस निवासभूत राष्ट्रको सौभाग्यसे पूर्ण करिये, (जिस देशमें उपद्रव करने वाला शत्रु रहता है वह देश धान्य आदिसे समृद्ध नहीं रह सकता, अत एव राज्यको सौभाग्यसे पूर्ण करनेकी प्रार्थना की है) और सकल देवता भी इस शत्रुहनन कर्मके प्रयोग करने वालेका अनुमोदन करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

इ॒मा यास्ते॑ श॒तं हि॒राः स॒हस्रं॑ ध॒मनी॑रु॒त ।
तासां॑ ते॒ सर्वा॑साम॒हमश्म॑ना॒ बिल॒मप्य॑धाम् ॥ २ ॥

इ॒माः । याः । ते॒ । श॒तम् । हि॒राः । स॒हस्र॑म् । ध॒मनीः॑ । उ॒त ।

तासा॑म् । ते॒ । सर्वा॑साम् । अ॒हम् । अश्म॑ना । बिल॑म् । अपि॑ । अ॒धा॒म् २

हे विद्वेषिणि स्त्रि ते त्वदीया या इमाः शतम् शतसंख्याका हिराः नाड्यः गर्भधारणार्थम् अन्तरवस्थिताः सूक्ष्मा या नाड्यः सन्ति उत अपि च सहस्रम् सहस्रसंख्याका धमनी धमन्यः गर्भाशयस्य अवष्टम्भिका बाह्याः स्थूला या नाड्यः सन्ति ते त्वदीयानां तासां सर्वासां नाडीनां बिलम् मुखम् अश्मना पाषाणेन अहम् वन्ध्याकरणकर्म प्रयोक्ता अप्यधाम् अपिहितवान् आच्छादितवान् अस्मि । यथा गर्भधारणक्षमा न भवन्ति तथा अकार्षम् । छान्दसो वा लुङ् । अपिदधामि ॥

हे विद्वेष करने वाली स्त्रि ! तेरी जो सौ सूक्ष्म नाड़ियें गर्भ धारण करनेके लिये भीतर स्थित हैं, और गर्भाशयको थामने वाली जो हजार स्थूल नाड़ियें बाहर हैं, वन्ध्याकरणकर्मका प्रयोग करने वाला मैं तेरी इन सब नाड़ियोंके मुखको पत्थरसे दबाता हूँ अर्थात् जिस प्रकार वे गर्भधारण करनेमें समर्थ न हों वैसा करता हूँ ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

प॒रं यो॒नेरव॑रं ते कृणोमि॒ मा त्वा॑ प्र॒जाभि॑ भू॒न्मोत सूनुः ।
अ॒स्वं॒१ त्वाप्र॑जसं कृ॒णोम्यश्मा॑नं ते अपि॒धानं॑ कृणोमि

प॑रम् । योनेः । अव॑रम् । ते॒ । कृ॒णो॒मि॒ । मा । त्वा॒ । प्र॒ऽजा ।
अ॒भि । भू॒त । मां । उ॒त । सूनु॑ः ।
अ॒स्वम् । त्वा॒ । अप्र॑जसम् । कृ॒णो॒मि॒ । अश्मा॑नम् । ते॒ । अ॒पि॒ऽधान॑म् ।
कृ॒णो॒मि॒ ॥ ३ ॥

हे प्रतिकूले नारि ते त्वदीयं योनेः परं पुत्रजननक्षमत्वेन उत्कृष्टं स्थानं गर्भाशयं योनेः परस्तात् प्रदेशे वर्तमानं वा स्थानम् अवरं कृणोमि निकृष्टं गर्भं धारयितुम् अक्षमं करोमि । योनिप्रदेशात् नीचीनं बहिर्भूतं वा करोमि । यत एवम् अतः प्रजा स्त्र्यपत्यरूपा त्वा त्वां मा अभि भूत् सर्वतो मा प्राप्नोतु । ❀ भवतेः प्राप्त्यर्थात् लुङि रूपम् ❀ । उत अपि च सूनुः पुत्रो मा । अभि भूद् इत्यनुषङ्गः । एतदेवाह । त्वा त्वाम् अप्रजसम् न विद्यते प्रजा स्त्रीपुंसापत्यरूपा यस्यास्ताम् । ❀ नञ्पूर्वात् प्रजाशब्दात् "नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः" इति असिच् प्रत्ययः समासान्तः ❀ । प्रजारहिताम् अश्वाम् अश्वतरीमेव कृणोमि करोमि । यथा अश्वतरी स्त्रीव्यञ्जनयुक्तापि प्रजारहिता तथा त्वां करोमीत्यर्थः । किंच ते तव संबन्धिनः । गर्भधारणस्थानस्येति शेषः । अश्मानम् पाषाणम् अपिधानम् संवरणम् आच्छादनं कृणोमि करोमि ॥

हे प्रतिकूल नारि ! तेरी योनिके पुत्र उत्पन्न करनेकी शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण उत्कृष्ट गर्भाशयस्थानको गर्भ धारण करने में असमर्थ अत एव निकृष्ट करता हूँ अथवा योनिप्रदेशसे नीचा अर्थात् बाहर करता हूँ । ऐसा होता है अतः स्त्रीसन्तानरूपा प्रजा तुझको प्राप्त न हो और पुत्र भी तुझको प्राप्त न हो, तुझ स्त्रीपुरुषसन्तानरहिताको खिच्चरीकी समान करता हूँ, तात्पर्य यह है, कि–जैसे खिच्चरी स्त्रीव्यञ्जनसे सम्पन्न होने पर भी प्रजा-

रहित रहती है, तिसी प्रकारकी मैं तुझको करता हूँ और तेरे गर्भधारणस्थानका पाषाणको ढकन बनाता हूँ ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

अक्ष्यौ॑ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥१॥

अक्ष्यौ । नौ । मधुसंकाशे इति मधुऽसंकाशे । अनीकम् । नौ । समुऽअञ्जनम् ।

अन्तः । कृणुष्व । माम् । हृदि । मनः । इत् । नौ । सह । असति १

नौ तव च मम च । ❀ "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" इति अस्मद एकशेषे षष्ठीद्विवचनस्य नौ इत्यादेशः ❀ । आवयोर्दम्पत्योः अक्ष्यौ अक्षिणी मधुसंकाशे मधुसदृशे । भवेताम् इति शेषः । यथा मधु मधुरं स्निग्धं च एवम् आवयोः अक्षिणी परस्परम् अनुरक्ते मधुरप्रेक्षणे अत्यन्तस्निग्धे च भवेताम् इत्यर्थः । तथा नौ आवयोः अनीकम् । अनीकशब्दः अग्रवाची । लोचनाग्रं समञ्जनम् समेताञ्जनं भवतु । किं च माम् । जाया पतिं प्रति पतिर्जायां प्रति स्वात्मानं माम् इति निर्दिशति । हृदि हृदये अन्तः कृणुष्व । यथा तव अहं हृदयंगमा प्रिया भवामि तथा कुर्वित्यर्थः । नौ आवयोः मन इत् । इच्छब्दः अप्यर्थे । मनोपि सह असति समानम् एककार्यकारि भवतु । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

तेरे और मेरे अर्थात् दोनों दम्पतीके नेत्र मधुकी समान होजावें, तात्पर्य यह है, कि–जैसे मधु मधुर और स्निग्ध होता है, इसी प्रकार हम दोनोंके नेत्र परस्पर अनुरागयुक्त मधुरतासे देखनेवाले और परम स्निग्ध भी होजावें। हम दोनोंके नेत्रोंका अग्र-

भाग अञ्जनसे युक्त होवें। और (जाया पतिसे और पति स्त्रीके लिये कहता है, कि-) तू मुझको हृदयके भीतर कर अर्थात् मैं जिस प्रकार हृदयङ्गम प्रिय होऊँ, वैसा कर। हमारा मन भी एक कार्यको करने वाला होवे ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

अ॒भि त्वा॒ मनु॑जातेन॒ दधा॑मि॒ मम॒ वास॑सा ।
यथासो॒ मम॒ केव॑लो॒ नान्यासां॑ की॒र्तया॑श्च॒न ॥ १ ॥

अ॒भि । त्वा॒ । मनु॑ऽजातेन । दधा॑मि । मम॑ । वास॑सा ।

यथा॑ । अस॑ः । मम॑ । केव॑लः । न । अ॒न्यासा॑म् । की॒र्तया॑ः । च॒न १

स्वपतिं प्रति स्त्रिया वाक्यम् एतत्। हे पते त्वा त्वां मनुजातेन मनुना मन्त्रेण जातेन मन्त्रपूर्वकं परिहितेन मनोर्वा जातेन निष्पन्नेन मम वाससा वस्त्रेण अभि दधामि। ❀ अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते ❀। बध्नामि। किमर्थं बन्धनम् तद् आह। यथा येन प्रकारेण मम केवलः असाधारणः असः भवेः। ❀ चनेति निपातसमुदायः चार्थे ❀। यथा च अन्यासां नारीणाम्। नामधेयम् इति शेषः। न कीर्तयाः न कीर्तयेः नोच्चरेः। तथा बध्नामीति शेषः। ❀ असः इति। अस्तेर्लेटि "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः। अडागमः। कीर्तया इति। कृत संशब्दने। णिचि "उपधायाश्च" इति इत्त्वम्। तदन्तात् लेटि आडागमः ❀ ॥

(अपने पतिके प्रति स्त्रीका वाक्य है, कि-) हे पते! मैं आपको मन्त्रपूर्वक धारण किये हुए वस्त्रसे इस लिये बाँधती हूँ, कि जिस प्रकार आप केवल मेरे ही रहें और अन्य स्त्रियोंके नामका भी उच्चारण न करें ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

इ॒दं ख॑नामि भेष॒जं मां॑प॒श्यम॑भिरो॒रु॒दम् ।
प॒रा॒य॒तो नि॒वर्त॑नमा॒य॒तः प्र॑ति॒नन्द॑नम् ॥ १ ॥

इ॒दम् । ख॒ना॒मि॒ । भे॒ष॒जम् । मा॒म्ऽप॒श्यम् । अ॒भि॒ऽरो॒रु॒दम् ।
प॒रा॒ऽय॒तः । नि॒ऽवर्त॑नम् । आ॒ऽय॒तः । प्र॒ति॒ऽनन्द॑नम् ॥ १ ॥

इदं वशीकरणकारि भेषजम् सौवर्चलाख्यं खनामि उद्धरामि। औषधं विशिनष्टि । मांपश्यम् । पश्यतीति पश्यः । ❀ "पाघ्राध्माधेड्दृशः शः" इति शः । "शित्त्वात् पाघ्रा०" इत्यादिना पश्यादेशः । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इत्यत्र बहुलग्रहणात् मांपश्यम् इत्यत्र द्वितीयाया अलुक् ❀ । मामेव नारीं पश्यत् अस्मै चानुकूलम् । यद्वा । ❀ पश्यतिरन्तर्णीतण्यर्थः ❀। मामेव असाधारण्येन पत्ये प्रदर्शयत् पतिवशीकारकम् अभिरोरुदम् पत्युः अन्यनारीसंसर्गम् अभितो निरुन्धत् । ❀ रुधिर् आवरणे । यङन्तात् पचाद्यच् । 'यङोचि च" इति यङो लुक् । "न धातुलोप आर्धधातुके" इति लघूपधगुणनिषेधः । धकारस्य दकारोपजनश्छान्दसः ❀ । परायतः स्वस्मात् पराङ्मुखं गच्छतः पत्युः निवर्तनम् निषेधकं पुनरावर्तनकारणम् आयतः मां प्रति आगच्छतः पत्युः प्रतिनन्दनम् आनन्दकारि । एवंगुणविशिष्टं भेषजं खनामीति संबन्धः । ❀ परायत इति । 'परापूर्वाद् आङ्पूर्वाच्च इण् गतौ इत्यस्मात् शतरि "इणो यण्" इति यण् आदेशः । निवर्तनं प्रतिनन्दनम् इत्यत्र करणे ल्युट् ❀ ॥

मैं इस वशीकरण करने वाली सौवर्चल नामक औषधिको खोदती हूँ, यह मुझ नारीको असाधारणरूपसे पतिके लिये दिखाती है अत एव यह औषधि पतिवशीकारक है और पतिके

अन्यनारीसंसर्गको रोकने वाली है और अपनेसे पराङ्मुख पतिको लौटाने वाली है और मेरी ओर आने वाले पतिको आनंदित्त करने वाली है, ऐसे गुणोंसे सम्पन्न औषधिको मैं खोदती हूँ॥ १

अष्टमी ॥

येना॑ नि॒चक्र आसु॒रीन्द्रं॑ दे॒वेभ्य॒स्परि॑ ।
तेना॒ नि कु॑र्वे॒ त्वाम॒हं यथा॒ तेसा॑नि॒ सुप्रि॑या ॥ २ ॥

येना॑ । नि॒ऽच॒क्रे । आ॒सु॒री । इ॑न्द्रम् । दे॒वेभ्यः॑ । परि॑ ।
तेन॑ । नि । कु॒र्वे॒ । त्वाम् । अ॒हम् । यथा॑ । ते॒ । असा॑नि । सुऽप्रि॑या

आसुरी असुरस्य माया । ❀ "असुरस्य स्वम्" "आयायाम् अण्" इति अण् प्रत्ययः ❀ । देवेभ्यः परि । ❀ "अपपरी वर्जने" इति परिः कर्मप्रवचनीयः । "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" इति पञ्चमी ❀ । देवान् वर्जयित्वा इन्द्रं येन भेषजेन निचक्रे युद्धे स्वाधीनं कृतवती । यद्वा असुरः असुमान् । ❀ रो मत्वर्थीयः ❀ । बलवान् पुलोमाख्यः । तस्येयम् आसुरी शची । शेषं पूर्ववत् । तेन भेषजेन अहम् हे पते त्वां नि कुर्वे स्वाधीनं कुर्वे । यथा येन प्रकारेण ते तव सुप्रिया अत्यन्तं प्रिया असाधारण्येन प्रीतिजननी असानि भवानि । तथा नि कुर्वे इति संबन्धः । ❀ अस्तेर्लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः ❀ ॥

पुलोमा नामवाले असुरकी पुत्री आसुरी शचीने जिस औषधिसे देवताओंमें श्रेष्ठ इन्द्रको अपने वशमें कर लिया है, हे पते ! उसी औषधिसे मैं तुमको स्वाधीन करती हूँ, जिस प्रकार मैं आपको असाधारणरूपसे प्रीति देने वाली होऊँ तिस प्रकार स्वाधीन करती हूँ ॥ २ ॥

नवमी ॥

प्र॒ती॒ची सोम॑मसि प्रती॒च्यु॒त सूर्य॑म् ।
प्र॒ती॒ची विश्वा॑न् दे॒वान् तां त्वा॒च्छाव॑दामसि ॥३॥

प्र॒तीची॑ । सोम॑म् । अ॒सि॒ । प्र॒तीची॑ । उ॒त । सूर्य॑म् ।
प्र॒तीची॑ । विश्वा॑न् । दे॒वान् । ताम् । त्वा॒ । अ॒च्छ॒ऽआव॑दामसि ३

अनया प्रकृता शङ्खपुष्प्याख्या ओषधिः स्तूयते । हे ओषधे सोमम् प्रतीची वशीकरणार्थं प्रत्यगञ्चना असि भवसि । उत अपि च सूर्यम् सुष्ठु प्रेरकम् आदित्यं प्रतीची भवसि । अहोरात्राभिमानिनोः सूर्यचन्द्रमसोः अभिमुखा भवसीत्यर्थः । किं बहुना विश्वान् देवान् प्रतीची असि । ❀ प्रतिपूर्वात् अञ्चतेः क्विन् । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । "अचः" इति अकारलोपः । "चौ" इति पूर्वपदस्य दीर्घः ❀ । यत एवम् अतः तां सर्वदेववशीकरणसमर्थां त्वा त्वाम् अच्छावदामसि पतिरुचिकरणाय अभिमुखं स्तुमः । ❀ 'अच्छ गत्यर्थवदेषु' इति अच्छशब्दो गतिसंज्ञकः ❀ ।

(इस ऋचासे शङ्खपुष्पी नामक औषधिकी स्तुति की है, कि–) हे ओषधे ! तू सोमको वशमें करनेके लिये उनके प्रति जाती है और सूर्यदेवकी ओर भी जाती है, अर्थात् दिन और रात्रिके अभिमानी देवता सूर्य और चन्द्रमाके अभिमुख होती है अधिक क्या सकल देवताओंके अभिमुख होती है अत एव तुझ सब देवताओंको वशमें करनेमें समर्थ औषधिकी हम पतिकी रुचिको उत्पन्न करनेके लिये अभिमुख होकर स्तुति करती हैं ॥ ३ ॥

दशमी ॥

अ॒हं व॑दामि॒ नेत् त्वं स॒भाया॒मह॒ त्वं वद॑ ।

ममदेसस्त्वं केवलो नान्यसां कीर्तयांश्चन ॥ ४ ॥

अहम् । वदामि । न । इत् । त्वम् । सभायाम् । अह । त्वम् । वद ।

मम । इत् । असः । त्वम् । केवलः । न । अन्यासाम् । कीर्तयाः । चन४

पतिवशीकरणाय ओषधिं संप्रार्थ्य नारी पुनः स्वपतिं ब्रूते । हे पते अहं वदामि त्वं नेत् नैव वदेः । एवं पत्युः सर्वत्र वदननिषेधे प्राप्ते स्थानान्तरे तस्य वाग्व्यापारं दर्शयति । अहशब्दो विनिग्रहार्थीयः । त्वं तु सभायां विद्वत्समाजे वद । अयम् अर्थः । हे पते यदा मत्समीपम् आगच्छसि तदा अहमेव वदामि त्वं तु मदुक्तमेव अनुवद कदापि प्रतिकूलं मा वादीः । मद्व्यतिरिक्तस्थानेपि सभायामेव यथेच्छं वद मान्यत्रेति । एतद्व प्रकारान्तरेणाह । यथा हे पते त्वम् । इत् अवधारणे । ममैव केवलः असाधारणः असः भवेः । अन्यासां नारीणां नामधेयमपि [न कीर्तयाः] न कीर्तयेः ॥

(नारी पतिवशीकरणके लिये ओषधिकी प्रार्थना कर फिर अपने पतिसे कहती है, कि–) हे पते ! मैं ही कहूँ आप कुछ न कहें, (इस प्रकार सर्वत्र पतिका भाषणनिषेध प्राप्त होने पर कहती है, कि) आप तो विद्वानोंके समाजमें ही बोलें । तात्पर्य यह है, कि–हे पते ! जब आप मेरे समीपमें आवें उस समय मुझे ही बोलने दीजिये आप तो मेरी कही हुई बातको ही कहिये, जहाँ मैं न होऊँ उस सभास्थानमें ही यथेच्छ भाषण करिये । आप मेरे लिये असाधारणरूपमें प्राप्त हों अन्य स्त्रियोंके नामका भी आप कीर्तन न करें ॥ ४ ॥

एकादशी ॥

यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्यस्तिरः ।

इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्ध्वेव न्यानयत् ॥ ५ ॥

यदि । वा । असि । तिरःऽजनम् । यदि । वा । नद्यः । तिरः ।

इयम् । ह । मह्यम् । त्वाम् । ओषधिः । बद्ध्वाऽइव । निऽआनयत् ५

हे पते यदि तिरोचनम् । ❀ क्रियाविशेषणम् एतत् ❀ । तिरः तिरोभूतम् अचनं गमनं यस्मिन् कर्मणि तत् तिरोचनम् । तिरोभूतगतिः मच्चक्षुर्विषयो न भवेः । वाशब्दो विकल्पे । यदि वा नद्यः निम्नगास्तिरः आवयोर्व्यवधायिका भवेयुः । ह । तथापीत्यर्थः । इयं प्रस्तुता ओषधिः शङ्खपुष्प्याख्या मह्यं पतिप्रीतिकामिन्यै त्वां पतिं बद्ध्वेव निगृह्येव न्यानयत् नितराम् अभिमुखं नयतु । ❀ नयतेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

तृतीयं सूक्तम् ॥ [इति] सप्तमे काण्डे तृतीयोऽनुवाकः ॥

यदि किसी कार्यवश आपका मेरे सामनेसे चलना फिरना अन्तर्धान होजाय अर्थात् आप किसी अन्य स्थानको चले जावें अथवा कोई नदी हम दोनोंके बीचमें आ आपको मुझसे अन्तर्हित कर देगी तो यह मेरी शङ्खपुष्पी नामक औषधि मुझ पतिकी प्रीतिको चाहने वालीके लिये आपको बाँध कर सी मेरे अभिमुख ले आवे ॥ ५ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (३५४)

सप्तमकाण्डमें तृतीय अनुवाक समाप्त

चतुर्थेऽनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र "दिव्यम् सुपर्णम्" इति आद्यसूक्ते आद्यर्चा पुष्टिकर्मणि वृषभवपया इन्द्रं यजेत । "दिव्यं सुपर्णम् इत्यृषभदण्डिनो वपयेन्द्रं यजते" इत्यादि [कौ० ३. ७] सूत्रम् ॥

अन्वारम्भणीयेष्टौ सारस्वतं पुरोडाशं "यस्य व्रतम्" इति अनुमन्त्रयेत । "सरस्वत्यै च चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति

व्रतेषु [७. ७०] यस्य व्रतम्” [७. ४१] इति वैतानं सूत्रम् [वै० २. ४] ॥

नवगृहकरणार्थं भूशुद्धये “अति धन्वानि” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां गृहनिर्माणस्थाने श्येनदेवताकं चरुं जुहुयात् । सूत्रितं हि । “अति धन्वानीत्यवशाननिवेशनानुचरणानिनयनेज्या” इति [कौ० ५, ७] ॥

अग्निष्टोमे हविर्धाने पुरोडाशपिण्डावापानन्तरम् उत्तान् पिण्डान् “श्येनो नृचक्षाः” इति अनुमन्त्रयेत । सूत्रितं वैताने । “हविर्धानं यथाचमसं दक्षिणतः” इति प्रक्रम्य “एतं सधस्थाः [६. १२३] श्येनो नृचक्षाः [७. ४२. २] इत्यनुमन्त्रयते” इति [वै० ३. १२]॥

सर्वव्याधिभैषज्यार्थं व्याधितशरीरं मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा “सोमारुद्रा” इति द्वाभ्यां शरपिंजूलीभिः सह उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितम् आप्लावयेत् अवसिञ्चेद्वा । तद्द उक्तं संहिताविधौ । “अग्नाविष्णू [७. ३०] सोमारुद्रा [७. ४३]” इति प्रक्रम्य “मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिंजूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति” इति [कौ० ४, ८] ॥

तथा सर्वसंपत्कामः अनेन द्व्यृचेन सोमारुद्रौ यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

मिथ्याभिशस्तस्य लोकनिन्दानिवृत्त्यर्थं “शिवास्ते” इत्यनया ओदनं मन्थं वा अभिमन्त्र्य दद्यात् ॥

तथा अनयैव द्रुघणमणिं तदाकृतिं पलाशायोलोहहिरण्यानाम् अन्यतमस्य मणिं वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । “उतामृतासुः [५. १. ७] शिवास्ते [७. ४४] इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति । द्रुघणशिरो बध्नाति । प्रतिरूपं पलाशायोलोहहिरण्यानाम्” इति [कौ० ५. १०] ॥

सांमनस्यकर्मणि “उभा जिग्यथुः” इत्यनया हस्त्यादियानं संपात्य अभिमन्त्र्य सांमनस्यकामान् आरोप्य सूत्रोक्तप्रकारेण

स्वगृहम् आगत्य ओदनं मन्थं वा संपात्य अभिमन्त्र्य सह भोजयेत् । सूत्रितं हि । "उभा जिग्यथुरित्यार्द्रपादाभ्यां सांमनस्यम् । यानेन प्रत्यञ्चो ग्रामान् प्रतिपाद्य प्रयच्छति" इति [कौ० ५. ६] ॥

तथा उक्थ्ये अच्छावाकयाज्याहोमानुमन्त्रणम् अनया ब्रह्मा कुर्यात् । "एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ [७. ६०] बृहस्पतिर्नः [७. ५३] उभा जिग्यथुः" [७. ४५] इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ४. १] ॥

ईर्ष्याविनाशार्थं "जनाद् विश्वजनीनात्" इत्येनाम् ईर्ष्यालुं पश्यन् जपेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनया सक्तुमन्थम् अभिमन्त्र्य ईर्ष्यावते दद्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि ईर्ष्यावन्तं स्पृशन् एनाम् ऋचं जपेत् ॥

सूत्रितं हि । "ईर्ष्याया ध्राजिम् [६. १८] जनाद् विश्वजनीनात् [७. ४६] त्वाष्ट्रेणाहम् [७. ७८. ३] इति प्रतिजापप्रदानाभिमर्शनानि" इति [कौ० ४. १२] ॥

चौथे अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इसके 'दिव्यं सुपर्णम्' के पहिले सूक्तकी पहिली ऋचासे पुष्टिकर्ममें वृषभकी वपासे इन्द्रका यजन करे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि–"दिव्यं सुपर्णं इत्यृषभदण्डिनो वपयेन्द्रं यजते" (कौशिकसूत्र ३ । ४) ॥

अन्वारंभणीयेष्टिमें सारस्वत पुरोडाशका 'यस्य व्रतम्' से अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ४ का प्रमाण है, कि–"सरस्वत्यै च चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति व्रतेषु (७।७०) यस्य व्रतम्" (७ । ४१) ॥

नवीन घर बनानेकी भूमिकी शुद्धिके लिये "अति धन्वानि" इन दो ऋचाओंसे गृहनिर्माणस्थानमें श्येनदेवता वाले चरुकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अति-

धन्वानीत्यवशानिवेशनानुचरणानिनयनेज्या" (कौशिकसूत्र ५ । ७) ॥

अग्निष्टोमके हविर्धानमें पुरोडाशपिण्ड रखनेके अनन्तर रखे हुए पिण्डोंको "श्येनो नृचक्षाः" से अनुमन्त्रण करे। इस बातका वैतानसूत्रमें प्रमाण भी है, कि—"हविर्धाने यथाचमसं दक्षिणतः" इति प्रक्रम्य "एतं सधस्थाः (६ । १२३) श्येनो नृचक्षाः (७ । ४२ । २) इत्यनुमन्त्रयते" (वैतानसूत्र ३ । १२) ॥

सर्वव्याधिकी चिकित्साके लिये रोगीके शरीरको मूँजके पाशों से जोड़ों पर बाँध कर "सोमारुद्रा" इन दो ऋचाओंसे सैंटोंकी मुट्ठीसहित जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके रोगीको आसावित वा अवसिञ्चित करे । इसी बातको संहिता-विधिमें कहा है, कि–अग्नाविष्णू (७ ३०) सोमारुद्रा (७।४३)" इति प्रक्रम्य "मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिरासावयत्यवसिञ्चति" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा सब प्रकारकी सम्पत्तियोंकी कामना वाला पुरुष इस ऋचसे सोम और रुद्रदेवताका यजन वा उपस्थान करे ॥

जिसको झूँठा कलंक लग रहा हो उसकी लोकनिन्दाको दूर करनेके लिये "शिवास्ते" इस ऋचासे ओदन वा मन्थको अभिमन्त्रित करके देवे ।

तथा इसी ऋचासे द्रुघणमणिको वा उसकी समान आकार वाली पलाश लोहा और सुवर्णमेंसे एककी मणिको संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि"उतामृतासुः ५।१।७) शिवास्ते (७ । ४४) इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति । द्रुघणशिरो बध्नाति । प्रतिरूपं पलाशायोलोहहिरण्यानाम्" (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

सामनस्यकर्ममें 'उभा जिग्यथुः' ऋचासे हाथी आदि सवारी को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके सांमनस्य चाहनेवालोंको सूत्रोक्तरीतिसे अपने घर पर आ ओदन वा मंथको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके जिमावे - इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"उभा जिग्यथुरित्यार्द्रपादाभ्यां साम्मनस्यम्। यानेन प्रत्यञ्चो ग्रामान् प्रतिपाद्य प्रयच्छति" (कौशिकसूत्र ५ । ६)॥

तथा उक्थ्यमें ब्रह्मा इस ऋचासे अच्छावाकयाज्यहोमका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ४ । १ का प्रमाण भी है, कि–"एतेषां याज्यहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ (७ । ६०) बृहस्पतिर्न (७ । ५३) उभा जिग्यथुः" (७ । ४५)॥

ईर्ष्या (डाह) को नष्ट करनेके लिये "जनाद् विश्वजनीनात्" ऋचाको ईर्ष्यालुको देखता हुआ जपे।

तथा तहाँ ही कर्ममें इससे सक्तुमंथको अभिमन्त्रित करके डाह रखने वालेको देदेय।

तथा तहाँ ही कर्ममें ईर्ष्या वालेको छूता हुआ इस ऋचाका जप करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"ईर्ष्याया ध्राजिम् (६ । १८) जनाद्विश्वजनीनाद् (७ । ४६) त्वाष्ट्रेणाहम् (७ । ७८ । ३) इति प्रतिजापप्रदानाभिमर्शनानि (कौशिकसूत्र ४ । १२)॥

तत्र प्रथमा॥

दि॒व्यं सु॑प॒र्णं प॑य॒सं बृ॒हन्त॑म॒पां गर्भं॑ वृ॒ष॒भमोष॑धीनाम्।
अ॒भी॒प॒नो वृ॒ष्ट्या त॒र्पय॑न्त॒मा नो॑ गो॒ष्ठे र॑यि॒ष्ठां स्था॑पयाति

दि॒व्यम्। सु॒ऽप॒र्णम्। प॒य॒सम्। बृ॒हन्त॑म्। अ॒पाम्। गर्भ॑म्। वृ॒ष॒भम्। ओष॑धीनाम्।

अ॒भी॒प॒तः । वृ॒ष्ट्या । त॒र्पय॑न्तम् । आ । नः॒ । गो॒ऽस्थे ।
र॒यि॒ऽस्थाम् । स्था॒प॒या॒ति॒ ॥ १ ॥

दिव्यम् दिवम् अर्हतीति दिव्यः । ❀ "छन्दसि च" इति यः । तं सुपर्णम् शोभनपतनं पयसम् पयस्वन्तम् । ❀ पयःशब्दात् मतुपो लुक् ❀ । उदकवन्तं बृहन्तम् महान्तम् अपां गर्भम् मध्यभूतम् ओषधीनां वृषभम् वर्षितारं वृद्धिकरम् । उपलक्षणम् एतत् । सर्वेषामपि वृषभम् । यद्वा अपां वृषभम् ओषधीनां गर्भम् । अभीपतः अभिगताः सर्वतः संगता आपोस्मिन्निति । ❀ "ऋक्पूरब्धू०ः" इति अप् समासान्तः । "अन्तरुपसर्गेभ्योप ईत्" । आद्यादित्वात् तसिः ❀ । सर्वतो वृष्ट्या तर्पयन्तम् । विश्वम् इति शेषः । यद्वा । ❀ पत्लृ गतौ । क्विप् । छान्दसम् उपसर्गस्य दीर्घत्वम् ❀ । अभिपतनशीलान् वृष्टिकामान् सर्वप्राणिनो वृष्ट्या तर्पयन्तं रयिष्ठाम् धनवति प्रदेशे तिष्ठन्तम् एवंगुणकं सरस्वन्तं देवं नः अस्मदीये गोष्ठे गोनिवासस्थाने आ स्थापयाति आस्थापयतु । इन्द्र इति विनियोगाद् अत्रगम्यते । सरस्वांस्तु मन्त्रान्तरप्रसिद्ध्या । आस्थापनकर्तृत्वेन इन्द्रस्यैव प्राधान्यात् तस्यैव यष्टव्यत्वम् ॥

स्वर्गके योग्य, शोभनरूपसे चलने वाले, जल वाले, विशाल, जलोंके मध्यरूप, औषधि आदि सबके बढ़ाने वाले अथवा औषधियोंके गर्भरूप, सब ओर वृष्टि करके विश्वको तृप्त करनेवाले, वृष्टि चाहने वाले सकल प्राणियोंको वृष्टिसे तृप्त करने वाले, धनमय देशमें स्थित रहने वाले, ऐसे सरस्वान् देवको इन्द्रदेव हमारी गौओंके स्थान गोष्ठमें स्थापित करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑पति॒ष्ठन्त॒ आपः॑ ।
यस्य॑ व्र॒ते पु॑ष्ट॒पति॒र्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे १

यस्य । व्रतम् । पशवः । यन्ति । सर्वे । यस्य । व्रते । उपऽतिष्ठन्ते ।
आपः ।
यस्य । व्रते । पुष्टऽपतिः । निऽविष्टः । तम् । सरस्वन्तम् । अवसे ।
हवामहे ॥ १ ॥

यस्य सरस्वतो व्रतम् कर्म सर्वेपि पशवो यन्ति अनुगच्छन्ति । तन्निमित्तत्वात् पुष्टेः । यस्य च व्रते कर्मणि आपः उपतिष्ठन्ते परस्परं संगच्छन्ते । तन्निमित्तत्वाद् वृष्टेः । ❀ "अकर्मकाच्च" इति आत्मनेपदम् ❀ । यस्य च व्रते कर्मणि पुष्टिपतिः तत्तत्पोषणपतिर्निविष्टः । तदधीनत्वाद् वृष्टेः पुष्टेश्च । तं तादृशं सरस्वन्तम् एतन्नामानं देवम् अवसे रक्षणाय तृप्त्यथ वा हवामहे आह्वयामः ॥

जिन सरस्वान् देवताका सब पशु अनुगमन करते हैं और जिनके कर्म से जल परस्पर मिलते हैं और जिनके कर्म में प्रत्येक वस्तुओंके पोषणपति निविष्ट हैं, क्योंकि—वृष्टि और पुष्टि उनके ही आधीन है । उन सरस्वान् नामक देवताका हम तृप्ति वा रक्षण के लिये आह्वान करते हैं ॥ १ ॥

तृतीया ॥

आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम् ।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् २

आ । प्रत्यञ्चम् । दाशुषे । दाश्वंसम् । सरस्वन्तम् । पुष्टऽपतिम् ।
रयिऽस्थाम् ।
रायः । पोषम् । श्रवस्युम् । वसानाः । इह । हुवेम । सदनम् ।
रयीणाम् ॥ २ ॥

प्रत्यञ्चम् प्रत्यगञ्चनं हविर्दत्तवतः प्रीणयितुम् अभिमुखं गच्छन्तं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय दाश्वांसम् इष्टफलं प्रयच्छन्तम्। ❀ “दाश्वान् साह्वान्०” इति क्वसौ निपातितः ❀। पुष्टपतिम् पोषणपतिं रयिष्ठाम् धनस्थाने तिष्ठन्तं रायस्पोषम् रायो धनस्य पोषं पोषकम्। ❀ पुष पुष्टौ। पचाद्यच् ❀। श्रवस्युम्। श्रव इत्यन्ननाम श्रूयते इति यास्कः [नि० १०. ३]। तद् यजमानानां दातुम् इच्छन्तं रयीणाम् धनानां सदनम् नित्यनिवासस्थानम् एवंविधं सरस्वन्तं देवं वसानाः। ❀ विवासतेः परिचरणकर्म स्याद्ध अत्र केवलोपि वसतिः परिचरणार्थः ❀। हविरादिना परिचरन्तः। ❀ वस्तेरादादिकात् हेत्वर्थे शानच् ❀। परिचरणाद्धेतोः। इह अस्मिन् कर्मणि आ हुवेम आह्वयेम। ❀ “ह्वयतेः लिङ्याशिष्यङ्”। “बहुलं छन्दसि” इति संप्रसारणम् ❀॥

हवि देने वालेको प्रसन्न करनेके लिये उसके अभिमुख जाने वाले, हवि देने वाले यजमानको इष्ट फल देने वाले, पुष्टिके स्वामी, धनके स्थानमें स्थित, धनके पोषक, अन्नको यजमानों को देनेकी इच्छावाले, धनोंके नित्य निवास्थान सरस्वान् देवता की हम हवि आदिसे सेवा कर इस कर्ममें बुलाते हैं ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः।
तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥ १ ॥

अति। धन्वानि। अति। अपः। ततर्द। श्येनः। नृऽचक्षाः। अवसानऽदर्शः।

तर॑न् । विश्वा॑नि । अव॑रा । रजां॑सि । इन्द्रे॑ण । सख्या॑ । शि॒वः । आ । ज॒ग॒म्या॒त् ॥ १ ॥

नृचक्षाः नृणां द्रष्टा सर्वकर्म साक्षी प्राणिभिर्द्रष्टव्यो वा । तदेवाह । अवसानदर्शः अवसाने अन्तभूते द्युलोके द्रष्टव्यः । अथ वा अवसीयते निश्चीयत इति अवसानं कर्मफलं तद्द दर्शयतीति अवसानदर्शः । तादृशः श्येनः शंसनीयगतिः सूर्यः धन्वानि मरुदेशान् अति अतिक्रम्य अपः उदकानि अति ततर्द । अतिशयेन करोत्वित्यर्थः । ❀ उतृदिर् हिंसानादरयोः ❀ । निरुदकप्रदेशेपि यथा वृष्टिर्भवति तथा प्रभूतं वर्षत्विति यावत् । किं च अवरा अवराणि द्युलोकाद्द अधस्तनानि विश्वानि रजांसि लोकान् तरन् अवतरन् अतिक्रामन् श्येनः सख्या समानख्यानेन मित्रभूतेन इन्द्रेण । ❀ सहयोगाभावेपि तृतीया ❀ । तेन सह शिवः कल्याणकारी सन् आ जगम्यात् नवगृहनिर्माणस्थानम् आगच्छतु ॥

सब प्राणियोंके कर्मके साक्षी वा सकल प्राणियोंसे द्रष्टव्य, कर्मफलको दिखाने वाले वा अवसानके अर्थात् अन्तके द्युलोकमें दीखने वाले प्रसंशनीय गति वाले सूर्यदेव मरुदेशोंको अनादर कर जलोंको वर्षावें अर्थात् जिस प्रकार जलरहित स्थानोंमें भी वृष्टि हो तिस प्रकार बहुतसी वृष्टि करें और द्युलोकसे नीचेके लोकोंको अतिक्रमण कर सूर्यदेव अपने मित्र इन्द्रके साथ कल्याणकारी हो हमारे नवीन घर बनानेके स्थानमें आवें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

श्ये॒नो नृ॒चक्षा॑ दि॒व्यः सु॑प॒र्णः स॒हस्र॑पाच्छ॒तयो॑निर्वयो॒धाः ।
स नो॒ नि य॑च्छाद् वसु॒ यत् परा॑भृतम॒स्माक॑मस्तु पि॒तृषु॑ स्व॒धाव॑त् ॥ २ ॥

श्ये॒नः । नृ॒ऽचक्षाः॑ । दि॒व्यः । सु॒ऽप॒र्णः । स॒हस्र॑ऽपात् । श॒तऽयो॑निः ।
व॒यः॒ऽधाः ।

स । नः॒ । नि । य॒च्छा॒त् । वसु॑ । यत् । परा॑ऽभृतम् । अ॒स्माक॑म् ।
अ॒स्तु । पि॒तृषु॑ । स्व॒धाऽव॑त् ॥ २ ॥

नृचक्षाः नृणां द्रष्टा दिव्यः दिवि भवः सुपर्णः सुपतनः सहस्रपात् सहस्रकिरणः । ❀ पादस्य लोपः समासान्तः ❀ । शतयोनिः शतस्य अपरिमितस्य कार्यस्य कारणभूतः अपरिमितफलस्य मिश्रयिता वा । अथ वा शतसंख्याकानि योनयः कारणानि प्रतिपदार्थं भिन्नानि असाधारणानि यस्येति । वयोधाः अन्नस्य धारयिता दाता स तादृशः श्येनः सूर्यः नः अस्मान् नि यच्छात् नियच्छतु । चिरकालं स्थापयत्वित्यर्थः । अपि च यद् वसु धनं पराभृतम् अन्यैश्चोरादिभिः पराहृतम् अपहृतम् अस्ति अथ वा यद् वसु पुरोडाशशकलरूपं पराभृतम् पराचीनेन पाणिना आहृतं प्रक्षिप्तं तद् वसु अस्माकं पितृषु स्वधावत् स्वधाकारेण हुतम् अस्तु ॥

मनुष्योंको देखने वाले, स्वर्गमें रहने वाले, सुन्दरतासे चलने वाले, अनन्त किरणों वाले, अपरिमित कार्योंके कारणभूत वा अपरिमित फलोंके सम्मेलक अन्नके धारण करने वाले-अन्नसे पुष्ट करने वाले सूर्यदेव हमको चिरकाल तक स्थापित रक्खें और जिस धनको चोर आदि लेगए हैं अथवा जो पुरोडाशखण्डरूप से पराचीन हाथसे अग्निमें होमा गया है, वह हमारा धन पितरों में स्वधाकाररूपमें आहुत हो ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

सोमा॑रुद्रा॒ वि वृ॑हतं॒ विषू॑ची॒ममी॑वा॒ या नो॒ गय॑मावि॒वेश॑

बाधे॑थां दू॒रं निर्ऋ॑तिं परा॒चैः कृ॒तं चि॒देनः॒ प्र मु॑मुक्त-
म॒स्मत् ॥ १ ॥

सोमा॑रुद्रा । वि । वृ॒ह॒त॒म् । विषू॑चीम् । अमी॑वा । या । नः॒ ।
गय॑म् । आ॒ऽवि॒वेश॑ ।
बाधे॑थाम् । दू॒रम् । निःऽऋ॑तिम् । प॒रा॒चैः । कृ॒त॒म् । चि॒त् । एनः॑ ।
प्र । मु॒मु॒क्त॒म् । अ॒स्मत् ॥ १ ॥

हे सोमारुद्रा । ❀ सुप आकारः ❀ । हे सोमारुद्रौ विषूचीम् विष्वग्गमनां वक्ष्यमाणाम् अमीवाशब्दवाच्यं रोगं वि वृहतम् विनाशयतम् । ❀ वृहू उद्यमने । तौदादिकः ❀ । या अमीवा रोगः नः अस्माकं गयम् गृहं शरीरं वा आविवेश सर्वतो व्याप्ता । तां वि वृहतम् इति संबन्धः ॥ किं च निर्ऋतिम् निकृष्टगमनहेतुं रोगनिदानभूतां पिशाचीं पराचैः पराङ्मुखं दूरं बाधेथाम् । यथा पुनरस्मान् नागच्छति तथा पराङ्मुखं दूरं गमयित्वा नाशयतम् । ❀ पराचैरिति । निपातोयम् उच्चैर्नीचैरितिवत् ❀ । किं च । चिच्छब्दः चेदर्थे । एनः अस्माभिः कृतं चेत् । अप्यर्थे वा चिच्छब्दः । कृतमपि एनः पापम् अस्मत् अस्मत्तः । ❀ पञ्चमीबहुवचने "पञ्चम्या अत्" ❀ । प्र मुमुक्तम् प्रकर्षेण मोचयतम् । ❀ मुञ्चतेः शपः श्लुः ❀ ॥

हे सोम और रुद्र देवताओं ! विषूचीरोगको और अमीवारोगको आप नष्ट करिये, जो अमीवा रोग हमारे घरमें सब ओरसे व्याप्त हो रहा है उसको आप नष्ट करिये । आप निकृष्टगमनकी हेतु, रोगकी निदानभूत पिशाचीको दूर लेजाकर बाधित करिये, और यदि हमसे कुछ पाप बनगया हो तो उसको भी आप हमसे दूर करिये ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥ २ ॥

सोमारुद्रा । युवम् । एतानि । अस्मत् । विश्वा । तनूषु । भेषजानि । धत्तम् ।
अव । स्यतम् । मुञ्चतम् । यत् । नः । असत् । तनूषु । बद्धम् । कृतम् । एनः । अस्मत् ॥ २ ॥

हे सोमारुद्रा हे सोमारुद्रौ युवम् युवाम् अस्मत् । षष्ठ्याः "सुपां सुलुक्०" इति लुक् । व्यत्ययो वा विभक्तेः ❀ । अस्मत् अस्माकं तनूषु शरीरेषु विश्वा सर्वाणि एतानि रोगनिर्हरणक्षमत्वेन प्रसिद्धानि भेषजानि धत्तम् स्थापयतम् । किं च नः अस्माकं तनूषु बद्धम् संबद्धं यत् अस्माभिः कृतम् एनः पापम् असत् स्यात् अस्ति वा तद् अस्मत् अस्मत्सकाशाद् मुञ्चतम् मोचयतं विश्लेषयतम् । ततो मुक्त्वा तद् अव स्यतम् अवसाययतं विनाशयतम् । ❀ षो अन्तकर्मणि । लोटि रूपम् ❀ ॥

हे सोम और रुद्र देवताओं! आप दोनों हमारे शरीरोंमें रोगों को दूर करनेमें प्रसिद्ध औषधियोंको स्थापित करें, और हमारे शरीरोंमें जो हमारा किया हुआ पाप चिपट रहा हो उसको आप हमसे अलग करिये और अलग करके उनको नष्ट कर डालिये २

अष्टमी ॥

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः ।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥ १ ॥

शिवाः । ते । एकाः । अशिवाः । ते । एकाः । सर्वाः । बिभर्षि । सुऽमनस्यमानः ।
तिस्रः । वाचः । निऽहिताः । अन्तः । अस्मिन् । तासाम् । एका । वि । पपात । अनु । घोषम् ॥ १ ॥

सर्वा हि वाक् परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपचतुरवस्थापन्ना । तत्र पराद्यास्तिस्रोऽवस्था देहान्तरवस्थानाद् न परेभ्योर्थं प्रतिपादयितुं क्षमाः । वैखरी तु ताल्वोष्ठादिस्थानेषु वर्णपदवाक्यरूपेण अभिव्यज्यमाना परश्रोत्रग्रहणयोग्या भवति । एवं पराद्यवस्थापन्ना वाक् स्तुतिरूपा निन्दारूपा चेति द्विविधा भवति । तथा च अस्या ऋचः अयम् अर्थः । ते इति युष्मच्छब्देन बिभर्षीति मध्यमपुरुषेण च मिथ्याभिशस्तः पुरुषोऽभिधीयते । हे अकारणं निन्दित पुरुष ते तव विषये शिवाः स्तुतिरूपाः कल्याण्यः एकाः अन्या वाचः सन्ति । तथा ते तव विषये अशिवाः अस्तुतिरूपा निन्दार्था एकाः अन्या वाचः सन्ति । सर्वास्ता उभयीर्वाचः त्वं सुमनस्यमानः सुमना इवाचरन् । ❁आचारार्थे "कर्तुः क्यङ्०"❁ । स्तुतिवाक्यश्रवणे यथा सुमनस्कत्वं प्राप्नोषि एवं निन्दावाक्यश्रवणे सौमनस्यं प्राप्नुवन् बिभर्षि बिभृहि । ❁ लोडर्थे लट् ❁ ।

स्तुतिनिन्दाजातहर्षविषादयोरपि समानं सौमनस्यं प्राप्नुहीत्यर्थः। अथ वाचः पराद्यवस्थाचतुष्टयात्मकत्वेपि प्रथमावस्थात्रयरूपाया वाचो नार्थप्रत्यायकत्वं तुरीयावस्थापन्नायास्तु अर्थबोधकत्वम् इति उत्तरार्धेनाह। तासां पूर्वोक्तानां द्वितयीनां वाचां मध्ये तिस्रो वाचः पराद्याः अस्मिन् शब्दप्रयोक्तरि पुरुषे अन्तः देहमध्ये निहिताः अवस्थिता भवन्ति। एका वैखरीरूपा घोषम् अनु ताल्वोष्ठव्यापारजन्यं ध्वनिम् अनुलक्ष्य वि पपात विशेषेण वर्णपदादिरूपेण वर्तते। यद्वा पूर्वार्धेन निन्दावाक्यस्य स्तुतिवाक्यसमानताप्रतिपत्तिम् आपाद्य निन्दावाक्यप्रयोगेपि प्रयोक्तुरेव महती बाधा नाभियुज्यमानस्य बाधेत्याह। तासाम् अशिवानां निन्दारूपाणां वाचां मध्ये तिस्रो वाचः पराद्याः अस्मिन् मिथ्यापवदितरि जने अन्तर्निहिताः। एका वाक् वैखरी घोषम् जनसंघध्वनिम् अनुलक्ष्य वि पपात निन्दात्वेन विरुद्धा पतिता। अयम् अर्थः। निंदावाक्यस्यापि परादिचतुष्टयात्मकत्वात् तादृशवाक्यप्रयोक्तृशरीरमध्ये त्रयाणां भागानाम् अवस्थानात् तस्मिन्नेव निन्दा महती। मिथ्याभियुज्यमाने तु एक एव भागः पतित इति नास्ति निंदेति॥

(सब वाणियें परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी इन चार अवस्थाओंसे सम्पन्न होती हैं, इनमें परा आदि तीन अवस्थाएँ शरीरके भीतर होनेसे दूसरेको अपना प्रयोजन नहीं जता सकती और वैखरी तालु ओष्ठ आदि स्थानोंमें वर्ण पद वाक्यरूपसे प्रकट होती हुई दूसरेके कानोंके ग्रहण करने योग्य होती है। इस प्रकार परा आदि अवस्थाको प्राप्त होने वाली वाणी स्तुतिरूप और निन्दारूपसे दो प्रकारकी होती है। अतः इस ऋचाका यह अर्थ होगा, कि-) हे निष्कारण निन्दित पुरुष! तेरे विषयमें एक स्तुतिरूप वाणियें कही जाती हैं और दूसरी निन्दारूप वाणियें कही जाती हैं, इन दोनों प्रकारकी वाणियोंको तू सुन्दर प्रसन्न, प्रसन

से ग्रहण कर अर्थात् अपनी स्तुतिके वचनको सुनकर जिस प्रकार तेरा मन प्रसन्न रहता है इसी प्रकार निन्दाकी बातोंको सुनकर भी तेरा मन प्रसन्न रहे दुःखी न हो, (तात्पर्य यह है, कि— स्तुति और निन्दासे उत्पन्न हुए हर्ष और विषादके कारण भी तेरा मन एकसा रहे ।) पूर्वोक्त दो प्रकारकी वाणियोंकी तीन अवस्थाएँ शब्दप्रयोक्ता पुरुषके देहके भीतर होती हैं, एक वैखरी रूपा घोषके पीछे तालु ओष्ठ आदिसे उत्पन्न ध्वनिको लक्ष्य कर वर्ण पदादि विशेषरूपसे पतित होती है । तात्पर्य यह है, कि—निन्दाप्रयोग करने वालेके शरीरमें ही तीन अवस्थाएँ रहनेसे उसमें ही बड़ी निन्दा रहती है और मिथ्या अभिशस्त होनेवालेमें तो एक ही भाग पतित होता है, अत एव उसकी निन्दा नहीं होती है ॥ १ ॥

नवमी ॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्

उभा । जिग्यथुः । न । परा । जयेथे इति । न । परा । जिग्ये । कतरः । चन । एनयोः ।
इन्द्रः । च । विष्णो इति । यत् । अपस्पृधेथाम् । त्रेधा । सहस्रम् । वि । तत् । ऐरयेथाम् ॥ १ ॥

हे इन्द्राविष्णू उभा उभौ युवां जिग्यथुः सर्वदा जयथ एव । ❀ छान्दसो लिट् । “सन्लिटोर्जेः” इति कुत्वम् ❀ । न कदाचिदपि परा जयेथे । अन्यैर्न जीयेथे इत्यर्थः । ❀ “विपराभ्यां जेः” इति आत्मनेपदम् ❀ । किम् एतौ परस्परसाहाय्याज्जेतारौ अप-

राजितौ च । नेत्याह। एनयोः इन्द्राविष्णवोर्युवयोर्मध्ये कतरश्चन एकोपि । ❀ "किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्" ❀ । न परा जिग्ये नान्यैः पराजितो भवति ॥ हे विष्णो इन्द्रश्च त्वं च युवां यद् वस्तु प्रति अपस्पृधेथाम् अस्पर्धेथाम् असुरैः सह । ❀ "अपस्पृधेथाम् आनृचुः०" इति स्पर्धतेर्लङि द्विर्वचनं संप्रसारणं च निपात्यते ❀ । तद् वस्तु त्रेधा त्रिधा लोकवेदवागात्मना स्थितं सहस्रम् अपरिमितं तद् वस्तु व्यैरयेथाम् । व्यक्रमेथाम् इत्यर्थः । विक्रमणं च वैष्णवमपि ऐकात्म्याद् उभयोरित्युच्यते । अत्र ऐतरेयब्राह्मणम् । "उभा जिग्यथुरित्युभौ हि तौ जिग्यतुः" इत्यादि "इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते । तान् ह स्म जित्वोचतुः कल्पामहा इति । ते ह तथेत्यसुरा ऊचुः । सोब्रवीद् इन्द्रो यावद् एवायं विष्णुस्त्रिर्विक्रमते तावद् अस्माकम् अथ युष्माकम् इतरद् इति । स इमाँल्लोकान् विचक्रमेथो वेदान् अथोवाचम्। तदाहुः किं तत् सहस्रम् इतीमे लोका इमे वेदा अथो वाग् इति ब्रूयात्" इत्यन्तम् अनुसंधेयम् [ऐ० ब्रा० ६. १५]॥

हे इन्द्र और विष्णु देवताओं ! आप सर्वदा जीतते ही रहते हैं कभी हारते नहीं हैं, अब यह शङ्का होती है, कि—क्या यह परस्परकी सहायतासे जीतते हैं और अपराजित रहते हैं तो इसका उत्तर यह है, कि—इन इन्द्र और विष्णुमें कोई एक भी दूसरोंसे पराजित नहीं है । हे विष्णुदेव ! और हे इन्द्रदेव ! आप जिस वस्तुके लिये असुरोंसे स्पर्धा करते हैं उस लोक वेद और वाणी इन तीन प्रकारोंमें स्थित अपरिमित वस्तुको अपने वशमें करलेते हैं १

दशमी ॥

जना॒द् वि॑श्वज॒नीना॑त् सि॒न्धुत॒स्पर्याभृ॑तम् ।
दू॒रात् त्वा॑ मन्य॒ उद्भृ॑तमी॒र्ष्याया॒ नाम॑ भेष॒जम् ॥१॥

जनात् । विश्वऽजनीनात् । सिन्धुतः । परि । आऽभृतम् ।
दूरात् । त्वा । मन्ये । उत्ऽभृतम् । ईर्ष्यायाः । नाम । भेषजम् १

अत्र ईर्ष्यानिवर्तनक्षमम् औषधं संबोध्यते ॥ विश्वजनीनात् विश्वजनहितात् । ❀ "आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः" इति खः ❀ । तादृशात् जनात् । जनपदाद् इत्यर्थः । एकदेशेन व्यपदेशो भीमसेनो भीम इतिवत् । तथा सिन्धुतः समुद्रात् । ❀ परिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । आभृतम् आहृतम् । ❀ "हृग्रहोर्भः" ❀ । तथा दूरात् दूरदेशाद् उद्भृतम् उद्धृतं त्वां सक्तुमन्थलक्षणम् औषधम् ईर्ष्यायाः क्रोधस्य नाम खलु भेषजम् निवर्तनक्षमम् औषधं मन्ये जानामि । ❀ मन ज्ञाने । दिवादित्वात् श्यन् । लटि उत्तमैकवचने रूपम् ❀ ॥

[इति] चतुर्थेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ।

(इस मन्त्रमें ईर्ष्याको हटानेमें समर्थ औषधिको सम्बोधित कर कहते हैं, कि-) सम्पूर्ण मनुष्योंका हित करने वाले जनपदसे तथा समुद्रसे तथा दूर देशसे लाई हुई सक्तुमन्थरूप औषधको मैं क्रोधको हटानेमें समर्थ औषधि जानता हूँ ॥ २ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२६१) ॥

ईर्ष्याविनाशकर्मणि तप्तपरशुना क्वाथितम् उदकम् "अग्नेरिवास्य दहतः" इत्यनया अभिमन्त्र्य ईर्ष्यालुं पाययेत्। "अग्नेरिवेति परशुफाण्टम्" इति [कौ० ४. १२] सूत्रात् ॥

सर्वव्याधि भैषज्यार्थं व्याधितशरीरं मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा "सिनीवालि" इति नवर्चेन शरपिञ्जूलीभिः सह उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितम् आप्लावयेत् अवसिञ्चेद् वा । तद् उक्तं संहिताविधौ । "सोमारुद्रा [७. ४३] सिनीवालि [७. ४८] वि ते मुञ्चामि [७. ८३] शुम्भनी [७. ११७]

इति मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति” इति [कौ० ४. ८]॥

तथा सर्वसंपत्कामः अनेन नवर्चेन यथालिङ्गं सिनीवाली कुहू राका देवपत्न्य इति चतस्रो देवता यजेत उपतिष्ठेत वा । ‘अग्नाविष्ण [७. ३०] सोमारुद्रा [७.४३] सिनीवालि पृथुष्टुके [७. ४८] बृहस्पतिर्नः” [७. ५३] इति कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७.१०]॥

तथा दर्शयागे “सिनीवालि” इति तृचेन सिनीवालीदेवतां परिगृह्णीयात् । [तद् उक्तं वैताने]। “देवताः परिगृह्णाति। सिनीवालि पृथुष्टुक इति मन्त्रोक्ताम् अमावास्यायाम्” इति [वै० १.१]

दर्शयाग एव “कुहूं देवीम्” इति त्र्यृचेन कुहूं देवीं परिगृह्णीयात्॥ पूर्णमासयागे “राकाम् अहम्” इति त्र्यृचेन राकां देवीं परिगृह्णीयात् ॥ “कुहूं देवीम् [७. ४६] यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् [७. ८४] इत्यमावास्यायाम्। राका अहम् [७. ५०] पूर्णा पश्चात् [७. ८५] इति पौर्णमास्याम्” इति वैतानसूत्रात् [वै० १.१]॥

दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु “देवानां पत्नीः” इति त्र्यृचेन देवपत्नीयागम् अनुमन्त्रयेत । “सं वर्चसा [६. ५३. ३] देवानां पत्नीः [७. ५१] सगार्हपत्यः [१२. २. ४५] इति पत्नीसंयाजान्” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० १. ४]॥

ईर्ष्याविनाशकर्ममें तपे हुए फरसेसे बुझाये हुए जलको ‘अग्नेरिवास्य दहतः’ ऋचासे अभिमन्त्रित करके ईर्ष्यालुको पिला देवे इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–“अग्नेरिवेति परशुफाण्टम्” (कौशिकसूत्र ४ । १२) ।

सर्वव्याधिकी चिकित्साके लिये रोगीके शरीरको मूँजके पाशोंसे जोड़ों पर बाँध कर ‘सिनीवालि’ आदि नौ ऋचाओंसे सैंटों के मुट्ठोंके साथ जलपूर्ण घटको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके रोगीको आप्लावित वा अवसिञ्चित करे । इसी बातको संहिता-

विधिमें कहा है, कि-"सोमारुद्रा (७।४३) सिनीवालि (७।४८) वि ते मुञ्चामि (७ । ८३) शुंभनी (७ । ११७) इति मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा सर्वसम्पत्काम इस नौ ऋचा वाले सूक्तसे लिंगानुसार सिनीवाली कुहू राका और देवपत्नी आदि चार देवताओंका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण है, कि-"अग्नाविष्णू (७ । ३०) सोमारुद्रा (७।४३) सिनीवालि पृथुष्टुके (७ । ४८) बृहस्पतिर्नः (७ । ५३) ॥

तथा दर्शयागमें 'सिनीवालि' तृचसे सिनीवाली देवताका परिग्रहण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"देवता परिगृह्णाति । सिनीवालि पृथुष्टुके इति मन्त्रोक्तां अमावास्यायाम्" (वैतानसूत्र १ । १) ॥

दर्शयागमें ही "कुहूं देवीम्" इस त्र्यृचसे कुहू देवीका परिग्रहण करे ॥-पूर्णमासयागमें "राका अहम्" इस त्र्यृचसे राका देवीका परिग्रहण करे ॥ इस विषयमें वैतानसूत्र १ । १ में कहा है, कि-"कुहूं देवीम् (७ । ४६) यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् (७ । ८४) इत्यमावास्यायाम् । राका अहम् (७ । ५०) पूर्णा पश्चात् (७ । ८५) इति पौर्णमास्याम्" ॥

दर्श पूर्णमासके पत्नीसंयाजोंमें 'देवानां पत्नीः' इस त्र्यृचसे देवपत्नीयागका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि-'सं वर्चसा (६ । ५३ । ३ देवानां पत्नीः (७।५१) सु गार्हपत्यः (१२ । २ । ४५) इति पत्नीसंयाजान् (वैतानसूत्र १ । ४) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अ॒ग्नेरि॑वास्य॒ दह॑तो दा॒वस्य॒ दह॑तः॒ पृथ॑क् ।

एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ १ ॥

अग्नेःऽइव । अस्य । दहतः । दावस्य । दहतः । पृथक् ।

एताम् । एतस्य । ईर्ष्याम् । उद्ना । अग्निम्ऽइव । शमय ॥ १ ॥

अग्नेरिव दहतः क्रोधेन मदीयकार्याणि विनाशयतः अस्य पुरः परिदृश्यमानस्य ईर्ष्यालोः तथा पृथक् प्रत्येकं प्रतिपदार्थं दहतः भस्मीकुर्वतो दावस्य । अत्र उपमावाचक इवशब्दोऽध्याहार्यः । दावस्य अग्नेरिव पृथक् दहतः एतस्य पुरोवर्तिनः क्रुध्यतः पुरुषस्य । पुरोवर्तिनम् ईर्ष्यालुम् इदमेतच्छब्दाभ्याम् अंगुल्या निर्दिशति । तादृशस्य पुरुषस्य एतां मद्विषये प्रयुज्यमानाम् ईर्ष्याम् उद्ना उदकेन । ❀ "पद्दन्नोमास्०" इत्यादिना उदकस्य उदन्भावः ❀ । तप्तपरशुक्वथितेनोदकेन शमय शान्तां कुर्विति ईर्ष्यानिवारको देवः संबोध्यते । तत्र दृष्टान्तः । अग्निमिवेति । यथा अग्निं ज्वलन्तम् उद्ना उदकेन शमयन्ति तद्वत् ॥

हे ईर्ष्यानिवारक देव ! अग्निकी समान मेरे कार्योंको भस्म करते हुए तथा दावाग्निकी समान मेरे प्रत्येक कार्योंको भस्म करते हुए इस ईर्ष्यालु पुरुषकी ईर्ष्याको इस प्रकार शांत करिये, जिस प्रकार जलसे अग्निको शान्त करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १ ॥

सिनीवालि । पृथुऽस्तुके । या । देवानाम् । असि । स्वसा ।

जुषस्व । हव्यम् । आऽहुतम् । प्रऽजाम् । देवि । दिदिड्ढि । नः १

दृष्टचन्द्रा अमावास्या सिनीवाली स्त्रीत्वेन रूप्यते । हे सिनीवालि । अत्र यास्कः । सिनम् अन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती वालिनी वा वालेनैवास्याम् अणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वेति [नि० ११. ३१] । पर्वण्यन्नवतीति अल्पकलचन्द्रोपेतेति वेति तस्यार्थः । तादृशि हे सिनीवालि पृथुष्टुके पृथुजघने पृथुकेशस्तुके वा । ❀ स्त्यायतेः स्तुकशब्दः ❀ । बहुभिः संस्तुते वा । ❀ स्तौतेर्निष्ठातकारस्य वर्णोपजनश्छान्दसः ❀ । या त्वं देवानां स्वसा स्वयं सारिणी वृष्ट्यादिना असि भवसि भगिनी वा समानकार्यत्वात् सा त्वम् आहुतम् अभिमुखं प्रक्षिप्तं हव्यम् हविः जुषस्व सेवस्व । किं च हे देवि सिनीवालि नः अस्माकं प्रजाम् पुत्रादिकां दिदिड्ढि उपचिनु । देहीत्यर्थः । ❀ दिहेर्दिशतेर्वा लोटि शपः श्लुः ❀ ॥

हे अल्पचन्द्रकला संयुक्त अमावास्याकी अधिष्ठात्री देवते सिनीवालि ! हे अनेकोंसे स्तुत सिनीवालि ! आप देवताओंकी स्वसा हैं अर्थात् वृष्टि आदिसे स्वयं सारिणी होती हैं और समान कार्य वाली होनेसे आप देवताओंकी भगिनी हैं ऐसी आप इस अभिमुख आहुत हविका सेवन करें और हे सिनीवालि देवते ! आप हमको पुत्र आदि प्रजा दीजिये ॥ १ ॥

तृतीया ॥

या सुबाहु स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी ।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥२॥

या । सुऽबाहुः । सुऽअंगुरिः । सुऽसूमा । बहुऽसूवरी ।
तस्यै । विश्पत्न्यै । हविः । सिनीवाल्यै । जुहोतन ॥ २ ॥

या सिनीवाली सुबाहुः सुपाणिः स्वंगुरिः शोभनांगुलिः सुषूमा

सुयोनिः । ❀ सूतेः सूमशब्दः ❀ । सुष्ठु प्रसवित्री वा । बहुसूवरी बह्वीनां प्रजानां सवित्री । ❀ सूतेः क्वनिप् । "वनो र च" इति ङीब्रेफौ ❀ । तस्यै सिनीवाल्यै विश्पत्न्यै विशां प्रजानां पालयित्र्यै । ❀ "विभाषा सपूर्वस्य" इति पत्युर्नकारः । अयस्मयादित्वेन भत्वाद् विशो जश्त्वाभावः ❀ । हविः जुहोतन जुहुत हे ऋत्विग्यजमानाः । ❀ "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनबादेशः । पित्त्वेन ङित्त्वाभावाद् गुणः ❀ ॥

हे ऋत्विज और यजमानों ! सिनीवाली देवता सुन्दर पाणि वाली, शोभन अंगुलि वाली, सुषुमा है उस प्रजाकी, पालिका सिनीवालीके लिये हविकी आहुति दो ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

या वि॒श्पत्नी॒न्द्रमसि॑ प्र॒तीची॑ स॒हस्र॑स्तुकाभि॒यन्ती॑ दे॒वी
विष्णो॑ः पत्नि॒ तुभ्यं॑ रा॒ता ह॒वींषि॒ पतिं॑ देवि॒ राध॑से
चोदयस्व ॥ ३ ॥

या । वि॒श्पत्नी॑ । इन्द्र॑म् । असि॑ । प्र॒तीची॑ । स॒हस्र॑ऽस्तुका ।
अ॒भि॒ऽयन्ती॑ । दे॒वी ।

विष्णोः॑ । प॒त्नि॒ । तुभ्य॑म् । रा॒ता । ह॒वींषि॑ । पति॑म् । दे॒वि॒ । राध॑से ।
चो॒द॒य॒स्व॒ ॥ ३ ॥

या सिनीवाली विश्पत्नी विशां पालयित्री इन्द्रम् परमैश्वर्यसंपन्नं देवं प्रतीची प्रत्यगञ्चना असि भवसि । अमावास्यायाम् इन्द्रस्य इज्यमानत्वाद् इन्द्रं प्रतीचीत्युक्तम् । कीदृशी । सहस्रस्तुका । सहस्रशब्दो बहुवाची । बहुकेशस्तुका पृथुजघना वा सहस्रसंख्याकैः

स्तोतृभिः संस्तुता वा । अभियन्ती अभिमुखं गच्छन्ती यष्टव्यान् देवान् । यद्वा फलप्रदानाय अस्मान् अभिगच्छन्ती देवी द्योतनशीला । किं च हे विष्णोः पत्नि विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य इन्द्रस्य वा पत्नि तुभ्यं हवींषि राता रातानि दत्तानि । अतः हे देवि सिनीवालि तुष्टा त्वं पतिम् त्वदीयम् इन्द्रं राधसे । राध इति धननाम । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀ । अस्मभ्यं धनं दातुं चोदयस्व प्रेरयस्व ॥

जो सिनीवाली प्रजाओंकी पालिका है, परमैश्वर्यसंपन्न इन्द्रदेवके सामने जाती है और उनकी पूजा करती है, सहस्रों पुरुष उसकी स्तुति करते हैं, हे व्यापनशील देवताकी पत्नि ! तुझको हवि देदी है, अतः तू सन्तुष्ट होकर अपने पति इन्द्रको धन देनेके लिये प्रेरणा कर ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

कु॒हूं दे॒वीं सु॒कृतं॑ वि॒द्मनाप॑सम॒स्मिन् य॒ज्ञे सु॒हवा॑ जोहवीमि ।
सा नो॑ र॒यिं वि॒श्ववा॑र॒ं नि यं॑च्छा॒द् ददा॑तु वी॒रं श॒तदा॑यमु॒क्थ्य॑म् ॥ १ ॥

कु॒हूम् । दे॒वीम् । सु॒ऽकृत॑म् । वि॒द्म॒नाऽअ॑पसम् । अ॒स्मिन् । य॒ज्ञे । सु॒ऽहवा॑ । जो॒ह॒वी॒मि॒ ।

सा । न॒ः । र॒यिम् । वि॒श्वऽवा॑रम् । नि । य॒च्छा॒त् । ददा॑तु । वी॒रम् । श॒तऽदा॑यम् । उ॒क्थ्य॑म् ॥ १ ॥

नष्टचन्द्रा अमावास्या कुहूः । तां देवीम् । ❀ कुहूशब्दं बहुधा

यास्को निरुवाच । कुहूर्गूहतेः क्वाभूद् इति वा क्व सती हूयत इति वा क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वेति [नि० ११. ३२] ❀ । तादृशीं कुहूम् अस्मिन् यज्ञे दर्शयागे सर्वाभिलषितसाधने कर्मणि च जोहवीमि भृशम् आह्वयामि। ह्वयतेरिदं रूपं जुहोतेर्वा। हविषा यजामि। तां विशिनष्टि। सुकृतम् सुकर्माणं विद्मनापसम्। अप इति कर्मनाम। विदितकर्माणम्। ❀ विदेः औणादिको मक् प्रत्ययः। [विद्मो वदनम्।] तद्वत् विद्मनम्। पामादिलक्षणो नप्रत्ययः। तादृशम् अपः कर्म यस्या इति विग्रहः ❀। सुहवाम् शोभनाह्वानाम्। सा कुहूः विश्ववारम् सर्वैर्वरणीयं रयिम् धनं नः अस्मभ्यं नि यच्छात् नियमयतु स्थापयतु। प्रयच्छत्वित्यर्थः। तथा शतदायम् बहुधनं बहुप्रदं वा उक्थ्यम् प्रशस्यं स्तोत्रार्हं वा वीरम् विक्रान्तं पुत्रं ददातु प्रयच्छतु ॥

नष्टचन्द्रा अमावास्या कुहूदेवी सुन्दर कर्म वाली है, विदित कर्म वाली है और शोभन आह्वान वाली है उस कुहू देवीका मैं इस दर्शयागमें और सब अभिलाषाओंके साधन कर्ममें भी बड़े आग्रहके साथ आह्वान करता हूँ, वह कुहू देवी मुझको सबके वरण करने योग्य धनको देवें और बहुतसा प्रदान करने वाले और प्रशंसा पाने वाले विक्रमी पुत्रको देवे ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु

कुहूः । देवानाम् । अमृतस्य । पत्नी । हव्या । नः । अस्य । हविषः । जुषेत ।

शृणोतु । यज्ञम् । उशती । नः । अद्य । रायः । पोषम् । चिकितुषी ।
दधातु ॥ २ ॥

देवानाम् । ❀ निर्धारणे षष्ठी ❀ । देवानां मध्ये कुहूर्देवी अमृतस्य अमृतत्वस्य अविनाशस्य उदकस्य वा पत्नी पालयित्री । यद्वा देवानां मध्ये यः अमृतः अविनश्वरो देवस्तस्य पत्नी नारी । अथवा देवानाम् इति सर्वविकारोपलक्षणम् । सर्वेषां भूतानाम् अमृतस्य च पत्नी पालयित्री हव्या आह्वानार्हा नः अस्मदीयस्य अस्य दीयमानस्य हविषः । ❀ कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । अस्मदीयम् इदं हविः जुषेत सेवेत । किं च नः अस्मदीयं यज्ञम् उशती कामयमाना । ❀ वश कान्तौ । शतरि "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ । अद्य इदानीं शृणोतु । अस्मदीयम् आह्वानम् इति शेषः । ततः चिकितुषी अस्मदीयं यज्ञं ज्ञातवती रायः धनस्य पोषम् पुष्टिं दधातु अस्माकं विदधातु । ❀ चिकितुषीति । कित ज्ञाने । क्वसौ ङीपि संप्रसारणे रूपम् ❀ ॥

देवताओंमें कुहूदेवी अमृतस्वरूप जलका पालन करने वाली हैं, अथवा–देवताओंमें जो अविनाशी देवता हैं उनकी नारी हैं, वा सकल भूतोंका और अमृतका भी पालन करने वाली हैं और आह्वानके योग्य हैं, ऐसी कुहूदेवी इस हमारी हविका सेवन करें और हमारे यज्ञकी कामना करती हुई आज हमारे आह्वानको सुनें और हमारे यज्ञको जानती हुई हममें धनकी पुष्टि करें ॥२॥

सप्तमी ॥

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु
त्मना ।

सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

राकाम् । अहम् । सुऽहवा । सुऽस्तुती । हुवे । शृणोतु । नः ।
सुऽभगा । बोधतु । त्मना ।
सीव्यतु । अपः । सूच्या । अच्छिद्यमानया । ददातु । वीरम् ।
शतऽदायम् । उक्थ्यम् ॥ १ ॥

संपूर्णचन्द्रा पौर्णमासी राका । तां देवीं सुहवाम् शोभनाह्वानाम् आह्वानप्रयोजनकारिणीं सुष्टुती शोभनया स्तुत्या अहं हुवे आह्वयामि । सा च सुभगा सुज्ञानादिका नः अस्माकं शृणोतु आह्वानम् । श्रुत्वा च त्मना आत्मना । ❀ "मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः" इति आकारलोपः ❀ । स्वयमेव बोधतु बुध्यताम् अस्मदभिप्रायम् । बुद्ध्वा च अपः कर्म प्रजननलक्षणं सीव्यतु । अपः प्रजननकर्मेति हि यास्कः [नि० ११. ३१] । तत् अच्छिद्यमानया सूच्या सूचिस्थानीयया सीवन्या नाड्या सीव्यतु संतनोतु बध्नातु । ❀ षिवु तन्तुसंताने । दैवादिकः । "हलि च" इति दीर्घः ❀ । यथा वस्त्रादिकं सूच्या स्यूतं चिरं कार्यक्षमं भवति एवम् इदं करोतु । "राका ह वा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यती यैषा शिश्नेऽधि । पुमांसोस्य पुत्रा जायन्ते" इति ऐतरेयश्रुतेः [ऐ० ब्रा० ३. ३७] । तथा च कृत्वा वीरम् विक्रान्तं पुत्रं शतदायम् बहुधनं बहुप्रदं वा उक्थ्यम् कर्मभिः स्तोत्रार्हं ददातु प्रयच्छतु ॥

सम्पूर्ण चन्द्रमा वाली पौर्णमासी राका कहलाती है। उन शोभन आह्वान वाली राका देवीका मैं सुन्दर स्तुतिके द्वारा आह्वान करता हूँ, वह सुन्दर ज्ञानवाली हमारे आह्वानको सुनें

और सुन कर हमारे अभिप्रायको अपने आप जानलें और जान कर न टूटने वाली सूचिस्थानीया सीवनी नाड़ीसे प्रजननकर्मको सन्तन करें जैसे वस्त्र आदि सुईसे सीने पर चिरकालके लिये कार्यक्षम होता है इसी प्रकार ये इस कर्मको करें ‡ और इस प्रकार करके विक्रमी बहुत प्रदान करने वाले और स्तुतिके पात्र पुत्रको मुझको देवें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

यास्ते॑ राके सुम॒तय॑ः सु॒पेश॑सो॒ याभि॒र्ददा॑सि दा॒शुषे॒
वसू॑नि ।
ताभि॑र्नो अ॒द्य सु॒मना॑ उ॒पाग॑हि सहस्रापो॒षं॑ सु॑भगे॒
ररा॑णा ॥ २ ॥

याः । ते॒ । रा॒के॒ । सु॒ऽम॒तय॑ः । सु॒ऽपेश॑सः । याभि॑ः । ददा॑सि ।
दा॒शुषे॑ । वसू॑नि ।
ताभि॑ः । नः॒ । अ॒द्य । सु॒ऽमना॑ः । उ॒प॒ऽआग॑हि । स॒ह॒स्र॒ऽपो॒षम् ।
सु॒ऽभ॒गे॒ । ररा॑णा ॥ २ ॥

हे राके देवि यास्ते तव सुमतयः कल्याणबुद्धयः अनुग्रहात्मिकाः सुपेशसः सुरूपाः शोभनविषया वा यास्ते सुष्टुतयः सुरूपा इति वा याभिः सुमतिभिः दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय वसूनि धनानि

---

‡ ऐतरेय ब्राह्मण ३ । ३७ में कहा है, कि—"राका हि वा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यति यैषा शिश्नेऽधि । पुमांसोऽस्य पुत्रा जायन्ते ।—राका अर्थात् पूर्णचन्द्रा रात्रि पुरुषकी शिश्नमेंकी सीवनी को सीती है, ऐसा करने पर इसके पुरुष पुत्र उत्पन्न होते हैं" ॥

ददासि प्रयच्छसि ताभिः सुगतिभिरुपलक्षिता तथाभूतसंकल्पा नः अस्मान् अद्य इदानीं सुमना भूत्वा उपागहि उपागच्छ। ❀ गमेः शपो लुकि मलोपः। तस्यासिद्धत्वेन हेलुगभावः ❀। किं कुर्वती। हे सुभगे शोभनसौभाग्ये कल्याणधनप्रापिणि वा राके सहस्रपोषम् बहूनां धनानां पोषं पुष्टिं रराणा प्रयच्छन्ती उपागच्छेति। ❀ रातेर्व्यत्ययेन आत्मने पदम्। शपः श्लुः ❀ ॥

हे राके देवि! आपमें जो अनुग्रहरूपा कल्याणमयी सुरूपा बुद्धियें है कि–जिनसे आप हवि देने वाले यजमानके लिये धन-प्रदान करती हैं, आज आप उन बुद्धियोंसे संयुक्त हो प्रसन्न मन रख कर हमारे पास आइये, हे सुभगे! आप बहुतसे धनोंकी पुष्टि देती हुई हमारे पास आइये ॥ २ ॥

नवमी ॥

दे॒वा॒नां॑ पत्नी॑रुश॒तीर॑वन्तु नः॒ प्राव॑न्तु नस्तु॒जये॒ वाज॑सातये ।
याः पार्थि॑वासो॒ या अ॒पामपि॑ व्र॒ते ता नो॑ दे॒वीः सु॒ह॒वाः शर्म॑ यच्छन्तु ॥ १ ॥

दे॒वाना॑म् । पत्नीः॑ । उ॒श॒तीः । अ॒व॒न्तु॒ । नः॒ । प्र । अ॒व॒न्तु॒ । नः॒ । तु॒जये॑ । वाज॑ऽसातये ।
याः । पार्थि॑वासः । याः । अ॒पाम् । अपि॑ । व्र॒ते । ताः । नः॒ । दे॒वीः॒ । सु॒ऽहवाः॑ । शर्म॑ । य॒च्छ॒न्तु॒ ॥ १ ॥

देवानां पत्नीः पत्न्यः उशतीः उशत्यः कामयमानाः नः अस्मान् अवन्तु रक्षन्तु। तथा नः अस्माकं तुजये तोकाय अपत्याय वाज-

सातये अन्नलाभाय च प्रावन्तु प्रकर्षेण आगच्छन्तु रक्षन्तु वा । ❀ अव रक्षणादिषु ❀ ॥ किं च या देवपत्न्यः पार्थिवासः पार्थिव्यः । पृथिवीस्थाना इत्यर्थः । याश्च । अपिशब्दः चार्थे । अपां व्रते कर्मणि कारके अन्तरिक्षे स्थितास्ता देवीः देव्यः सुहवाः शोभनाह्वाना नः अस्मभ्यं शर्म सुखं गृहं वा यच्छतु । ❀ वचनव्यत्ययः ❀ । यच्छन्तु प्रयच्छन्तु इत्यर्थः ॥

देवताओंकी पत्नियें हमारी रक्षा करनेकी कामना रखती हुई हमारे पास आवें और हमको अन्नप्राप्ति करानेके लिये और हमको उनका लाभ करानेके लिये आवें । जो देवियें पृथिवी पर रहती हैं और जो जलका कर्म करने वाले अन्तरिक्षमें स्थित हैं वे शोभन आह्वान वाली देवियें हमको सुख देवें ॥ १ ॥

दशमी ॥

उ॒त ग्ना व्य॑न्तु दे॒वप॑त्नीरिन्द्रा॒ण्य॑१॒ग्नाय्य॒श्विनी॒ राट् ।
आ रोद॑सी वरु॒णानी शृ॑णोतु व्यन्तु॑ दे॒वीर्य ऋ॒तुर्जनी॑नाम् ॥ २ ॥

उ॒त । ग्नाः । व्य॒न्तु॒ । दे॒वऽप॑त्नीः । इ॒न्द्रा॒णी । अ॒ग्नायी॑ । अ॒श्विनी॑ । राट् ।

आ । रोद॑सी । व॒रु॒णा॒नी । शृ॒णो॒तु॒ । व्यन्तु॑ । दे॒वीः । यः । ऋ॒तुः । जनी॑नाम् ॥ २ ॥

उत अपि च देवपत्नीः देवाः पतयो यासां ताः देवानां पत्न्य इति वा । ग्नाः देव्यः व्यन्तु कामयन्ताम् अश्नन्तु वा । हवींषीति शेषः । ता देवपत्नीर्दर्शयति । इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी । ❀ "इन्द्रवरुण०" इति ङीषानुकौ ❀ । अग्नायी अग्नेः पत्नी । ❀ "वृष-

कप्यग्निकुसितकुसीदानाम् उदात्तः” इति ऐकारादेशो ङीप् च ❀। अश्विनी अश्विनोर्जाया राट् राजन्ती । ❀ राजतेः क्विप् ❀। रोदसी रुद्रस्य जाया वरुणानी वरुणस्य पत्नी आ शृणोतु अभिमुखं सर्वतो वा शृणोतु । अस्मदीयं हव्यं व्यन्तु अश्नन्तु कामयन्ता वा हवींषि देवीर्देव्यः । कस्मिन् काले हविःकामनं तम् आह । यः जनीनां जायानाम् ऋतुः कालस्तस्मिन् । पत्नीसंयाजकाल इत्यर्थः । ❀ अत्र “अपि च ग्ना व्यन्तु देवपत्न्यः इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी । अग्नाय्यग्नेः पत्नी । अश्विन्यश्विनोः पत्नी राट् राजते । रोदसी रुद्रस्य पत्नी । वरुणानी [च] वरुणस्य पत्नी । व्यन्तु देव्यः कामयन्ताम् । य ऋतुः कालो जायानाम्” इति निरुक्तम् अनुसंधेयम् [नि० १२. ४६] ❀ ॥

[इति] चतुर्थेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

देवता जिनके पति हैं ऐसी देवपत्नियें हवियोंकी कामना करें वा रक्षा करें, इन्द्रदेवकी पत्नी इन्द्राणी, अग्निदेवकी पत्नी अग्नायी रुद्रकी जाया रोदसी, वरुणदेवकी स्त्री वरुणानी, अश्विनीकुमारोंकी दमकती हुई पत्नी भली प्रकार सुनें और हमारी हविको पत्नियोंके ऋतुकालमें अर्थात् पत्नीसेयाजमें भक्षण करें † ॥२॥

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३६६) ।

द्यूतजयकर्मणि स्थलशुद्धिम् अक्षाधिवासनं च कृत्वा “यथा वृक्षम् अशनिः” इति नवर्चेन अक्षान् अभिमन्त्र्य द्यूतं कुर्यात् । सूत्रितं हि । “पूर्वास्वषाढासु गर्तं खनति । उत्तरासु संभिनत्ति । आदेवनं संस्तीर्य । उद्भिन्दतीं संजयन्तीम् [४. ३८] यथा वृक्षम् अशनिः [७. ५२] इदम् उग्राय [७. ११४] इति वासितान् अक्षान् निवपति” इति [कौ० ५. ५] ॥

सर्वफलकामः “बृहस्पतिर्नः” इति ऋचा बृहस्पतिं यजेन उप-

---

† यही बात निरुक्त १२।४६ में कही है ।

तिष्ठेत वा । "बृहस्पतिर्नः [७. ५३] यत् ते देवाः" [७. ८४] इति हि सूत्रम् [कौ० ७. १०] ॥

तथा उक्थ्यक्रतौ ब्राह्मणाच्छंसिनो याज्याहोमम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । उक्तं वैताने । "एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ [७. ५८] बृहस्पतिर्नः [७. ५३] उभा जिग्यथुः" [७. ४५] इति [वै० ४. १] ॥

तथा ग्रहयज्ञे अनया हविराज्यहोमसमिदाधानोपस्थानानि बृहस्पतये कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । "भद्रादधि श्रेयः प्रेहि [७. ९] बृहस्पतिर्नः [७. ५३] इति बृहस्पतये" इति [शा० क० १५] ॥

तथा "बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य" [न० क० १७] इति विहितायां बार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ बृहस्पतिर्नः इत्येनाम् आवपेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । "बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चात् [७. ५३] अमुत्र भूयात् [७. ५५] इति बार्हस्पत्यायाम्" इति [न० क० १८] ॥

द्यूतजयकर्ममें स्थलशुद्धिको और अक्षाधिवासनको करके "यथा वृक्षम् अशनिः" इस नौ ऋचा वाले टुकड़ेसे फाँसोंको अभिमन्त्रित करके जुआ खेले । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"पूर्वास्वषाढासु गर्तं खनति। उत्तरासु संभिनत्ति । आदेवनं संस्तीर्य । उद्भिन्दन्तीं सञ्जयन्तीं (४ । ३८) यथा वृक्षं अशनिः (७ । ५२) इदं उग्राय (७ । ११४) इति वासितान् अक्षान् निवपति ।—पूर्वाषाढ़ामें गड्ढेको खोदे, उत्तराषाढ़में भली प्रकार विदारण करे, फिर आदेवनको ठीककरे फिर चौथे कांड के अड़तीसवें और सातवें काण्डके बावनवें और एकसौ चौदहवें सूक्तसे वासित अक्षोंसे खेले" (कौशिकसूत्र ५ । ५) ॥

सर्वफलकी कामना वाला "बृहस्पतिर्नः" ऋचासे बृहस्पतिका

यजन वा उपस्थान करे, इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि–‘बृहस्पतिर्नः (७।५३) यत् ते देवाः (७।८४)”

तथा ब्रह्मा, उकथ्य ऋतुमें ब्राह्मणाच्छंसीके याज्यहोमका इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्र ४ । १ में कहा है, कि–“एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणासुतपौ (७ । ५८) बृहस्पतिर्नः (७ । ५३) उभा जिग्यथुः (७ । ४५) ॥

तथा ग्रहयज्ञमें बृहस्पतिके लिये इस ऋचासे हवि, घृत, होम की समिधाओंका रखना आदि, करे इसी बातको शांतिकल्पमें कहा है, कि-“भद्रादधि श्रेयः प्रेहि (७ । ९) बृहस्पतिर्नः (७।५३) इति बृहस्पतये” (शान्तिकल्प १५) ॥

तथा “बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य-राज्यश्री और ब्रह्म तेजकी कामना वालेके लिये बार्हस्पत्या शांतिको करे” इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित बार्हस्पत्या महाशांतिमें “बृहस्पतिर्नः” इस ऋचाको पढ़े । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–“बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चात् (७ । ५३) अमुत्र भूयात् (७ । ५५) इति बार्हस्पत्यायाम्” (नक्षत्रकल्प १८) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यथा॑ वृ॒क्षम॒शनि॑र्वि॒श्वाहा॒ हन्त्य॑प्र॒ति ।
ए॒वाहम॒द्य कि॑त॒वान॒क्षैर्ब॑ध्यासमप्र॒ति ॥ १ ॥

यथा॑ । वृ॒क्षम् । अ॒शनिः॑ । वि॒श्वाहा॑ । हन्ति॑ । अ॒प्र॒ति ।
ए॒व । अ॒हम् । अ॒द्य । कि॒त॒वान् । अ॒क्षैः । ब॒ध्या॒स॒म् । अ॒प्र॒ति ॥१॥

अशनिः वैद्युतोग्निः अप्रति । ❀ प्रतिनिध्यर्थे प्रतिः कर्मप्रवचनीयः ❀ । न विद्यते प्रति प्रतिनिधिः समानो यस्य अप्रतिघः सन् विश्वाहा विश्वेषु सर्वेष्वहःसु यथा वृक्षम् तरुं हन्ति

बाधते । यद्वा विश्वस्य हन्ता । ❀ हन्तेः क्विप् ❀ । अशनिः अप्रति अप्रतिपक्षं यथा वृक्षं विनाशयति एव एवम् अहम् अप्रति अप्रतिनिधिः सन् । प्रतिकितवपराजये मम सदृशः अन्यो नास्तीत्यर्थः । यद्वा अप्रति अप्रतिपक्षं वध्यासम् इति संबन्धः । अद्य इदानीं कितवान् । ❀ कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिरिति यास्कः [नि० ५. २२] । अक्षैर्दीव्यन् पुरुषः परैरपह्रियमाणधनः किं तवास्ति न किंचिद्द इति सर्वैर्भाष्यत इत्यर्थः ❀ । तादृशान् कितवान् अक्षैः देवनसाधनैः अप्राति अप्रतिपक्षं वध्यासं हनिष्यामि । यथा प्रतिकितवा द्यूतक्रियायां मम प्रतिस्पर्धिनो न भवन्ति तथा अक्षैः पराजितान् करिष्यामीत्यर्थः । ❀ "हनो वध लिङि" इति हन्तेर्वधादेशः ❀ ॥

वैद्युत अग्नि अपनी सानी न रखता हुआ जिस प्रकार प्रतिदिन वृक्षोंको मारता रहता है, इसी प्रकार मैं आज कितवों ‡ (जुआरियों) को अपना प्रतिद्वन्द्वी न रखता हुआ अप्रतिम बन कर फाँसोंके द्वारा मारता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् ।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥

तुराणाम् । अतुराणाम् । विशाम् । अवर्जुषीणाम् ।

---

‡ निरुक्त ५। २२ में कितव (जुआरी) शब्दकी व्याख्या इस प्रकारकी है, कि—"कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः—तेरा क्या है किं तव अस्ति—इस शब्दकी अनुकृति कर कितव शब्द कहा जाता है तात्पर्य यह है, कि—फाँसोंसे खेलने वाले पुरुषका धन जब छिन जाता है तब उससे सब कहने लगते हैं, कि—तेरा क्या है ? ।

सम्ऽऐतु । विश्वतः । भगः । अन्तःऽहस्तम् । कृतम् । मम ॥२॥

तुराणाम् । ❀ तुर त्वरणे । इगुपधलक्षणः कः ❀ । द्यूतकर्मणि त्वरमाणानाम् अतुराणाम् अत्वरमाणानाम् । अहमेव प्रथमः अक्षप्रक्षेपेण प्रतिवादिनं जेष्यामि अहमेवेति अहमहमिकया त्वरमाणास्तुराः । विमृश्यकारिण्यः अतुराः । तासाम् अवर्जुषीणाम् अवर्जनशीलानां प्रतिकितवैः पराजयेपि पुनरहमेव जेष्यामीति द्यूतक्रियाम् अपरित्यजन्तीनां पुनःपुनर्जयलाभाद् अवर्जयन्तीनां वा । सर्वदा द्यूतव्यसनवतीनाम् इत्यर्थः । विशाम् प्रजानां भगः भाग्यम् जयलक्षणं विश्वतः समैतु सर्वतः सम्यग् अभिमुखम् आगच्छतु । द्यूतजयकामिनं माम् इति शेषः ॥ न केवलं तत एव जयप्रार्थना अपि तु मम अन्तर्हस्तम् हस्तमध्ये कृतम् । कृतशब्दवाच्यश्चतुःसंख्यायुक्तः अक्षविषयः अयः । स हस्तमध्ये स्थितो वर्तते । एकादयः पञ्चसंख्यान्ता अक्षविषया अयाः । तत्र चतुर्णां कृतम् इति संज्ञा । तथा च तैत्तिरीयकम् । "ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः" इति [तै० ब्रा० १. ५. ११. १] ॥ तत्र कृतस्य लाभाद् द्यूनजयो भवति । अत एव दाशतय्यां लब्धकृतात् कितवाद् भीतिराम्नायते । "चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयाद् आ निधातोः" इति [ऋ० १. ४१. ९] तत्र निरुक्तम् । चतुरोक्षान् धारयत इति तद् यथा कितवाद् बिभीयाद् इति [नि० ३. १६] ॥

द्यूतकर्ममें त्वरा करने वाले और शीघ्रता न करने वालोंमें मैं ही (मुख्य हूँ) द्यूतका त्याग न करने वालीं प्रजाओंका भाग मुझ कृत † नामक फाँसेको हाथमें धारण करने वालेके पास चारों ओरसे टूट पड़े ॥ २ ॥

---

† कृत शब्द चार फाँसोंका नाम है । एकसे लेकर पाँच तकके फाँसे अय कहलाते हैं उनमें चारकी कृत संज्ञा है । इसी बातको

तृतीया ॥

ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत् कृतं नः ।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृ
ध्याम् ॥ ३ ॥

ईडे । अग्निम् । स्वऽवसुम् । नमःऽभिः । इह । प्रऽसक्तः । वि ।
चयत् । कृतम् । नः ।
रथैःऽइव । प्र । भरे । वाजयत्ऽभिः । प्रऽदक्षिणम् । मरुताम् ।
स्तोमम् । ऋध्याम् ॥ ३ ॥

स्ववसुम् स्वकीयधनं स्वकीयेभ्यः स्तोतृभ्यो दीयमानं धनं यस्य तम् अग्निं नमोभिः स्तोत्रैः ईले स्तौमि । इह द्यूतकर्मणि प्रसक्तः प्रकर्षेण आसक्तोग्निः देवनकर्माधिपतिः नः अस्माकं दीव्यतां कृतम् कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयं वि चयत् विचिनोतु करोत्वित्यर्थः । ❀ चिनोतेर्लेटि अडागमः ❀ । वाजयद्भिः वाजम् अन्नं कुर्वद्भिः ।

तैत्तिरीयब्राह्मणमें कहा है, कि-"ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः । जो चार स्तोम हैं वह कृत हैं, जो पाँच फाँसे हैं वे कलि कहलाते हैं" (तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ५ । ११ । १) इनमें कृतका लाभ होनेसे द्यूतमें विजय होती है । अत एव जिसको कृतकी प्राप्ति होजाती है उस कितवसे भीति होनेका वर्णन ऋग्वेदसंहितामें कहा है, कि-"चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयाद् आ निधातोः ॥ अर्थात् चार फाँसे देने वाले जुआरीसे डरे" ऋग्वेदसंहिता १ । ४१ । ९) इस विषयको निरुक्तमें इस प्रकार कहा है, कि-"चतुरोक्षान धारयत इति तद् यथा कितवाद् बिभीयात्" (निरुक्त ३ । १६) ॥

२१८०

❀ वाजशब्दात् करोत्यर्थे णिच् ❀ । अन्नलाभकरणे रथैरिव स्थितैरक्षैः प्र भरे प्रहरे । प्रतिकितवान् इति शेषः । ❀ "हृग्रहोर्भः" इति भत्वम् ❀ । ततः मरुताम् । देवोपलक्षणम् । सर्वेषां देवानां स्तोमम् स्तोत्रं संघं वा प्रदक्षिणम् अनुक्रमेण ऋध्याम् समर्धयेयम् ॥

जो अपने धनको स्तोताओंको देते रहते हैं ऐसे स्वावसु अग्निदेवकी मैं स्तोत्रोंसे स्तुति करता हूँ, इस द्यूतकर्म में प्रसक्त देवनकर्माधिपति अग्निदेव हम जुआड़ियोंको कृत नामक फाँसेको देवें; तब जैसे रथमें स्थित अक्षोंके द्वारा अन्नको लाते हैं तिसी प्रकार मैं इन अक्षोंके द्वारा शत्रुओंकी सामग्रीको लाऊँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

व॒यं ज॑येम॒ त्वया॑ यु॒जा वृत॑म॒स्माक॒मंश॒मुद॑वा॒ भरे॑भरे ।
अ॒स्मभ्य॑मिन्द्र॒ वरी॑यः सु॒गं कृ॑धि॒ प्र शत्रू॑णां मघव॒न्
वृष्ण्या॑ रुज ॥ ४ ॥

व॒यम् । ज॒ये॒म॒ । त्वया॑ । यु॒जा । वृत॑म् । अ॒स्माक॑म् । अंश॑म् ।
उत् । अ॒व॒ । भरे॑ऽभरे ।
अ॒स्मभ्य॑म् । इ॒न्द्र॒ । वरी॑यः । सु॒ऽगम् । कृ॒धि॒ । प्र । शत्रू॑णाम् ।
म॒घ॒ऽव॒न् । वृष्ण्या॑ । रु॒ज॒ ४ ॥

हे इन्द्र त्वया युजा सहायेन वृतम् वृणोति अक्षैः संरुणद्धीति वृत् प्रतिकितवः । ❀ वृणोतेः क्विप् ❀ । तादृशं कितवं वयं जयेम । तथा भरेभरे संग्रामेसंग्रामे द्यूतलक्षणे अस्माकं जिगीषूणाम् अंशम् जयलक्षणम् उद् अव उद्गमय । ❀ अत्र रक्षणादिषु ❀ । किं च अस्मभ्यं वरीयः उरुतरं धनं सुगम् सुगमनं कृधि

कुरु। ❀ उरुशब्दाद्द ईयसुनि "प्रियस्थिर०" इति वर् आदेशः ❀। हे मघवन् धनवन् इन्द्र शत्रूणाम् शातयितॄणां प्रतिकितवानां वृष्ण्या वृष्ण्यानि वृष्णि भवानि। ❀ "भवे छन्दसि" इति यत्। टिलोपः ❀। वीर्याणि जयलक्षणानि प्र रुज निवारय। ❀ रुजो भङ्गे तौदादिकः ❀। यथा प्रतिकितवा अस्मान् न जयेयुः यथा तान् वयं जयेम जयेन च तेभ्यो धनं स्वीकुर्याम तथा कुर्विति इन्द्रः प्रार्थ्यते ॥

हे इन्द्रदेव ! आपकी सहायतासे मैं जिसका अक्षोंके द्वारा वरण करता हूँ उस प्रतिपक्षीको जीत लूँ और जो द्यूतलक्षणरूप संग्राममें हमको जीतना चाहते हैं, उनके जयलक्षणरूप अंश को आप उच्चाटित करिये। और हमारे लिये बहुतसे धनको सुगमतासे आने वाला करिये। हे धनवन् इन्द्र ! आप शत्रुओंके जयकर्मोंको निवारित करिये। अर्थात् इन्द्रदेव ! हमारी यह प्रार्थना है, कि—जैसे प्रतिपक्षी हमको न जीत सकें और हम जीत कर उनसे धन लेलेवें तैसा आप करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्।
अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

अजैषम्। त्वा। सम्ऽलिखितम्। अजैषम्। उत। सम्ऽरुधम्।
अविम्। वृकः। यथा। मथत्। एव। मथ्नामि। ते। कृतम् ५

लोके हि कितवाः अस्मिन् पदे प्रतिकितवम् अक्षशलाकादिभिः संरोत्स्यामीति अङ्कान् कुर्वन्ति तत्रैव च संरुन्धन्ति। तादृशः प्रतिकितवोत्र संबोध्यते। हे कितव संलिखितम् पदेषु सम्यग् अङ्कान् लिखितवन्तमपि त्वा त्वाम् अजैषम् अहमेव जयामि। उत अप्यर्थे।

संरुधम् । ❀ रुधेः क्विप् ❀ । संरोद्धारमपि त्वाम् अजैषम् जयामि । यद्वा संलिखितम् सम्यग् लिखितं चिह्नितं पदम् अभिलक्ष्य त्वां जयामि । उत अपि च संरुधम् । ❀ संरुन्धन्ति अत्रेति । अधिकरणे कप्रत्ययः ❀ । तादृशं स्थानम् अभिलक्ष्य त्वां जयामि । किं च वृकः अरण्यश्वा अविम् अजं यथा मथत् मथ्नाति एव एवं ते तव कृतं कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयं मथ्नामि विनाशयामि

(संसारमें जुआरी मैं इस पदमें अक्षशलाका आदिसे कितव को रोकूँगा, इस प्रकार अङ्कित करते हैं और तहाँ ही रोकते भी हैं । तैसे ही प्रतिकितवको यहाँ सम्बोधित किया है, कि—) हे कितव ! पदमें भली प्रकार अंकोंको लिखते हुए भी तुझको मैं ही जीतूँगा और संरोद्धा भी तुझको मैं जीतूँगा, जिस प्रकार भेड़िया भेड़को मथ डालता है, इसी प्रकार मैं तेरे कृत नामक पाशको मथता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत । प्रऽहाम् । अतिदीवा । जयति । कृतम्ऽइव । श्वऽघ्नी । वि । चिनोति । काले ।

यः । देवऽकामः । न । धनम् । रुणद्धि । सम् । इत् । तम् । रायः । सृजति । स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत अपि च अतिदीवा अतिशयेन दीव्यन् पुरुषः । ❀ कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्यु प्रतिदिवः इति [उ० १. १५४] अति पूर्वाद्द दीव्यतेः कनिन्। कित्त्वादेव गुणाभावः ❀ । महान् अक्षैः महन्तारं प्रतिकितवं जयाति । यतः श्वघ्नी । श्वघ्नी कितवो भवति स्वं हन्ति स्वं पुनराहृतं भवतीति यास्कः [नि० ५. २२] ❀ । परस्वस्य हन्ता कितवः काले द्यूतकाले कृतमिव । इवशब्द एवार्थे । कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयमेव वि चिनोति मृगयते । हस्तस्थेष्वक्षेषु प्रागेव निधानात् कृतत्वम् अक्षाणां लाभाय अन्विष्यते अतो जयातीति संबन्धः ॥ यो देवकामः देवान् कामयमानः दीव्यन् पुरुषः धनं न रुणद्धि द्यूतलब्धं धनं न व्यर्थं स्थापयति किं तु देवतार्थं विनियुङ्क्ते तं राया धनेन स्वधाभिः अन्नैर्बलैर्वा सं सृजत्येव संयोजयत्येव । इन्द्र इति देवता गम्यते । इत् अवधारणे ॥

बड़ा भारी खिलाड़ी पुरुष अक्षोंसे प्रहार करने वाले प्रतिकितवको जीत लेता है, क्योंकि—वह जुआड़ी द्यूतके समयमें लाभके हेतु कृत नामक अयको ही ढूँढता है, वह देवताओंकी इच्छा करता हुआ खिलाड़ी पुरुष उस धनको रोकता नहीं है अर्थात् व्यर्थ ही स्थापित नहीं करता है, किन्तु देवताके निमित्त विनियुक्त करता है और उसको स्वधासे संयुक्त करता है ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

गोभि॑ष्टरे॒माम॑तिं दु॒रेवां॒ यवे॑न वा॒ क्षुधं॑ पुरुहू॒त विश्वे॑ ।
व॒यं राज॑सु प्रथ॒मा धना॒न्यरि॑ष्टासो वृज॒नीभि॑र्जयेम ७

गोभिः॑ । त॒रे॒म॒ । अम॑तिम् । दुः॒ऽए॒वाम् । यवे॑न । वा॒ । क्षुध॑म् ।

पु॒रु॒ऽहू॒त॒ । विश्वे॑ ।

वयम् । राजऽसु । प्रथमाः । धनानि । अरिष्टासः । वृजनीभिः । जयेम

हे इन्द्र दुरेवाम् दुष्टगमनां दारिद्र्याद् आगताम् अमतिम् दुर्बुद्धिं गोभिः पशुभिः तरेम । हे पुरुहूत बहुभिराहूत इन्द्र विश्वे सर्वे वयं यवेन वा । यवशब्दो धान्योपलक्षणम् । धान्येन वा क्षुधम् बुभुक्षां तरेम निवारयेम ॥ राजसु नृपेषु राजमानेषु दीव्यत्सु वा पुरुषेषु । स्थितानीति शेषः । प्रथमा प्रथमानि मुख्यानि प्रकृष्टतमानि धनानि वयम् अरिष्टासः अहिंसिताः प्रतिकितवैरपराजिताः सन्तः वृजनीभिः बलकारिणीभिरक्षशलाकाभिः जयेम साधयेम ॥

हे इन्द्रदेव ! हम दुष्ट गति वाली दरिद्रतासे आई हुई दुर्बुद्धि को पशुओंके द्वारा तरें, यव आदि धान्यके द्वारा बुभुक्षाका निवारण करें, राजाओंमें स्थित श्रेष्ठ धनको हम प्रतिकितवोंसे पराजित न होकर बलकारिणी अक्षशलाकाओंसे जीत लें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ८

कृतम् । मे । दक्षिणे । हस्ते । जयः । मे । सव्ये । आऽहितः ।
गोऽजित् । भूयासम् । अश्वऽजित् । धनम्ऽजयः । हिरण्यऽजित् ८

मे मम दक्षिणे हस्ते पाणौ कृतम् कृतशब्दवाच्यो लाभहेतुः अयः अस्ति । कृतायलाभो हि महान् द्यूतजयः । तद्ध उक्तं द्यूतक्रियाम् अधिकृत्य आपस्तम्बेन । “कृतं यजमानो विजिनाति” इति [आप० ५. २०. १] । तथा मे मम सव्ये हस्ते जय आहितः कृतायसाध्यो जयो निहितोस्ति । अतः अहं गोजित् परकीयानां गवां जेता भूयासम् । अश्वजित् प्रतिकितवसंबन्धिनाम् अश्वानां जेता । धनंजयः । धनशब्दः सामान्यवाची । दासीभूम्यादिधनस्य

जेता । ❀ "संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः" इति जयतेः खच् प्रत्ययः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुम् ❀ । हिरण्यजित् सुवर्णस्य जेता भूयासम् । लोके हि कितवा द्यूतकर्मणि गवादिधनं शुल्कं कृत्वा दीव्यन्ति तत्र ये जयन्ति ते तद्धनं स्वीकुर्वन्ति । अत्र जयस्य पूर्वार्धेन उक्तत्वाद् गवादिधनजयलाभः उत्तरार्धेन प्रार्थ्यते ॥

मेरे दाहिने हाथमें कृतनामक अय है, तथा मेरे बायें हाथमें जय नामक अय है, अत एव मैं दूसरोंकी गौओंका जीतनेवाला होऊँ; अश्वोंका धनका तथा दासी भूमि आदिका भी जीतने वाला होऊँ तथा सुवर्णका भी जीतने वाला भी होऊँ ॥ ८ ॥

नवमी ॥

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नान्वेव नह्यत ॥ ९ ॥

अक्षाः । फलऽवतीम् । द्युवम् । दत्त । गाम् । क्षीरिणीम्ऽइव ।
सम् । मा । कृतस्य । धारया । धनुः । स्नान्वाऽइव । नह्यत ९

अनया देवनसाधनभूतान् अक्षान् जयाय प्रार्थयते । हे अक्षाः द्युवम् द्यूतक्रियाम् । ❀ दीव्यतेः संपदादिलक्षणो भावे क्विप् । "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" इति ऊठ् । तदन्ताद् द्वितीयैकवचने अमि उवङ् आदेशः ❀ । द्यूतक्रियां फलवतीं फलोपेतां दत्त प्रयच्छत । यथा द्यूतेन धनलाभो भवति तथा कुरुतेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः क्षीरिणीं गामिवेति । फलं कस्माद् भवति तम् आह । कृतस्य कृतशब्दवाच्यस्य चतुःसंख्यायुक्ताक्षविषयस्य लाभहेतोः अयस्य धारया संतत्या उपर्युपरिलाभहेतुकृतायप्रवाहेण मा मां सं नह्यत संयोजयत । तत्र दृष्टान्तः धनुः स्नान्वेवेति । यथा धनुः कार्मुकं स्नान्वा स्नावनिर्मितया मौर्व्या संनह्यन्ति । यथा मौर्वी-

संनद्धं कार्मुकं जयकारि भवति एवं मां कृतायपरंपरया जयिनं कुरुतेत्यर्थः ॥

(इस ऋचासे खेलनेके साधन अक्षोंकी विजयके लिये प्रार्थना करते हैं, कि—क्षीरिणी गौकी समान फलवती द्यूतक्रियाको दीजिये अर्थात् जिस प्रकार द्यूतमें धनलाभ हो तैसा करिये, जैसे धनुष ताँतकी डोरोंसे बँधा हुआ होता है, इसी प्रकार आप मुझे कृतकी धारासे बाँधिये । अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यचा बँधा हुआ धनुष जय करने वाला होता है इसी प्रकार कृतायकी परम्परा से आप मुझको विजयी करिये ॥ ९ ॥

दशमी ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः
कृणोतु ॥ १ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्ऽतरस्मात् ।
अधरात् । अघऽयोः ।

इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखिऽभ्यः ।
वरीयः । कृणोतु ॥ १ ॥

बृहस्पतिः बृहतां देवानां पाता हितकारित्वेन पालयिता एतन्नामा देवः नः अस्मान् परि पातु परितः सर्वतो रक्षतु । सर्वत इत्युक्तम् कस्माद् इति तद् आह । पश्चात् प्रतीच्या दिशः । ❀ "पश्चात्" इति अस्तात्यर्थे निपातितः ❀ । उत अपि च उत्तरस्मात् ऊर्ध्वाल्लोकात् अधरात् अधस्तनाल्लोकात् अघायोः अघं

हिंसालक्षणं परेषाम् इच्छतीति अघायुः। ❀ अघशब्दात् "छन्दसि परेच्छायाम्" इति क्यच्। "अश्वाघस्यात्" इति आत्वम्। "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀। अभिजिघांसतः पुरुषात्। परि पात्विति संबन्धः। तथा इन्द्रः पुरस्तात् प्राच्या दिशः उत अपि च मध्यतः मध्यात् प्रदेशात् नः अस्मान् परि पात्विति। सर्वाभ्यो दिग्भ्यो योऽघायुरागच्छति ततोस्मान् इन्द्राबृहस्पती परिपालयताम् इत्यर्थः। अपि च सखा सखिभूत इन्द्रः सखिभ्यः समानख्यानेभ्यः स्तोतृभ्यः अस्मभ्यं वरीयः उरुतरं धनं कृणोतु करोतु॥

तृतीयं सूक्तम्। समाप्तश्चतुर्थोनुवाकः॥

बड़े २ देवताओंका हित करके उनका पालन करने वाले बृहस्पति नामक देवता पश्चिमकी ओरसे ऊपरकी ओरसे नीचेकी ओरसे और हिंसा-लक्षण अघको चाहने वाले अघायुकी ओरसे इस प्रकार सब ओरसे हमारी रक्षा करें। भगवान् इन्द्रदेव पूर्वदिशासे और मध्यप्रदेशसे हमारी रक्षा करें। तात्पर्य यह है, कि—चाहे किसी ओरसे हमारा शत्रु आता हो, उससे इन्द्र और बृहस्पति देवना हमको बचावें। और सखाभूत इन्द्र अपने मित्ररूप स्तोताओंके लिये हममें बहुतसा धन करें॥ १॥

तृतीय सूक्त समाप्त (३६८)॥

अथर्ववेदसंहिताके सप्तम कांडमें चतुर्थ अनुवाक समाप्त

पञ्चमेनुवाके त्रीणि सूक्तानि। तत्र "संज्ञानं नः" इति आद्यं सूक्तं बृहद्गणे पठितम्। तस्य शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः॥

तथा सांमनस्यकर्मणि "संज्ञानं नः" इति द्व्यृचेन उदकुम्भं सुराकुम्भं वा संपात्य अभिमन्त्र्य ग्रामं परिभ्राम्य ग्राममध्ये निनयेत्॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेन द्व्यृचेन त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्त्यानि मांसानि संपात्य अभिमन्त्र्य भक्षयेत्॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अन्नं सुरां प्रपां वा अनेन त्र्यृचेन संपात्य अभिमन्त्र्य यथायोगं भक्षणं पानं वा कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "सं वो मनांसि [६. ९४] संज्ञानं नः [७. ५४] इति सांमनस्यानि । उदकुलिजं संपातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति । एवं सुराकुलिजम् । त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्त्यानि पिशितान्याशयति । भक्तं सुरां प्रपां संपातवत् करोति" इति [कौ० २. ३] ॥

उपनयने आचार्यो माणवकस्य नाभिं संस्पृश्य "अमुत्रभूयात्" इति षडृचं जपेत् । "दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति । आ यातु मित्रः [३. ८] अमुत्रभूयात्" [७. ५५] इति हि सूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

तथा "बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य" इति [न०क०१७] विहितायां बार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ "अमुत्रभूयात्" इति आवपेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । "बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चात् [७. ५३] अमुत्रभूयात् [७. ५५] इति बार्हस्पत्यायाम्" इति [न० क० १८] ॥

पुष्ट्यर्थे आग्रहायणीकर्मणि अग्निसमीपात् प्रातरुत्थिते "उद्वयम्" इति उत्क्रामेत् । "उदायुषा [३. ३१. १०] इत्युपोत्तिष्ठति । उद्वयम् [७. ५५. ७] इत्युत्क्रामति" इति हि [कौ० ३. ७] सूत्रम् ॥

अन्नप्राशनकर्मणि भूमौ उपवेशितं बालम् "उद्वयम्" इत्यनया आदित्यं प्रदर्शयेत् ॥

तथा सोमयागे अवभृथस्नानानन्तरम् "[उद्वयम्]" इत्यनया जलाद् उत्क्रामेत् । "संप्रोक्षति । अपां सूक्तैरित्याद्युपस्पर्शनान्तम् । उद्वयम् इत्युत्क्रामति" इति वैताने सूत्रितम् [वै० ३. १४] ॥

अध्यापकानाम् अर्थार्जनविघ्नशमनार्थम् "ऋचं साम" इत्यनया

आज्यं जुहुयात् । "ऋचं सामेत्यनुप्रवचनीयस्य जुहोति" इति हि [कौ० ५, ६] सूत्रम् ॥

पाँचवें अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमें 'संज्ञानं नः' प्रथम सूक्तका बृहद्गणमें पाठ है । इसका शान्त्युदकाभिमन्त्रण आदिमें विनियोग होता है ।

तथा सांमनस्यकर्ममें 'संज्ञानं नः' इस द्व्यृचसे जलपूर्ण कलश वा सुरापूर्ण कलशका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके ग्राममें घुमा कर ग्राम मध्यमें लेजावे ।

तथा इसी कर्ममें इस द्व्यृचसे त्रिवर्षा वत्सतरीके शुक्त्य मांसों का सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे ।

तथा इसी कर्ममें अन्न सुरा वा प्रपाको इस द्व्यृचसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके यथायोग्य पान वा भक्षण करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'सं वो मनांसि' (६ । ६४) संज्ञानं नः (७ । ५४) इति सांमनस्यानि उदकुलिजं सम्पातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति । एवं सुराकुलिजं । त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्त्यानि पिशितान्याशयति । भक्तं सुरां प्रपां सम्पातवत् करोति ।" (कौशिकसूत्र २ । ३) ॥

उपनयनके समय आचार्य माणवककी नाभिका स्पर्श करके 'अमुत्र भूयात्' आदिक छः ऋचाओंको जपे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-'दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति । आयातु मित्रः (३ । ८) अमुत्र भूयात् (७ । ५५) इति (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

तथा 'बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य- राज्य श्री और ब्रह्मतेज चाहने वालेके लिये बार्हस्पत्या शांतिको करे' इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित बार्हस्पत्या नाम वाली महाशान्तिमें 'अमुत्र भूयात्' को पढ़े । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-'बृह-

स्पतिर्नः परिपातु पश्चात् (७ । ५३) अमुत्र भूयात् (७ । ५५) इति बार्हस्पत्यायाम्' (नक्षत्रकल्प १८) ॥

पुष्टिके लिये किये जाने वाले आग्रहायणी कर्म में अग्निके समीपसे प्रातःकाल उठते समय 'उद्वयम्' से उत्क्रमण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ का प्रमाण भी है, कि–'उदायुषा (३ । ३१ । १०) इत्युपोत्तिष्ठति । उद्वयम् (७ । ५५ । ७) इत्युत्क्रामति' ॥

अन्नप्राशनकर्ममें भूमिमें बैठाये हुए बालकको 'उद्वयम्' ऋचा से सूर्यदेवका दर्शन करावे ।

तथा सोमयागमें अवभृथ स्नानके अनन्तर 'उद्वयम्' ऋचासे जलसे उत्क्रमण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १४ का प्रमाण है, कि–"सम्मोक्षति । अपां सूक्तैरित्युदकस्पर्शनान्तम् । उद्वयं इत्युत्क्रामति" ॥

अध्यापकोंके द्रव्य एकत्रित करनेके विघ्नको शांत करनेके लिये "ऋचं साम" इस ऋचासे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ६ का प्रमाण भी है, कि–"ऋचं सामेत्यनुप्रवचनीयस्य जुहोति" ॥

तत्र प्रथमा ॥

सं॒ज्ञानं॑ नः॒ स्वेभिः॑ सं॒ज्ञान॒मर॑णेभिः ।
सं॒ज्ञान॑माश्विना यु॒वमि॒हास्मासु॒ नि य॑च्छतम् ।१।

स॒म्ऽज्ञान॑म् । नः॒ । स्वेभिः॑ । स॒म्ऽज्ञान॑म् । अर॑णेभिः ।
स॒म्ऽज्ञान॑म् । अ॒श्वि॒ना॒ । यु॒वम् । इ॒ह । अ॒स्मासु॑ । नि । य॒च्छ॒त॒म् १ ।

स्वेभिः स्वकीयैः पुरुषैः नः अस्माकं संज्ञानम् संगतं ज्ञानम् ऐकमत्यम् । भवत्विति शेषः । तथा अरणेभिः अरणैः अरमणैः अनु-

कूलम् अवदद्भिः। ❀ रणतिः शब्दार्थः ❀ । प्रतिकूलैः पुरुषैः । यद्वा । ❀ अर्तेः अरणशब्दः ❀। अरातिभिः सह संज्ञानम् समानज्ञानं भवतु । ❀ स्वेभिः अरणेभिः इत्युभयत्र "बहुलं छन्दसि" इति भिस ऐसोऽभावः । "बहुवचने झल्येत्" इति एत्त्वम् ❀ । हे अश्विना अश्विनौ युवम् युवाम् इह अस्मिन् विषये इह इदानीं वा अस्मासु संज्ञानम् समानज्ञानं स्वीयैः परैश्च सह ऐकमत्यं नियच्छतम् नियमयतम् । स्थापयतम् इत्यर्थः ॥

अपने पुरुषोंमें हमारा एकमत होवे । और जो हमारे अनुकूल भाषण नहीं करते हैं, वे भी हमारे साथ अनुकूल मत रक्खें, हे अश्विनीकुमारो ! आप दोनों इस विषयमें अपने और पराये दोनों प्रकारके पुरुषोंके साथ एकमतको स्थापित करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सं जा॑नामहै॒ मन॑सा॒ सं चि॑कि॒त्वा मा यु॑ष्महि॒ मन॑सा॒ दैव्ये॑न ।
मा घोषा॒ उत् स्थु॑र्बहु॒ले वि॒निर्ह॑ते॒ मेषुः॑ पप्त॒दिन्द्र॒स्याह॒न्याग॑ते ॥ २ ॥

सम् । जा॒ना॒म॒है॒ । मन॑सा । सम् । चि॒कि॒त्वा । मा । यु॒ष्म॒हि॒ । मन॑सा । दैव्ये॑न ।
मा । घोषाः॑ उत् । स्थु॒ः । ब॒हु॒ले । वि॒ऽनिर्ह॑ते । मा । इषुः । प॒प्त॒त् । इन्द्र॑स्य । अह॑नि । आऽग॑ते ॥ २ ॥

मनसा अन्यदीयेन सं जानामहै समानज्ञाना भवाम । यद्वा मनः कर्म । परकीयं मनः संयोजयामः । यथा अस्मद्विषयेऽनुकूलं भवति तथा कुर्म इत्यर्थः । ❀ "संप्रतिभ्याम् अनाध्याने" इति

जानातेरात्मनेपदम् । "संज्ञोन्यतरस्यां कर्मणि" इति मनसस्तृतीया ❀ । चिकित्वा ज्ञात्वा । सम् । उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः । संगतकार्यकारिणो भवाम । यद्वा पूर्वं मनसा संगतिरुक्ता । इदानीं निश्चयात्मकज्ञानेन संगतिः प्रार्थ्यते । चिकित्वा चिकित्वना । ज्ञानेनेत्यर्थः । सं जानामहै इत्यनुषङ्गः । स्वेषां परेषां च मनसा ज्ञानेन च संगता भवामेत्यर्थः । ❀ चिकित्वेति । कित ज्ञाने । "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इति क्त्वाप्रत्ययः । छान्दसं द्विर्वचनम् । "एकाचः०" इति इण्निषेधः । यद्वा "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्वनिपि पूर्ववद् द्विर्वचनम् । तृतीयाया डादेशः ❀ । किं च दैव्येन देवसंबन्धिना देवताविषयेण । ❀ "देवाद् यञञौ" इति यञ् प्रत्ययः ❀ । तादृशेन मनसा मा युष्महि मा वियुक्ता भूम । प्रतिकूलजनितविक्षेपराहित्येन स्वकीयं मनः सर्वदा देवताविषयं भवत्वित्यर्थः । ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोः । "माङि लुङ्" । सिच् । "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति गुणाभावः ❀ । अपि च बहुले अधिके विनिह्रुते । ❀ ह्वृ कौटिल्ये । "ह्रु ह्वरेश्छन्दसि" इति निष्ठायां ह्रु इत्यादेशः ❀ । कौटिल्ये निमित्ते घोषाः वैमनस्यनिबन्धनाः शब्दाः मा उत्स्थुः उत्थिता मा भूवन् । यद्वा बहुलशब्देन तमो विवक्ष्यते । विनिह्रुते विशेषेण स्तैन्यादिकौटिल्यनिमित्ते बहुले तमसि । रात्रावित्यर्थः । घोषाः वैमनस्यनिबन्धनाः शब्दा उत्थिता मा भूवन् । ❀ उत्पूर्वात् तिष्ठतेः "माङि लुङ्" । वचनस्य ऊर्ध्वकर्मत्वं विवक्षित्वा आत्मनेपदाभावः ❀ । तथा अहनि अह्नि वासरे आगते च इन्द्रस्य इषुः । ऐन्द्र्या वाचः शत्रुनिवारकत्वाद् इषुत्वेन रूपणम् । "वाग् अस्यैन्द्री सपत्नक्षयणी" इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० सं० १. ६. २. २] । यद्वा इन्द्रस्य इषुः अशनिः अशनिरूपा मर्मभेदिनी परकीया वाक् मा पप्तत् अस्मासु मा पततु । अहोरात्रोपलक्षितेषु सर्वेषु दिवसेष्वपि वैमनस्यनिब-

न्धनाः परेषां वाचः अस्मासु मा पतन्तु किं तु अनुकूला एव भवन्तु इत्यर्थः ॥

हम अपने मनसे दूसरेके मनको संयुक्त करें अर्थात् उसका मन जिस प्रकार हमारे विषयमें अनुकूल होवे, तैसा करते हैं। किसी बातको जानने पर हम मिलकर कार्य करने वाले होवें और देवसंबन्धी मनसे हम वियुक्त न होवें, अर्थात् प्रतिकूल विषयसे उत्पन्न हुए विक्षेपकी शून्यताके कारण हमारा मन सदा देवताओंके विषयमें रमण करता रहे। और बड़ीभारी कुटिलता के कारण मनको उच्चाटित करने वाले घोष न होवें दिन आदि के आने पर इन्द्रकी अशनिरूपा वाणी हम पर न गिरे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अ॒मु॒त्र॒भू॒या॒दधि॒ य॑द् य॒मस्य॒ बृह॑स्पतेर॒भिश॑स्तेरमु॑ञ्चः ।
प्रत्यौ॑हताम॒श्विना॑ मृ॒त्युम॒स्मद् दे॒वाना॑मग्ने भि॒षजा॒
शची॑भिः ॥ १ ॥

अ॒मु॒त्र॒ऽभूया॑त् । अधि॑ । यत् । य॒मस्य॑ । बृह॑स्पतेः । अ॒भिऽश॑स्तेः ।
अमु॒ञ्च॒ः ।

प्रति॑ । औ॒ह॒ता॒म् । अ॒श्विना । मृ॒त्युम् । अ॒स्मत् । दे॒वाना॑म् ।
अ॒ग्ने॒ । भि॒षजा॑ । शची॑भिः ॥ १ ॥

हे बृहस्पतेः । ❀ संबुद्धौ सोर्लोपाभावश्छान्दसः ❀ । बृहतां महतां देवानां पते हविःप्रदानेन पालयितरग्ने अमुत्रभूयात् परलोके भवनम् अमुत्रभूयम् । ❀"भुवो भावे" इति भावे क्यप् प्रत्ययः❀ । परलोकभवनरूपाद् यमस्य पितृपतेः संबन्धिनः अभिशस्तेः अभिशंसनाद् मरणहेतोः यत् यस्मात् अमुञ्चः मोचयसि इमं माणवकम्

इति शेषः । अधिशब्दः अनर्थकः । यद्वा । ❀ अमुत्रभूयाद् इति ल्यब्लोपे पञ्चमी ❀ । परलोकभवनम् अभिलक्ष्य क्रियमाणाद् यमकर्तृकाद् अभिशंसनाद् मोचयसि तस्मात् कारणात् हे अग्ने त्वयि एवं कुर्वाणे त्वत्प्रसादादेव देवानां भिषजा भिषजौ वैद्यौ अश्विना अश्विनौ शचीभिः क्रियाभिः अस्मत् अस्मत्तः अस्मदीयात् । माणवकाद् इत्यर्थः । मृत्युम् मरणकारणं प्रत्यौहताम् । निवारयताम् इत्यर्थः । ❀ अमुञ्चः औहताम् इत्युभयत्र छान्दसो लङ् ❀ ॥

हे हवि प्रदान करके बड़े २ देवताओंका पालन करनेवाले अग्ने ! आप परलोकभवनरूप यमके सम्बन्धी मरणहेतुक अभिशंसनसे इस बालकको बचा सकते हैं, इस कारण हे अग्ने ! आपके प्रसादसे देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमार क्रियाओंके द्वारा इस बालकसे मृत्युके कारणोंको दूर करें ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः २

सम् । क्रामतम् । मा । जहीतम् । शरीरम् । प्राणापानौ । ते । सऽयुजौ । इह । स्ताम् ।
शतम् । जीव । शरदः । वर्धमानः । अग्निः । ते । गोपाः । अधिऽपाः । वसिष्ठः ॥ २ ॥

हे प्राणापानौ सं क्रामतम् आयुष्कामस्य शरीरे संक्रान्तौ भवतम् । तथा शरीरम् आयुष्कामस्य देहं मा जहीतम् मा त्यजतम् ।

२११५ । १०,६,३०

सर्वदा शरीरे तिष्ठतम् इत्यर्थः। ❀ ओहाक् त्यागे। लोटि "ईहल्यघोः" इति ईत्वम् ❀॥ प्राणापानौ संबोध्य तयोः शरीरेऽवस्थानं संप्रार्थ्य आयुष्कामं प्रत्याह उत्तरेण पादत्रयेण। हे आयुष्काम ते तव इह अस्मिन् शरीरे प्राणापानौ प्राणितीति प्राणः नासिकाविवराद् बहिर्निर्गच्छन् वायुः। अपानितीति अपानः हृदयस्य अधोभागे संचरन् वायुः। तौ सयुजौ संयुक्तौ परस्परसंयुक्तौ स्ताम् भवताम्। यावन्तं कालं प्राणापानौ परस्परसंबद्धौ देहे वर्तेते तावन्तम् आयुर्भवतीति तयोः साहित्यं प्रार्थितम्। अनन्तरम् हे आयुष्काम शतं शरदः शतवर्षपर्यन्तं जीव प्राणान् धारय। तथा जीवतस्ते तव वर्धमानः हविरादिना समृद्धिं गच्छन् अग्निः गोपाः गोपायिता भवतु। ❀ गुपू रक्षणे। क्विपि "गुपूधूपविच्छि०" इति आयप्रत्ययः। "लोपो व्योर्वलि" इति यकारलोपः ❀। अधिपाः अधिकं पाता मदीयोयम् इति आदरातिशयेन अग्निः पालयिता भवतु। वसिष्ठः वासयितृतमश्चास्तु वसुमत्तमो वा भवतु। ❀ वासयितृशब्दाद् इष्ठनि "तुरिष्ठेमेयःसु" इति तृचो लोपः। वसुमच्छब्दाद् इष्ठनि मतोर्लुकि टेर्लोपः ❀॥

हे प्राण और आपनों! तुम इस आयुष्कामके शरीरमें संलग्न रहो, हे आयुष्काम! तेरे शरीरमें नासिका विवरमेंसे बाहर निकलने वाला प्राण और हृदयके अधोभागमें चलने वाला अपान ये दोनों संयुक्त रहें। हे माणवक! फिर तू सौ वर्ष तक जीवन धारण कर। और तुझ जीवितसे हवि आदिके द्वारा बढ़ते हुए अग्निदेव तेरी रक्षा करें। और परमधनी अग्निदेव तेरे ऊपर पक्षपात कर तेरी दृढ़तासे रक्षा करमे घाले हो जावें॥ २॥

पञ्चमी॥

आयु॒र्यत् ते॒ अति॑हितं परा॒चै॑रपा॒नः प्रा॒णः पुन॒रा तावि॑ताम्।

अ॒ग्निष्टदाहा॒र्निर्ऋ॑तेरु॒पस्था॒त् तदा॒त्मनि॒ पुन॒रा वे॑श-
यामि ते ॥ ३ ॥

आयु॑ः । यत् । ते॒ । अति॑ऽहितम् । प॒रा॒चैः॑ । अ॒पा॒नः । प्रा॒णः ।
पुन॑ः । आ । तौ । इ॒ता॒म् ।

अ॒ग्निः । तत् । आ । अ॒हा॒ः । निःऽऋ॑तेः । उ॒पऽस्था॑त् । तत् ।
आ॒त्मनि॑ । पुन॑ः । आ । वे॒श॒या॒मि॒ । ते॒ ॥ ३ ॥

हे आयुष्काम ते तव यद् आयुः जीवनं पराचैः पराङ्मुखम् अतिहितम् अतिक्रम्य गतम् । ❀ हि गतौ इत्यस्माद् निष्ठायां रूपं हितम् इति ❀ । यद्वा अतिहितम् अतिक्रम्य अन्यत्र निहितम् । मृत्युनेति शेषः । ❀ "दधातेर्हिः" इति निष्ठायां हिभावः ❀ । तद् आयुरिति उत्तरवाक्येन संबन्धः । आयुषः प्राणापानागमननिमित्तत्वाद् वाक्यमध्ये तयोरागमनं प्रार्थयते प्राणोपान इति । तौ वायू देहधारकौ पुनः एताम् आगच्छताम् । ❀ इण् गतौ । लोटि प्रथमपुरुषद्विवचने रूपम् ❀ । तद् आयुः अतिहितं जीवनम् अग्निः निर्ऋतेः निकृष्टगमनस्य मृत्योः उपस्थात् अन्तिकाद् आहाः आहार्षीत् आहरतु आनयतु । ❀ हरतेश्छान्दसो लुङ् । सिचि वृद्धिः । "अनित्यम् आगमशासनम्" इति इडभावः । "झलो झलि" इति सिचो लोपः । "हल्ङ्या०" इत्यादिना तिपो लोपः ❀ । तद् अग्निना आनीतम् आयुः हे आयुष्काम ते तव आत्मनि शरीरे पुनः आ वेशयामि मन्त्रसामर्थ्येन आस्थापयामि । ❀ विश प्रवेशने ❀ ॥

हे आयुष्काम ! तेरा जो जीवन पराङ्मुख होकरके मृत्युके द्वारा अन्तर्हित होने वाला था, उसको प्राण और अपान फिर

प्राप्त करावें और उस आयुको निकृष्ट गति वाली मृत्युके पाससे अग्निदेव ले आवें । हे आयुष्काम ! उस अग्निसे लाई हुई तेरी आयुको मैं मन्त्रशक्तिसे पुनः स्थापित करता हूँ ॥ ३ ॥

षष्ठी ॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो वहाय परा गात् ।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ४

मा । इमम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । अवऽहाय ।
परा । गात् ।
सप्तर्षिऽभ्यः । एनम् । परि । ददामि । ते । एनम् । स्वस्ति । जरसे ।
वहन्तु ॥ ४ ॥

इमम् आयुष्कामं प्राणः मा हासीत् मा त्यजतु । ❀ ओहाक् त्यागे । लुङि रूपम् ❀ । अपानः अवहाय अस्माच्छरीराद् निष्क्रम्य परित्यज्य वा मा परा गात् मैव परागच्छतु । ❀ अवहायेति । जिहीतेर्जहातेर्वा ल्यपि रूपम् ❀ । सप्तर्षिभ्यः । ऋषिशब्देन प्राणा उच्यन्ते । "के त ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः" इति वाजसनेयश्रुतेः [श० ब्रा० ६. १. १. १] । सप्तसंख्याकेभ्यः प्राणेभ्यः । "सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः" इति [तै० ब्रा० १. २. ३. ३] श्रुतेः । तेभ्यः एनम् आयुष्कामम् । ❀ "इदमोन्वादेशे०" एनादेशः ❀ । परि ददामि । रक्षार्थं दानं परिदानम् । रक्षितुं प्रयच्छामि । अथ ते सप्त प्राणा एनम् आयुष्कामं जरसे । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । जरार्थं स्वस्ति क्षेमेण वहन्तु प्रापयन्तु । जरापर्यन्तं स्थापयन्तु इत्यर्थः । ❀ जराया जरस् आदेशः ❀ । अत्र प्राणापानयोः शरीरे चिरकालम् अवस्थानं सर्वेन्द्रियाणां च प्राबल्यं बहुकालं प्रार्थितम् ॥

इस आयुष्कामको प्राण न त्यागे और अपान भी इसके शरीरको त्याग कर न जावे, मैं इस आयुष्कामको सप्त प्राणरूप ‡ सप्तर्षियोंके लिये रक्षा करनेके लिये समर्पित करता हूँ वे इसको बुढ़ापे तक कल्याणको प्राप्त करावें। (यहाँ प्राण और अपानके शरीरमें चिरकाल तक रहनेकी और सब इन्द्रियोंकी बहुत समय तक प्रबलताकी प्रार्थना की है) ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

प्र वि॑शतं प्राणापानावन॒ड्वाहा॑विव व्र॒जम् ।
अ॒यं ज॑रि॒म्णः शे॑व॒धिररि॑ष्ट इ॒ह व॑र्धताम् ॥ ५ ॥

प्र । वि॒श॒त॒म् । प्रा॒णा॒पा॒नौ॒ । अ॒न॒ड्वाहौ॑ऽइव । व्र॒जम् ।
अ॒यम् । ज॒रि॒म्णः । शे॒व॒ऽधिः । अरि॑ष्टः । इ॒ह । व॒र्ध॒ता॒म् ॥ ५ ॥

आयुषः प्राणापानास्थाननिबन्धनत्वात् पुनःपुनः प्राणापानयोः शरीरे प्रवेशः प्रार्थ्यते। हे प्राणापानौ प्रविशतम् आयुष्कामस्य शरीरम् । प्रवेशमात्रे दृष्टान्तः । अनड्वाहौ अनोवहनशक्तौ बलीवर्दौ यथा व्रजम् गोष्ठं प्रविशतः तद्वत् । [अयम्] आयुष्कामः जरिम्णः जरायाः शेवधिः निधिर्भवतु । ❀ शेवं सुखं धीयतेऽत्रेति “कर्मण्यधिकरणे च” इति घोः किप्रत्ययः ❀ । किं

---

‡ यहाँ ऋषि शब्दसे प्राणोंका ग्रहण किया गया है, क्योंकि–शतपथब्राह्मण ६ । १ । १ । १ श्रुतिमें कहा है, कि–‘के त ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः ।–वे ऋषि कौनसे हैं, प्राण ही वे ऋषि हैं । और तैत्तिरीयब्राह्मण १ । २ । ३ । ३ की श्रुतिमें कहा है, कि–‘सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः ।–सात मुख्य प्राण हैं’ ।

च अरिष्टः अहिंसितः मृत्युबाधारहितः सर्वेन्द्रियैरहीनो वा इह अस्मिन् लोके वर्धताम् समृद्धो भवतु ॥

(आयु प्राण और अपानके अवस्थानके निमित्तवश ही रह सकती है, अत एव प्राण और अपानके शरीरमें प्रवेश करनेकी वारम्वार प्रार्थना की जाती है) हे प्राण और अपान ! जैसे गाड़ीको खेंचने वाले बैल गोठमें प्रवेश करते हैं, तिसी प्रकार तुम आयु चाहने वालेके शरीरमें प्रवेश करो । यह आयुष्काम बुढ़ापे की निधि हो अर्थात् बुढ़ापे तक रहे । और यह मृत्युकी बाधासे रहित रह कर इस लोकमें समृद्ध होवे ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

आ ते॑ प्रा॒णं सु॑वामसि॒ परा॒ यक्ष्मं॑ सुवामि ते ।
आयु॑र्नो॑ वि॒श्वतो॑ दध॒द॒यम॒ग्निर्वरे॑ण्यः ॥ ६ ॥

आ । ते॒ । प्रा॒णम् । सु॒वा॒म॒सि॒ । परा॑ । यक्ष्म॑म् । सु॒वा॒मि॒ । ते॒ ।
आ॑युः । नः॒ । वि॒श्वतः॑ । द॒ध॒त् । अ॒यम् । अ॒ग्निः । वरे॑ण्यः ॥६॥

हे आयुष्काम ते तव प्राणम् आ सुवामसि आगमयामः । ❀ षू प्रेरणे । तौदादिकः । "इदन्तो मसिः" ❀ ॥ तथा ते तव यक्ष्मम् आयुःप्रतिबन्धकं रोगं मृत्युं वा परा सुवामि पराङ्मुखं प्रेरयामि ॥ किं च वरेण्यः वरणीयः संभजनीयः अयं हूयमानः अग्निः नः अस्मदीयस्य आयुष्कामस्य आयुः शतसंवत्सरपरिमितं जीवनं विश्वतः सर्वतः दधत् विदधातु । करोत्वित्यर्थः । ❀ दधातेर्लेटि "घोर्लोपो लेटि वा" इति लोपः । "लेटोऽडाटौ" इति अडागमः ॥

हे आयुष्काम ! हम तेरे प्राणोंको लाते हैं तथा तेरी आयुके प्रतिबन्धक यक्ष्मारोगको पराङ्मुख करके भेजते हैं और यह

आहूयमान वरणीय अग्निदेव हमारे इस आयुष्कामकी सब प्रकार सौ वर्ष तककी आयु करें ॥ ६ ॥

नवमी ॥

उद्व॒यं तम॑स॒स्परि॒ रोह॑न्तो॒ नाक॑मुत्त॒मम् ।
दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥ ७ ॥

उत् । व॒यम् । तम॑सः । परि॑ । रोह॑न्तः । नाक॑म् । उ॒त्ऽत॒मम् ।
दे॒वम् । दे॒व॒ऽत्रा । सूर्य॑म् । अग॑न्म । ज्योतिः॑ । उ॒त्ऽत॒मम् ॥ ७ ॥

तमसः । "पाप्मा वै तमः" इति हि श्रुतिः [तै० सं० ५. १. ८. ६] । पाप्मनः परि उपरि वयम् उत्क्रान्ताः । ❀ उदुपसर्गः ससाधनां क्रियाम् आह । "पञ्चम्याः परावध्यर्थे" इति सकारः ❀। किं कुर्वन्तः । उत्तमम् उत्कृष्टं नाकम् दुःखसंस्पर्शरहितं स्वर्गं रोहन्तः आरोहन्तः । ततश्च देवत्रा देवेषु । ❀ "देवमनुष्य०" इति सप्तम्यर्थे त्रा प्रत्ययः ❀ । उत्तमम् उद्गततमं ज्योतिः ज्योतीरूपं द्योतमानं सूर्यं देवम् अगन्म गच्छेम । ❀ गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "म्वोश्च" इति मकारस्य नकारः ❀ ॥

हम स्वर्गमें चढ़ते हुए पापके पार होगए हैं, और हम देवताओंमें उत्तम ज्योतिःस्वरूप सूर्यदेवको प्राप्त होरहे हैं ॥ ७ ॥

दशमी ॥

ऋचं॒ साम॑ यजामहे॒ याभ्यां॒ कर्मा॑णि कु॒र्वते॑ ।
ए॒ते सद॑सि राजतो य॒ज्ञं दे॒वेषु॑ यच्छ॒तः ॥ १ ॥

ऋच॑म् । साम॑ । य॒जा॒म॒हे॒ । याभ्या॑म् । कर्मा॑णि । कु॒र्वते॑ ।
ए॒ते इति॑ । सद॑सि । रा॒ज॒तः॒ । य॒ज्ञम् । दे॒वेषु॑ । य॒च्छ॒तः॒ ॥ १ ॥

ऋचम् ऋग्वेदं साम सामवेदम् अधीतं यजामहे हविषा पूजयामः। याभ्याम् ऋक्सामाभ्यां कर्माणि यज्ञरूपाणि कुर्वते ऋत्विग्यजमानाः। एते ऋक्सामे सदसि सीदन्त्यत्रेति सदः एतन्नामके मण्डपे राजतः दीप्येते। ऋक्सामयोस्तत्रैव प्रयोगात्। तथा देवेषु यज्ञं यच्छतः प्रयच्छतः। स्तुतशस्त्राभ्यां यज्ञनिष्पत्तेः॥

इति पञ्चमेनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥

हम पढ़े हुए ऋग्वेद और यजुर्वेदकी हविसे पूजा करते हैं इन ऋक् और सामसे हम ऋत्विज और यजमान यज्ञरूप कर्मोंको करते हैं। ये ऋक् और साम सदःनामक मण्डपमें दमकते रहते हैं और यही देवताओंको यज्ञकी प्राप्ति कराते हैं॥ १॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३७१)॥

अध्यापकानाम् अर्थार्जनविघ्नशमनार्थम् "ऋचं साम यद् अप्राक्षम्" इति ऋचा केवलया "ऋचं साम यजामहे" इति पूर्वमन्त्रसहितया च आज्यं जुहुयात्। "ऋचं सामेत्यनुप्रवचनीयस्य जुहोति। युक्ताभ्यां तृतीयाम्" इति हि [कौ० ५. ६] सूत्रितम्॥

मार्गस्वस्त्ययनकर्मणि "ये ते पन्थानः" इत्येताम् ऋचं जपन् प्रथमं दक्षिणपादप्रक्षेपपुरःसरं गच्छेत्॥

तथा सर्वस्वस्त्ययनकर्मणि असंख्याताः शर्करास्तृणानि वा अनया अभिमन्त्र्य गृहक्षेत्रादिषु प्रक्षिपेद् इन्द्रम् उपतिष्ठेत वा॥

सूत्रितं हि। "स्वस्तिदाः [१. २१] ये ते पन्थानः [७. ५७. २] इत्यध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामति। असंख्याताः शर्करास्तृणानि क्षिप्त्वोपतिष्ठते" इति [कौ० ७. १]॥

वृश्चिकमशकपिपीलिकाशर्कोटकादिविषभैषज्यार्थं "तिरश्चिराजेः" इत्यष्टर्चेन मधुकम् अभिमन्त्र्य वृश्चिकादिदष्टं पाययेत्॥

तथा तत्रैव कर्मणि क्षेत्रमृत्तिकां वल्मीकमृत्तिकां वा सजीवपशुचर्मावेष्टिताम् अनेन अष्टर्चेन संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। केवलां मृत्तिकाम् अभिमन्त्र्य उदकेन पाययेत्॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनैव उदपात्रं हरिद्रामिश्रम् आज्यं वा संपात्य अभिमन्त्र्य पाययेत् ॥

सूत्रितं हि । "तिरश्चिराजेरिति मन्त्रोक्तम् । आकृतिलोष्टवल्मीकौ परिवेष्ट्य । पायनानि" इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा उपाकर्मणि "अरसस्य शर्कोटस्य" इत्यनया आज्यं जुहुयात् । अरसस्य शर्कोटस्य [७. ५८. ५] इन्द्रस्य प्रथमो रथः" [१०. ४] इति हि सूत्रितम् [कौ० १४. ३] ॥

अध्यापकोंके अर्थाजनके विघ्नको शांत करनेके लिये "ऋचं सामयद् अप्राक्तम्" केवल इस ऋचासे और "ऋचं साम यजामहे" पूर्व ऋचा सहित ऋचासे भी घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ६ का प्रमाण भी है, कि–"ऋचं सामेत्यनुप्रवचनीयस्य जुहोति । युक्ताभ्यां तृतीयाम्" ॥

मार्गस्वस्त्ययनकर्ममें 'ये ते पन्थानः' इस ऋचाका जप करता हुआ पहि दाहिने पैरको रख कर चले ।

तथा सर्वस्वस्त्ययनकर्ममें असंख्य धूलिकण और तिनकोंको इस ऋचासे अभिमन्त्रित करके घर क्षेत्र आदिमें फेंके । वा इन्द्र का उपस्थान करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"स्वस्तिदाः (१ । २१) ये ते पन्थानः (७ । ५७ । २) इत्यध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामति । असंख्याताः शर्करास्तृणानि क्षिप्त्वोपतिष्ठते" (कौशिकसूत्र ७ । १) ॥

बीछू मच्छर चीटीं शर्कोटक आदिके विषकी चिकित्साके लिये "तिरश्चः तिराजेः" इस अष्टर्चसे मधुशको अभिमन्त्रित करके बीछू आदिके काटे हुएको पिला देवे ॥

तथा तहाँ ही कर्ममें खेतकी मट्टीको वा वमईकी मट्टीको-सजीव पशुके चाममें लपेट कर इस अष्टर्चसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे, केवल मट्टीको अभिमन्त्रित करके जलके साथ पिलादेय

११८२

तथा इसी कर्ममें इससे जलपूर्ण पात्रका वा हल्दी मिले हुए घीका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके पिला देय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"तिरश्चिराजेति मन्त्रोक्तम् । आकृतिलोष्ठवल्मीकौ परिवेष्ट्य । पायनानि" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा उपाकर्ममें "अरसस्य शर्कोटस्य" ऋचासे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १४ । ३ का प्रमाण भी है, कि— "अरसस्य शर्कोटस्य" (७।५८।५) इन्द्रस्य प्रथमो रथः (१०।४)" ॥

तत्र प्रथमा ॥

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥ १ ॥

ऋचम् । साम । यत् । अप्राक्षम् । हविः । ओजः । यजुः । बलम् ।
एषः । मा । तस्मात् । मा । हिंसीत् । वेदः । पृष्टः । शचीऽपते १

ऋचम् ऋग्वेदं हविः अप्राक्षम् पृच्छामि स्म । साम सामवेदम् ओजः । शरीरधारकोष्टमो धातुरोज इत्युच्यते । तद् अप्राक्षम् । यजुः यजुर्वेदं बलम् बाह्यं वीर्यम् अप्राक्षम् । ऋचा याज्यारूपया हविर्हूयत इति ऋग्वेदं प्रति हविःप्रश्नः । माध्यन्दिनसवने गीयमानानां पृष्ठस्तोत्राणां यज्ञप्राणत्वेन ताण्डकब्राह्मणे संस्तवात् सामवेदं प्रति आन्तरबलरूपौजःप्रश्नः । यजुषा यज्ञशरीरनिर्वृत्तेर्यजुर्वेदं प्रति बलप्रश्नः । ❀ "अकथितं च" इति ऋगादेः कर्मता । अप्राक्षम् इति । पृच्छतेर्लुङि "एकाचः०" इति इण्निषेधे "वदव्रज०" इति हलन्तलक्षणा वृद्धिः ❀ । यच्छब्दो हेत्वर्थे । यत् यस्मात् ऋगादीन् प्रति हविरादिकम् अप्राक्षं तस्मात् कारणात् तत्तदसाधारणधर्मप्रश्नाद्वेदः हे शचीपते इन्द्राणीपते इन्द्र ।

वाग्व्याकरणकर्तृत्वाद्द इन्द्रः संबोध्यते । तथा च तैत्तिरीयकम् । "ताम् इन्द्रो मध्यतोवक्रम्य व्याकरोत् । तस्माद्द इयं व्याकृता वाग् उद्यते" इति [तै० सं० ६. ४. ७. ३.] । हे वागनुशासनकर्तः इन्द्र पृष्टः इत्थं विचारित एषः मया सम्यग् अधीतो वेदः ऋक्साम-यजुरात्मकः मा माम् अध्यापकं मा हिंसीत् मा हिनस्तु । अध्यापननिबन्धनं प्रत्यवायं मा करोतु अपि तु फलम् अभिमतं प्रयच्छत्वित्यर्थः ॥

मैंने ऋग्वेदसे हविको बूझा है, सामवेदसे शरीरधारक अष्टम-धातु ओजको बूझा है और यजुर्वेदसे बलको बूझा है (ताण्डक-ब्राह्मणमें माध्यन्दिनसवनमें गाये जाने वाले पृष्ठ और स्तोत्रोंको यज्ञका प्राण कहा है अत एव सामवेदसे आन्तर बलरूप ओज को बूझा है और यजुर्वेदसे यज्ञशरीरकी निष्पत्ति होती है अत एव यजुर्वेदसे बलके समझनेका वर्णन किया है) क्योंकि-मैंने ऋक् आदिसे हवि आदिको बूझ लिया है इस तत्तदसाधारण-धर्मप्रश्नके कारण हे शचीपते इन्द्र ! + इस प्रकार पढ़ा हुआ वेद मुझ अध्यापककी हिंसा न करे अर्थात् अध्यापनविषयक प्रत्यवायको न करे किंतु अभिमत फलको देवे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ये ते॒ पन्था॒नोव॑ दि॒वो येभि॒र्विश्व॒मैर॑यः ।
तेभि॑ः सुम्न॒या धे॑हि नो वसो ॥ २ ॥

+ वाणीके व्याकरणका कर्ता होनेसे यहाँ इन्द्रदेवको सम्बोधित किया है । इसका प्रमाण तैत्तिरीयसंहिता ६ । ४ । ७ । ३ में है, कि-"ताम् इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते । इन्द्रने इसको मध्यसे पकड़ कर प्रकट किया, इस लिये यह व्याकृत वाणी कहलाती है" ।

ये । ते । पन्थानः । अव । दिवः । येभिः । विश्वम् । ऐरयः ।

तेभिः । सुम्नऽया । आ । धेहि । नः । वसो इति ॥ २ ॥

हे वसो वासयितः वसुमन् वसुप्रद वा इन्द्र ते ये तव पन्थानः मार्गा दिवः द्युलोकस्य अव अवस्ताद् अधोदेशे वर्तन्ते येभिः पथिभिः विश्वम् जगद् ऐरयः प्रेरयसि स्वस्वकर्मसु । ❀ ईर गतौ । छान्दसो लङ् ❀ । तेभिः तैर्विश्वप्रेरणसाधनैर्मार्गैः नः अस्मान् सुम्नया । ❀ सप्तम्या याजादेशः ❀ । सुम्ने सुखे आ धेहि स्थापय ।

हे धनप्रद इन्द्र ! आपके जो मार्ग द्युलोकके अधोदेशमें हैं, कि- जिनसे आप जगत्को अपने २ कर्मोंमें प्रेरित करते रहते हैं, उन विश्वप्रेरणसाधनमार्गोंसे हमको सुखमें स्थापित करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परिः संभृतम् ।
तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

तिरश्चिऽराजेः । असितात् । पृदाकोः । परि । सम्ऽभृतम् ।

तत् । कङ्कऽपर्वणः । विषम् । इयम् । वीरुत् । अनीनशत् ॥ १ ॥

तिरश्चिराजेः तिरश्च्यः तिर्यग्भूता राजयो रेखा यस्य स तिरश्चिराजिः सर्पविशेषः । ❀ तिरःशब्दोपपदाद् अञ्चतेः क्विन्नन्ताद् "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीपि "अचः" इति अकारलोपः । पुंवद्भावाभावश्छान्दसः । "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" इति ङीपो ह्रस्वत्वम् ❀ । तिरश्चीननानारेखोपेतात् सर्पविशेषात् असितात् सितः श्वेतः न सितः असितः तस्मात् कालोरगात् पृदाकोः । ❀ पर्द कुत्सिते शब्दे । "पर्देः सम्प्रसारणं च" इति [उ० ३.८०] आकुप्रत्ययः । तत्संनियोगेन संप्रसारणम् ❀ । पर्दयति कुत्सितं

शब्दयति स्वेन दष्टान् प्राणिन इति पृदाकुः सर्पविशेषः । तस्मात् । ❀ परिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । तिरश्चिराजिप्रभृतेः सर्पविशेषात् सभृतम् संपादितं विषम् । तथा कङ्कपर्वणः एतन्नामकाद् दंशकविशेषात् संभृतं तद् विषम् इयं प्रयुज्यमाना वीरुत् विशेषेण रोहन्ती मधुकाख्या ओषधिः अनीनशत् नाशयतु ॥

जिसमें तिरछी रेखायें पड़ी हुई हैं, ऐसे सर्पसे, काले सर्पसे, अपने काटे हुए प्राणीको पदाने वाले पृदाकु सर्पसे भरे हुए विष को और कंकपर्वा नामक काटने वाले प्राणीसे भरे हुए विषको यह मधुक नाम वाली औषधि नष्ट करे ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

इ॒यं वी॒रुन्मधु॑जाता मधु॒श्चुन्म॑धु॒ला म॒धूः ।
सा विह्रु॑तस्य भेष॒ज्यथो॑ मशक॒जम्भ॑नी ॥ २ ॥

इ॒यम् । वी॒रुत् । मधु॑ऽजाता । म॒धु॒ऽश्चुत् । म॒धु॒ला । म॒धूः ।
सा । विऽह्रुतस्य । भे॒ष॒जी । अथो॒ इति॑ । म॒श॒क॒ऽजम्भ॑नी ॥२॥

इयं प्रयुज्यमाना वीरुत् ओषधिः मधुजाता मधुनो निष्पन्ना अत एव मधुश्च्युत् मधुरं रसं श्च्योतति क्षरतीति मधुश्च्युत् मधुररसस्राविणी मधुला मधुमती । ❀ “सिध्मादिभ्यश्च” इति लो मत्वर्थीयः ❀ । मधूः नामतः । सा एतत्संज्ञा उक्तविधगुणोपेता मधुकाख्या ओषधिः विह्रुतस्य विशेषेण कौटिल्यकारिणो विषस्य भेषजी प्रतिकर्त्री । ❀ हृ कौटिल्ये । “ह्रु ह्वरेश्छन्दसि” इति निष्ठायां ह्रु इत्यादेशः ❀ । अथो अपि च मशकजम्भनी । ❀ जभतिर्हिंसाकर्मा ❀ । मशकानां दंशकानां हिंसित्री ॥

यह प्रयोगकी जाती हुई औषधि मधुसे निष्पन्न हुई है अत एव मधुर रसको बहाती है, मधुमयी है, और मधु नाम वाली है

और यह औषधि कुटिलता करने वाले विषकी औषधि है तथा काटने वाले प्राणियोंका हिंसन करने वाली है ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

यतो॑ द॒ष्टं यतो॑ धी॒तं तत॒स्ते॒ निर्ह्व॑यामसि ।
अ॒र्भस्य॑ तृ॒प्रद॒ंशिनो॑ म॒शक॑स्यार॒सं वि॒षम् ॥ ३ ॥

यतः॑ । द॒ष्टम् । यतः॑ । धी॒तम् । ततः॑ । ते॒ । नि । ह्व॒या॒म॒सि॒ ।
अ॒र्भस्य॑ । तृ॒प्र॒ऽद॒ंशिनः॑ । म॒शक॑स्य । अ॒र॒सम् । वि॒षम् ॥ ३ ॥

विषदष्टं संबोध्य उच्यते । यतः । ❀ सप्तम्यर्थे तसिः ❀ । यस्मिन् प्रदेशे दष्टम् । सर्पादिनेति शेषः । ❀ भावे निष्ठा ❀ । तथा यतः यस्मिन् प्रदेशे धीतम् पीतं सर्पादिना । ❀ धेट् पाने । भावे निष्ठा । "घुमास्था०" इति ईत्वम् ❀ । हे सर्पदष्ट पुरुष ते तव ततः तस्माद्द अवयवाद्द निर्वयामसि विषं निर्गमयामः । ❀ अय वय पय मय चय तय गतौ । अन्तर्भावितण्यर्थः । तथा त्रिप्रदंशिनः त्रिभिर्मुखपुच्छपादरूपैरङ्गैः प्रकर्षेण दशतीति त्रिप्रदंशी । ❀ "बहुलम् आभीक्ष्ण्ये" इति दंशेर्णिनिः ❀ मुखपुच्छाभ्यां पादेन च दष्टवतः अर्भस्य अर्भकस्य अल्पस्य अल्पसामर्थ्यस्य वा मशकस्य विषम् अरसम् निर्वीर्यम् ।

श्रृङ्गारादौ रसे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः ।

इति-वचनाद्द रसशब्दो वीर्यवाची । निर्वीर्यं निर्वयामसीति संबन्धः । विषं मूर्च्छनादिविकारानुत्पादकं कुर्म इत्यर्थः ॥

(हे विषदष्ट) तेरे जिस अंगमें सर्प आदिने काट लिया है तथा जिस देशमें सर्प आदिने पीलिया है, हे सर्पदष्ट पुरुष ! तेरे उस अंगसे हम विषको निकालते हैं, तथा मुख पूँछ और पैर इन तीन अंगोंसे काटने वाले त्रिप्रदंशी अल्पवीर्य मच्छरके विष

को हम निर्वीर्य करते हैं अर्थात् उसके विषको मूर्च्छा आदि विकारोंको न कर सकने वाला करते हैं ॥ ३ ॥

षष्ठी ॥

अ॒यं यो व॒क्रो विप॑रु॒र्व्य॑ङ्गो॒ मुखा॑नि व॒क्रा वृ॑जि॒ना कृ॒णोषि॑
ता॑नि॒ त्वं ब्र॑ह्मणस्पत इ॒षीका॑मिव॒ सं न॑मः ॥ ४ ॥

अ॒यम् । यः । व॒क्रः । विऽप॑रुः । विऽअ॑ङ्गः । मुखा॑नि । व॒क्रा ।
वृ॒जि॒ना । कृ॒णोषि॑ ।
ता॑नि । त्वम् । ब्र॒ह्म॒णः॒ । प॒ते॒ । इ॒षीका॑म्ऽइव । स॑म् । न॒मः॒ ४

योयं सर्पादिना दष्टः पुरुषः वक्रः कुटिलावयवः संकोचितावयवः विपरुः । परुः पर्वः । विश्लिष्टपर्वा विगतसंधि व्यङ्गः विवशावयवः । एवंभूतः सन् मुखानि । आदिशब्दाध्याहारः । मुखादीनि अङ्गानि । मुखगतावयवापेक्षया वा बहुवचनम् । वक्रा वक्राणि कुटिलानि अतएव वृजिना वृजिनानि कष्टानि अनवस्थितानि । अङ्गानां यथासंनिवेशम् अनवस्थानाद् वृजिनत्वम् । तथाविधानि कृणोषि । ❀ पुरुषव्यत्ययः ❀ । कृणोति करोति हे ब्रह्मणस्पते ब्रह्मणो मन्त्रस्य पालक विषनिर्हरणमन्त्रसामर्थ्यप्रद एतन्नामक देव त्वं तानि दष्टपुरुषसंबन्धीनि वक्रत्वाद्यवस्थापन्नानि अङ्गानि सं नमः संनमय ऋजूकुरु । तत्र दृष्टान्तः इषीकामिवेति । यथा इषीकाम् पूर्वम् ऋजुं दीर्घां बलात् कौटिल्यं प्रापितां पश्चात् कौटिल्यपरिहारेण सहजम् आर्जवं प्रापयन्ति तद्वत् । एवं सर्पादिविषेण कौटिल्यं गतं विषनिर्हरणेन यथावस्थितम् ऋजुं कुर्वित्यर्थः । ❀ नमेः अन्तर्णीतण्यर्थात् पञ्चमलकारे अडागमः ❀ ॥

यह जो पुरुष सर्प आदिके काटनेसे अपने अंगोंको सकोड़ रहा

है और इसके जोड़ ढीले पड़ रहे हैं और यह जो मुख आदि अंगों को कुटिल और अनवस्थित कर रहा है। हे विषको दूर करनेकी मन्त्रशक्तिको देने वाले ब्रह्मणस्पते देव! आप डसे हुए पुरुषके टेढ़े हुए अंगोंको इस प्रकार सरल कर दीजिये; कि जिस प्रकार पहिले सीधी लम्बी सींकको बलपूर्वक नमा लेते हैं फिर उसको सीधी कर देते हैं, इसी प्रकार सर्प आदिके विषसे कुटिलताको प्राप्त हुए इसको विष हटा कर ऋजु (सरल) करिये ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः।
विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥

अरसस्य। शर्कोटस्य। नीचीनस्य। उपऽसर्पतः।
विषम्। हि। अस्य। आऽअदिषि। अथो इति। एनम्। अजीजभम् ५

अरसस्य निर्वीर्यस्य विषसामर्थ्यरहितस्य नीचीनस्य न्यग्भूतस्य अवाङ्मुखस्य उपसर्पतः समीपं गच्छतः अस्य शर्कोटस्य एतन्नामधेयस्य सर्पविशेषस्य विषम् अदिषि खण्डितवान् अस्मि। हिः अवधारणे। विषम् अनीनशमेव। ❀ दो। अवखण्डने। अस्मात् लुङि व्यत्ययेन आत्मनेपदम्। "स्थाघ्वोरिच्च" इति धातोः इत्वम्। सिचः कित्वम् ❀ ॥ अथो अपि च एनं विषिणं शर्कोटम् अजीजभम् अनीनशम्। शर्कोटनामकं सर्पं तद्विषं च मन्त्रसामर्थ्येन अहं प्रयोक्ता अहिंसिषम् इत्यर्थः ॥

विषशक्तिविहीन नीचेको मुख करके समीपमें चलते हुए इस शर्कोटक नामक सर्पके विषको मैंने नष्ट कर दिया है और इस विष वाले सर्पको भी मैंने नष्ट कर दिया है। तात्पर्य यह है, कि मुझ मन्त्रप्रयोक्ताने शर्कोटक नामक सर्पको और उसके विषको भी मन्त्रशक्तिसे नष्ट कर दिया है ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

न ते॑ बा॒ह्वोर्बल॑मस्ति॒ न शी॒र्षे नोत म॑ध्य॒तः ।
अ॒थ किं पा॒पया॑मु॒या पुच्छे॑ बिभर्ष्यर्भ॒कम् ॥ ६ ॥

न । ते॒ । बा॒ह्वोः । बल॑म् । अ॒स्ति॒ । न । शी॒र्षे । न । उ॒त । म॒ध्य॒तः ।
अथ॑ । किम् । पा॒पया॑ । अ॒मु॒या । पुच्छे॑ । बि॒भ॒र्षि॒ । अ॒र्भ॒कम् ॥६॥

अत्र पुच्छेन दंशी वृश्चिकः संबोध्यते । हे वृश्चिक ते तव बाह्वोः हस्तयोः बलं परपीडाकारि सामर्थ्यं नास्ति । तथा शीर्षे शिरसि बलं नास्ति । उत अपि च मध्यतः । ❀ सप्तम्यर्थे तसिः ❀ । मध्ये मध्यावयवे बलं नास्ति । अथेति प्रश्ने । अमुया अनया । ❀ अदःशब्दात् तृतीयैकवचने "अदसोसेर्दादु दो मः" इति उत्वमत्वे ❀ । पापया पापिष्ठया परपीडाकारिण्या बुद्ध्या अर्भकम् । ❀ अर्तेः औणादिके भन्प्रत्यये अर्भः । सः अल्पार्थवाची । तस्माद्द "अल्पे च" इति अल्पार्थे कन् प्रत्ययः ❀ । अत्यल्पं विषं पुच्छे किं बिभर्षि किमर्थं धारयसि । बाह्वादिस्थानेषु विषं नास्ति । पुच्छेपि वर्तमानम् अत्यल्पमेव । तदपि परपीडायै वहसि । तेनापि परपीडा न भवतीत्यर्थः ॥

(अब पूँछसे डसने वाले बिच्छूको सम्बोधित करके कहते हैं, कि—) हे वृश्चिक ! तेरी भुजाओंमें दूसरोंको पीड़ा पहुँचाने वाला बल नहीं है और तेरे शिर तथा मध्यमें भी दूसरोंको पीड़ा देने वाला बल नहीं है, फिर तू दूसरोंको कष्ट पहुँचाने वाली बुद्धिवश स्वल्पसे विषको पूँछमें क्या लिये फिरता है ? अर्थात् तू जिस को पीड़ा पहुँचानेके लिये पूँछमें लिये फिरता है उससे दूसरेको पीड़ा नहीं होसकती ॥ ६ ॥

नवमी ॥

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः ।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥ ७ ॥

अदन्ति । त्वा । पिपीलिकाः । वि । वृश्चन्ति । मयूर्यः ।
सर्वे । भल । ब्रवाथ । शार्कोटम् । अरसम् । विषम् ॥ ७ ॥

अत्र पूर्वार्धे सर्पः संबोध्यते । उत्तरार्धे विषनिर्हरणक्षमाः संबोध्यन्ते । हे सर्प त्वा त्वां पिपीलिका अदन्ति भक्षयन्ति । मयूर्यः मयूरस्त्रियः । ❀ "जातेरस्त्रीविषयाद् अयोपधात्" इति ङीष् ❀ । वि वृश्चन्ति विशेषेण छिन्दन्ति सर्पम् । ❀ ओव्रश्चू छेदने । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ ॥ हे सर्वे सर्पविषनिर्हरणक्षमा यूयं शार्कोटम् । शर्कोटो नाम सर्पविशेषः । तस्य संबन्धि । ❀ "तस्येदम्" इति अण् ❀ । विषम् अरसम् निर्वीर्यं भलब्रवाथ साधु ब्रूत । ❀ भल भल्ल परिभाषणहिंसादानेषु । अस्मात् पचाद्यचि भल इति भवति । स साध्वर्थवाची । क्रियाविशेषणम् एतत् । सह इति योगविभागात् । तिङन्तेन समासः । ब्रूञः पञ्चमलकारे "लेटोडाटौ" इति आडागमः ❀ ॥

हे सर्प ! तुझको चीटियें खा डालती हैं और मोरनियें टुकड़े टुकड़े उड़ा देती हैं । हे सर्पविषको दूर करनेमें समर्थ औषधियों ! तुम शर्कोटकके विषको निर्वीर्य कहो ॥ ७ ॥

दशमी ॥

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च ।
आस्ये३ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

यः । उभाभ्याम् । प्रऽहरसि । पुच्छेन । च । आस्येन । च ।
आस्ये । न । ते । विषम् । किम् । ऊं इति । ते । पुच्छऽधौ । असत् ८

अत्र वृश्चिकः संबोध्यते । हे वृश्चिक यस्त्वं पुच्छेन आस्येन उभाभ्याम् । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । ताभ्यां प्रहरसि अन्यान् बाधसे तथापि आस्यपुच्छयोर्मध्ये ते तव आस्ये मुखे विषं न । अस्तीति शेषः । ते तव पुच्छधौ । पुच्छं धीयतेत्रेति पुच्छधिः । पुच्छशब्देन तद्गतरोमाणि विवक्ष्यन्ते । पुच्छधिशब्देन रोमवान् अवयवः । उशब्दः अप्यर्थे । तत्र पुच्छेपि किम् असत् विषं किं स्यात् । न भवेद् इत्यर्थः । अतो मुखपुच्छयोर्विषाभावाद् वृश्चिको न बाधत इत्यर्थः । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

[इति] पञ्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे वृश्चिक ! तू पूँछ और मुख दोनोंसे प्रहार करता है तथापि मुख और पूँछ इन दोनोंमेंसे तेरे मुखमें विष नहीं है, फिर तेरी पूँछमें भी क्या थोड़ासा विष होगा ? ॥ ८ ॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३७३) ॥

याचकानाम् अभिलषितार्थप्राप्तये "यद् आशसा" इति द्वाभ्यां सरूपवत्साया गोर्दुग्धेन श्रृतं पायसं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् । "यं याचामि [५. ७. ५.] यद् आशसा [७. ५६] इति याचिष्यन् मन्त्रोक्तानि" इति हि सूत्रितम् [कौ० ५. १०] ॥

उक्थ्यक्रतौ मैत्रावरुणयाज्याहोमानुमन्त्रणम् 'इन्द्रावरुणा सुतपौ' इत्यनया कुर्यात् । उक्तं वैताने । "एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ [७. ६०] बृहस्पतिर्नः [७. ५३] उभा जिग्यथुः" [७. ४५] इति [वै० ४. १] ॥

अभिचारकर्मणि "यो नः शपात्" इत्यनया अशनिहतवृक्षसमिध आदध्यात् ॥

याचकोंके अभिलषित अर्थकी प्राप्तिके लिये ‘यद् आशसा’ इन दोसे सरूपवत्सा गौके दूधमें बने पायसको सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–“यं याचामि (५ । ७ । ५) यद् आशसा (७ । ५९) इति याचिष्यन् मन्त्रोक्तानि” (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

‘इन्द्रावरुणा सुतपौ’ इस ऋचासे उक्थ्यक्रतुमें मैत्रावरुणयाज्याहोमका अनुमन्त्रण करे ॥ इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि–“एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ (७ । ६०) बृहस्पतिर्नः (७ । ५३) उभा जिग्यथुः (७ । ४५) इति (वैतानसूत्र ४ । १) ॥

अभिचारकर्ममें “यो नः शपात्” इस ऋचासे अशनिसे मारे हुए वृक्षकी समिधाओंको रक्खे ॥

तत्र प्रथमा ॥

यदा॒शसा॒ वद॑तो मे विचुक्षु॒भे यद् याच॑मानस्य॒ चर॑तो॒

जनाँ॒ अनु॑ ।

यदा॒त्मनि॑ त॒न्वो॑ मे॒ विरि॑ष्टं॒ सर॑स्वती॒ तदा॑ पृ॑णद् घृ॒तेन॑

यत् । आ॒ऽशसा॑ । वद॑तः । मे॒ । वि॒ऽचु॒क्षु॒भे । यत् । याच॑मानस्य ।

चर॑तः । जना॑न् । अनु॑ ।

यत् । आ॒त्मनि॑ । त॒न्वः॑ । मे॒ । विऽरि॑ष्टम् । सर॑स्वती । तत् । आ ।

पृ॒ण॒त् । घृ॒तेन॑ ॥ १ ॥

वदतः याचितुं दातॄन् व्यक्तं भाषमाणस्य मे मम यद् अङ्गम् आशसा । ❀ शसु हिंसायाम् । संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ❀। आशसनेन दातृभिः कृतेन याञ्चाप्रतिघातेन भर्त्सनप्रहरणादिरूपेण

हिंसनेन वा विचुक्षुभे विशेषेण क्षुभितं याच्यमानवस्त्वलाभेन विक्षिप्तम् आसीत् तथा याचमानस्य। ❀ "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेत्वर्थे शानच् प्रत्ययः ❀। याचनाद्धेतोः जनान् दातॄन् अनु अनुलक्ष्य। ❀ "अनुर्लक्षणे" इति [अनुः] कर्मप्रवचनीयः ❀। वीप्सार्थे वा अनुः कर्मप्रवचनीयः। जनान्जनान् चरतः गच्छतः परिभ्राम्यतो मम यद् अङ्गं विचुक्षुभे इष्टफलप्राप्त्यभावेन पर्याकुलम् आसीत् मे मम तन्वः शरीरस्य विरिष्टम्। ❀ रिषेर्हिंसार्थान्निष्ठा ❀। विशेषेण बाधितं क्लिष्टं तत् अङ्गम् आत्मानि मय्येव क्षोभरहितं सरस्वती। स्थापयत्विति शेषः। यद्वा आत्मशब्दः स्वभाववाची। याञ्चायाः पूर्वं यथा क्षोभरहितं तथा स्वभावे स्थापयतु। न केवलं क्षोभराहित्यम् अपि तु सरस्वती वाग्देवता तद् अङ्गं घृतेन घृतवत्सारभूतेन फलेन आ पृणत् आपूरयतु। ❀ पृण प्रीणने। लेटि आडागमः ❀॥

याचना करनेके लिये दाताओंसे स्पष्टतासे भाषण करने वाले मेरा जो अंग याञ्चाके प्रतिघातसे वा भर्त्सन प्रहरण आदि हिंसा से विक्षिप्त होरहा है अर्थात् प्रार्थित वस्तुके न मिलनेसे विक्षिप्त हो गया है। और याचनाके कारण प्रत्येक मनुष्यके पास घूमते हुए मेरा जो अंग इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके अभाववश व्याकुल होरहा है, मेरे शरीरके उस विशेषरूपसे बाधित अंगको सरस्वती देवी स्वाभाविक दशामें ही स्थापित करे। वह केवल क्षोभरहित ही न करे, किंतु वाग्देवता सरस्वती उस अंगको घृतकी समान सारभूत फलसे पूर्ण करे॥ १॥

द्वितीया॥

स॒प्त क्ष॑रन्ति॒ शिश॑वे म॒रुत्व॑ते पि॒त्रे पु॒त्रासो॒ अप्य॑वी-
वृतन्नृ॒तानि॑।

उभे इदंस्योभे अंस्य राजत उभे यंतेते उभे अंस्य
पुष्यतः ॥ २ ॥

सप्त । क्षरन्ति । शिशवे । मरुत्वते । पित्रे । पुत्रासः । अपि ।
अवीवृतन् । ऋतानि ।

उभे इति । इत् । अस्य । उभे इति । अस्य । राजतः । उभे इति ।
यतेते इति । उभे इति । अस्य । पुष्यतः ॥ २ ॥

मरुत्वते मरुद्भिर्युक्ताय शिशवे अपां पुत्रभूताय वरुणाय सप्त नद्यः क्षरन्ति स्रवन्ति । "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिंधवः" इति हि दाशतय्याम् आम्नायते [ऋ० ८. ६९. १२]। "अपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः" इति मन्त्रान्तरम् [तै० सं० १. ८. १२. १]। यद्वा मरुत्वत्पदसामर्थ्याद् इन्द्र उच्यते । मरुत्वते मरुद्भिस्तद्वते शिशवे । ❀ शो तनूकरणे इत्यस्माद् उत्पन्नः शिशुशब्दः ❀ । शत्रूणां शातयित्रे इन्द्राय । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । तस्माद्वया सप्त सर्पणशीलाः स्रवणशीलाः सप्तसंख्याका वा नद्यः क्षरन्ति प्रवहन्ति । तथा च दाशतय्यां नदीवाक्यत्वेन अयं मन्त्र आम्नायते ।

इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुरपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।
देवोनयत् सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥

इति [ऋ० सं० ३. ३३. ६]॥ किं च पित्रे । पितृशब्देन द्युलोक उच्यते । "द्यौः पिता पृथिवी माता" इति [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ५] मन्त्रवर्णात् । द्युलोकस्थिताय इन्द्राय इन्द्रप्रमुखाय देवगणाय वा । ❀ तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम् ❀ । पुत्रासः । ❀ पुत्रः पुरु त्रायते इति निरुक्तम् [नि० २. ११] ❀ । हविःप्रदानादिना पोषकाः पुत्रभूता वा मनुष्याः । अपिशब्दः चार्थे ।

ऋतानि सत्यभूतानि यज्ञादिरूपाणि कर्माणि अवीवृतन् वर्तयन्ति अनुतिष्ठन्ति । ❀ वर्ततेर्ण्यन्तात् लुङि चङि "उर्ऋत्" इति ऋकारादेशः ❀ ॥ उभे द्विवचनसामर्थ्याद् द्यावापृथिव्यावुच्येते । इत् अवधारणे । ते एव अस्य पितृपुत्रशब्दव्यवहृतस्य देवमनुष्यात्मकस्य संघस्य । निवासस्थाने भवत इति शेषः । तथा उभे द्यावापृथिव्यौ अस्य देवमनुष्यसंघस्य राजतः ईश्वर्यौ भवतः । ❀ राजतिः ऐश्वर्यकर्मा ❀ । तेषाम् आश्रयत्वेन तयोः स्वामित्वम् । उभे द्यावापृथिव्यौ यतेते प्रयत्नं कुरुतः देवमनुष्यार्थम् । ❀ यती प्रयत्ने ❀ । तथा उभे द्यावापृथिव्यौ अस्य । ❀ कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । इमं देवमनुष्यसंघं पुष्यतः अन्नोदकैः पोषयतः । "भूमिं पर्जन्याः जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः" इति [ऋ० १. १६४. ५१] श्रुत्यन्तरात् । द्यावापृथिवीकर्तृकपोषणलिङ्गाद् याचकाभिलषितप्राप्तौ अस्य मन्त्रस्य विनियोगोऽभिहितः ॥

मरुतोंसे युक्त जलोंके पुत्र रूप वरुणदेवके निमित्त सात नदियें बहती रहती हैं † । अथवा मरुतों सहित शातन करने वाले इन्द्रदेवकी आज्ञासे सात नदियें बहती रहती हैं । द्युलोकरूप ‡ पिता के लिये द्युलोकस्थित इन्द्रप्रमुख देवताओंके लिये हविःप्रदान आदि पोषण करने वाले पुत्रस्वरूप मनुष्य, यज्ञ आदि कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं । द्यावा और पृथिवी इस पिता पुत्र शब्दसे व्यवहृत देवमनुष्यसंघके ईश्वर हैं, और ये दोनों देवता और मनुष्यों के कल्याणके लिये यत्न करते रहते हैं तथा वे देवता और

---

† ऋग्वेदसंहिता ८ । ६९ । १२ में कहा है, कि—"सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिंधवः" तथा तैत्तिरीयसंहिता १ । ८ । १२ । १ में कहा है, कि—"अपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः" ॥

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ७ । ५ । ५ में कहा है, कि—द्यौः पिता पृथिवी माता ।—द्यौः पिता है, पृथिवी माता है"

मनुष्योंको अन्न और जलसे पुष्ट करते रहते हैं ÷ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रा॑वरुणा सुतपा॒वि॒मं सु॒तं सोमं॑ पिब॒तं मद्यं॑ धृतव्रतौ ।
यु॒वो रथो॑ अध्व॒रो दे॒ववी॑तये॒ प्रति॒ स्वस॑र॒मुप॑ यातु पी॒तये

इन्द्रा॑वरुणा । सु॒त॒ऽपौ॒ । इ॒मम् । सु॒तम् । सोम॑म् । पि॒ब॒त॒म् । मद्य॑म् ।
धृ॒त॒ऽव्र॒तौ॒ ।

यु॒वोः । रथः॑ । अ॒ध्व॒रः । दे॒वऽवी॑तये । प्रति॑ । स्वस॑रम् । उप॑ ।
या॒तु॒ । पीत॑ये ॥ १ ॥

हे सुतपौ सुतस्य अभिषुतस्य सोमस्य पातारौ हे धृतव्रतौ विधृतकर्माणौ हे इन्द्रावरुणा इन्द्रावरुणौ मद्यम् मदार्हं मदकरं तृप्तिकरम् इमम् अस्मदीयं सुतम् अभिषुतं सोमं पिबतम् । तदर्थं युवोः युवयोः अध्वरः हिंसारहितः शत्रुभिरपराजितो रथः पीतये युवयोः सोमपीताय देववीतये देवकामाय । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । यजमानस्य स्वसरम् गृहं प्रति उप यातु समीपे आगच्छतु ॥

हे अभिषुत सोमका पान करने वाले, कर्मधारी इन्द्र और वरुण देवताओं ! मद करने वाले तृप्तिमद इस निचोड़े हुए सोम को पिओ । और इस लिये तुम्हारा अपराजित रथ तुम दोनोंको सोम पिलाने वाले देवकाम यजमानके घरके समीप ले आवे २

÷ ऋग्वेदसंहिता १ । १६४ । ५१ में कहा है, कि—"भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ।—भूमिको मेघ तृप्त करते करते हैं और अग्नियें द्यौको तृप्त करती हैं ।" अत एव द्यावापृथिवीकर्तृकपोषणलिंगसे याचककी अभिलषितप्राप्तिमें इस मन्त्रका विनियोग कहा है ।

चतुर्थी ॥

इन्द्रा॑वरुणा॒ मधु॑मत्तमस्य॒ वृष्ण॒ः सोम॑स्य वृष॒णा वृ॑षेथाम्

इ॒दं वा॒मन्धः॒ परि॑षिक्तमा॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयेथाम्

इन्द्रा॑वरुणा । मधु॑मत्ऽतमस्य । वृष्णः॑ । सोम॑स्य । वृ॒ष॒णा॒ । आ ।
वृ॒षे॒था॒म् ।

इ॒दम् । वा॒म् । अन्धः॑ । परि॑ऽसिक्तम् । आ॒ऽसद्य॑ । अ॒स्मिन् ।
ब॒र्हिषि॑ । मा॒द॒ये॒था॒म् ॥ २ ॥

हे वृषणा वृषणौ अभिमतफलस्य वर्षकौ हे इन्द्रावरुणा इन्द्रावरुणौ युवां मधुमत्तमस्य अतिशयेन माधुर्योपेतस्य वृष्णः वर्षितुः अभिमतस्य सेक्तुः सोमस्य । भागम् इति शेषः । सोमं वा आ वृषेथाम् । आश्नीतम् इत्यर्थः । "यथाभागम् आवृषायध्वमिति यथाभागम् अश्नीतेत्येवैतदाह" इति [श० ब्रा० २, ४. २. २०] वाजसनेयश्रुतेः । वाम् युवयोरर्थाय इदम् अन्धः अन्नं सोमलक्षणं परिषिक्तम् ग्रहचमसपात्रेषु अस्माभिः परितः सिक्तम् । अतः अस्मिन् स्तीर्णे बर्हिषि आसद्य उपविश्य मादयेथाम् सोमपानेन तृप्तौ भवतम् ॥

हे अभिमत फलकी वर्षा करनेवाले इन्द्र और वरुण देवताओ ! तुम परम मधुरता भरे अभिमतफलवर्षी सोमके भागका भक्षण करो, तुम्हारे लिये यह सोमलक्षणरूप अन्न ग्रह चमस आदि पात्रोंमें सिक्त है, अतः इस फैले हुए कुशासन पर बैठ कर सोमपानसे तृप्त होओ ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

यो न॒ः शपा॒दश॑पत॒ः शप॑तो॒ यश्च॑ न॒ः शपा॑त् ।

वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात् ।
वृक्षःऽइव । विऽद्युता । हतः । आ । मूलात् । अनु । शुष्यतु ॥१॥

यः शत्रुः अशपतः सनिन्दम् उपालम्भम् अकुर्वाणान् नः अस्मान् शपात् निन्दावाक्यैर्भर्त्सयेत् । यश्च शपतः परुषवाक्यप्रयोक्तॄन् नः अस्मान् शपात् पुनर्निन्देत् स शत्रुः विद्युता अशन्या हतः भस्मीकृतो वृक्ष इव स यथा मूलसहितः शुष्यति एवम् आ मूलात्-। ❀ अभिविधावाकारः ❀ । पितृपुत्रादिभिः सहितः अनु शुष्यतु अनुक्रमेण विनश्यतु । ❀ शुष शोषे । दिवादिः ❀ ॥

तृतीयं सूक्तम् ॥ [इति] सप्तमे काण्डे पञ्चमोनुवाकः ॥

जो शत्रु हम निन्दनीय उपालम्भ न देने वालोंको निन्दावाक्योंसे धमकावे और जो कठोर वाक्यका प्रयोग करने वाले हमारी पुनर्निन्दा करे वह शत्रु विजलीसे मारे हुए वृक्षकी समान मूलसहित सूख जावे। पिता पुत्र आदिसहित अनुक्रमसे सूख जावे १

तृतीय सूक्त समाप्त (३७६) ॥

अथर्ववेदसंहिताके सप्तम काण्डमें पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

षष्ठेनुवाके चत्वारि सूक्तानि । तत्र "ऊर्जं बिभ्रत्" इति आद्ये सूक्ते आदितः षडृचं देशान्तराद् आगतः स्वगृहं दृष्ट्वा समिधो गृहीत्वा प्रजपन् स्वगृहम् आगत्य हस्तस्थाः समिधो वामेन हस्तेन धृत्वा वलीकतृणानि दक्षिणेन हस्तेन स्पृष्ट्वा षडृचं जपित्वा गृहं प्रविश्य आहितेऽग्नौ अनेन षडृचेन ताः समिधः पुष्ट्यर्थम् आदध्यात् । सूत्रितं हि । "ऊर्जं बिभ्रद् इति गृहसंकाशे जपति । सव्येन समिधो दक्षिणेन शालावलीकं संस्तभ्य जपति । अतिव्रज्य समिध आधाय" इति [कौ० ३. ७] ॥

स्वगृहे वर्तमानानां सर्वेषां सांमनस्यार्थं च समिध आनीय

"ऊर्जं बिभ्रत्" इति सूक्तं जपित्वा ताः समिधः सकृद् आदध्यात्। तद् उक्तं संहिताविधौ। "समिध आदाय ऊर्जं बिभ्रद् इति असंकल्पयन्नेत्य सकृद् आदधाति" इति [कौ० ५. ६]॥

तथा क्रव्याद्विसर्जनानन्तरं सर्वेपि एतत् सूक्तं जपन्तो यजमानगृहं प्रविशेयुः। "निःसालाम् [२. १४] इति शालानिवेशनं संप्रोक्ष्य ऊर्जं बिभ्रत् [७. ६२] इति प्रपादयति" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ६. ४]॥

तथा अन्त्येष्टौ शवदहनानन्तरं संस्कर्ता "ऊर्जं बिभ्रत्" इति षडृचं जपन् स्वकीयात् स्वगृहं प्रवेशयेत्॥

"इहैव स्त" इत्यनया प्रवासं करिष्यन् स्वकीयान् गृहान् पुत्रादींश्चावेक्षेत। 'इहैव स्तेति प्रवत्स्यन्नवेक्षते' इति [कौ० ३. ७] सूत्रम्

आग्रहायण्यां "यद् अग्ने तपसा" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां क्षीरौदनपुरोडाशरसानाम् अन्यतमं संपात्य अभिमन्त्र्य मेधाकामः अश्नीयाद् अग्निम् उपतिष्ठेत वा। "यद् अग्ने तपसेत्याग्रहायण्यां भक्षयति अग्निं उपतिष्ठते" इति [कौ० २. १] सूत्रितत्वात्॥

तथा उपनयने अग्निकार्ये आभ्याम् ऋग्भ्याम् अग्निं परिसमूहेत्। "सं मा सिञ्चन्तु [७. ३४] इति त्रिः पर्युक्षति। यद् अग्ने तपसा तपः अग्ने तपस्तप्यामहे [७. ६३] इति द्वाभ्यां परिसमूहति" इति [कौ० ७. ८]॥

आवसथ्याधाने "अयम् अग्निः" इत्येषा महाशान्तिगणे आवपनीया। "पित्र्यम् अग्निः शमयिष्यन्" इति प्रक्रम्य "अयम् अग्निः सत्पतिः [७. ६४] नलम् आ रोह [१२. २] इत्यनुवाकं महाशान्तिं च शान्त्युदक आवपति" इति कौशिकसूत्रात् [कौ० ६. १]॥

तथा अग्निचयने आतिच्छन्दसीष्टकानुमन्त्रणानन्तरम् अनया गार्हपत्ये चीयमानाम् इष्टकां ब्रह्मा अनुमंत्रयेत। तद् उक्तं वैताने।

"अग्निं होतारं मन्ये [१. १२७. १] इत्यातिच्छन्दसीः । गार्हपत्य उक्तम् । अयम् अग्निः सत्पतिः [७. ६४] येना सहस्रम्" [९. ५. १७] इति [वै० ५. २] ॥

छठे अनुवाकमें चार सूक्त हैं । इनमेंसे पहिले 'ऊर्जं बिभ्रत्' इस पहिले सूक्तकी पहिली छः ऋचाओंको देशान्तरसे आया हुआ पुरुष अपने घरको देख समिधाओंको ग्रहण कर जप करता हुआ अपने घरमें आवे फिर हाथकी समिधाओंको बायें हाथसे पकड़ कर बरौनीके तृणोंको दाहिने हाथसे छू छः ऋचाओंको जप घरमें प्रवेश कर आहित अग्निमें इस षड्चसे उन समिधाओंको पुष्टिके लिये रक्खे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"ऊर्जं बिभ्रद् इति गृहसकाशे जपति । सव्येन समिधो दक्षिणेन शालावलीकं संस्तभ्य जपति । अतिव्रज्य समिध आधाय" (कौशिकसूत्र ३ । ७) ॥

अपने घरमें वर्तमान सबके सांमनस्य (एकसे मन) के लिये भी समिधाओंको ला 'ऊर्जं बिभ्रत्' इस सूक्तको जपता हुआ उन समिधाओंको एक वार रक्खे । इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि–"समिध आधाय ऊर्जं बिभ्रद् इति असंकल्पयन्नेत्य सकृद् आदधाति" (कौशिकसूत्र ५ । ६) ॥

तथा क्रव्याद्विसर्जनके अनन्तर सब ही इस सूक्तको जपते हुए यजमानके घरमें प्रवेश करें । इस विषयमें कौशिकसूत्र ९ । ४ का प्रमाण भी है, कि "निःसालां (२ । १४) इति शालानिवेशनं सम्प्रोक्ष्य ऊर्जं बिभ्रत् (७ । ६२) इति प्रपादयति" ॥

तथा अन्त्येष्टिमें शवदहनके अनन्तर संस्कर्तापुरुष 'ऊर्जं बिभ्रत्' इन छः ऋचाओंको जपता हुआ अपने पुरुषोंको अपने घरमें प्रवेश करावे ॥

"इहैव स्तः" इस ऋचासे प्रवास करते समय अपने घर और

पुत्र स्त्री आदिको देखे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ३।७ का प्रमाण है, कि-"इहैव स्तेति प्रवत्स्यन्नवेक्षते"॥

बुद्धिको चाहने वाला पुरुष आग्रहायणीमें 'यद् अग्ने तपसा' इन दो ऋचाओंसे क्षीर ओदन पुरोडाश और रसमेंसे एकको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके खावे वा अग्निका उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र २।१ का प्रमाण भी है, कि-"यद् अग्ने तपसेत्याग्रहायण्यां भक्षयति। अग्निम् उपतिष्ठते"।

तथा उपनयनके समय अग्निकार्यमें इन दोनों ऋचाओंसे अग्निका परिसमूहन करे॥ इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।८ का प्रमाण भी है, कि-"सं मा सिञ्चन्तु (७।३४) इति त्रिः पर्युक्षति। यद् अग्ने तपसा तपः अग्ने तपस्तप्यामहे (७।६३) इति द्वाभ्यां परिसमूहति"॥

आवसथ्याधानमें महाशान्तिगणके समय "अयम् अग्निः"को पढ़ना चाहिये। इस विषयमें कौशिकसूत्र ९।१ का प्रमाण भी है, कि-"पित्र्यं अग्निं शमयिष्यन्" इति प्रक्रम्य "अयं अग्निः सत्पतिः (७।६४) नलं आरोह (१२।२) इत्यनुवाकं महाशान्तिं च शान्त्युदक आवपति"॥

तथा अग्निचयनमें आतिच्छन्दसीष्टकाके अनुमंत्रणके अनंतर इस ऋचासे गार्हपत्यमें चिनी जाती हुई ईटका ब्रह्मा अनुमंत्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"अग्निं होतारं मन्ये (१।१२७।१) इत्यातिच्छन्दसीः। गार्हपत्य उक्तम्। अयं अग्निः सत्पतिः (७।६४) येनासहस्रम् (९।५।१७)"। वैतानसूत्र (५।२)॥

तत्र प्रथमा॥

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।

गृ॒हानैमि॑ सु॒मना॒ वन्द॑मानो॒ रम॑ध्वं॒ मा बि॑भीत॒ मत् १

ऊर्ज॑म् । बि॑भ्रत् । व॒सु॒ऽव॑निः । सु॒ऽमे॒धाः । अघो॑रेण । चक्षु॑षा ।
मि॒त्रिये॑ण ।

गृ॒हान् । आ । ए॒मि॒ । सु॒ऽमना॑ः वन्द॑मानः । रम॑ध्वम् । मा । बि॒भी॒त॒ । मत्

ऊर्जम् अन्नं बिभ्रत् धारयन् वसुवनिः अन्नादिसाधनस्य वसुनो धनस्य संभक्ता । ❀ "छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्" इति वनतेः कर्मोपपदाद् इन् प्रत्ययः ❀ । सुमेधाः शोभनमेधायुक्तः ।❀ "नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः" इति असिच् समासान्तः ❀ । अघोरेण अभयकरेण न केवलम् अप्रतिकूलेन किं तु मित्रियेण मित्रं सुहृत् तदर्हेण अनुकूलेन स्निग्धेन चक्षुषा । पश्यन्निति शेषः । सुमनाः शोभनमनस्कः धनादिसाहित्येन प्राप्तसौमनस्यः वन्दमानः स्तुवन् गृहान् ऐमि आगच्छामि । ❀ "गृहाः पुंभूम्नि" इति वचनाद् गृहशब्दः पुंलिङ्गो बहुवचनान्तश्च ❀ । हे गृहाः यूयं रमध्वम् क्रीडत सुखिनः स्यात । मयाधिपतिनेति शेषः । अतः मत् मत्तः । ❀ "पञ्चम्या अत्" इति अत् आदेशः ❀ । देशान्तराद् आगच्छतो मत्तः मा बिभीत अन्यो गृहस्वामी सन् अस्मान् प्रविशतीति भयं मा प्राप्नुत ।❀ "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इति मत् इत्यत्र अपादानसंज्ञायां पञ्चमी ❀ ॥

अन्नको धारण किये हुए, अन्न आदिके साधन धनका संभक्ता, सुन्दर बुद्धि वाला, मैं अभयंकर मित्रभाव भरे स्नेहमय नेत्रसे देखता हुआ और धन आदि सामग्रीसे मनमें प्रसन्न होता हुआ और स्तुति करता हुआ घरोंको आरहा हूँ । हे घरो ! तुम मुझ अधिपतिसे क्रीड़ा करो, सुखी होओ । मुझ देशान्तरसे

आने वाले पुरुषसे न डरो अर्थात् दूसरा गृहस्वामी बनता हुआ हममें प्रवेश कर रहा है, यह भय मत करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इ॒मे गृ॒हा म॑यो॒भुव॒ ऊर्ज॑स्वन्तः॒ पय॑स्वन्तः ।
पू॒र्णा वा॒मेन॒ तिष्ठ॑न्त॒स्ते नो॑ जानन्त्वाय॒तः ॥ २ ॥

इ॒मे । गृ॒हाः । म॒यः॒ऽभुवः॑ । ऊर्ज॑स्वन्तः । पय॑स्वन्तः ।

पू॒र्णाः । वा॒मेन॑ । तिष्ठ॑न्तः । ते । नः॒ । जा॒न॒न्तु॒ । आ॒ऽय॒तः ॥२॥

मयोभुवः । मय इति सुखनाम । सुखस्य भावयितारः ऊर्जस्वन्तः अन्नरसवन्तः पयस्वन्तः क्षीरादिसमृद्धाः वामेन वननीयेन धनेन पूर्णाः संपूर्णाः समृद्धास्तिष्ठन्तः ते इमे पुरतो दृश्यमाना अस्मदीया गृहाः आयतः प्रवासाद् आगच्छतो नः अस्मान् जानन्तु स्वामित्वेन अवबुध्यन्ताम् । ❀ आयत इति । आङ्पूर्वाद् एतेः शतरि "इणो यण्" इति यण् ❀ ॥

सुख देने वाले, अन्नरस वाले, क्षीर आदिसे समृद्ध ये हमारे घर प्रवाससे आते हुए हमको स्वामी ही समझें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न् येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः ।
गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्त्वाय॒तः ॥ ३ ॥

येषा॑म् । अ॒धि॒ऽएति॑ । प्र॒ऽवस॑न् । येषु॑ । सौ॒म॒न॒सः । ब॒हुः ।

गृ॒हान् । उप॑ । ह्व॒या॒म॒हे॒ । ते । नः॒ । जा॒न॒न्तु॒ । आ॒ऽय॒तः ॥ ३ ॥

प्रवसन् प्रवासं कुर्वन् देशान्तरे वसन् पुरुषो येषाम् यान् गृहान्

अध्येति स्मरति । ❀ इक् स्मरणे । "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति येषाम् इत्यत्र षष्ठी ❀ । येषु गृहेषु सौमनसः सौमनस्यवान् बहुः अधिकः पदार्थो वर्तते । ❀ सुमनःशब्दाद् भावे अण् द्रष्टव्यः । सौमनसम् अस्यास्तीति अर्शआदित्वाद् अच् प्रत्ययो मत्वर्थीयः । सुमनसोऽयम् इति वा । "तस्येदम्" इति अण् ❀ । तान् गृहान् उक्तविशेषणान् उप ह्वयामहे प्राप्तुं प्रार्थयामहे । अनुज्ञास्वीकाराय यत् प्रार्थनं तद् उपहव इत्युच्यते । ❀ "निसमुपविभ्यो ह्वः" इति आत्मनेपदम् ❀ । ते नो जानन्त्वायत इति पादो व्याख्यातः ॥

देशान्तरमें वसता हुआ मनुष्य जिन गृहोंका स्मरण करता है और जिन घरोंमें बहुतसे सुन्दर पदार्थ हैं उन घरोंको प्राप्त होनेकी हम प्रार्थना करते हैं, वे घर प्रवाससे आते हुए हमको अपना स्वामी समझें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः ।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥४॥

उपऽहूताः । भूरिऽधनाः । सखायः । स्वादुऽसंमुदः ।

अक्षुध्याः । अतृष्याः । स्त । गृहाः । मा । अस्मत् । बिभीतन ४

हे गृहाः उपहूताः अनुज्ञार्थं प्रार्थिता यूयं भूरिधनाः प्रभूतधनोपेताः स्त भवत । सखायः समानख्याना मित्रभूता भवत । स्वादुसंमुदः स्वादुभिर्मधुरैः पदार्थैः संमोदमाना भवत । अक्षुध्याः क्षुधं बुभुक्षाम् अर्हन्तीति क्षुध्याः न क्षुध्या अक्षुध्याः । अतृष्याः तृषं पिपासाम् अर्हन्तीति तृष्याः न तृष्या [अतृष्या] क्षुत्तृष्णोपेतैर्जनैर्युक्ता मा भूत अपि तु धनादिसमृद्ध्या सर्वदा तृप्तैर्जनैर्युक्ता भवतेत्यर्थः । ❀ क्षुत्तृष्णाशब्दाभ्यां "तद् अर्हति" इत्यर्थे "छन्दसि

च” इति यप्रत्ययः । अस्तेर्लोटि मध्यमबहुवचने रूपं स्तेति ❀ । हे गृहाः अस्मत् अस्मत्तः देशान्तराद् आगच्छद्भ्यो मा बिभीतन भयं मा प्राप्नुत । ❀ ञिभी भये । लोटि तस्य तनादेशः ❀ ॥

हे घरो ! अनुज्ञाके लिये प्रार्थित तुम बहुतसे धनसे सम्पन्न होओ, मित्ररूप बनो और मधुर पदार्थोंसे सम्पन्न रहो, क्षुधा और तृष्णासे व्याकुल पुरुषोंसे व्याप्त न रहो किंतु तुममें रहने वाले धन आदिसे सम्पन्न और तृप्त रहें । हे गृहो ! परदेशसे लौटते हुए हमसे तुम डरो मत ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

उप॑हूता इ॒ह गाव॒ उप॑हूता अजा॒वय॑ः ।
अथो॒ अन्न॑स्य की॒लाल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ॥ ५ ॥

उप॑ऽहूताः । इ॒ह । गाव॑ः । उप॑ऽहूताः । अ॒ज॒ऽअ॒वय॑ः ।

अथो॒ इति॑ । अन्न॑स्य । की॒लाल॑ः । उप॑ऽहूतः । गृ॒हेषु॑ । न॒ः ॥५॥

इह एषु अस्मदीयेषु गृहेषु गावः धेनवः उपहूताः अनुज्ञार्थं प्रार्थिता भवन्तु । अजावयः अजाश्च अवयश्च उपहूताः सन्तु । अथो अपि च नः अस्माकं गृहेषु अन्नस्य कीलालः सारभूतोंशः उपहूतो भवतु । एतद् उपलक्षणम् । यद्यद् गृहे भोग्यं वर्तते तत् सर्वम् अनुज्ञायै प्रार्थितं भवत्वित्यर्थः ॥

इन हमारे घरोंमें धेनुएँ उपहूत हों, भेड़ बकरियें उपहूत हों और हमारे घरमें अन्नका सारभूत अंश उपहूत हो, तात्पर्य यह है, कि-जो २ उपभोग्य वस्तु है वह सब उपहूत हो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

सू॒नृता॑वन्तः सु॒भ॒गा॑ इरा॑वन्तो हसामु॒दा॑ः ।

अ॒तृ॒ष्या अ॑क्षु॒ध्या स्त॒ गृहा॒ मास्मद् बि॑भीतन ॥६॥

सू॒नृता॑ऽवन्तः । सु॒ऽभगा॑ः । इरा॑ऽवन्तः । ह॒सा॒मु॒दाः ।

अ॒तृ॒ष्याः । अ॒क्षु॒ध्याः । स्त॒ । गृहाः॑ । मा । अ॒स्मत् । बि॒भी॒त॒न॒ ६

हे गृहा सूनृतावन्तः । प्रियसत्यात्मिका वाक् सूनृतेत्युच्यते । तद्वन्तः स्त भवत । अरिष्टादिनिमित्तवाग्राहित्येन पुत्रमित्रादिसंपत्तिनिमित्तवाक्सहिता भवतेत्यर्थः । प्रवसति यजमाने गृहे जातमप्यरिष्टं पुनरागच्छति गृहस्वामिनि तद्दिवसे न ज्ञापनीयम् इत्याश्वलायनेनोक्तम् । “विदितमप्यलीकं न तद् अहर्ज्ञापयेयुः” इति [आश्व० २. ५. १८] । सर्वदापि अरिष्टराहित्यम् अनेन पदेन प्रार्थ्यते । सुभगाः शोभनभाग्योपेता भवत । इरावन्तः इरा अन्नं तद्वन्तः स्त । हसामुदाः । ❀ हसे हसने । भावे क्विप् । तदन्तात् तृतीया हसेति । मोदतेः इगुपधलक्षणः कः । “तत्पुरुषे कृति बहुलम्” इति बहुलग्रहणात् तृतीयाया अलुक् ❀ । हासेन मोदमानाः गृहस्थितानां हासेन तदीयः संतोषोभिव्यज्यते । हासाभिव्यक्तसंतोषा भवत । अतृष्या अक्षुध्या इत्यर्धर्चो व्याख्यातः ॥

हे घरो ! तुममें प्रिय और सत्य वाणियें बोली जावें अर्थात् अरिष्ट आदिकी निमित्त वाणीकी शून्यता वाले और पुत्र मित्र आदि सम्पत्तिनिमित्तक वाणीसे सम्पन्न होओ । शोभनभाग्य से सम्पन्न होओ, अन्नसे सम्पन्न होओ, घरमें, स्थित व्यक्तियों के हाससे प्रसन्नता भरे रहो, तुममें क्षुधा और तृषारहित पुरुष रहें और हे घरों ! तुम हमसे डरो मत ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इ॒हैव स्त॒ मानु॑ गात॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॑ पुष्यत ।

ऐष्या॑मि भ॒द्रेणा॑ स॒ह भूयां॑सो भवता॒ मया॑ ॥ ७ ॥

इ॒ह । ए॒व । स्त॒ । मा । अनु॑ । गा॒त॒ । विश्वा॑ । रू॒पाणि॑ । पु॒ष्य॒त॒ ।

आ । ए॒ष्या॒मि॒ । भ॒द्रेण॑ । स॒ह । भूयां॑सः । भ॒व॒त॒ । मया॑ ॥७॥

हे गृहाः इहैव अस्मिन् प्रदेश एव स्त भवत सुखिनो वर्तध्वम् । मा अनु गात प्रवसन्तं मां गृहस्वामिनं मानुगच्छत । ❀ एतेः "माङि लुङ्" । "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❀। विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि रूपवन्ति निरूप्यमाणानि वा पुत्रादीनि वस्तूनि पुष्यत समृद्धानि कुरुत । भद्रेण भन्दनीयेन धनेन सह ऐष्यामि पुनरागमिष्यामि । ततः मया देशान्तरात् पुनरागतेन अर्जितधनेन भूयांसः अतिप्रभूता भवत । ❀ भद्रेणा सह भवता मया इत्युभयत्र छान्दसः सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

हे घरों ! तुम इस ही प्रदेशमें सुखी रहो, मुझ प्रवास करने वाले स्वामीके पीछे न जाओ, रूप वाली पुत्र आदि सम्पूर्ण वस्तुओंको पुष्ट करो । मैं कल्याणकारी धनके साथ फिर लौटूँगा तब तुम मेरे देशान्तरसे कमाये हुए धनसे अतिप्रभूत होना ॥७॥

अष्टमी ॥

यद॑ग्ने॒ तप॑सा॒ तप॑ उपत॒प्याम॑हे॒ तपः॑ ।
प्रि॒याः श्रु॒तस्य॑ भूया॒स्मायु॑ष्मन्तः सुमे॒धसः॑ ॥ १ ॥

यत् । अ॒ग्ने॒ । तप॑सा । तपः॑ । उ॒प॒ऽत॒प्याम॑हे । तपः॑ ।

प्रि॒याः । श्रु॒तस्य॑ । भू॒या॒स्म॒ । आयु॑ष्मन्तः । सु॒ऽमे॒धसः॑ ॥ १ ॥

हे अग्ने तपसा तव संबन्धिना पर्युक्षणपरिसमूहनसमिदाधानादिरूपेण कर्मणा यत् तपो निर्वर्तयितव्यम् अस्ति तत् तपः

उप त्वत्समीपे तप्यामहे आर्जयामः । यद्वा तपसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूपेण यत् तपः तपनं शरीरक्लेशनम् । "तपः क्लेशसहिष्णुत्वम्" इति हि तद्विदः । कृच्छ्रादिचरणेन यच्छरीरशोषणं तत् तप उपतप्यामहे । तव समीपे परिचरणेन आर्जयाम इत्यर्थः । यद्वा तपसा । ❀ तप पर्यालोचने इत्यस्माद् असुन् ❀ । पर्यालोचनेन देवताविषयज्ञानेन । "मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते" इति हि तद्विदः । ❀ सहार्थे तृतीया ❀ । तेन तपसा सहितं तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूपो नियमः । "शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" इति हि पातञ्जलं सूत्रम् [पा० सू० २. ३२] । तत् तपः हे अग्ने त्वत्समीपे परिचरणेन तप्यामहे आर्जयामः । ❀ "तपस्तपःकर्मकस्यैव" इति कर्मकर्तरि यगात्मनेपदे ❀ । तेन तपसा श्रुतस्य सम्यग् अधीतस्य वेदशास्त्रादेः प्रियाः प्रियतमाः सुहृदः निवासस्थानत्वेन प्रीणयितारः आयुष्मन्तः दीर्घकालजीविनः सुमेधसः शोभनधारणाशक्तिसहिता भूयास्म ॥

हे अग्ने ! आपके पर्युक्षण परिसमूहन समिदाधान आदिरूप कर्मसे जो कर्म सम्पन्न करना है उस कर्मको हम आपके समीप करते हैं अथवा कृच्छ्रचान्द्रायण आदिरूप जो तप करना है उसको हम आपके समीप आपकी सेवा करते हुए करते हैं । उस तपके द्वारा हम भली प्रकार पढ़े हुए वेदशास्त्र आदिके प्रियतम और प्रसन्न करने वाले तथा दीर्घायु और शोभन धारणाशक्ति वाले होवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

अग्ने॒ तप॑स्तप्यामह॒ उप॑ तप्यामहे॒ तप॑ः ।
श्रु॒तानि॑ शृ॒ण्वन्तो॑ व॒यमायु॑ष्मन्तः सुमे॒धस॑ः ॥ २ ॥

अग्ने । तपः । तप्यामहे । उप । तप्यामहे । तपः ।
श्रुतानि । शृण्वन्तः । वयम् । आयुष्मन्तः । सुऽमेधसः ॥ २ ॥

हे अग्ने तपस्तप्यामहे शरीरशोषणरूपं नियमम् आर्जयामः । किम् अन्यत्र । नेत्याह । उप तप्यामहे । तत्र समीप एव तादृशं तपः साधयाम इत्यर्थः । ✿ पूर्ववत् कर्मकर्तरि यगात्मनेपदे ✿ । तेन तपसा श्रुतानि सम्यग् अधीतानि वेदशास्त्रादीनि शृण्वन्तः । ✿ हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः ✿ । वेदशास्त्रश्रवणाद्धेतोः वयम् आयुष्मन्तः दीर्घकालजीवनवन्तः सुमेधसः समीचीनधारणाशक्तियुक्ताश्च । भूयास्मेति शेषः ॥

हे अग्ने ! हम आपके समीप ही शरीरशोषणरूप नियमको साधित करते हैं, उस तपके द्वारा भली प्रकार पढ़े हुए वेदशास्त्र आदिको सुनते हुए हम उस श्रवणके प्रभावसे आयुष्मान् और समीचीनधारणाशक्तिसे सम्पन्न होवें ॥ २ ॥

दशमी ॥

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजयत् पुरोहितः ।
नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ १ ॥

अयम् । अग्निः । सत्ऽपतिः । वृद्धऽवृष्णः । रथीऽइव । पत्तीन् । अजयत् । पुरःऽहितः ।
नाभा । पृथिव्याम् । निऽहितः । दविद्युतत् । अधःऽपदम् । कृणुताम् । ये । पृतन्यवः ॥ १ ॥

सत्पतिः सतां महतां देवानां हविःप्रदानेन पालयिता सतो विद्यमानस्य स्थावरजङ्गमादेर्जगतः स्वामी वा वृद्धवृष्ण्यः वृष्णि भवं वृष्ण्यं बलं प्रवृद्धबलः पुरोहितः पुरतो होमार्थम् ऋत्विग्भिर्निहितः पुरोभाविहितकारी वा । अयं पुरोवर्ती अग्निः गार्हपत्यरूपः पत्नीम् पालयित्रीं प्रजाम् । पत्नीवत् पत्नी । पत्नीभूताम् इष्टकां वा अजयत् जयति स्वाधीनां करोति । तत्र दृष्टान्तः। रथी रथवान् पुरुषः पत्नीम् प्रजाम् अन्यदीयां स्वीयां वा नारीं यथा जयति स्वाधीनां करोति एवम् अग्निरिति । किं च पृथिव्याम् देवयजनलक्षणायां भूमौ तत्रापि नाभा नाभौ नाभिस्थानीयायाम् उत्तरवेद्याम् । "यद्व उत्तरवेदीनाभिः" इति ऐतरेयश्रुतेः [ऐ० ब्रा० १. २८] । तत्र निहितः स्थापितः दविद्युतत् अत्यर्थं दीप्यमानः । ❀ द्योततेर्यङ्लुकि "दाधर्ति०" इति सूत्रे निपातनाद्रूपसिद्धिः ❀ । तादृशोग्निः अधस्पदम् पादस्याधोदेशे कृणुताम् कुरुताम् । कान् इति तत्राह । ये पृतन्यवः पृतनां संग्रामम् इच्छवः शत्रवस्तान् मदीयपादस्याधोदेशे निधत्तादिति ॥

[इति] षष्ठेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

संत् अर्थात् बड़े २ देवताओंको हविःप्रदान कर उनका पालन करने वाले वा-स्थावर जंगमरूप विद्यमान जगत्के स्वामी, प्रवृद्ध बल वाले, होमके लिये ऋत्विजोंके द्वारा आगे रखे जाने वाले यह गार्हपत्य अग्निदेव पालन करने वाली प्रजाको वा पत्नीकी समान इष्टकाको स्वाधीन करते हैं, उसका उदाहरण यह है, कि-जैसे रथ वाला पुरुष प्रजाको वा अपनी या पराई स्त्रीको स्वाधीन कर सकता है इसी प्रकार यह अग्निदेव इष्टकाको स्वाधीन कर रहे हैं। और देवताओंके यजन करनेकी पृथ्वीकी नाभि-

स्थानीया उत्तरवेदीमें † स्थापित परमप्रदीप्त यह अग्निदेव मुझसे संग्राम करना चाहने वाले योधाओंको मेरे पैरके नीचे दबावें ॥

छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३७९) ॥

आवसथ्याधाने मथनार्थं यजमानः अरण्यां “पृतनाजितम्” इति ऋचा अग्निम् आह्वयेत् । “मूलत उत्तरारणिम् गपसंधाय पृतनाजितम् इत्याह्वयति” इति हि [कौ० ९. १] सूत्रम् ॥

शरीरे काकाभिघातदोषशान्त्यर्थम् “इदं यत् कृष्णः” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् उदकम् अभिमन्त्र्य काकोपहतशरीरं प्रक्षालयेत् ॥

तथा काकावदंशनदोषशान्तये आभ्याम् ऋग्भ्याम् उल्मुकम् अभिमन्त्र्य काकावमृष्टं शरीरं परिभ्रामयेत् ॥

काकस्पर्शनदोषशान्त्यर्थं “श्यावदता” इति मन्त्रोक्तरोगशान्तये च “प्रतीचीनफलः” इति त्रिभिः अपामार्गसमिध आदध्यात् ॥

तद्ध उक्तं संहिताविधौ । “इदं यत् कृष्णः [७, ६६] कृष्णशकुनेनाधिक्षिप्तं प्रक्षालयति । अपमृष्टं पर्यग्नि करोति । प्रतीचीनफलः [७. ६७] इत्यपामार्गेध्म आपामार्गीरादधाति” इति [कौ० ५. १०] ॥

विवाहे कुमार्याः स्नापनानन्तरं “यद् दुष्कृतम्” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् अङ्गानि वाससा प्रमार्जयेत् । “यद् दुष्कृतम् इति वाससाङ्गानि प्रमृज्य” इति हि [कौ० १०. २] सूत्रम् ॥

“यद्यन्तरिक्षे” “पुनर्मैत्विन्द्रियम्” इति द्व्यृचस्य बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः । सूत्रितं हि । “यद्यन्तरिक्षे [७. ६८] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७. ६९] शिवा नः” [७. ७१] इति [कौ० १.९] ॥

---

† ऐतरेय ब्राह्मण १ । २८ में कहा है, कि—“यद् उत्तरवेदीनाभिः--जो उत्तरवेदी है वह नाभि है” ।

तथा "पुनर्मैत्विन्द्रियम्" इत्यनया प्रतिग्रहदोषशान्तये प्रतिग्राह्यं वस्त्वभिमन्त्र्य गृह्णीयात् ॥

तथा नित्यनैमित्तिककाम्येषु कर्मसु पाकयज्ञतन्त्रे च कर्मसमापनानन्तरं न्यूनातिरेकदोषशान्तये अनया आत्मानम् अनुमन्त्रयेत सूत्रितं हि । "यद् अन्नम् [६. ७१] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७. ६९] इति प्रतिगृह्णाति । उत्तमा सर्वकर्मा । वशया पाकयज्ञा व्याख्याताः" इति [कौ० ५. ९] ॥

तथा गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि वपनार्थम् अनया क्षुरं संमार्ज्य नापिताय प्रयच्छेत् । "पुनः प्राणः [६. ५३. २] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७. ६९] इति त्रिर्निमृज्य" इति हि [कौ० ७. ५] सूत्रम् ॥

सवयज्ञेषु "पुनर्मैत्विन्द्रियम्" इत्यनया इन्द्रियाणाम् अभिमर्शनम् अनुमन्त्रणं च कुर्यात् । सूत्रितं हि । "वाङ् म आसन्" [१९. ६०] इति "मन्त्रोक्तान्यभिमन्त्रयते बृहता [५. १०. ८] द्यौश्च [६. ५३] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७. ६९] इति प्रतिमन्त्रयते" इति [कौ० ८. ७] ॥

तथा ब्रह्मचारिणो दण्डभङ्गे अनया अन्यं दण्डम् अभिमन्त्र्य ब्रह्मचारी गृह्णीयात् । "यद्यस्य दण्डो भिद्येत" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । "शीर्णे भग्ने नष्टेऽन्यं कृत्वा पुनर्मैत्विन्द्रियम् इत्याददीत" इति [कौ० ७. ८] ॥

अग्निष्टोमे तृतीयसवने हौत्रादिधिष्ण्येषु विहृतान् अग्नीन् "पुनर्मैत्विन्द्रियम्" इति ऋचा ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "विहृतान् अनुमन्त्रयते । उत्तरयोः सवनयोः पुनः प्राणः [६. ५३. २] पुनर्मैत्विन्द्रियम्" [७. ६९] इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ८] ॥

आहिताग्नेः प्रेतसंस्कारे "ओ चित् सखायम्" इति काण्डजपानन्तरं सारस्वतहोमेषु "सरस्वति व्रतेषु" इति द्व्यृचेन आज्यं जुहुयात् ॥

तथा चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वणि सारस्वतयागं "सरस्वति व्रतेषु" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "सविता प्रसवानाम् [५. २४] सरस्वति व्रतेषु [७. ७०] प्रपथे पथाम्" [७. १०] इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० २. ४] ॥

तथा अन्वारम्भणीयेष्टौ सारस्वतचरुयागम् अनया अनुमन्त्रयेत । उक्तं वैताने । "सरस्वत्यै चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति व्रतेषु [७. ७०] यस्य व्रतम्" [७. ४१] इति [वै० २. ४] ॥

यजमान, आवसथ्याधानमें मथन करनेके लिये अरणीमें 'पृतनाजिनम्' ऋचासे अग्निका आह्वान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ६ । १ का प्रमाण भी है, कि—"मूलत उत्तरारणिं उपसंधाय पृतनाजितम् इत्याह्वयति" (कौशिकसूत्र ६ । १) ॥

शरीरके काकाभिघातदोषकी शान्तिके लिये "इदं यत् कृष्णः" इन दो ऋचाओंसे जलको अभिमन्त्रित करके काकोपहतशरीर को प्रक्षालित करे ।

तथा काकके काटनेके दोषकी शान्तिके लिये इन दो ऋचाओं से उल्मुकको अभिमन्त्रित करके काकावमृष्ट शरीर पर घुमावे ।

काकस्पर्शनदोषकी शान्तिके लिये "श्यावदता" इस मन्त्रमें कहे हुए रोगकी शान्तिके लिये "प्रतीचीनफलः" इन तीन ऋचाओंसे अपामार्ग (चिरचिटे) की समिधाओंको रक्खे ।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—"इदं यत् कृष्णः (७ । ६६) इति कृष्णशकुने नाधिक्षिप्तं प्रक्षालयति । अपमृष्टं पर्यग्नि करोति । प्रतीचीनफलः (७ । ६७) इत्यपामार्गेध्म आपामार्गीरादधाति" (कौशिकसूत्र (५ । १०) ॥

विवाहमें कुमारीको स्नान करानेके अनन्तर "यद् दुष्कृतं" इन दो ऋचाओंसे अंगोंको वस्त्रसे प्रमार्जित करे । इस विषयमें

कौशिकसूत्र १०।२ का प्रमाण भी है, कि-यद्द दुष्कृतं इतिवाससाङ्गानि प्रमृज्य" ॥

'यद्यन्तरिक्षे' 'पुनर्मैत्विन्द्रियम्' इन दो ऋचाओंका बृहद्गणमें पाठ है अत एव इनका शान्तिजलके अभिमन्त्रण आदिमें विनियोग होता है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'यद्यन्तरिक्षे (७।६८) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७।६९) शिवा नः (७।७१) (कौशिकसूत्र १।९)॥

तथा प्रतिग्रह-दोषकी शान्तिके लिये 'पुनर्मैत्विन्द्रियम्' ऋचा से प्रतिग्राह्य वस्तुको अभिमन्त्रित करके ग्रहण करे।

तथा नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मोंमें तथा पाकयज्ञतन्त्रमें भी कर्म समाप्त करनेके अनन्तर न्यूनातिरेकदोषकी शांतिके लिये इस ऋचासे अपना अनुमन्त्रण करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'यद्द अन्नम् (६।७१) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७।६९) इति प्रतिगृह्णाति। उत्तमा सर्वकर्मा। वशया पाकयज्ञा व्याख्याताः' (कौशिकसूत्र ५।९)॥

तथा गोदान नाम वाले संस्कारकर्ममें वपन (मुण्डन) करने के लिये इस ऋचासे छुरेको स्वच्छ करके नापितको देदेय। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।५ का प्रमाण भी है, कि-'पुनः प्राणः (६।५३।२) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७।६९) इति त्रिर्निमृज्य ॥

सवयज्ञोंमें 'पुनर्मैत्विन्द्रियम्' ऋचासे इन्द्रियोंका अभिमर्शन और अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'वाङ् म आसन् (१९।६०) इति मन्त्रोक्तान्यभिमन्त्रयते बृहता (५।१०।८) द्यौश्च (६।५३) पुनर्मैत्विद्रियम् (७।६९) इति प्रतिमन्त्रयते' (कौशिकसूत्र ८।७)॥

तथा ब्रह्मचारीका दण्ड भंग होने पर इस ऋचासे दूसरे दंडे

को अभिमंत्रित करके ब्रह्मचारी ग्रहण करे। 'यद्यस्य दण्डो भिद्येत' आदिका आरम्भ करके कौशिकसूत्र ८। ७ में कहा है, कि—'शीर्णे भग्ने नष्टेऽन्यं कृत्वा पुनर्मैत्त्विन्द्रियम् इत्याददीत'॥

अग्निष्टोमके तृतीयसवनमें हौत्र आदि धृष्ण्योंमें विहृत अग्नियों का 'पुनर्मैत्त्विन्द्रियम्' ऋचासे ब्रह्मा अनुमंत्रण करे। इस विषय में सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'विहृतान् अनुमंत्रयते उत्तरयोः सवनयोः पुनः प्राणः (६।५३।२) पुनर्मैत्त्विन्द्रियम् (७।६६)' वैतानसूत्र (३।८)॥

आहिताग्निके प्रेतसंस्कारमें 'ओ चित् सखायम्' इस कांडका जप करनेके अनंतर सारस्वत होमोंमें "सरस्वति व्रतेषु" आदि दो ऋचाओंसे घृतकी आहुति देय।

तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें सारस्वतयागका "सरस्वति व्रतेषु" से ब्रह्मा अनुमंत्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र २।४ का प्रमाण भी है, कि—'सविता प्रसवानाम् (५।२४) सरस्वति व्रतेषु (७।७०) प्रपथे पथाम् (७।१०)"॥

तथा अन्वारंभणीयेष्टिमें सारस्वतचरुयागका इस ऋचासे अनुमंत्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"सरस्वत्यै चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति व्रतेषु (७।७०) यस्य व्रतम् (७।४१)"। (वैतानसूत्र २।४)॥

तत्र प्रथमा॥

पृ॒त॒ना॒जितं॒ सह॑मानम॒ग्निमु॒क्थैर्ह॑वामहे प॒रमात् स॒धस्था॑त्।
स नः॑ प॒र्षदति॑ दु॒र्गाणि॒ विश्वा॒ क्षाम॑द् दे॒वोति॑ दुरि॒तान्य॒ग्निः॥ १॥

पृतनाऽजितम् । सहमानम् । अग्निम् । उक्थैः । हवामहे ।

परमात् । सधऽस्थात् ।

सः । नः । पर्षत् । अति । दुःऽगानि । विश्वा । क्षामत् । देवः ।

अति । दुःऽइतानि । अग्निः ॥ १ ॥

पृतनाजितम् शत्रुसंग्रामजेतारं तदेवाह सहमानम् अभिभवन्तम् । ❀ षह अभिभवने इति नैरुक्तो धातुः ❀ । यद्वा । ❀ षह मर्षणे ❀ । देवतागणार्थं यजमानादिभिर्दीयमानं हविर्भारं तितिक्षमाणम् अग्निम् मथ्यमानं परमात् उत्कृष्टात् सधस्थात् सहस्थानाद् अरणिलक्षणात् । ❀ "मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀ । सर्वस्माल्लोकात् उत्कृष्टाद् देवतानां सहनिवासस्थानाद् द्युलोकाद् वा उक्थैर्वक्तव्यैः स्तोत्रैः हवामहे आह्वयामः । ❀ ह्वयतेः "बहुलं छन्दसि" इति संप्रसारणम् ❀ । स आहूतोग्निः नः अस्माकं विश्वा विश्वानि दुर्गाणि दुर्गमनानि कष्टानि अरिष्टानि अति पर्षत् अतिपारयतु । यथा अस्माकम् आपदो न भवन्ति तथा करोत्विति । ❀ पॄ पालनपूरणयोः इत्यस्मात् लेटि "सिब्बहुलम्" इति सिप् । आडागमः ❀ । अरिष्टहेतुपापनिवारणम् आशास्ते चतुर्थपादेन । देवः दीप्यमानोग्निः मथ्यमानः दुरितानि दुर्गमनानि पापानि अति क्षामत् अत्यर्थं क्षामाणि दग्धानि करोतु । अरिष्टहेतुभूतं पापसंघं निःशेषेण विनाशयत्वित्यर्थः । ❀ क्षामत् इति । क्षै क्षये । अस्मान्निष्ठायां "क्षायो मः" इति निष्ठातकारस्य मकारादेशः । क्षामशब्दात् तत् करोतीत्यर्थे णिच् । तस्मात् लेटि तिप इकारस्य "इतश्च लोपः०" । इति लोपः । "लेटोडाटौ" इति अडागमः । "छन्दस्युभयथा" इति तिप आर्धधातुकत्वात्" "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ ॥

शत्रुओंको संग्राममें जीतने वाले, देवताओंके लिये यजमान आदिके दिये हविर्भारको सहने वाले अग्निका हम सब लोकोंसे उत्कृष्ट देवताओंके सहनिवासस्थान द्युलोकसे उक्थ्य नामक स्तोत्रों के द्वारा आह्वान करते हैं। वह बुलाये हुए अग्निदेव हमें सब कष्टोंके पार पहुँचावें अर्थात् जिस प्रकार हम पर आपत्तियें न पड़े तैसा करें। यह मथे जाते हुए अग्निदेव दुर्गति देने वाले पापोंको बहुत ही भस्म करें। अर्थात् अरिष्टके हेतुभूत पापोंको पूर्णरूपसे नष्ट करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इ॒दं यत् कृ॒ष्णः श॒कुनि॑रभिनि॒ष्पत॒न्नपी॑पतत् ।
आपो॑ मा॒ तस्मा॒त् सर्व॑स्माद् दुरि॒तात् पा॒न्त्वंह॑सः १

इ॒दम् । यत् । कृ॒ष्णः । श॒कुनिः॑ । अ॒भि॒ऽनि॒ष्पत॑न् । अपी॑पतत् ।
आप॑ः । मा॒ । तस्मा॑त् । सर्व॑स्मात् । दुः॒ऽइ॒तात् । पा॒न्तु । अंह॑सः १

कृष्णः कृष्णवर्णः शकुनिः पक्षी । काक इत्यर्थः । अभिनिष्पतन् अभितः सर्वतः अभिमुखं वा आकाशमार्गाद् अवपतन् इदं मदीयम् अंगम् अपीपतत् पातयामास पक्षाभ्याम् अभिजघानेति यत् तस्मात् अभिहननजनितात् सर्वस्माद् दुरिताद् दुष्टगमनाद् अंहसः पापाद् मा माम् अभिहतावयवम् आपः अभिमन्त्रिताः पान्तु रक्षन्तु ॥

काले वर्ण वाले पक्षी काकने सामनेसे वा आकाशमार्गसे आकर (पक्षोंसे) मेरे अंगोंको पीड़ित किया है, उस अभिघातके कारण दुर्गतिप्रद पापसे मुझ अभिहितावयवको अभिमंत्रित जल रक्षा करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अवऽअमृक्षत् । निःऽऋते । ते । मुखेन ।
अग्निः । मा । तस्मात् । एनसः । गार्हऽपत्यः । प्र । मुञ्चतु ॥२॥

हे निर्ऋते मृत्युदेवते ते तव मुखेन कृष्णः शकुनिः काकः इदं मदीयम् अङ्गम् अवामृक्षत् अवमृष्टवान् । काकः स्वचञ्चुपुटेन मदीयम् अङ्गं नोपहतवान् किं तु मृत्युमुखेनेति काकस्पर्शनदोषः अतिकष्ट इति ज्ञापयितुं निर्ऋतिमुखेन अभिमर्शनवचनम् । ❀ मृश आमर्शने । लुङि "शल इगुपधाद् अनिटः क्सः" इति क्सः ❀ । काकः अङ्गं मुखेन अवमृष्टवान् इति यत् तस्माद् एनसः पापाद् गार्हपत्यः गृहपतिना मया होमार्थं निहितोऽग्निः एतत्संज्ञको वा मा मां प्र मुञ्चतु प्रकर्षेण मोचयतु । काकावमर्शनजनितदोषरहितं करोतु ॥

हे मृत्युदेवते ! तेरे मुखके द्वारा जो इस कौएने मेरे अङ्गका स्पर्श किया है (कौएने अपनी चोंचसे ही मेरे अङ्गको ताड़ित नहीं किया है किंतु मृत्युमुखसे ताड़ित किया है, यह इस बातको ज्ञापित करनेके लिये कहा है, कि-काकस्पर्शन अतिकष्टप्रद है) उस पापसे गार्हपत्य अग्नि मुझको मुक्त करें अर्थात् कौएके स्पर्शसे उत्पन्न होने वाले दोषसे रहित करें ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥

प्रतीचीनऽफलः । हि । त्वम् । अपामार्ग । रुरोहिथ ।

सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यवयाः । इतः ॥१॥

हे अपामार्ग पापापमार्जनसाधन एतत्संज्ञक इध्मप्रकृतिभूत काष्ठविशेष त्वं हि यस्मात् प्रतीचीनफलः प्रत्यङ्मुखानि फलानि यस्य । अग्राद् आरभ्य फलस्य मूलपर्यन्तम् आत्माभिमुखं स्पर्शने कण्टकराहित्यदर्शनात् प्रतीचीनफलत्वम् । तादृशः रुरोहिथ रूढवान् असि तस्मात् सर्वान् शपथान् दोषान् मत् मत्तः सकाशात् । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । इतः अस्माद् वरीयः । ❀ क्रियाविशेषणम् एतत् ❀ । उरुतरम् अत्यर्थं यावयाः पृथक्कुरु । इतः इति मत् इत्यस्य विशेषणम् । अस्मात् काकाभिहतान्वयवाद् मत् इति । यद्वा इतः अस्मात् कारणाद् इति व्याख्येयम् । ❀ यावयाः इति । यु मिश्रणामिश्रणयोः । ण्यन्तात् लेटि आडागमे रूपम् ❀ ॥

हे पापको मार्जित करनेके साधन ईंधनरूप चिरचिटे ! तू प्रतीचीनफलरूपमें बढ़ा है अतः मुझमेंसे सकल दोषोंको पूर्णरूपसे दूर कर ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया ।
त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥ २ ॥

यत् । दुःऽकृतम् । यत् । शमलम् । यत् । वा । चेरिम । पापया ।
त्वया । तत् । विश्वतःऽमुख । अपामार्ग । अप । मृज्महे ॥ २ ॥

यद् दुष्कृतम् दुःखफलाय कृतं पापं दुष्टं कृतं वा दुष्कृतं यच्च शमलम् मलिनम् पापम् । वाशब्दो विकल्पवाची । यत् पापया । ❀ द्वितीयाया याजादेशः ❀ । यत् पापं चेरिम

चरितवंतः स्मः । अथ वा पापया पापप्रवृत्तिहेतुभूतया बुद्ध्या यद् एनश्चेरिम । ❀ चरतेर्लिटि उत्तमबहुवचने रूपम् ❀ । तत् पापम् हे विश्वतोमुख सर्वतः प्रसृतशाखायुक्त हे अपामार्ग त्वया साधनेन अप मृज्महे अपमार्जयामः अपसारयामः । ❀ मृजूष् शुद्धौ । आदादिकः ❀ ॥

हम दुःखमय फल देने वाले जिस पापको कर चुके हैं और जो मलिन पाप हमसे बन गया है और पापप्रवृत्तिकी हेतुभूत बुद्धिसे जिस पापको हम कर चुके हैं, उस पापको हे चारों ओर शाखा वाले चिरचिटे ! तेरे द्वारा हम दूर भगाते हैं ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

श्या॒व॑दता कुन॒खिना॑ ब॒ण्डे॑न॒ यत् स॒हासि॒म ।
अपा॑मा॒र्ग त्वया॑ व॒यं स॒र्वं तदप॑ मृज्महे ॥ ३ ॥

श्या॒व॑ऽदता । कु॒न॒खिना॑ । ब॒ण्डे॑न । यत् । स॒ह । आ॒सि॒म ।
अपा॑मार्ग । त्वया । व॒यम् । सर्व॑म् । तत् । अप॑ । मृ॒ज्म॒हे॒ ॥ ३ ॥

श्यावदता श्यावाः श्याववर्णा दन्ता यस्य तेन । ❀ "विभाषा श्यावारोकाभ्याम्" इति श्यावपदाद् उत्तरस्य दन्तशब्दस्य दतृ इत्यादेशः ❀ । श्यावदन्तयुक्तेन पुरुषेण कुनखिना कुत्सितानि नखानि कुनखानि तद्वता च वण्डेन । निर्वीर्यः पण्डो वण्ड इत्युच्यते । नपुंसकेन वा सह आशिम भुक्तवन्तः स्मः । ❀ अश भोजने । तस्य लिटि उत्तमबहुवचने रूपम् ❀ । अशनं व्यवहारमात्रोपलक्षणम् । एतैः सह व्यवहृतवन्तः स्म इति यद् अस्ति हे अपामार्ग त्वया साधनेन सर्वं तत् पापं वयम् अप मृज्महे अपमार्जयामः निवारयामः ॥

काले पीले रंगसे मिश्रित दाँत वाले, कुत्सित नाखूनों वाले, और निर्वीर्य पुरुषके साथ जो हमसे खान पान आदि व्यवहार बन गया है उससे उत्पन्न हुए पापको हे अपामार्ग हम तेरे द्वारा दूर भगाते हैं ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

यद्य॒न्तरि॑क्षे॒ यदि॒ वात॒ आस॒ यदि॑ वृ॒क्षेषु॒ यदि॒ वोल॑पेषु।
यदश्र॑वन् प॒शव॑ उ॒द्यमा॑न॒ं तद् ब्राह्म॒णं पुन॑र॒स्मानु॒पैतु॑ १

यदि॑ । अ॒न्तरि॑क्षे । यदि॑ । वाते॑ । आस॑ । यदि॑ । वृ॒क्षेषु॑ । यदि॑ ।
वा॒ । उल॑पेषु ।

यत् । अश्र॑वन् । प॒शव॑ः । उ॒द्यमा॑नम् । तत् । ब्राह्म॑णम् । पुनः ।
अ॒स्मान् । उ॒प॒ऽऐतु॑ ॥ १ ॥

मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदो मेघे वाताधिक्ये वृक्षच्छायायां हरितसस्यसंनिधौ पशोश्च समीपे नाध्येतव्यः। तथाध्ययने सम्यक् पठितोपि वेदो निर्वीर्यो भवति। तद् उक्तम् आपस्तम्बेन स्वाध्यायधर्मप्रकरणे। "नाभ्रे न च्छायायां न पर्यावृत्त आदित्ये न हरियववान् प्रेक्षमाणो न ग्राम्यस्य पशोरन्ते नारण्यस्य नापाम् अन्ते" [आप० १५. २१. ८] इति। अत्र तादृशकालस्थलेषु अधीतस्यापि वेदस्य वीर्यवत्त्वम् अनेन प्रार्थ्यते। अन्तरिक्षे। मेघाच्छन्ने इति विशेषणसाहित्यं द्रष्टव्यम्। तादृशे अन्तरिक्षे यदि ब्राह्मणम् आस। कर्मविधायकं वाक्यं ब्राह्मणम् इत्युच्यते। एतद् मन्त्रस्यापि उपलक्षणम्। मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो यदि तत्राधीत आसीत्। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इति हि आपस्तम्बवचनम्। यद्वा ब्राह्मणम् ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य अध्येत-

व्यत्वेन संबन्धि । वेदवाक्यम् इत्यर्थः । वाते वायौ । प्रभूते सतीति विशेषणं द्रष्टव्यम् । यदि आस ब्राह्मणम् अधीतम् आसीत् । ❀ अस्तेर्लिटि भूभावाभावश्छान्दसः ❀ । यदि ब्राह्मणं वृक्षेषु वृक्षच्छायायाम् आस । वाशब्दो विकल्पवाची । उलपेषु । उलपशब्दः सस्यमात्रोपलक्षणम् । यदि उलपेषु ब्राह्मणम् अधीतम् आसीत् । तथा पशवः ग्राम्या आरण्याश्च उद्यमानम् अभिधीयमानम् अधीयमानं यद् ब्राह्मणम् अश्रवन् अशृण्वन् । ❀ शृणोतेर्लङि सामान्यविहितः शबेव छन्दोविषयत्वाद् अवस्थितः । उद्यमानम् इति । वद व्यक्तायां वाचि । कर्मणि यकि यजादित्वात् संप्रसारणम् ❀ । तत् तादृशेषु निमित्तेषु अधीतं ब्राह्मणम् अस्मान् अधीतवतः पुनरुपैतु निषिद्धकालस्थलेषु अध्ययनेन अस्मत्तो निष्क्रान्तं ब्राह्मणं पुनः वीर्यवत्त्वेन फलप्रदं सत् आगच्छतु ॥

(मन्त्र और ब्राह्मणरूप वेदको मेघ होने पर, अधिक वायु (अंधड़) चलने पर, वृक्षकी छायामें, हरे धान्यके पास, और पशुके पास नहीं पढ़ना चाहिये । क्योंकि-इस प्रकार अध्ययन करने पर भली प्रकार पढ़ा हुआ वेद भी मोघ होजाता है । इसी बातको आपस्तम्बमुनिने स्वाध्यायधर्मप्रकरणमें कहा है, कि–'नाभ्रे न च्छायायां न पर्यावृत्त आदित्ये न हरितयवान् प्रेक्षमाणे न ग्राम्यस्य पशोरन्ते नारण्यस्य नापां अन्ते" [आपस्तम्ब १५ । २१ । ८] और इस मन्त्रसे ऐसे स्थलोंमें पढ़े हुए वेदके वीर्यवत्त्वकी भी प्रार्थना की गई है, कि-मेघसे आच्छन्न अन्तरिक्षमें जो ब्राह्मणसे उपलक्षित मन्त्रभागरूप भी वेद पढ़ा गया, अंधड़में पढ़ा गया, वृक्षकी छायामें पढा गया, हरितसस्यों में पढ़ा गया है और जिसको बोलते समय पशुओंने सुना है तो ऐसे स्थलोंमें पढ़ा हुआ वेद हम पढ़ने वालोंको फिर प्राप्त हो अर्थात् निषिद्ध समय और स्थलोंमें अध्ययन करनेके कारण हम

से निकला ब्राह्मण फिर वीर्यवान् होनेसे हमको फल देता हुआ हममें आवे ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव १

पुनः । मा । आ । एतु । इन्द्रियम् । पुनः । आत्मा । द्रविणम् । ब्राह्मणम् । च ।

पुनः । अग्नयः । धिष्ण्याः । यथाऽस्थाम । कल्पयन्ताम् । इह । एव १

इन्द्रियम् इन्द्रेण दत्तं वीर्यम् । ❀ "इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम्०" इति सूत्रेण इन्द्रियशब्दो निपातितः ❀ । यद्वा । ❀ इन्द्रियम् इति जातावेकवचनम् ❀ । चक्षुरादीन्द्रियाणि । मा मां पुनरैतु पुनरागच्छतु । आत्मा देहाभिमानी । पुनरैतु इत्यनुषङ्गः । द्रविणम् प्रतिग्राह्यं धनम् । माम् ऐतु इत्यनुषङ्गः । तथा ब्राह्मणम् मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदश्च । पुनरैतु इति संबन्धः । तथा धिष्ण्याः होत्रादिधिष्ण्येषु विहृता अग्नयः इहैव अस्मिन्नेव विहृतप्रदेशे यथास्थाम । यथास्थानम् इत्यर्थः । ❀ तिष्ठतेः "आतो मनिन्०" ❀ । पुनः कल्पयन्ताम् समर्थाः समृद्धा भवन्तु ॥

इन्द्रदेवका दिया हुआ वीर्य अथवा चक्षु आदि इन्द्रियें मुझमें फिर आवें, देहाभिमानी जीवात्मा भी मुझमें फिर आवे, प्रातिग्राह्य धन मुझमें आवे, और मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद भी मुझमें फिर आवे, होत्र आदि स्थानोंमें विहार करने वाली अग्नियें भी यथास्थानमें फिर समृद्ध होवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

सर॑स्वति व्र॒तेषु॑ ते दि॒व्येषु॑ दे॒वि॒ धाम॑सु ।
जु॒षस्व॑ ह॒व्यमाहु॑तं प्र॒जां दे॑वि ररास्व नः ॥ १ ॥

सर॑स्वति । व्र॒तेषु॑ । ते॒ । दि॒व्येषु॑ । दे॒वि॒ । धाम॑ऽसु ।
जु॒षस्व॑ । ह॒व्यम् । आऽहु॑तम् । प्र॒ऽजाम् । दे॒वि॒ । र॒रा॒स्व॒ । नः॒ १

हे सरस्वति वर्णपदादिरूपेण प्रसरणवति हे देवि ते तव संबन्धिषु व्रतेषु कर्मसु दिव्येषु दिवि भवेषु देवार्हेषु वा धामसु स्थानेषु गार्हपत्यादिरूपेषु । ❀ धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि मानानि जन्मानि इति हि यास्कः [नि० ६, २८] ❀ । तेषु स्थानेषु आहुतम् अभिमुखं प्रक्षिप्तं हव्यम् होतव्यं हविः जुषस्व सेवस्व । किं च हे देवि सरस्वति नः अस्मभ्यं प्रजाम् प्रकर्षेण जायमानां पुत्रादिरूपां ररास्व देहि । ❀ रातेः "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ ॥

हे वर्ण पद आदिरूपसे प्रसरण करने वाली सरस्वती देवि ! आपके कर्मोंमें वा देवयोग्य गार्हपत्य आदि स्थानोंमें आहुत हव्य का आप सेवन करिये । और हे सरस्वति देवि ! आप हमको पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाको पुष्कलतासे दीजिये ॥ १ ॥

दशमी ॥

इ॒दं ते॑ ह॒व्यं घृ॒तव॑त् सरस्वती॒दं पि॑तॄ॒णां ह॒विरा॒स्यं१॒ यत् ।
इ॒मानि॑ त उदि॒ता शंत॑मानि॒ तेभि॑र्व॒यं मधु॑मन्तः स्याम २

इ॒दम् । ते॒ । ह॒व्यम् । घृ॒तऽवत् । स॒र॒स्व॒ति॒ । इ॒दम् । पि॒तॄ॒णाम् ।
ह॒विः । आ॒स्यम् । यत् ।

इ॒मानि॑ । ते॒ । उ॒दि॒ता । शम्ऽत॑मानि । तेभिः॑ । व॒यम् । मधु॑ऽमन्तः ।
स्या॒म॒ ॥ २ ॥

हे सरस्वति ते त्वदर्थं हूयमानं घृतवत् घृतोपेतं यद् इदं हव्यम् हविः । पितॄणाम् । अर्थायेति शेषः । आस्यम् क्षेपणीयम् । ❀ असु क्षेपणे । "ऋहलोर्ण्यत्" ❀ । पित्रर्थं हूयमानं यद् इदं हविः । शंतमानि अस्माकम् अत्यर्थं सुखकराणि यानि इमानि हवींषि हे सरस्वति ते त्वदर्थम् उदिता उदितानि उक्तानि । ❀ वद व्यक्तायां वाचि । अस्मात् कर्मणि निष्ठा । यजादित्वात् संप्रसारणम् ❀ । त्वदर्थम् उक्तानि शंतमानि यानि इमानि हवींषि इति वा योज्यम् । एकत्र श्रुतो यच्छब्दः सर्वत्र संबध्यते । तृतीयपादे विभक्तिविपरिणामेन योज्यः । तेभिस्तैः त्वदर्थं हुतैर्हविर्भिर्वयं मधुमन्तः मधुररसोपेतान्नवन्तः स्याम भवेम ॥

[इति] षष्ठेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे सरस्वति देवि ! आपके निमित्त जो घृतप्लुत हवि होमी जा रही है, इसको आप पितरोंके निमित्त प्रेरित करिये । आपके लिये जो कल्याणप्रद हवि हमने कही है उनसे हम मधुररस भरे अन्नसे सम्पन्न होजावें ॥ २ ॥

छटे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३८५) ॥

"शिवा नः" "शं नो वातो वातु" इत्यनयोर्बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः । "शिवा नः [७. ७१] शं नो वातो वातु [७. ७२] अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन्" [११. ६] इति हि [कौ० १. ६] सूत्रम् ॥

अभिचारकर्मणि "यत् किं चासौ" इति पञ्चर्चेन मध्यमपलाशेन फलीकरणान् जुहुयात् ॥

दर्शपूर्णमासयोः "परि त्वाग्ने पुरं वयम्" इत्यनया तण्डुलानां पर्यग्निकरणं कुर्यात् ॥

"ब्रह्मणा शुद्धाः [११. १. १८] इति तण्डुलान् परि त्वाग्ने पुरं वयम् [७. ७४] इति त्रिः पर्यग्नि करोति" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० १. २] ॥

सोमयागे माध्यन्दिनसवने धिष्ण्याग्निम् अवलोकयन् "परि त्वाग्ने पुरं वयम्" इति ब्रह्मा यजमानश्च जपेत् । "धिष्ण्यम् अवेक्ष्य परि त्वाग्न इति जपति ब्रह्मा च" इति [वै० ३. ११] ॥

तथा अग्निचयने उखार्थं परिलिख्यमानं मृत्पिंडम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "परि त्वाग्न इति मृत्पिंडं परिलिख्यमानम्" इति वैतानं सूत्रम् [वै० ५. १] ॥

सोमयागे प्रवर्ग्ये घर्मधुग्दोहार्थम् उत्तिष्ठतः अध्वर्य्वादीन् "उत्तिष्ठताव पश्यत" इत्यनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "घर्म दुग्दोहायोत्तिष्ठत उत्तिष्ठताव पश्यत" इति वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ४] ॥

"शिवा नः" और "शं नो वातु" इन दोनों ऋचाओंका बृहद्गणमें पाठ है अत एव इनका शान्तिजलके अभिमन्त्रण करने आदिमें विनियोग है । इस विषयमें कौशिकसूत्र ९ । १ को प्रमाण भी है, कि–"शिवा नः (७ । ७१) शं नो वातु (७ । ७२) अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन्" (११ । ६) ॥

अभिचारकर्ममें "यत् किं चासौ" इस पञ्चर्चसे मध्यमपलाशके द्वारा फलीकरणोंकी आहुति देय ।

दर्शपूर्ण मासमें "परि त्वाग्ने पुरं वयम्" ऋचासे तण्डुलोंका पर्यग्निकरण करे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । २ का प्रमाण भी है, कि—

"ब्राह्मण शुद्धाः (११ । १ । १८) इति तण्डुलान् परि त्वाग्ने पुरं वयम् (७ । ७४) इति त्रिः पर्यग्निकरोति" ॥

सोमयागके माध्यन्दिनसवनमें धिष्ण्याग्निको देखता हुआ "परि त्वाग्ने पुरं वयम्" ऋचाका ब्रह्मा और यजमान जप करें इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ११ का प्रमाण भी है, कि–"धिष्ण्यम् अवेक्ष्य परि त्वाग्न इति जपति ब्रह्मा च" ॥

तथा अग्निचयनमें कुंडके लिये फोड़ी जाती हुई मिट्टीका ब्रह्मा इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ५ । १ का प्रमाण भी है, कि–"परि त्वाग्न इति मृत्पिंडं परिलिख्यमानम्" ॥

सोमयागके प्रवर्ग्यमें घर्मदुग्दोहके लिये उठतेहुए अध्वर्यु आदिका ब्रह्मा "उत्तिष्ठतावपश्यत" ऋचासे अनुमन्त्रण करे, इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि–"घर्मदुग्दोहायोत्तिष्ठत उत्तिष्ठतावपश्यत" ॥

तत्र प्रथमा ॥

शि॒वा न॒ः शंत॑मा भव सुमृ॒डीका स॑रस्वति ।
मा ते॑ युयोम सं॒दृश॑ः ॥ १ ॥

शि॒वा । न॒ः । शम्ऽत॑मा । भ॒व॒ । सु॒ऽमृ॒डी॒का । स॒र॒स्व॒ति॒ ।
मा । ते॒ । यु॒यो॒म॒ । स॒म्ऽदृश॑ः ॥ १ ॥

हे सरस्वति अर्णपदादिरूपेण प्रसरणवति वाग्देवते शिवा सर्वसुखरूपा त्वं नः अस्माकं शंतमा अत्यर्थं रोगनिर्हरणक्षमा भव । ❀ शं योरित्यत्र यास्केन शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् [नि० ४. २१] इत्युक्तम् ❀ । यद्वा अत्यर्थं सुखप्रदा भव । सुमृळीका । ❀ "मृळीकम्" इति सुखनाम ❀ । शोभनसुखप्रदा भव । शंतमेति सुमृळीकेति पदद्वयेन फलविशेषेण सुखदाने तार-

तम्यम् उक्तम् इति मन्तव्यम् । हे सरस्वति ते तव संदृशः समीचीनाद्द दर्शनाद्द यथार्थस्वरूपज्ञानाद्द मा युयोम पृथग्भूता मा भवेम। ❀ यौतेर्लोटि उत्तमबहुवचने शपः श्लुः । "अनित्यम् आगमशासनम्" इति आडभावः । व्यत्ययेन गुणः ॥

हे वर्ण पद आदिरूपसे प्रसरण करने वाली वाग्देवते सरस्वति ! सर्वसुखरूपा आप हमारे रोगको पूर्णरूपसे शान्त करने वाली हूजिये । शोभन सुख देने वाली हूजिये । हे सरस्वति ! आपके यथार्थस्वरूपके दर्शनसे हम कभी वञ्चित न होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।
अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा
नो व्युच्छतु ॥ १ ॥

शम् । नः । वातः । वातु । शम् । नः । तपतु । सूर्यः ।
अहानि । शम् । भवन्तु । नः । शम् । रात्री । प्रति । धीयताम् ।
शम् । उषाः । नः । वि । उच्छतु ॥ १ ॥

वातः बहिः संचरन् वायुः नः अस्माकं शं वातु सुखकरः सन् चरतु । तथा सूर्यः सुष्ठु सर्वस्य प्रेरक आदित्यः नः अस्माकं शम् सुखं तपतु संतापकारी मा भवतु । अहानि दिनानि च नः अस्माकं शं सुखं भवन्तु । अहस्सु सुखम् अस्माकं भवत्वित्यर्थः । रात्री । ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीप् । जातावेकवचनम् ❀ । शम् सुखं प्रति धीयताम् प्रतिदधातु सन्दधातु। न इत्यनुषङ्गः। ❀ दधातेर्व्यत्ययेन कर्तरि कर्मप्रत्ययः ❀ । यद्वा। ❀ धीङ् आधारे इति दिवादौ पठ्यते ❀ । रात्री शत् सुखं यथा भवति तथा प्रति धीयताम् ।

प्रतितिष्ठत्वित्यर्थः । तथा उषाः उषःकालः । ❀जातावेकवचनम्❀। उषसः नः अस्माकं शम् सुखं यथा भवति तथा व्युच्छतु विवासिताः प्रकाशिता भवन्तु । ❀ उछी विवासे ❀ ॥

बाहर विचरण करने वाले वायुदेव ! हमें सुखदायक होते हुए विचरण करें । तथा सुखपूर्वक सबको प्रेरित करने वाले सूर्यदेव हमें सुखप्रद ताप दें, सन्ताप न दें। दिन हमें सुखदायक हों अर्थात् दिवसोंमें हमको सुख हो, रात्रि हमें सुख दें और उषःकाल हम को सुखदायक होते हुए उदित होवें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

यत् किं चा॒सौ मन॑सा॒ यच्च॑ वा॒चा य॒ज्ञैर्जु॒होति॑ ह॒विषा॒

यजु॑षा ।

त॒न्मृ॒त्युना॒ निर्ऋ॑तिः संवि॒दा॒ना पु॒रा स॒त्यादाहु॑तिं

हन्त्वस्य ॥ १ ॥

यत् । किम् । च॒ । अ॒सौ । मन॑सा । यत् । च॒ । वा॒चा । य॒ज्ञैः ।

जु॒होति॑ । ह॒विषा॑ । यजु॑षा ।

तत् । मृ॒त्युना॑ । निःऽऋ॑तिः । स॒म्ऽवि॒दा॒ना । पु॒रा । स॒त्यात् ।

आऽहु॑तिम् । ह॒न्तु॒ । अ॒स्य॒ ॥ १ ॥

असौ । अदःशब्दो विप्रकृष्टवाची । दूरस्थः शत्रुः यत् किं च कर्म शत्रुहननरूपं मनसा । कर्तुं ध्यायतीत्यध्याहारः । यच्च कर्म वाचा । करोमीति वदतीत्यध्याहारः । तथा यज्ञैः अभिचारकर्मभिः हविषा तदुचितेन द्रव्येण यजुषा मन्त्रेण जुहोति होमं करोति । अस्य प्रतिपक्षनिवारणार्थं मनोवाक्कायैरुपायं कुर्वतः शत्रोः तत्

मनसा ध्यातं वाचा उक्तं कर्म आहुतिम् क्रियया निष्पाद्यमानं होमकर्म सत्यात् सत्यभूतात् कर्मफलात् पुरा पूर्वमेव निर्ऋतिः पापदेवता मृत्युना संविदाना ऐकमत्यं प्राप्ता सती हन्तु विनाशयतु । शत्रुणा करणत्रयेण अस्मद्विषये क्रियमाणम् अभिचारकर्म यावत् फलप्रदं भवति तस्मात् पूर्वमेव मृत्युसहिता पापदेवता तं शत्रुं विनाशयत्वित्यर्थः । ❀ संविदानेति । संपूर्वाद् वेत्तेः "समो गम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

यह दूरस्थ शत्रु शत्रुहनन आदिरूप कर्मको मनमें करनेका ध्यान कर रहा हो, और जिस कर्मको वाणीसे "करता हूँ" कह रहा हो और अभिचारकर्मोंसे हवियोंसे और मंत्रोंसे जो होम कर रहा हो तो इस मन वाणी वा शरीरसे उपाय करने वाले मनमें विचारे हुए, वाणीसे कहे हुए वा आहुतिके द्वारा निष्पन्न होने वाले होम कर्म के सत्य होनेसे पहिले ही पापदेवता निर्ऋति मृत्यु के साथ एकमत होकर नष्ट कर देय । अर्थात् शत्रुका तीनों प्रकार से हमारे लिये किया हुआ कर्म जब तक फलप्रद हो उससे पहिले ही मृत्युकी सहायतासे पापदेवता उस शत्रुको नष्ट कर डाले ॥१॥

चतुर्थी ॥

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम्
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् सं पादि
यदसौ जुहोति ॥ २ ॥

यातुऽधानाः । निःऽऋतिः । आत् । ऊं इति । रक्षः । ते । अस्य । घ्नन्तु । अनृतेन । सत्यम् ।

इन्द्र॑ऽइषिताः । दे॒वाः । आज्य॑म् । अ॒स्य॒ । म॒थ्न॒न्तु॒ । मा । तत् ।

सम् । पा॒दि॒ । यत् । अ॒सौ । जु॒हो॑ति ॥ २ ॥

यातुधाना । यातवो यातनाः पीडास्तासां धानं निधानं यस्याम् अस्तीति सा यातुधाना परपीडाकारिणी निर्ऋतिः निकृष्टगमना पापराक्षसी । आदु । अपि चेत्यर्थः । रक्षः राक्षसः । ते निर्ऋतिराक्षसाः अस्य शत्रोः सत्यम् यथार्थं कर्मफलम् अनृतेन असत्येन फलेन घ्नन्तु विनाशयन्तु । यथा शत्रुणा अस्मद्विषये क्रियमाणम् अभिचारकर्म स्वोचितफलप्रदं न भवति किं तु विपरीतफलप्रदं भवति तथा कुर्वन्तु इत्यर्थः । फलप्रतिबन्धं प्रार्थ्य तदीयकर्मणो बाधां प्रार्थयते । इन्द्रेषिताः इन्द्रेण प्रेरिता देवाः अस्य शत्रोः आज्यम् आज्यसाधनं होमकर्म मथ्नन्तु विनाशयन्तु । ❀ मन्थ विलोडने । क्र्यादिः ❀ । असौ शत्रुः यज्जुहोति अस्मद्बाधार्थं यत् कर्म करोति तत् कर्म मा सं पादि मा संपन्नं भवतु । फलप्रदं न भवत्वित्यर्थः । यद्वा अङ्गविकलं भवतु । ❀ पद गतौ । "चिण् ते पदः" इति कर्तरि च्लेश्चिण् आदेशः ❀ ॥

यातनाओंकी खजाना यातुधानी पापराक्षसी निर्ऋति और राक्षस शत्रुके यथार्थ कर्म फलको असत्यसे नष्ट करदें अर्थात् शत्रुका हमारे लिये किया हुआ अभिचारकर्म जिस प्रकार उचित फल देने वाला न हो किंतु विपरीत फल देने वाला होजाय तैसा करें। (फलप्रतिबन्धकी प्रार्थना कर उसके कर्मके बाधाकी प्रार्थना करते हैं, कि- इन्द्रदेवके प्रेरित देवता इस शत्रुके घृतसाधन होमकर्मको नष्ट कर डालें यह शत्रु हमको बाधा देनेके लिये जिस कर्मको कर रहा है वह सम्पन्न न हो अर्थात् फलप्रद न हो, अंगविकल होजावे ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव ।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ।३।

अजिरऽअधिराजौ । श्येनौ । संपातिनौऽइव ।

आज्यम् । पृतन्यतः । हताम् । यः । नः । कः । च । अभिऽअघायति३

अजिराधिराजौ । ❀ अज गतिक्षेपणयोः इत्यस्माद् अजिरशिशिर० [उ० १.५३] इति सूत्रेण अजिरशब्दो निपातितः ❀ । शत्रुक्षेपणसमर्थः अजिरः । अधिको राजा अधिराजः । ❀ "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इति टच् समासान्तः ❀ । एतन्नामानौ मृत्युदूतौ संपातिनौ आकाशमार्गाद् द्वेष्यस्य पक्षिण उपरि निष्पतनशीलौ श्येनौ एतन्नामधेयौ पक्षिणाविव पृतन्यतः संग्रामेच्छोः पुरुषस्य आज्यम् घृतसाधनकं होमकर्म हताम् हिंस्ताम् । ❀ हन हिंसागत्योः । लोटि तसस्ताम् आदेशः ❀ । पृतन्यच्छब्दार्थम् आह । यः कश्च शत्रुः नः अस्माकम् अभ्यघायति अभिमुखं हिंसारूपं पापं कर्तुम् इच्छति तस्य आज्यं हताम् इति संबंधः । ❀ अघशब्दात् "छन्दसि परेच्छायाम्" इति क्यचि "अश्वाघस्याम्" इति आत्त्वम् ❀ ॥

अजिर और अधिराज नाम वाले मृत्युके दूत, आकाशमार्ग से शत्रुपक्षी पर गिरने वाले बाजोंकी समान, संग्राम करना चाहने वाले पुरुषके घृतसाधनक होमकर्म को नष्ट कर डालें और जो शत्रु हमारे अभिमुख आकर हिंसारूप पापको करना चाहता है उसके घृतसे सिद्ध होने वाले होमको नष्ट कर डालें ॥ ३ ॥

षष्ठी ॥

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।

अ॒ग्नेर्दे॒वस्य॑ म॒न्युना॒ तेन॑ तेवधिषं ह॒विः ॥ ४ ॥

अपा॑ञ्चौ । ते॒ । उ॒भौ । बा॒हू इति॑ । अपि॑ । न॒ह्या॒मि॒ । आ॒स्य॑म् ।
अ॒ग्नेः । दे॒वस्य॑ । म॒न्युना॑ । तेन॑ । ते॒ । अ॒व॒धि॒ष॒म् । ह॒विः ॥४॥

अनेन ऋचेन शत्रुं संबोध्य ब्रूते । हे अस्मद्विषये अभिचारकर्तः ते तव उभौ बाहू होमकर्मणि व्यापृतौ पाणी अपाञ्चौ अपाञ्चनौ पृष्ठभागसंबद्धौ अपि नह्यामि बध्नामि । यथा होमकरणशक्तौ न भवतः तथाकरोमि । तथा आस्यम् मन्त्रोच्चारणसमर्थं मुखम् अपि नह्यामि यथा वदनात् होमसाधनभूतमन्त्रा नोद्गच्छन्ति तथा करोमि । तेन बाह्वास्यबन्धनेन कारणेन देवस्य । ❀ दीव्यतेर्विजिगीषार्थात् पचाद्यच् ❀ देवस्य विजयमानस्य अग्नेः मन्युना तेजसा क्रोधेन वा ते तव हविः होतव्यं द्रव्यं तत्साधनकं कर्म अवधिषम् हनिष्यामि । ❀ हन्तेश्छान्दसो लुङ् ❀ ॥

हे हमारे लिये अभिचारकर्मको करने वाले शत्रो ! होमकर्ममें संलग्न तेरी दोनों भुजाओंको मैं पीठकी ओर करके बाँधता हूँ अर्थात् जिस प्रकार वे होम करनेमें समर्थ न रहें तिस प्रकार बाँधता हूँ । और तेरे मन्त्रोच्चारण करनेमें समर्थ मुखको भी बाँधता हूँ अर्थात् तेरे मुखमेंसे होमके साधनभूत मन्त्र न निकल सकें तिस प्रकार करता हूँ । और इस बाहुमुखबन्धनके कारण विजयमान अग्निदेवके क्रोधसे मैं तेरे कर्मको नष्ट कर डालूँगा ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

अपि॑ नह्यामि ते बा॒हू अपि॑ नह्याम्या॒स्य॑म् ।
अ॒ग्नेर्घो॒रस्य॑ म॒न्युना॒ तेन॑ तेवधिषं ह॒विः ॥ ५ ॥

अपि । न॒ह्या॒मि॒ । ते॒ । बा॒हू इति॑ । अपि॑ । न॒ह्या॒मि॒ । आ॒स्य॑म् ।

अ॒ग्नेः । घो॒रस्य॑ । म॒न्युना॑ । तेन॑ । ते॒ । अ॒व॒धि॒ष॒म् । ह॒विः ॥५॥

पूर्वमन्त्रसमानार्थत्वात् पूर्वेण व्याख्यातकल्पोयं मन्त्रः । घोरस्य भयङ्करस्य इति विशेषः ॥

हे हमारे लिये अभिचारकर्म करने वाले शत्रो ! होमकर्म में संलग्न तेरी दोनों भुजाओंको मैं पीठकी ओर करके बाँधता हूँ अर्थात् वे जिस प्रकार होम करनेमें असमर्थ रहें तिसप्रकार बाँधता हूँ, और तेरे मन्त्रोच्चारण करनेमें समर्थ मुखको भी बाँधता हूँ अर्थात् तेरे मुखमेंसे होमके साधनभूत मन्त्र न निकल सकें, तिस प्रकार करता हूँ और इस कारण अग्निदेवके भयङ्कर क्रोधसे तेरी हविसे सिद्ध होने वाली इष्टिको मैं नष्ट करता हूँ ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि ।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑तः ॥ १ ॥

परि॑ । त्वा॒ । अ॒ग्ने॒ । पुर॑म् । व॒यम् । विप्र॑म् । स॒ह॒स्य॒ । धी॒म॒हि॒ ।

धृ॒षत्ऽव॑र्णम् । दि॒वेऽदि॑वे । ह॒न्तार॑म् । भं॒गु॒रऽव॑तः ॥ १ ॥

हे सहस्य । सह इति बलनाम । तस्मै हित । ❀ "तस्मै हितम्" इति यत् ❀ । सहसो बलाद् वा जात । मथनेन निपन्नत्वात् । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् प्रत्ययः ❀ । तादृश हे अग्ने पुरम् पूरकं कर्मफलानां विप्रम् । मेधाविनामैतत् । मेधाविनं त्वा त्वां वयं परि धीमहि रक्षसाम् अपहननाय परितो धारयामः परिधिं वा कुर्मः । ❀ दधातेर्लिङि द्विर्वचनाभावश्छान्दसः । शपो वा लुक् ❀ । अग्निं विशिनष्टि । धृषद्वर्णम् धर्षकरूपं भंगुरावतः भङ्गशीलकर्मवतो रक्षसः दिवेदिवे अन्वहं हन्तारम् विनाशयितारम् ॥

हे मथ कर बलपूर्वक उत्पन्न करे हुए अग्ने ! हम कर्मफलोंके पूरक आप विद्वान्‌को राक्षसोंका संहार करनेके लिये चारों ओरसे धारण करते हैं, हे अग्निदेव ! आपका रूप धर्षक है और यज्ञ आदिको भंग करनेके स्वभाव वाले राक्षसोंका आप प्रतिदिन संहार कर डालते हैं ॥ १ ॥

नवमी ॥

उत् ति॑ष्ठ॒ताव॑ पश्य॒तेन्द्र॑स्य भा॒गमृ॒त्विय॑म् ।
यदि॑ श्रा॒तं जु॒होत॑न॒ यद्यश्रा॑तं म॒मत्त॑न ॥ १ ॥

उत् । ति॒ष्ठ॒त॒ । अव॑ । प॒श्य॒थ॒ । इन्द्र॑स्य । भा॒गम् । ऋ॒त्विय॑म् ।
यदि॑ । श्रा॒तम् । जु॒होत॑न । यदि॑ । अश्र॑ताम् । म॒मत्त॑न ॥ १ ॥

हे ऋत्विजः उत्तिष्ठत आसनाद् ऊर्ध्वं तिष्ठत नोपविशत ❀ ऊर्ध्वकर्मत्वाद् आत्मनेपदाभावः ❀ । उत्थाय च ऋत्वियम् ऋतौ वसन्तादिकाले भवम् इन्द्रस्य भागम् भजनीयं घर्मं पच्यमानम् अव पश्यत निरीक्षध्वम् । ❀ ऋतुशब्दाद् भवार्थे "छन्दसि घस्" । "सिति च" इति पदसंज्ञया भसंज्ञाया बाधाद् ओर्गुणाभावः । भजेः कर्मणि घञन्तो भागशब्दः ❀ । श्रातम् । हविःपरतया नपुंसकत्वम् । यदि स भागः श्रातः पक्वस्तर्हि जुहोतन इन्द्रार्थम् अग्नौ जुहुत । ❀ "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनबादेशः । पित्त्वाद् गुणः ❀ । अश्रातम् । अत्रापि हविःपरतया नपुंसकत्वम् । यदि अश्रातः अपक्वस्तर्हि ममत्तन पचत । तप्तानाम् अपां मदन्तीशब्दव्यवहारदर्शनाद् अत्र ममत्तनेति शब्दस्य तप्तं कुरुतेत्यर्थो युक्तः । यद्वा यदि अपक्वस्तर्हि पाकपर्यन्तं ममत्तन इन्द्रं स्तुतिभिर्मदयतेति । ❀ श्रीञ् पाके इत्यस्माद् निष्ठा[याम्] "अपस्पृधेथाम् आनृचुः०" इति सूत्रे श्राभावो निपात्यते ❀ ॥

हे ऋत्विजों ! आसनसे ऊपरको उठो, बैठे न रहो और उठ कर बसन्त आदिक ऋतुमें होने वाले यज्ञमें इन्द्रके बनते हुए (पकते हुए) भागका निरीक्षण करो, यदि भाग पक्व होगया हो तो उसकी इन्द्रके लिये अग्निमें आहुति दो और पक्व न हुआ हो तो पकने तक इन्द्रको स्तुतियोंसे प्रसन्न करते रहो ॥ १ ॥

दशमी ॥

श्रा॒तं ह॒विरो॒ ष्वि॑न्द्र॒ प्र या॑हि ज॒गाम॒ सूरो॒ अध्व॑नो॒
वि मध्य॑म् ।
परि॑ त्वासते नि॒धिभि॒ः सखा॑यः कु॒लपा न॑ व्रा॑जप॒तिं
चर॑न्तम् ॥ २ ॥

श्रा॒तम् । ह॒विः । ओ इति॑ । सु । इन्द्र॒ । प्र । या॒हि॒ । ज॒गाम॑ ।
सूर॑ः । अध्व॑नः । वि । मध्य॑म् ।
परि॑ । त्वा॒ । आ॒स॒ते॒ । नि॒धिऽभि॑ः । सखा॑यः । कु॒ल॒ऽपाः । न ।
व्रा॒ज॒ऽप॒तिम् । चर॑न्तम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र हविः दधिघर्माख्यं त्वदीयं श्रातम् पक्वम् । ओ आ उ सु सुष्ठु प्र याहि प्रकर्षेण शीघ्रम् आगच्छ। सूरः सूर्यः अध्वनः गन्तव्यस्य मार्गस्य वि मध्यम् विकलं मध्यम् ईषद् ऊनं मध्यभागं जगाम गतवान् । तव यागार्थं मध्याह्नो जात इत्यर्थः । सखायः समानख्याना ऋत्विजश्च निधिभिः निहितैः अभिषुत्य आसादितैः सोमैः सार्धं त्वा त्वा पर्यासते पर्युपासते । तत्र दृष्टान्तः । कुलपा न । कुलस्य वंशस्य रक्षकाः पुत्रा यथा व्राजपतिम् व्राजा गन्तव्या गृहास्तेषां पतिं चरन्तम् गच्छन्तम् उपासते तथेत्यर्थः ।

❀ व्रज गतौ । अस्मात् कर्मणि घञ् । "अजिव्रज्योश्च" इति कुत्वनिषेधः ❀ ॥

[इति] षष्ठेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! आपकी दधिघर्म नामक हवि पक्क होगई है, इसलिये आप शीघ्रतासे आइये, सूर्यदेव आधेसे कुछ ही कम मार्गमें पहुँच चुके हैं अर्थात् आपके यागके लिये मध्याह्न होगया है । और आपकी समान प्रसिद्धि वाले ऋत्विज भी निचोड़ कर रखे हुए सोमोंको लिए हुए आपकी इस प्रकार उपासना कर रहे हैं, जिस प्रकार कुलके रक्षक पुत्र विचरण करते हुए गृहपति की उपासना करते हैं ॥ २ ॥

छठे अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (३९०) ॥

अग्निष्टोमे प्रवर्ग्ये हूयमानम् आज्यं "श्रातं मन्ये" इति सूक्तेन ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "उप ह्वये [७. ७७. ७] इति घर्मदुघाम् । घर्मसूक्तेन [७. ७७] घर्मं हूयमानम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ४] ॥

अग्निष्टोमे माध्यन्दिनसवने दधिघर्महोमं "श्रातं मन्ये" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "श्रातं मन्य इति दधिघर्महोमम् । घर्मवद्भक्षः इति वैतानसूत्रात् [वै० ३. ११] ॥

प्रवर्ग्ये होतृकर्तृकं वषट्कारम् अनुवषट्कारं च "स्वाहाकृतः" इति द्वाभ्यां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "स्वाहाकृत इति द्वाभ्यां घर्मस्य वषट्कृतेनुवषट्कृते" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ४] ॥

प्रवर्ग्ये दुह्यमानां घर्मदुघाम् "उप ह्वये" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । वैताने सूत्रितम् । "उप ह्वय इति घर्मदुघाम्" इति [वै० ३. ४] ॥

प्रवासं करिष्यन् "सूयवसात्" इत्यनया स्वकीयान् पशून् अभिमन्त्रयेत । "सूयवसाद् इति सूयवसे पशून् अभिमन्त्रयते" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ३. ७] ॥

मधुपर्के उत्सृष्टां गाम् अनया अभ्यागतोऽनुमन्त्रयेत । "सूयवसाद् इति प्रतिष्ठमानाम्" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० १२. ३] ॥

अग्निष्टोमके प्रवर्ग्यमें होमे जाने वाले घृतका "श्रातं मन्ये" इस ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि–"उपह्वये (७ । ७७ । ७) इति घर्मदुघाम् घर्मसूक्तेन (७ । ७७) घर्मं हूयमानम्" ॥

अग्निष्टोमके माध्यन्दिनसवनमें दधिघर्म होमका "श्रातं मन्ये" से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ११ का प्रमाण भी है, कि–"श्रातं मन्य इति दधिघर्म होमम् । घर्म वद्रुक्तः" ॥

प्रवर्ग्यमें होतृकर्तृक वषट्कार और अनुवषट्कारका "स्वाहाकृतः" इन दोसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि–"स्वाहाकृत इति द्वाभ्यां घर्मस्य वषट्कृतेऽनुवषट्कृते" ॥

प्रवर्ग्यमें दुही जाती हुई घर्मदुघाका "उप ह्वये" से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण है, कि–"उप ह्वय इति घर्मदुघाम्" ॥

प्रवास करते समय पुरुष "सूयवसात्" ऋचासे आपने पशुओं का अभिमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ में कहा है, कि–"सूयवसात् इति सूयवसे पशून् अभिमन्त्रयते" ॥

मधुपर्कमें उत्सृष्ट गौका अभ्यागत इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १२ । ३ का प्रमाण भी है, कि–"सूयवसादिति प्रतिष्ठमानाम्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

श्रा॒तं मं॑न्य॒ ऊध॑नि श्रा॒तम॒ग्नौ सुशृं॑तं मन्ये॒ तदृ॒तं नवी॑यः
माध्यं॑न्दिनस्य॒ सव॑नस्य द॒ध्नः पिबे॑न्द्र वज्रिन् पुरु॒-
कृज्जु॑षा॒णः ॥ १ ॥

श्रातम् । मन्ये । ऊधनि । श्रातम् । अग्नौ । सुऽश्रृतम् । मन्ये ।
तत् । ऋतम् । नवीयः ।
माध्यन्दिनस्य । सवनस्य । दध्नः । पिब । इन्द्र । वज्रिन् । पुरुऽकृत् ।
जुषाणः ॥ १ ॥

ऊधनि गोरूधसि एतद्ध दधिघर्माख्यं हविः पयोरूपेण श्रातम् पक्वम् इति मन्ये जाने । पुनश्च दुग्धं पयः अग्नावपि श्रातम् पक्वम् इदानीं दध्यवस्थमपि अग्नौ पच्यते । ❀ श्रीञ् पाके इत्यस्मात् निष्ठायाम् "अपस्पृधेथाम्०" इति सूत्रे श्राभावो निपात्यते ❀ । अतः सुश्रृतम् सुपक्वम् इति मन्ये जाने । ❀ श्रा पाके इत्यस्माद्ध आदादिकान्निष्ठायां कर्मकर्तरि "श्रृतं पाके" इति निपात्यते ❀ । अत एव तत् हविः ऋतम् सत्यभूतं नवीयः नवतरं प्रत्यग्रतरं भवति । हे वज्रिन् वज्रवन् हे पुरुकृत् बहुकर्मकृद् इन्द्र जुषाणः प्रीयमाणस्त्वं माध्यन्दिनस्य मध्यन्दिने भवस्य सवनस्य सूयमानस्य सोमस्य संबन्धिनो दध्नः । ❀ कर्मणि षष्ठी ❀ । दधि दधिघर्माख्यं हविः पिब ॥

गौके ऐनमें यह दधिघर्म नामक हवि दुग्धरूपसे पक्व होती है यह मैं जानता हूँ और इस समय दधिकी अवस्थामें भी अग्निमें पक रहा है । अत एव यह सुपक्व है, इस बातको मैं जानता हूँ, अत एव यह हवि सत्य और नवीन है हे अनेकों कर्मोंको करनेवाले वज्रधारिन् इन्द्र ! आप प्रसन्नतामें भर कर इस मध्य दिनमें निचोड़े हुए सोम पड़े दहीकी दधिघर्म नाम वाली हविको पीजिये ॥१॥

द्वितीया ॥

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते
वामिषे मधु ।

व॒यं हि वां॑ पु॒रु॒दमा॑सो अश्वि॒ना हवा॑महे स॒धमादे॑षु

का॒र॑वः ॥ १ ॥

सम्ऽइ॑द्धः । अ॒ग्निः । वृ॒ष॒णा॒ । र॒थी । दि॒वः । त॒प्तः । घ॒र्मः ।

दु॒ह्य॒ते॒ । वा॒म् । इ॒षे । मधु॑ ।

व॒यम् । हि । वा॒म् । पु॒रु॒ऽदमा॑सः । अ॒श्वि॒ना॒ । हवा॑महे ।

स॒ध॒ऽमादे॑षु । का॒र॑वः ॥ १ ॥

एतदादीनाम् ऋचां प्रवर्ग्य एव लिङ्गानुसाराद् आश्वलायनेन विनियोग उक्तः । तत्र इयम् उत्तरा च दुह्यते इति लिङ्गेन घर्मदुघादोहनसमये विनियुक्ते । हे वृषणा वृषणौ अभिमतफलस्य वर्षितारौ हे अश्विनौ दिवः द्युलोकस्य । ❀ तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम् ❀ । द्युलोकस्थितस्य देवगणस्य रथी रथिकः । नेतेत्यर्थः । "अग्निमुखा वै देवाः" इति श्रुतेः । तादृशोग्निः समिद्धः सम्यग् दीप्तः । तेनाग्निना घर्मः महावीरपात्रस्थम् आज्यं तप्तः सम्यक् पक्वम् । अनन्तरं वाम् युवयोः । ❀ युष्मच्छब्दस्य षष्ठीद्विवचने वाम् इत्यादेशः ❀ । युवयोः इषे अन्नाय मधु मधुररसोपेतं मधुवत् प्रीणनकारि वा पयः दुह्यते । गौरध्वर्युभिः इति शेषः । ❀ दुह प्रपूरणे । कर्मणि यक् । दुहेर्द्विकर्मकत्वाद् "अकथितं च" इति मधुनः कर्मत्वे द्वितीया ❀ । हे अश्विना अश्विनौ वाम् युवाम् । ❀ युष्मदो द्वितीयाद्विवचने वाम् आदेशः ❀ । पुरुदमासः । दम इति गृहनाम । बहुगृहाः । पृणातेः पुरुशब्दः । हविःपूर्णगृहा वा । कारवः स्तोतृनामैतत् । ❀ करोतेः कृवापाजिमि० इति [उ० १, १] उण् प्रत्ययः ❀ । स्तुतिकर्तारो वयं हि वयं खलु होतारः सधमादेषु । सह माद्यन्ति देवा अत्रेति सधमादा यज्ञाः । ❀ माद्यतेः

अधिकरणे घञ् । "सध मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀ । यज्ञेषु हवामहे आह्वयामः ॥

हे अभीष्ट फलकी वर्षा करने वाले अश्विनीकुमारों ! आप द्युलोकमें स्थित देवताओंके नेता हैं । और "अग्निमुखा वै देवाः" इस श्रुतिके अनुसार महिमासम्पन्न प्रदीप्त अग्निदेवके द्वारा दीप्त महावीर नामक पात्रमें स्थित घृत भली प्रकार पक्व होगया है, और आपके भक्षण करनेके लिये अध्वर्युओंने गौसे मधुर रस सम्पन्न दुग्ध भी दुह लिया है । हे अश्विनीकुमारों! आप दोनों को हविसे पूर्ण घर वाले हम स्तोता यज्ञोंमें बुलाते हैं ॥ १ ॥

तृतीया ॥

समि॑द्धो अ॒ग्निर॑श्विना त॒प्तो वां॑ घ॒र्म आ ग॑तम् ।
दु॒ह्यन्ते॑ नू॒नं वृ॑ष॒णे॒ह धे॒न॒वो द॒स्रा मद॑न्ति वे॒धस॑ः २

सम्ऽइ॑द्धः । अ॒ग्निः । अ॒श्वि॒ना॒ । त॒प्तः । वा॒म् । घ॒र्मः । आ । ग॒त॒म् ।
दु॒ह्यन्ते॑ । नू॒नम् । वृ॒ष॒ण॒ । इ॒ह । धे॒नवः॑ । द॒स्रा॑ । मद॑न्ति । वे॒धसः॑

हे अश्विना अश्विनौ अग्निः समिद्धः संदीप्तः । तेन वाम् युवाभ्याम् । ❀ युष्मच्छब्दस्य चतुर्थीद्विवचने वाम् इति आदेशः❀। युवयोरर्थाय घर्मः महावीरस्थितम् आज्यं तप्तः सम्यग्दीप्तम् । अतः आगतम् आगच्छतम् । घर्मरूपं हविर्भोक्तुम् इति शेषः । ❀ गमेश्छान्दसे लुङि, "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुकि "अनुदात्तोपदेश०" इति अनुनासिकलोपे रूपम् । लोटि वा विकरणस्य लुक् ❀ । हे वृषणा वृषणौ अभिमतफलस्य वर्षितारौ युवयोरर्थाय इह प्रवर्ग्याख्ये कर्मणि धेनवः प्रीणयित्र्यो गावो नूनम् अत्यर्थं दुह्यन्ते पयः ❀ । दुहेर्द्विकर्मकत्वात् पय इति कर्मणा अन्येन भाव्यम् ❀ । अतः दस्रा दस्रौ शत्रूणाम् उपक्षपयितारौ अश्विनौ

वेधसः । ❀ विध विधाने इत्यस्माद् असुन् ❀ । स्तुत्या परिचरन्तो होतारः मदन्ति मदयन्ति । स्तुतिभिरिति होतॄणां परोक्षेण अभिधानम् । ❀ माद्यतेर्णिचि "मदी हर्षग्लपनयोः" इति मित्त्वेन ह्रस्वत्वम् । "छन्दस्युभयथा" इति झेः आर्धधातुकत्वेन णिलोपः ❀ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! अग्नि प्रदीप्त होरहे हैं और उनके द्वारा आपके निमित्त महावीर पात्रमें रक्खा हुआ घृत भली प्रकार तप गया है, अतः आप घर्मरूप हविका भोग लगानेके लिये आइये । हे अभिमत फलकी वर्षा करने वाले अश्विनीकुमारों ! आपके निमित्त इस प्रवर्ग्य नामक कर्ममें धेनुएँ बहुतसा दूध देरही हैं, अतः शत्रुओंको ध्वस्त करने वाले अश्विनीकुमारोंकी स्तुतिसे सेवा करते हुए होता आनन्दमें मग्न होरहे हैं ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

स्वाहाकृत शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः ।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥ ३ ॥

स्वाहाऽकृतः । शुचिः । देवेषु । यज्ञः । यः । अश्विनोः । चमसः । देवऽपानः ।
तम् । ऊं इति । विश्वे । अमृतासः । जुषाणाः । गन्धर्वस्य । प्रति । आस्ना । रिहन्ति ॥ ३ ॥

स्वाहाकृतः इति लिङ्गाद् घर्मयागानन्तरम् इयं पठनीयेति आश्वलायनेनोक्ता । शुचिः दीप्तो यज्ञः प्रवर्ग्याख्यो देवेषु अश्विप्रभृ-

तिषु । अथ वा देवशब्देन अश्विनावुच्येते । प्रवर्ग्ये तयोरेव यष्टव्यत्वात् । ❀ बहुवचनं तु पूजायाम् । विषयसप्तमी ❀ । देवविषये स्वाहाकृतः । स्वाहाशब्दो दानवाचकः । दत्त इत्यर्थः । न चात्र स्वाहाकारेण हविर्हूयते किं तु वषट्कारेण । देवपानः देवौ अश्विनौ पिबतः अत्रेति देवपानः । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । तादृशः अश्विनोश्चमसः । ❀ चमतेर्भक्षणार्थाद् औणादिकः असप्रत्ययः ❀ । भक्षणसाधनो य उपयमनाख्यः पात्रविशेषोस्ति तसु तमेव चमसं विश्वे सर्वे अमृतासः अमृताः अमरणधर्माणो देवा अग्न्यादयो जुषाणाः प्रीयमाणाः । ❀ हेत्वर्थे जुषे शानच् प्रत्ययः ❀ । प्रीतेर्हेतोः गन्धर्वस्य । गां वेदरूपां वाचं धारयतीति गन्धर्वः आदित्यः । तथा च तैत्तिरीयके आदित्यस्य वेदसाहित्यं श्रूयते । "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः" इति [तै० ब्रा० ३. १२. ६. १] । ❀ गोशब्दोपपदाद् धृञो "गवि गं धृञो वः" इति वप्रत्ययः गोशब्दस्य गम् इत्यादेशः ❀ । तस्यादित्यस्य । रात्रावादित्यस्य अग्नावनुप्रवेशात् तदभेदेन अग्निर्वा गन्धर्वः । तस्य आस्ना आस्येन । ❀ "पद्दन्नः०" इत्यादिना आस्यशब्दस्य आसन् आदेशः ❀ । प्रति रिहन्ति प्रत्येकं लिहन्ति आस्वादयन्ति । "त्वामग्न आदित्यास आस्यम्" इति हि [ऋ० २. १. १३] मन्त्रवर्णे अग्निरूपेण आस्येन देवा हविर्भक्षयन्तीति स्पष्टम् आम्नातम् ॥

(स्वाहाकृतः लिंगसे घर्म यागके अनन्तर इसका पाठ करना चाहिये, यह आश्वलायन मुनिने कहा है, और देवशब्दसे यहाँ अश्विनीकुमारोंका ग्रहण किया गया है और आदर करनेके लिये बहुवचन दिया गया है, क्योंकि–प्रवर्ग्यमें अश्विनीकुमारोंका ही यजन होता है । और इस मन्त्रका स्वाहाशब्द दानवाचक है, यहाँ स्वाहाकारसे हवि नहीं होमी जाती है, किंतु वषट्कारसे हवि

होमी जाती है । गंधर्व शब्दका अर्थ सूर्य है, क्योंकि–वह वेदरूपा वाणीको धारण करते हैं । तैत्तिरीयकमें आदित्यका वेदसाहित्य इस प्रकार वर्णित है, कि–“ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ।–पूर्वाह्णके समय दिव्में देव ऋग्वेदकी ऋचाओंसे सम्पन्न रहते हैं, और मध्याह्नके समय यजुर्वेदमें रहते हैं और अस्तके समय सामवेदसे महीयमान होते हैं, इस प्रकार तीनों वेदोंसे भरेहुए सूर्यदेव आरहे हैं” तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।६।१ और गंधर्व शब्दसे अग्निका ग्रहण होसकता है, क्योंकि–रात्रिमें आदित्यका अग्निमें प्रवेश होता है अत एव अभेदवश अग्निको ही यहाँ गंधर्वशब्दसे कहा है । और भी एक बात है, कि–ऋग्वेदसंहिता २ । १ । १३ में स्पष्टरीतिसे कहा है, कि–अग्निस्वरूप मुखसे देवता हविका भक्षण करते हैं । यथा–“त्वामग्न आदित्यास आस्यम्”) प्रदीप्त प्रवर्ग्य नामक यज्ञ अश्विनीकुमारोंके लिये हुआ है । और जो अश्विनीकुमारोंके पानका पात्र उपयमन नामक भक्षणपात्र है उसी चमसको प्रत्येक अमर देवता अग्निरूप मुखसे चाटते हैं ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

यदुस्रि॒यास्वाहु॑तं घृ॒तं प॒यो॑यं स वा॑मश्विना भा॒ग आ
ग॑तम् ।
माध्वीं॑ धर्तारा विदथस्य सत्पती त॒प्तं घ॒र्मं पिबतं रोच॒ने
दि॒वः ॥ ४ ॥

यत् । उ॒स्रिया॑सु । आऽहु॑तम् । घृ॒तम् । पय॑ः । अ॒यम् । सः । वाम् । अ॒श्वि॒ना॒ । भा॒गः । आ । ग॒त॒म् ।

माध्वी इति । धर्तारा । विदथस्य । सत्पती इति सत्ऽपती । तप्तम् ।
घर्मम् । पिबतम् । रोचने । दिवः ॥ ४ ॥

एषा ऋक् पिबतम् इति लिङ्गाद्धर्मयागे याज्यात्वेन आश्वलायनेन विनियुक्ता । उस्रियासु । गोनामैतत् । पयोनिवासस्थानभूतासु गोषु वर्तमानं घृतम् घृतवत् क्षरणशीलं घृतोत्पादकं वा यत् पयः क्षीरम् आहुतम् महावीरपात्रे अभिमुखं प्रक्षिप्तम् । ❀ हु दानादानयोः । कर्मणि निष्ठा ❀ । हे अश्विना अश्विनौ सोयं तद् इदं प्रक्षिप्तं पयः । ❀ भागविशेषणत्वात् तदिदंशब्दयोः पुंलिङ्गता । "निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरैकत्वम् आपादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गताम् उपाददते" इति वचनात् ❀ । इदं तत् पयः वाम् युवयोर्भागः भजनीयोंशः । अतः आ गतम् आगच्छतम् । आगत्य च हे माध्वी । ❀ मधुशब्दाद् अणि स्त्रियाम् "ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि" इति यणादेशो निपात्यते ❀ । मधुसंबन्धिनी विद्या माध्वी । विद्यावेदित्रोरभेदोपचाराद् अश्विनावपि माध्वीशब्देन उच्येते । अत एव प्रगृह्यता । "माध्वी मम श्रुतं हवम्" इति हि मन्त्रान्तरम् [ऋ. ५. ७५. १] । अश्विनोर्मधुविद्यावेदितृत्वं दाशतय्याम् आम्नायते । "आथर्वणायाश्विना दधीचेश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्र वोचद् ऋतायन्" इति [ऋ० १. ११७. २२] । हे माध्वी मधुविद्यावेदितारौ विदथस्य । यज्ञनामैतत् । विदन्ति जानन्ति अनेन फलम् इति विदथो यज्ञः । तस्य धर्तारा धर्तारौ धारयितारौ । यज्ञस्वरूपनिर्वर्तकावित्यर्थः । द्रव्यदेवते हि यागस्य स्वरूपम् इति हि तद्विदः । हे सत्पती सतां महतां देवानां पालयितारौ आपन्निर्हरणत्वेन रक्षकौ । "अश्विनौ हि देवानां भिषजौ"

इति [ऐ० ब्रा० १. १८] श्रुतेः । तादृशौ युवां दिवः द्युलोकस्य रोचने रोचके प्रकाशके अग्नौ तप्तम् शृतं घर्मम् आज्यं पिबतम् ॥

(इस ऋचाका "पिबतम्" इस लिंगसे घर्मयागमें याज्यात्वरूपसे आश्वलायन मुनिने विनियोग किया है । मधुसम्बन्धी विद्या माध्वी विद्या कहलाती है । विद्या और उसके जानने वालोंमें अभेद का उपचार करने पर उस विद्याको जाननेवाले अश्विनीकुमारों को भी माध्वी शब्दसे वर्णन किया है । ऋग्वेदसंहिता ५ । ७५ । १ में कहा है, कि–"माध्वी मम श्रुतं हवम् ।–हे मधुविद्याको जानने वाले अश्विनीकुमारों ! तुम मेरे आह्वानको सुनो" और अश्विनीकुमारोंके मधुविद्या जाननेकी बात ऋग्वेदसंहिता १ । ११७ । २२ में वर्णित है। यथा–"आथर्वणायाश्विना दधीचेश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्रवोचदृ ऋतायन् ।–हेअश्विनीकुमारों ! तुम अथर्ववेदी दधीचिके निमित्त अश्वके शिरको प्रेरित करो, तो वह तुमको मधुविद्याका यथार्थरीतिसे उपदेश देंगे"। ऐतरेयब्राह्मण १ । १८ में अश्विनीकुमारोंको रोगरूप आपत्तिको दूर करने वाले होनेके कारण देवताओंके रक्षक अर्थात् वैद्य कहा है, यथा "अश्विनौ हि देवानां भिषजौ ।–अश्विनीकुमार देवताओंके वैद्य हैं" ।) हे अश्विनीकुमारों ! गौओंमें रहने वाला घृतका उत्पादक दुग्ध महावीर नामक यज्ञपात्रमें डाल दिया गया है । हे अश्विनीकुमारों ! यह दुग्ध आपका भाग है, अतः आप आइये और आकर हे मधुविद्याको जानने वाले अश्विनीकुमारों ! आप इस यज्ञके यज्ञस्वरूपपूरक बनिये (क्योंकि–द्रव्य और देवता ही यागके स्वरूप होते हैं, यह यज्ञवेत्ताओंका मत है) और हे सत् अर्थात् बड़े २ देवताओंकी आपत्तिको दूरकर उनकी रक्षा करने वाले अश्विनीकुमारों ! आप द्युलोकके प्रकाशक अग्निमें तपे हुए घृतको पीजिये ॥ ४ ॥

षष्ठी ॥

त॒प्तो वां॑ घ॒र्मो न॑क्षतु॒ स्वहो॑ता॒ प्र वा॑मध्व॒र्युश्च॑रतु॒
पय॑स्वान् ।
मधो॑र्दु॒ग्धस्या॑श्विना त॒नाया॑ वी॒तं पा॒तं पय॑स उ॒स्रिया॑याः

त॒प्तः । वा॒म् । घ॒र्मः । न॒क्ष॒तु॒ । स्वऽहो॑ता । प्र । वा॒म् । अ॒ध्व॒र्युः॑ ।
च॒र॒तु॒ । पय॑स्वान् ।
मधोः॑ । दु॒ग्धस्य॑ । अ॒श्वि॒ना॒ । त॒नायाः॑ । वी॒तम् । पा॒तम् । पय॑सः ।
उ॒स्रिया॑याः ॥ ५ ॥

इयमपि वीतं पातम् इति लिङ्गाद् घर्मयाज्यात्वेन विनियुक्ता। हे [अश्विना] अश्विनौ वाम् युवां स्वहोता स्वाधीनहोतृकः । होत्रा सम्यग् अभिष्टुत इत्यर्थः । ❀ “ऋतश्छन्दसि” इति कप्रत्ययनिषेधः ❀ । तप्तः सम्यग् रुचिरः घर्मः महावीरपात्रस्थम् आज्यं नक्षतु । ❀ नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा इति यास्कः [निघ० २.१८]। नक्ष गतौ इति धातुः ❀ । व्याप्नोतु । तथा वाम् युवाभ्याम् । ❀ चतुर्थीद्विवचनस्य वाम् आदेशः ❀ । युवयोरर्थाय अध्वर्युः एतन्नामा ऋत्विक् पयस्वान् । ❀ प्रीणातेः असुनि पयः ❀ । प्रीणनकारिपयोयुक्तः सन् प्र चरतु यजतु । हविर्ददात्वित्यर्थः । अथ अनन्तरम् हे अश्विना अश्विनौ तनायाः । ❀ तनोतेः पचाद्यजन्तात् स्त्रियां टापि तनेति भवति ❀ । पयोदध्याज्यरूपहविःप्रदानेन यज्ञं विस्तारयन्त्या उस्रियायाः । गोनामैतत् । घर्मदुघाया दुग्धस्य मधोः मधुररसोपेतस्य मधुवत्प्रीणनकारिणो वा पयसः । ❀ कर्मार्थे षष्ठी ❀ । पयः वीतम् भक्षयतं पातम् पिबतं च ।

❀ वी गतिप्रजननकान्त्यशनखादनेषु। अस्मात् लोटि अदादित्वात् शपो लुक्। पा पाने। “बहुलं छन्दसि” इति शपो लुक् ॥

(इस ऋचाका भी ‘वीतम्’ ‘पातम्’ लिंगसे घर्मयाज्यात्वरूपसे विनियोग होता है) हे अश्विनीकुमारों ! आप दोनोंमें होतासे भली प्रकार अभिष्टुत तपा हुआ महावीरस्थित घृत व्याप्त होवे, और आप पर प्रसन्न होता हुआ अध्वर्यु आपको हवि देवे। और आप दुग्ध दही घृतरूप हवि देकर यज्ञका विस्तार करने वाली गौके मधुकी समान तृप्त करने वाले दुग्धको पियो और भक्षण करो।

सप्तमी ॥

उप द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः ।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योनुप्रयाणमुषसो वि
राजति ॥ ३ ॥

उप । द्रव । पयसा । गोऽधुक् । ओषम् । आ । घर्मे । सिञ्च । पयः । उस्रियायाः ।
वि । नाकम् । अख्यत् । सविता । वरेण्यः । अनुऽप्रयानम् । उषसः । वि । राजति ॥ ६ ॥

एषा ऋक् पयसा उप द्रवेति लिङ्गाद् घर्मदुघापयसि आह्रियमाणे होत्रा पठनीयेति आश्वलायनेनोक्तम्। हे गोधुक् घर्मदुघादोग्धरध्वर्यो त्वम् ओषम् तप्तं घर्मम्। ❀ उष प्लुष दाहे। अस्मात् कर्मणि घञ् ❀। रुचितं घर्मं पयसा दुग्धेन सह उप द्रव निकटम् आगच्छ। ❀ द्रु गतौ। भौवादिकः ❀। आगत्य च उस्रियायाः घर्मदुघाया धेनोः पयः क्षीरं घर्मे तप्ते आज्ये आ सिञ्च

आद्रारय। यतः वरेण्यः वरणीयः सविता सर्वस्य प्रेरक आदित्यः नाकम् दुःखेन असंभिन्नं सुखरूपं स्वर्गं व्यख्यत्। प्रकाशयतीत्यर्थः। ❀ चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि। अस्मात् लुङि ख्याञादेशे "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योङ्" इति च्लेः अङ् आदेशः। ख्या प्रकथने इत्यस्माद्वा लुङि पूर्ववत् अङ् ❀। स आदित्यः उषसः प्रयाणम् प्रकृष्टं गमनम् अनुलक्ष्य वि राजति विशेषेण दीप्यते। उषसोनन्तरं सूर्यः प्रादुर्भवतीत्यर्थः। तथा च आम्नातम् अन्यत्र। "सूर्यो देवीम् उषसं रोचमानां मर्यो न योषाम् अभ्येति पश्चात्" इति [ऋ० १. ११५. २.]। यस्माद्व उदितः सूर्यः द्युलोकं स्वतेजसा प्रकाशयति अतः पयसा सह आगच्छ। आगत्य तत् पयः घर्मे आसिञ्च इति होता अध्वर्युं ब्रूते ॥

(आश्वलायन मुनिने कहा है, कि—"पयसा उप द्रव" इस लिंगसे होताको चाहिये, कि—घर्मदुघा (गौ) के दूधको लाते समय इस ऋचाका पाठ करे हे घर्मदुघाको दुहनेवाले अध्वर्यो ! आप तपे हुए घृतके पास दूध लेकर आइये और आकर घर्मदुघा धेनुके दूधको तपे हुए घृतमें डालिये। क्योंकि—वरणीय सर्वप्रेरक सवितादेवताने दुःखके लेशसे शून्य स्वर्गलोकको प्रकाशित कर दिया है। और वह आदित्य उषाके प्रयाणको लक्ष्य कर विशेषरूपसे दिप रहे हैं ‡ ॥ ३६ ॥

---

‡ सूर्यदेव उषःकालके अनन्तर उदित होते हैं, इस विषयका ऋग्वेदसंहिता १। ११५। २ में भी वर्णन है, कि—"सूर्यो देवीं उषसं रोचमानां मर्यो न योषां अभ्येति पश्चात्"। इस मन्त्रमें होताने अध्वर्युसे कहा है, कि—उदित हुए सूर्यदेव अपने तेजसे द्युलोकको प्रकाशित करने लगे हैं अतः आप दूधके साथ आइये और आकर उस दूधको घृत पर छिड़किये ॥

अष्टमी ॥

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां॑ सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदे॒नाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विष॒न्नो॒भीद्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र
वो॑चत् ॥ ७ ॥

उप॑ । ह्व॒ये॒ । सु॒ऽदुघा॑म् । धे॒नुम् । ए॒ताम् । सु॒ऽहस्त॑ः । गो॒ऽधुक् ।
उ॒त । दो॒हा॒त् । ए॒ना॒म् ।

श्रेष्ठ॑म् । स॒वम् । स॒वि॒ता । सा॒वि॒ष॒त् । न॒ः । अ॒भिऽइ॑द्धः । घ॒र्मः॑ ।
तत् । ऊ॒ं इति॑ । सु । प्र । वो॒च॒त् ॥ ७ ॥

एषा ऋक् उप ह्वये इति लिङ्गाद् दोहार्थं घर्मदुघाह्वाने विनियुक्ता । सुदुघाम् दोग्धुं सुशकाम् । ❀ दोग्धेः “ईषद्दुःसुषु०” इति खल् प्रत्ययः । हकारस्य घकारोपजनश्छान्दसः ❀ । एतां पुरोवर्तिनीं धेनुम् उप ह्वये आह्वयामि । ❀ ह्वयतेः “निसमुपविभ्यो ह्वः” इति आत्मनेपदम् ❀ । उत अपि च एनाम् आहूतां धेनुं सुहस्तः कल्याणहस्तः गोधुक् गोर्दोग्धा अध्वर्युः दोहत् दोग्धु । ❀ दुहेः पञ्चमलकारे “लेटोडाटौ” इति अडागमः ❀ । श्रेष्ठम् प्रशस्यतमम् । ❀ “प्रशस्यस्य श्रः” इति आदेशः ❀ । सवम् । सूयते प्रेर्यत इति सवः पयः । ❀ एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यद् उदकं यद् वा पय इति हि यास्कः [नि० ११. ४३] । षू प्रेरणे इत्यस्मात् “जवसवौ छन्दसि” इति अच् प्रत्ययः ❀ । तं सवं सविता सर्वस्य प्रेरको देवः नः अस्माकं साविषत् प्रेरयतु । ❀ षू प्रेरणे । अस्मात् लेटि “सिब्बहुलम्०” इति सिप् । इडागमः । “सिब्बहुलं छन्दसि णित्” इति णिद्वद्भावाद् वृद्धिः । वृद्धौ आवादेशः ❀ । घर्मः प्रवर्ग्यः अभीद्धः अभिदीप्तः अभिरुचितः । तत् । ❀ सुपो लुक् ❀ ।

उ इति अवधारणे। तमेव दीप्तं घर्मं सु सुष्ठु प्र वोचत् प्रब्रवीति अभिष्टौति। अथ वा यस्माद् अभीद्धो घर्मः तत् तस्माद् घर्मे पय आसेचयितुं सुष्ठु प्रब्रवीति धेनुम् इति होतुः परोक्षेण अभिधानम्। ❀ब्रूञश्छान्दसो लुङ्। अमाङ्योगेपि" इति अडभावः❀॥

("उपह्वये" इस लिंगसे दोहार्थ घर्मदुघाह्वान्में इस ऋचाका विनियोग होता है) मैं इस अच्छी प्रकार दुही जा सकने वाली धेनुका आह्वान करता हूँ, इस आहूत धेनुको कल्याणमय हाथ वाला गोधुक् अध्वर्यु दुहे। और इस सव ‡ उपनामक दूधको सर्वप्रेरक सवितादेवता हमारे लिये प्रेरित करें (होता परोक्षरूप से कहता है, कि–) क्योंकि–घृत तप गया है अतः वह धेनुसे दूध डालनेके लिये कह रहा है ॥ ७ ॥

नवमी ॥

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा
न्यागन्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय

हिङ्ऽकृण्वती। वसुऽपत्नी। वसूनाम्। वत्सम्। इच्छन्ती। मनसा।
निऽआगन्।

दुहाम्। अश्विऽभ्याम्। पयः। अघ्न्या। इयम्। सा। वर्धताम्।
महते। सौभगाय ॥ ८ ॥

---

‡ निरुक्त ११। ४३ में कहा है, कि–"एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां यद् उदकं यद् वा पय इति हि यास्कः।–यास्क मुनिका मत है, कि–यह जल और उदक सब सवोंमें श्रेष्ठ सव है" ॥

एषा ऋक् न्यागन्नित्यागमनलिङ्गाद् धेनौ आगच्छन्त्यां पठनीयेति आश्वलायनेनोक्तम् । हिङ्कृण्वती हिं इति शब्दानुकृतिः हिं कुर्वन्ति हि वत्सं प्रति गावः । हिङ्कारं कुर्वती वसूनाम् धनानां वसुपत्नी वसूनां पालयित्री । ❀ वसूनां वसुपत्नीत्यत्र वृत्त्यवृत्तिभ्यां स्वामित्वं बहुत्वं च विवक्ष्यते ❀ । एतादृशी धेनुः मनसा वत्सम् इच्छन्ती कामयमाना नि नितराम् आगन् आगच्छतु । ❀ गमेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुकि "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ । आगता च इयम् अघ्न्या । गोनामैतत् । अहन्तव्या गौ अश्विभ्याम् देवताभ्याम् । मध्वर्ग्ये अश्विनावेव यष्टव्यौ । तयोरर्थाय पयः क्षीरं दुहाम् दुग्धाम् । ❀ दुहेर्लोटि "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तकारलोपः ❀ । सा धेनुः स्वयं च अस्माकं महते प्रभूताय सौभगाय सौभाग्याय सुधनत्वाय वर्धताम् समृद्धा भवतु ॥

(आश्वलायन मुनिने कहा है, कि–"न्यागन्" इस आगमनलिंगसे धेनुके आते समय इस ऋचाका पाठ करना चाहिये) बछड़े की ओर हिं शब्द करती हुई, धनोंकी पालिका धेनु मनसे बछड़े को चाहती हुई आवे और यह अहन्तव्य अघ्न्या गौ अश्विनीकुमारोंके लिये दुग्धको दुहे । और वह धेनु स्वयं भी हमैं बड़ा भारी सोभाग्य देनेके लिये समृद्ध होवे ।

दशमी ॥

जुष्टो॒ दमू॑ना॒ अति॑थिर्दुरो॒ण इ॒मं नो॑ य॒ज्ञमुप॑ याहि वि॒द्वान्
विश्वा॑ अग्ने अभि॒युजो॑ वि॒हत्य॑ शत्रूय॒तामा भ॑रा॒
भोज॑नानि ॥ ९ ॥

जुष्टः॑ । दमू॑नाः । अति॑थिः । दु॒रो॒णे । इ॒मम् । नः॒ । य॒ज्ञम् । उप॑ ।
या॒हि॒ । वि॒द्वान् ।

विश्वाः । अग्ने । अभिऽयुजः । विऽहत्य । शत्रुऽयताम् । आ । भर ।
भोजनानि ॥ ९ ॥

हे अग्ने जुष्टः प्रीतः सर्वैः सेव्यमानो वा दमूनाः दान्त[मनाः] । ❀ दममना वा दानमना वा [दान्तमना वा] इति यास्कः [नि० ४. ४] ❀ । तादृशः अतिथिः अतिथिवत् पूज्यः । यद्वा दुरोणे अतिथिरिति संबन्धः । ❀ दुरोण इति गृहनाम दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः इति हि निरुक्तम् [नि० ४. ५] ❀ । सर्वेषु यज्वगृहेषु अतिथिः अतनशीलः विद्वान् जानन् मदीयां त्वद्विषयभक्तिं जानन् नः अस्मदीयम् इमं यज्ञम् उप याहि समीपे आगच्छ । आगत्य च हे अग्ने विश्वाः सर्वाः अभियुजः अभियोक्त्रीः परसेना विहत्य विशेषेण हत्वा शत्रूयताम् शत्रून् आत्मन इच्छतां परेषां भोजनानि भुज्यमानानि धनानि आ भर आहर । अस्मभ्यम् इति शेषः । ❀ "हृग्रहोर्भः" इति हरतेर्हकारस्य भकारः । शत्रूयताम् इति । शत्रुशब्दात् क्यचि "अकृत्सार्वधातुकयोः०" इति दीर्घः ❀ ॥

हे अग्ने ! सब आपकी सेवा करते हैं और आपका मन दान्त है और सकल यजन करने वालोंके घरमें आप जाते रहते हैं, अतः आप मेरी भक्तिको जान कर मेरे यज्ञमें आइये । और आकर हे अग्निदेव ! सब अभियोक्त्री सेनाओंको नष्ट कर शत्रुओं के भोगमें आते हुए धनको हमारे लिये लाइये ॥ ९ ॥

एकादशी ॥

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु ।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा
महांसि ॥ १० ॥

अग्ने । शर्ध । महते । सौभगाय । तव । द्युम्नानि । उत्ऽतमानि ।
सन्तु ।
सम् । जाःऽपत्यम् । सुऽयमम् । आ । कृणुष्व । शत्रुऽयताम् ।
अभि । तिष्ठ । महांसि ॥ १० ॥

हे अग्ने त्वम् अस्माकं महते सौभगाय सुधनत्वाय शर्ध । आर्द्रहृदयो भवेत्यर्थः । अस्मभ्यं धनं दातुं सुमना भवेति यावत् । ❀ शृधु मृधु उन्दे । भौवादिकः । आमन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वेन पादादित्वाद् अनिघातः ❀ । तव द्युम्नानि द्योतमानानि तेजांसि उत्तमानि उद्गततमानि सन्तु भवन्तु । किं च जास्पत्यम् । जाया च पतिश्च जास्पती तयोः कर्म जास्पत्यम् । ❀ "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्" इति यक् ❀ । तत् सुयमम् सुखयमम् अनन्यश्लिष्टं समा कृणुष्व सम्यक्कुरु । यथा आवां जायापती त्वदेकपरिचरणवन्तौ भवाव तथा अनुगृहाणेत्यर्थः । सुयमम् इति । यमेः खल् प्रत्ययः घश्च प्रत्ययो वा ❀ । अपि च शत्रूयताम् शत्रून् आत्मन इच्छतां परेषां महांसि तेजांसि अभि तिष्ठ आक्राम । अभिभवेत्यर्थः ॥

हे अग्ने! आप हमको बहुतसा धन देनेके लिये आर्द्रहृदय हूजिये आपके प्रदीप्त तेज ऊपरको जाने वाले होजावें और जायापतीके के कर्मको आप अन्योन्यसंश्लिष्ट करिये, तात्पर्य यह है, कि–जिससे हम दोनों दम्पती एक आपकी ही सेवा करने वाले होवें और जो हमको शत्रु समझते हों उनके तेजको आप दबा दीजिये ॥

द्वादशी ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथा वयं भगवन्तः
स्याम ।

अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती

सुयवसऽअत् । भगवती । हि । भूयाः । अध । वयम् । भगऽवन्तः ।
स्याम ।

अद्धि । तृणम् । अघ्न्ये । विश्वऽदानीम् । पिब । शुद्धम् । उदकम् ।
आऽचरन्ती ॥ ११ ॥

एषा ऋक् प्रवर्ग्ये परिधानीयात्वेन आश्वलायनेन विनियुक्ता। हे घर्मदुघे सूयवसात् शोभनतृणानि अदन्ती । अद भक्षणे इत्यस्मात् कर्मोपपदात् "अदोनन्ने" इति विट् प्रत्ययः ❀ । शोभनं यवसम् अदन्ती त्वं भगवती धनवती भाग्यवती वा भूयाः। हीति पूरणः । ❀ भवतेः आशीर्लिङि रूपम् ❀ । अध अनन्तरं वयं भगवन्तः धनवन्तः स्याम भूयास्म । हे अघ्न्ये अहिंस्ये गौः विश्वदानीम् सर्वदा । ❀ कालार्थे "दानीं च" इति तदिदंशब्दाभ्यां विहितः छन्दोविषयत्वाद्द विश्वशब्दादपि उत्पन्नः ❀ । सर्वदा तृणं घासम् अद्धि भक्षय । ❀ अद भक्षणे । लोटि "हुझल्भ्यो हेर्धिः" ❀ । तथा आचरन्ती सर्वतश्चरन्ती त्वं शुद्धम् निर्मलम् उदकं पिब च ॥

चतुर्थं सूक्तम् ॥

इत्यथर्वसंहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे षष्ठोऽनुवाकः ॥

(आश्वलायन मुनिने इस ऋचाका प्रवर्ग्यमें परिधानीयारूप से विनियोग किया है) हे घर्मदुघे ! तू शोभन तृणोंको खाती हुई भाग्यवान् बन, फिर हम भी धनी होवें । हे अहिंस्ये गौ ! तू सदा घासको खा और चारों ओर घूमती हुई शुद्ध निर्मल जलको पी ॥ ११ ॥

चतुर्थ सूक्त समाप्त (३६१) ॥

अथर्ववेदसंहिता सातवें काण्डमें छठा अनुवाक समाप्त ॥

सप्तमेनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र "अपचिताम्" इति आद्ये सूक्ते प्रथमाभ्याम् ऋग्भ्यां प्रत्यृचं गण्डमालाभैषज्यार्थं सूत्रोक्तलक्षणेन धनुषा शरेण च गण्डमालां विध्येत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि कृष्णोर्णास्तुकावज्वालितम् उदकम् आभ्याम् अभिमन्त्र्य उषःकाले व्याधितम् अवसिञ्चेत् ॥

सूत्रितं हि । "अपचिताम् इति वैणवेन दार्भूषेण कृष्णोर्णाज्येन" इत्यादि [कौ० ४. ८] ॥

ईर्ष्याविनाशकर्मणि "त्वाष्ट्रेणाहम्" इत्येनाम् ईर्ष्यावन्तं दृष्ट्वा जपेत् ॥

तथा ईर्ष्यावते अनया सक्तुमन्थम् अभिमन्त्र्य दद्याद् ईर्ष्यावन्तं स्पृष्ट्वा वा जपेत् ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । "त्वाष्ट्रेणाहम् इति प्रतिजापप्रदानाभिमर्शनानि" इति [कौ० ४, १२] ॥

दर्शपूर्णमासयोः व्रतोपायने "व्रतेन त्वं व्रतपते" इत्येषा विनियुक्ता । "व्रतम् उपैति व्रतेन त्वं व्रतपते" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० १. १] ॥

"प्रजावतीः इति त्र्यृचस्य गोपुष्टिकर्मणि विनियोग उक्तः ॥

"आ सुस्रसः" इति द्वाभ्यां गण्डमालाभैषज्यकर्मणि शङ्खं घृष्ट्वा अभिमन्त्र्य शुनकलालां वा अभिमन्त्र्य गण्डमालां प्रलिम्पेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन त्र्यृचेन जलूकां गृहगोधिकां वा अभिमन्त्र्य रुधिरमोक्षार्थं गण्डमालास्थाने संश्लेषयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि सैन्धवलवणं चूर्णयित्वा अनेन त्र्यृचेन अभिमन्त्र्य गण्डमालास्थाने विकीर्य तूष्णीं निष्ठीवेत् ॥

सूत्रितं हि । "अपाचिताम् [७, ७८] आ सुस्रसः [७,८०] इति क्लिस्त्यादीनि लोहितलवणं संक्षुद्याभिनिष्ठीवति" इति [कौ० ४, ७] ॥

तथा गण्डमालाभैषज्यकर्मण्येव "अपचितां लोहिनीनाम्" इत्यत्रोक्तानि कर्माण्यपि अनेन द्व्यृचेन कुर्यात् । सूत्रमपि तत्रैवोदाहृतम् ॥

राजयक्ष्मभैषज्यार्थं "यः कीकसाः" इति तृचेन वीणातन्त्रीखण्डं व्याघ्रखंडं शङ्खखंडं वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। सूत्रितं हि "यः कीकसा इति वीणातन्त्रीं बध्नाति" इत्यादि[कौ० ४.८] ॥

सप्तम अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमें "अपचिताम्" इस प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे प्रत्येक ऋचा पर गण्डमाला की चिकित्साके लिये सूत्रोक्त रीतिसे धनुष और बाणसे भी गंडमालाको बींधे । और काले ऊनके स्तुकसे तपे हुए जलको इन ऋचाओंसे अभिमन्त्रित करके उषःकालके समय रोगी पर अवसेचन करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है, कि–"अपचितां इति वैणवेन दार्भूषेण कृष्णोर्णाज्येन" इत्यादि (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

ईर्ष्याविनाशकर्ममें "त्वाष्ट्रेणाहम्" ऋचाका ईर्ष्यावान्को देख कर जप करे ।

तथा इस ऋचासे सक्तुमन्त्रका अभिमन्त्रण करके ईर्ष्या वाले को देदेय, वा ईर्ष्या बालेको देख कर इस ऋचाका जप करे ।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि–"त्वाष्ट्रेणाहं इति प्रतिजापप्रदानाभिमर्शनानि" (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

दर्शपूर्णमासके व्रतोपायनमें 'व्रतेन त्वं व्रतपते' ऋचाका विनियोग किया जाता है । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । १ का प्रमाण भी है, कि–"व्रतं उपैति व्रतेन त्वं व्रतपते" ॥

"प्रजावतीः" इस द्व्यृचका गोपुष्टिकर्ममें विनियोग कहा है ।

"आ सुस्रसः" इन दो ऋचाओंसे गण्डमालाकी चिकित्साके

कर्म में शंखको घिस कर अभिमन्त्रित करके गण्डमाला पर पोत देय वा कुत्तेकी लारको अभिमंत्रित करके गण्डमाला पर पोत देय ।

तथा तहाँ ही कर्म में इस त्र्यृचसे जौंक वा छिपकलीको अभिअभिमन्त्रित करके रुधिर चूँसनेके लिये गण्डमालाके स्थानमें लगा देय ।

तथा तहाँ ही कर्म में सैंधा नमकका चूरा करके इन दोनों ऋचाओंसे अभिमन्त्रित करके गण्डमालाके स्थानमें बुरक कर चुप चाप थूकना आरम्भ करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है,कि–“अपचिताम् (७।७८) आ सुस्रवः (७।८०) इति किंस्त्यादीनि लोहितलवणं संक्षुद्याभिनिष्ठीवति” (कौशिकसूत्र ४ । ७) ॥

तथा गण्डमालाकी चिकित्साके कर्म में ही “अपचितां लोहनीनाम्” में कहे हुए कर्मोंको भी इस त्र्यृचसे करे । सूत्र भी तहाँ ही कहा है ।

राजयक्ष्मा रोगकी चिकित्साके लिये, “यः कीकसाः” तृचसे वीणातन्त्रीखण्डको, वाद्यखण्डको वा शंखखण्डको सम्पातित औरअभिमन्त्रित करके बाँधे । इस बिषयमें कौशिकसूत्र ४।८ का प्रमाण भी है, कि–“यः कीकसा इति वीणातन्त्रीं बध्नाति०”

तत्र प्रथमा ॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम ।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥

अपऽचिताम् । लोहिनीनाम् । कृष्णा । माता । इति । शुश्रुम ।
मुनेः । देवस्य । मूलेन । सर्वाः । विध्यामि । ताः । अहम् ॥१॥

दोषवशाद् अपाक् चीयमाना गलाद् आरभ्य अधस्तात् कक्षा-

दिसंधिस्थानेषु प्रसृता गण्डमालाः अपचितः। यद्वा अपचिन्वन्ति पुरुषस्य वीर्यम् इति अपचितः। ❀ अपपूर्वात् चिनोतेः कर्तरि कर्मणि वा क्विप्। "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" ❀। ताश्च लोहिन्यः लोहितवर्णाः। ❀ लोहितशब्दाद् "वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात् तो नः" इति ङीप्। तत्संनियोगेन तकारस्य नकारः ❀। वर्णभेदविशिष्टा गण्डमालाप्रभेदाः षष्ठकाण्डे "अपचितः प्र पतत" इति [६. ८३] सूक्ते स्पष्टम् उक्ताः। लोहितवर्णानाम् अपचितां कृष्णा कृष्णवर्णा रोगनिदानभूता पिशाची माता जननी उत्पादयित्रीति शुश्रुम श्रुतवन्तः स्म। ❀ शृणोतेर्लिटि उत्तमबहुवचने "कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि" इति इण्निषेधः ❀। मातृकीर्तनेन अपचितः रोगान्तरवत् साधारणौषधादिना परिहरणीया न भवन्तीति प्रोच्यते। ताः पूर्वोक्तदुःसाधाः सर्वा अपचितः मुनेः मननीयस्य देवस्य द्योतमानस्य। अथर्वण इत्यर्थः। मूलेन। ❀ मूल प्रतिष्ठायाम् इति धातुजोयं शब्दः ❀। अथर्वसंबन्धिना सर्वकारणभूतसामर्थ्येन। तदात्मना भावितेन शरेणेत्यर्थः। तेन शरेण अहं प्रयोक्ता विध्यामि विदारयामि। यद्वा मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन शरप्रकृतिभूतो वृक्षविशेष उच्यते। मुनेर्मननीयस्य स्तुत्यस्य देवस्य देवरूपस्य वनस्पतेः। तस्य देवतात्मकत्वम् "अञ्जन्ति त्वाम् अध्वरे देवयन्तः" [ऋ० ३. ८. १] इत्यादिषु स्पष्टम् अवगम्यते। तस्य मूलेन मूलवत् सारभूतो यो वृक्षस्यांशस्तन्निर्मितेन मूलप्रदेशनिर्मितेन वा शरेण विध्यामि। अथ वा मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन धनुःप्रकृतिभूतो वेणुदार्भूषसंज्ञको वृक्ष उच्यते। तस्य मूलेन सामर्थ्याधायकेन शरेण विध्यामीति संबन्धः। अधिज्यस्य हि धनुषः सामर्थ्यम् इषुविसर्जनेन गम्यते इति तस्य मूलभूतः शर इत्युक्तम्। केचिद् आहुः। मुनेः मन्युमतः देवस्य। ❀ दीव्यतेर्विजिगीषार्थात् पचाद्यच् ❀। विजयमानस्य क्रोधवतः क्रूरस्य।

रुद्रस्य इत्यर्थः । तस्य मूलेन प्रधानभूतवीर्यरूपेण शत्रून्मूलनसाधनेन वा शरेण विध्यामि । गण्डमालावेधनसाधनभूतोयं शरः लौकिकः शरो न भवति किं तु असुरपुरनिर्भेदकस्य रुद्रस्य संबन्धी शरोयम् इति लौकिकशरस्य रुद्रशरात्मना भावनम् इति । रुद्रस्य पुनर्निर्भेदनार्थम् इषुविसर्जनं तैत्तिरीये समाम्नायते । "त इषुं समस्कुर्वत । अग्निम् अनीकं सोमं शल्यं विष्णुं तेजनम् तेब्रुवन् क इमाम् असिष्यतीति । रुद्र इत्यब्रुवन् । रुद्रो वै क्रूरः। सोस्यतु" इति [तै० सं० ६. २. ३. १]। एतद्ध उक्तं भवति । पापदेवतानिष्पादिता गण्डमाला अहं भैषज्यकर्ता लौकिकेन शरेण न विध्यामि किं तु रुद्रस्य शरेणेति ॥

(दोषवश नीचेको फैलने वाली गलेसे लेकर नीचेके बगल आदि संधिस्थानोंमें फैली हुई) गण्डमालाएँ अपचित् कहलाती हैं और वह पुरुषके वीर्यका अपचिन्वन कर डालती हैं, उन) लोहित वर्ण वाली अपचित्–गण्डमालाओंकी माता रोगनिदानभूता माता कृष्णवर्णा पिशाची कृष्णा है यह हम सुनते हैं (माता का कीर्तन करके यह सूचित किया है, कि–अन्य रोगोंकी समान साधारण औषधि आदिसे इनकी चिकित्सा नहीं होसकती अतः) इन दुःसाध्य सब अपचितोंको मैं प्रकाशवान् अथर्वा मुनिके सबके कारणरूपसे भावित शरसे वींधता हूँ (वा मननीय अर्थात् स्तुत्य देवरूप वनस्पतिके मूलकी समान सारभूत अंशसे निर्मित वा जड़से निर्मित बाणसे हम अपचितोंको बींधते हैं, वनस्पतिका देवतात्मकत्व ऋग्वेदसंहिता ३ । १ । ८ में स्पष्टरूपसे वर्णित है, कि–"अञ्जन्ति त्वां अध्वरे देवयन्तः"॥ अथवा वेणुदाभूष नामक वृक्षके मूलसे बने बाणसे बींधता हूँ । अथवा क्रोध वाले रौद्रदेव के प्रधानभूतवीर्यरूप शत्रून्मूलनसाधन बाणसे बींधता हूँ । तात्पर्य यह है, कि–गण्डमालाको वेधनेका साधनभूत यह बाण लौकिक

बाण ही नहीं है, किन्तु असुरपुरध्वंसक रुद्रसम्बन्धी है। इस प्रकार रुद्ररूपसे इसकी भावना की गई है। पुरोंको भेदनेके लिये रुद्रदेवका बाण छोड़ना तैत्तिरीयसंहिता ६। २। ३। १ में कहा है, कि-"त इषुं समस्कुर्वत। अग्निं अनीकं सोमं शल्यं विष्णुं तेजनम्। तेऽब्रुवन् क इमां असिष्यतीति। रुद्र इत्यब्रुवन्। रुद्रो वै क्रूरः सोऽस्यतु।--उन्होंने बाण बनाना आरम्भ किया। अग्निको अनीक बनाया। सोमको फलक बनाया। विष्णुको बाँस बनाया। फिर उन्होंने कहा, कि—इसको कौन छोड़ेगा, तब उन्होंने फिर कहा, कि—रुद्र इसके योग्य हैं। रुद्रदेवता क्रूर हैं अतः वह इसको छोड़ें।" तात्पर्य यह है, कि-इस पाप देवता से निष्पादित गण्डमालाको मैं चिकित्सक लौकिकशरसे नहीं वीधता हूँ किंतु रुद्रदेवके बाणसे वींधता हूँ) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

विध्या॑म्यासां प्रथ॒मां विध्या॑म्युत म॑ध्य॒माम् ।
इ॒दं ज॑घ॒न्या॒मासा॒मा च्छि॑नद्मि॒ स्तुका॑मिव ॥ २ ॥

विध्या॑मि । आ॒सा॒म् । प्र॒थ॒माम् । विध्या॑मि । उ॒त । म॒ध्य॒माम् ।
इ॒दम् । ज॒घ॒न्या॒म् । आ॒सा॒म् । आ । छि॒न॒द्मि॒ । स्तुका॑म्ऽइव २

दोष–प्रकर्षसाम्याल्पत्वभेदेन गण्डमालास्त्रिविधाः। तासाम् अपसारणम् अनया उच्यते। आसाम् अपचितां मध्ये प्रथमाम् मुख्यां दोषप्रकर्षेण उद्भूतां दुश्चिकित्सामपि गण्डमालां विध्यामि। मुनेदवस्य मूलेनेति संबन्धः अस्या अपि ऋचः शरेण वेधने विनियुक्तत्वात्। उत अपि च मध्यमाम् दोषसाम्येन उद्भूतां नातिदुःसाधाम्। सुसाधाम् इत्यर्थः। तादृशीम् अपचितं विध्यामि शरेण। तथा इदम् इदानीम् आसाम् अपचितां मध्ये जघन्याम् अल्पदोष-

समुद्भूताम् ईषत्प्रयत्नेन निर्हरणीयां गण्डमालाम् आ छिनद्मि सर्वतो विदारयामि । ❀ छिदिर् द्वैधीकरणे । रुधादिः ❀ । छेदने दृष्टान्तः स्तुकाम् इवेति । यथा ऊर्णास्तुका अनायासेन च्छिद्यते तथेति ॥

(दोषके प्रकर्ष साम्य और अल्पत्वके भेदसे गण्डमालाओंके तीन भेद हैं । उनके अपसारणका इसमें वर्णन है, कि–) इन गण्डमालाओंमें दोषप्रकर्षके कारण मुख्य उभरी हुई दुश्चिकित्स्य गण्डमालाको भी मैं (जड़के बने बाणसे) वेधता हूँ और मध्यम अर्थात् दोषसाम्यसे उद्भूत अतिदुःसाध्य नहीं किंतु सुसाध्य गण्डमालाको भी बींधता हूँ और इन गण्डमालाओंमें जो निकृष्ट अल्पदोषसे उभरी हुई अत एव थोड़े ही प्रयत्नसे दूर करने योग्य गण्डमाला है उसको मैं इस प्रकार बींध डालूँगा जिस प्रकार ऊर्णास्तुकाको अनायास ही छेद डाला जाता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

त्वा॒ष्ट्रेणा॒हं व॒च॒सा वि त॑ ई॒र्ष्याम॑मीमदम् ।
अ॒थो यो म॒न्युष्टे॑ प॒ते तमु॑ ते शमयामसि ॥ ३ ॥

त्वा॒ष्ट्रेण॑ । अ॒हम् । वच॑सा । वि । ते॒ । ई॒र्ष्याम् । अ॒मी॒म॒द॒म् ।
अ॒थो इति॑ । यः । म॒न्युः । ते॒ । प॒ते॒ । तम् । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । श॒म॒या॒म॒सि॒ ॥ ३ ॥

हे ईर्ष्योपेत पुरुष ते तव ईर्ष्याम् क्रोधं स्त्रीविषये क्रियमाणं त्वाष्ट्रेण । अवयवविभागकर्ता त्वष्टा । श्रूयते हि । "यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते" इति [तै० सं० १. ५. ६. २] । तत्संबन्धि त्वाष्ट्रम् । तेन वचसा वाक्येन मन्त्रेण अहं प्रयोक्ता स्त्री वा व्यमीमदम् विगत-

मदां करोमि । निवारयामीत्यर्थः । ईर्ष्याया मदो नाम उद्रेकः । ईर्ष्याम् उद्रेकरहितां करोमीति यावत् । न केवलम् ईर्ष्योद्रेकशमनम् । अथो अपि तु हे पते वल्लभ ते तव यो मन्युः क्रोधः मद्विषयः ते तव तं क्रोधं शमयामसि शमयामः । उ इत्यवधारणे । अत्रापि त्वाष्ट्रेण वचसा इति संबध्यते । यथा लोके दुर्वृत्ताः पुत्राः पितुराज्ञया दुर्व्यसनाद्‌ निवर्तन्ते एवं पुरुषगतेर्ष्याविनाशने सर्वोत्पादकस्य त्वष्टुरुक्तिः करणत्वेनोक्ता ॥

हे ईर्ष्याके चक्करमें पड़े हुए व्यक्ति ! मैं तेरे स्त्री वा पुरुषविषयक क्रोधको त्वष्टा ‡ देवके मन्त्ररूप वचनसे मदरहित करता हूँ अर्थात् निवारण करता हूँ और हे पते ! आपका मुझ पर जो क्रोध है उसको हम शान्त करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

व्र॒तेन॒ त्वं व्र॑तपते॒ सम॑क्तो वि॒श्वाहा॑ सु॒मना॑ दीदिही॒ह ।
तं त्वा॑ व॒यं जा॑तवेदः॒ समि॑द्धं प्र॒जाव॑न्त॒ उप॑ सदेम॒ सर्वे॑ ॥

व्र॒तेन॑ । त्वम् । व्र॒त॒ऽप॒ते॒ । सम्ऽअ॑क्तः । वि॒श्वाहा॑ । सु॒ऽमना॑ः ।
दी॒दि॒हि॒ । इ॒ह ।

---

‡ त्वष्टा देवता अवयवोंका विभाग करने वाले हैं। श्रुतिमें भी कहा है, कि—"यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते।—त्वष्टा देवता सिक्त वीर्यके जितने रूप बनाते हैं उतने रूपमें वह वीर्य उत्पन्न होता है" (तैत्तिरीयसंहिता १ । ५ । ६ । २) अत एव उन पितारूप सर्वोत्पादक त्वष्टादेवके वचनसे क्रोधको शान्त करना कहा है। क्योंकि—दुर्वृत्त पुरुष भी पिताकी आज्ञा पाने पर दुराचरणसे निवृत्त होजाते हैं ॥

तम् । त्वा॒ । व॒यम् । जा॒त॒ऽवे॒द॒ः । सम्ऽइ॑द्धम् । प्र॒जाऽव॑न्तः । उप॑ ।
स॒दे॒म॒ । सर्वे॑ ॥ ४ ॥

हे व्रतपते व्रतस्य कर्मणः पालयितः। कर्मफलप्रदातृत्वाद् व्रतपतिस्त्वम् अग्नेः। “त्वं व्रतानां व्रतपतिरसि” इति [तै० सं० १. २. ११. १] मन्त्रान्तरम् व्रतेन अनुष्ठीयमानेन दर्शपूर्णमासादिकर्मणा समक्तः संस्कृतः संभावितः। सम्यग् इष्ट इत्यर्थः। ❀ अञ्जेः कर्मणि निष्ठा ❀। एवंविधस्त्वं विश्वाहा विश्वेषु अहस्सु सर्वदा सुमनाः शोभनमनस्कः अस्मद्विषये अनुग्रहबुद्धियुक्तः सन् इह अस्मिन् अस्मदीये गृहे दीदिहि। ❀ दीदेतिर्दीप्तिकर्मेति यास्कः ❀। दीप्यस्व। हे जातवेदः जातानां भूतानां वेदितः जातैर्विद्यमान ज्ञायमान वा जातप्रज्ञ जातधन वा हे अग्ने समिद्धम् सम्यग्दीप्तं तं पूर्वोक्तगुणं त्वा त्वां प्रजावन्तः प्रजायन्त इति प्रजाः पुत्रपौत्रादिसमेताः सर्वे वयम् उप सदेम उपसन्नास्म तत्र परिचरणं क्रियास्म। ❀ सदेः “लिङ्याशिष्यङ्” इति अङ्प्रत्ययः ❀॥

हे व्रतपते † ! अर्थात् कर्मफल देनेके कारण कर्मके स्वामिन् अग्ने ! आप इस अनुष्ठीयमान दर्श पूर्णमास आदि कर्मसे भली प्रकार पूजा पाकर सब दिनोंमें हम पर अनुग्रहबुद्धि रखते हुए हमारे घरमें प्रज्वलित रहिये। हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले अग्ने ! प्रदीप्त आपकी हम सब पुत्र पौत्र आदिसहित उपासना कररहे हैं ४

पञ्चमी ॥

प्र॒जाव॑तीः सू॒यव॑से रु॒शन्ती॑ः शु॒द्धा अ॒पः सु॑प्रपा॒णे
पिब॑न्तीः ।

---

† तैत्तिरीयसंहिता १ । २ । ११ । १ में कहा है, कि—“त्वं व्रतानां व्रतपतिरसि” ॥

मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु

प्रजाऽवतीः । सुऽयवसे । रुशन्तीः । शुद्धाः । अपः । सुऽप्रपाने ।
पिबन्तीः ।

मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघऽशंसः । परि । वः । रुद्रस्य ।
हेतिः । वृणक्तु ॥ १ ॥

प्रजावतीरित्येषा पञ्चमी व्याख्याता [४. २१. ७] ॥

पुत्र पौत्र आदि से सम्पन्न, शोभन तृण वाले देशमें घासका भक्षण करती हुई, सुखसे उतरने योग्य मार्ग वाले जलाशयमें निर्मल जलको पीती हुई तुमको चोर न हर सके और तुमको मारना चाहने वाला व्याघ्र आदि भी तुम्हारा हरण न कर सके और ज्वरके अभिमानी देवता रुद्रका आयुध तुमको छोड़ देय ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः ।
उप मा देवीर्देवेभिरेत ।
इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥ २ ॥

पदऽज्ञाः । स्थ । रमतयः । सम्ऽहिताः । विश्वऽनाम्नीः ।
उप । मा । देवीः । देवेभिः । आ । इत ।
इमम् । गोऽस्थम् । इदम् । सदः । घृतेन । अस्मान् । सम् । उक्षत

हे रमतयः । गोनामैतत् । तद् उक्तम् आपस्तम्बेन । "चिद् असि मनासि धीरसि रन्ती रमतिः सूनुः सूनरीत्युच्चैरुपहवे सप्त

मनुष्यगवीः” [आप० ४. १० ४] इति पयःप्रदानादिना रमयित्र्यो धेनवः । ❀ रमु क्रीडायाम् । औणादिकः अतिप्रत्ययः ❀ । पदज्ञाः सहचरीणां गवां पदानि जानत्यः स्थ भवथ । यद्वा पद्यते गम्यत इति पदं गृहं तज्जानत्यः स्थ । गोसंचरस्थाने चरित्वा पुनरस्मदीयमेव गृहं ज्ञात्वा आगच्छन्त्यो भवतेत्यर्थः । गा विशिनष्टि । संहिताः वत्सैः सहिताः अन्यगवीभिर्वा सहिताः परस्परम् आनुकूल्यं प्राप्ताः । विश्वनाम्नीः व्याप्तनामधेयाः । ❀ “वा छन्दसि” इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । सर्वत्र प्रसिद्धसंज्ञाः बहुविधनामधेया वा । एकस्या गोरनेकसंज्ञासद्भावस्तैत्तिरीये समाम्नायते । इडे रन्ते दिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्निये नामानि” इति [तै० सं० ७, १. ६. ८] । यद्वा विश्वं जगत् नमयन्ति स्वात्माभिमुखं कुर्वन्तीति विश्वनाम्न्यः । क्षीरादिलाभाय हि सर्वे धेनूः प्रार्थयन्ते । अत एव हे देवीः देव्यः दीव्यन्त्यो गावो यूयं देवेभिः देवैर्दीव्यद्भिः स्वकीयवत्सादिभिः सह मा मां पुष्टिकामम् उपैत समीपम् आगच्छत । ❀ इण् गतौ । लोटि मध्यमबहुवचने रूपम् ❀ । आगत्य च इमम् अस्मदीयं गोष्ठम् गावस्तिष्ठन्ति अत्रेति गोष्ठः गोनिवासस्थानम् । ❀ गोशब्दोपपदात् तिष्ठतेः अधिकरणे कः । “अम्बाम्बगोभूमि०” इति सकारस्य मूर्धन्यादेशः ❀ । इदम् अस्मदीयं सदः सीदन्त्यत्रेति सदो गृहम् अस्मान् गोष्ठगृहस्वामिनश्च घृतेन घृतोत्पादकेन पयसा घृतेन वा समुक्षत सम्यक् सिञ्चत । ❀ उक्ष सेचने ❀ । यथा गव्यसमृद्धिर्भवति तथा यूयम् अस्मद्गृहेषु समृद्धा भवतेत्यर्थः ॥

हे दुग्ध आदि प्रदान कर आनन्दित करने वालीं रमतियों +

+ आपस्तम्ब मुनिने गौओंके अनेक नाम लिखे हैं; कि—“चिदसि मनासि धीरसि रन्ती रमतिः सूनुः सूनरीत्युच्चैरुपह्वये सप्त मनुष्यगवीः ।” (आपस्तम्ब ४ । १० । ४) ॥

गौओं ! तुम अपने निवास स्थानको जानती हो अर्थात् जंगलमें चरनेके स्थानमें चर कर फिर हमारे घरको जान कर आजाया करती हो और बछड़ोंसे अनुकूलता रखती हो। आपके बहुतसे × नाम हैं वा आप सबको दुग्ध आदि देकर अपने अनुकूल नमा लेती हैं अत एव सब धेनुओंकी प्रार्थना करते हैं। इस प्रकारकी दमकती हुईं तुम अपने दमकते हुए बछड़ोंके साथ मुझ पुष्टिकी कामना वालेके पास आओ और आकर हमारे गोठको हमारे घरको और हम गृहस्वामियोंको भी घृतके उत्पादक दुग्ध से वा घृतसे भली प्रकार समुच्चित करो ! तात्पर्य यह है, कि-जिस प्रकार गव्यसमृद्धि हो तिस प्रकार तुम हमारे घरोंमें बढ़ो २

सप्तमी ॥

आ सु॒स्रस॑ः सु॒स्रसो॒ अस॑तीभ्यो॒ अस॑त्तराः ।
सेहो॑र॒रसत॑रा लव॒णाद् विक्ले॑दीयसीः ॥ १ ॥

आ । सु॒ऽस्रस॑ः । सु॒ऽस्रस॑ः । अस॑तीभ्यः । अस॑त्ऽतराः ।
सेहो॑ः । अ॒र॒सऽत॑राः । ल॒व॒णात् । विऽक्ले॑दीयसीः ॥ १ ॥

या ग्रैव्या अपचित इत्युत्तरमन्त्रेऽभिधानाद् अत्रापि अपचित एवोच्यन्ते। सुस्रसः अत्यर्थं स्रवन्त्यः सर्वदा पूयादिस्रवणशीलाः। ❋ सुपूर्वात् स्रंसतेः क्विप्। "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" इति नकारलोपः ❋ । अत एव असतीभ्यः सतीविरुद्धा असत्यः बाधिका रोगव्यक्तयस्ताभ्योपि असत्तराः अत्यर्थम् असत्यो

× एक गौके अनेक नामोंका होना तैत्तिरीयमें कहा है, कि-"इडे रन्ते दिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्निये नामानि।–हे अघ्निये गौ ! तेरे इडा रन्ता सरस्वती दिति प्रिया प्रेयसी मही ये नाम प्रसिद्ध हैं" (तैत्तिरीयसंहिता ७ । १ । ६ । ८)॥

बाधिका एवंविधा अपचिन्नामिका गण्डमालाः आसुस्रसः आ समन्ताद् निरवशेषं स्रवणशीला भवन्तु। मन्त्रौषधप्रयोगेण निःशेषं स्रवणेन विनश्यन्तु इत्यर्थः । अपचितो विशिनष्टि । शेहोः शेहुर्नामविप्रकीर्णावयवः अत्यन्तं निःसारस्तूलादिरूपः पदार्थः तस्मादपि अरसतराः निःसारतराः। अपचितो हि पाकावस्थातः पूर्वम् अबाधिका इव दृश्यन्ते । पश्चात् कक्षादिसंधिप्रदेशेषु व्याप्ता व्रणरूपेण बाधन्ते । रोगप्रादुर्भावकाले स्वरूपापरिज्ञानेन अरसत्वम् उक्तम् । पाकोत्तरकालं कृत्स्नावयवव्याप्त्यनन्तरं लवणात् सर्वदा स्रवणशीलत्वेन प्रसिद्धात् एतन्नामधेयात् पदार्थादपि विक्लेदीयसीः अतिशयेन विविधं क्लेदनवत्यः । यथा लवणो यत्रकुत्रापि निहितोपि सर्वदा स्रवति। तस्मादपि पाकावस्थोत्तरकालं सर्वाङ्गसंधिषु पूयादिस्रवणशीला भवन्ति । एतादृश्योऽपचितः आसुस्रसो भवन्त्विति संबन्धः । ❀ विक्लेदीयसीरिति । विविधः क्लेदो यासां ता विक्लेदाः अतिशयेन विक्लेदा विक्लेदीयस्यः। "द्विवचनविभज्योपपदे०" इति ईयसुन् प्रत्ययः । "टेः" इति टिलोपः । "वा छन्दसि" इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ ॥

ग्रीवामें रहने वाली गण्डमालायें सदा पीपको बहाती रहती हैं वे सती बाधिका रोगव्यक्तियोंसे भी अधिक पीड़ा देती हैं अत एव असती हैं, ये गण्डमालायें मन्त्र तथा औषधिके प्रयोग से बहुत ही बहने लगें अर्थात् नष्ट होजावें । ये गंडमालायें विप्रकीर्ण अवयव वाले अत्यन्त निःसार तूलादिरूप सेहुसे भी अधिक निःसार हैं, (क्योंकि-ये अपचित् पाकावस्थासे पहिले पीड़ा न देने वालीसीं दीखती हैं, फिर बगल आदि संधिप्रदेशोंमें व्याप्त हो व्रणरूपसे पीड़ा देती हैं, अतएव रोगप्रादुर्भाव कालमें स्वरूप का ज्ञान न होनेके कारण इनको अरस कहा है) और यह लवण से भी अधिक बहने वाली हैं (अर्थात् पाकके अनन्तर सारे शरीर

में व्याप्त होजाने पर सदा स्रवणशील लवणकी समान सर्वांग-संधियोंसे बहती रहती हैं ऐसी अपचित् भी और अधिक बहें १ अष्टमी ॥

या ग्रैव्या अपचितोथो या उपपक्ष्याः ।
विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥ २ ॥

याः । ग्रैव्याः । अपऽचितः । अथो इति । याः । उपऽपक्ष्याः ।
विऽजाम्नि । याः । अपऽचितः । स्वयम्ऽस्रसः ॥ २ ॥

ग्रैव्याः ग्रीवायां भवाः गलप्रदेशे उत्पन्नाः । ❀ ग्रीवाशब्दात् "ञ्यप्रकरणे परिमुखादिभ्य उपसंख्यानम्" इति "तत्र भवः" इत्यर्थे ञ्यप्रत्ययः । "ग्रीवाभ्योण् च" इति अणप्रत्यये तु ङीपि यणादेशे च कृते ग्रैव्य इति भवति ❀ । ग्रीवाभवा या अपचितः । अथो अपि च उपपक्ष्याः उपपक्षे पक्षसमीपे उपकक्षे भवा या अपचितः । विजाम्नि विशेषेण जायते अपत्यम् अत्रेति विजामा गुह्यप्रदेशः । ❀ जायतेः "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति मनिन् । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति प्रत्ययविशेषे विहितम् आत्त्वं छन्दोविषयत्वाद् अस्मिन्नपि भवति ❀ । विजाम्नि गुह्यप्रदेशे तदुपलक्षिते ऊरुसंधौ या अपचिताः दोषवशाद् अपाक् चीयमाना गण्डमालास्ताः सर्वाः स्वयंस्रसः स्वयं स्रवणशीलाः मन्त्रौषधप्रयोगेण निरवशेषं स्रवन्त्यो भवन्तु इति तच्छब्दाध्याहारेण वाक्यं पूरणीयम् । यद्वा स्वयंस्रसः क्षाराद्यौषधप्रक्षेपाभावेपि दोषातिरेकवशाद् ग्रीवोपपक्षोरुसंधिस्थानेषु व्रणरूपेण पूयादिस्रवणशीला या अपचितः सन्ति ताः सर्वाः आसुस्रसो भवन्तु इति पूर्वमन्त्रेण संबन्धः । या ग्रैव्या इत्युत्तरमन्त्रे यच्छब्दश्रुतेः आसुस्रस इति पूर्वमन्त्रे तच्छब्दं विनापि वाक्यं पूर्यते ॥

गलेकी गण्डमालाएँ, बगलमें होने वाली कक्षहारियें गुह्यप्रदेश आदि की अपचित् जो दोषवश बढ़ जाती हैं वे मन्त्र और औषधिके प्रयोगसे अपने आप बहने लगें ॥ २ ॥

नवमी ॥

यः कीकसाः प्रभृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥३॥

यः । कीकसाः । प्रऽभृणाति । तलीद्यम् । अवऽतिष्ठति ।
निः । हाः । तम् । सर्वम् । जायान्यम् । यः । कः । च । ककुदि । श्रितः ॥ ३ ॥

यो राजयक्ष्माख्यो रोगः कीकसाः अस्थीनि प्रसृणाति प्रसरति व्याप्नोति । अस्थिपर्यन्तं व्याप्नोतीत्यर्थः । ❀ सरतेर्विकरणव्यत्ययः ❀ । यश्च रोगः तलीद्यम् । तलिद् इति अन्तिकनाम । अन्तिके भवं तलीद्यम् । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् । इकारस्य दीर्घश्छान्दसः ❀ । अस्थिसमीपगतं मांसम् अवतिष्ठति अवकृष्य तिष्ठति । मांसं शोषयतीत्यर्थः । यः कश्चित् दुःसाध्यो राजयक्ष्माख्यो रोगः ककुदि ककुन्नाम ग्रीवापरभागः तस्मिन् श्रितः संश्रितः ककुत्स्थानं तनूकुर्वन् यो रोगोस्ति तं सर्वं शरीरगतसर्वधातुशोषकं जायान्यम् निरन्तरजायासंभोगेन जायमानं क्षयरोगं निर्हाः निर्हरतु । मन्त्रसंस्कृतम् औषधम् अग्न्यादिसंज्ञको वा देवः विनाशयतु । ❀ हरतेश्छान्दसे लुङि रूपम् ❀ । जायान्यशब्दो रोगविशेषपरः । स च जायासंबन्धेन प्राप्नोतीति तैत्तिरीयके समाम्नायते । "प्रजापतेस्त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन् । ताः सोमाय राज्ञे ददात् । तासां रोहिणीम् उपैत्" इति प्रक्रम्य समाम्नायते । "तासां रोहिणीम् एवोपैत् । तं यक्ष्म आर्छत् । तद् राजयक्ष्मस्य जन्म । यत्

पापीयान् अभवत् तत् पापयक्ष्मस्य यज्जायाभ्योविन्दत् तज्जायेन्यस्य । य एवम् एतेषां जन्म वेद नैनम् एते यक्ष्मा विन्दन्ति” इति [तै० सं० २. ३. ५. २] । तत्र जायेन्य इति पठ्यते अत्र तु जायान्य इति आकारवत्त्वेन इति विशेषः ॥

जो राजयक्ष्मा नाम वाला रोग हड्डियोंतकमें व्याप्त होजाता है और अस्थियोंके पासके मांसको खेंच लेता है और जो (दुःसाध्य) यक्ष्मारोग ककुद्में होजाता है, उन शरीरगत सब धातुओंको सोखने वाले निरन्तर जायासंभोगसे उत्पन्न हुये जायान्य ‡ क्षयरोगोंको (मन्त्रसंस्कृत औषध वा अग्नि आदि देवता) नष्ट कर डालें ॥ ३ ॥

दशमी॥

प॒क्षी जा॒यान्यः॑ पतति॒ स आ वि॑शति॒ पूरु॑षम् ।

---

‡ जायान्य शब्द रोगविशेषका वाचक है और इसके जायाके संबंधसे प्राप्त होनेका वर्णन तैत्तिरीयकमें वर्णित है, कि—“प्रजापतेस्त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन् । ताः सोमाय राज्ञेऽदाद् । तासाम् रोहिणीं एवोपैत् ।—प्रजापतिकी तैंतीस पुत्रियें थीं, उनको प्रजापतिने राजा चन्द्रमाके अर्पण कर दिया, वह उनमेंसे रोहिणी पर ही आसक्त रहा” इसका आरंभ कर आगे कहा है, कि—“तासां रोहिणीमेवोपैत् । तं यक्ष्म आर्च्छत् तद् राजयक्ष्मस्य जन्म । यत् पापीयान् अभवत् तत् पापयक्ष्मस्य । यज्जायाभ्योन्वविन्दत् तज्जायेन्यस्य । य एवं एतेषां जन्म वेद नैनं एते यक्ष्मा विन्दन्ति ।—जब वह रोहिणीमें ही आसक्त रहा तब यक्ष्मा रोगने उसको घेर लिया । यही राजयक्ष्माका जन्म है । जो पापीय होगया यही पापयक्ष्माका जन्म है । और जो जायाओंसे प्राप्त हुआ यही जायान्यकी व्युत्पत्ति है । जो इस प्रकार इनके जन्मको जानता है उसको ये यक्ष्मा रोग प्राप्त नहीं होते हैं” ॥

तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥ ४ ॥

पक्षी । जायान्यः । पतति । सः । आ । विशति । पुरुषम् ।

तत् । अक्षितस्य । भेषजम् । उभयोः । सुऽक्षतस्य । च ॥ ४ ॥

जायान्यः क्षयरोगः पक्षी पक्षवान् पतत्री भूत्वा पतति सर्वत्र चरति । स रोगः पूरुषम् पुरुषम् आ विशति सर्वतः प्रविशति । पुरुषस्य कृत्स्नं शरीरं व्याप्नोतीत्यर्थः । अक्षितस्य । ❀ क्षि निवासगत्योः ❀ । शरीरे चिरकालावस्थानरहितस्य । सुक्षितस्य चिरकालम् अवस्थितस्य । यद्वा ❀ । क्षणु हिंसायाम् इति धातुः । इकारोपजनश्छान्दसः ❀ । अक्षितस्य अहिंसकस्य शरीरम् अशोषयतः सुक्षितस्य शरीरगतसर्वधातून् सुष्ठु निःशेषं शोषयतः । ❀ चशब्दः समुच्चये ❀ । उभयोः अक्षितसुक्षितयोः क्षयरोगयोः तत् प्रसिद्धं मन्त्राभिमन्त्रितं वीणातन्त्रीखण्डादिरूपं भेषजम् निवर्तनौषधं भवति ॥

[इति] सप्तमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जायान्य नामक क्षयरोग पर वाला (सा) वन कर सर्वत्र विचरण करता है। वह रोग पुरुषके सारे शरीरमें व्याप्त होजाता है, वह चिरकालके नहीं किन्तु थोड़े समयसे शरीरमें वसे हुए जायान्य रागको और चिरकालसे शरीरमें वसे हुये जायान्य रोगको इस प्रकार दोनों प्रकार जायान्य–क्षयरोगको मन्त्राभिमन्त्रित वीणातन्त्रीखंड आदि रूप औषधि, हटाने बाली है ॥४॥

सप्तम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३६५) ॥

“विद्म वै ते” इत्यस्या ऋचो राजयक्ष्मभैषज्ये “यः कीकसाः” [७. ८०] इति द्व्यृचेन सह उक्तो विनियोगः ॥

सोमयागे माध्यन्दिनसवने “धृषत् पिब” इत्यनया द्रोणकलश-

स्थं सोमं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "द्रोणकलशस्थम् अनुमन्त्रयते धृषत् पिबेति माध्यन्दिने" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ६] ॥

अभिचारकर्मणि "सांतपनाः" इति तृचेन विशुद्धतद्वृत्तसमिध आदध्यात् ॥

तथा चातुर्मास्येषु साकमेधपर्वणि मध्यन्दिने काले सांतपनमरुद्यागं "सांतपनाः" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । तद् उक्तं वैताने । "मध्यन्दिने सांतपनानां मरुतां सांतपनाः" इति [वै० २. ५] ॥

सर्वव्याधिभैषज्यकर्मणि "वि ते मुञ्चामि" इत्यनया उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य सूत्रोक्तप्रकारेण व्याधितम् आप्लावयेद् अवसिञ्चेद् वा । सूत्रितं हि । "सिनीवालि [७. ४८] वि ते मुञ्चमि [७. ८३] शुम्भनी [७. ११७] इति मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति" इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः मुच्यमानयोक्त्रां पत्नीम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । तद् उक्तं वैताने । "वि ते मुञ्चामि [७. ८३] अहं वि ष्यामि [१४. १. ५७] प्र त्वा मुञ्चामि [१४. १. १९] इति पत्नीं योक्त्रेण विमुच्यमानाम् अनुमन्त्रयते" इति [वै० १. ४]

दर्शपूर्णमासयोः "अस्मै क्षत्राणि" इत्यनया हविरासादनानन्तरम् इध्मम् उपसमादध्यात् । "अग्निर्भूम्याम् [१२. १. १९] इति तिसृभिरुपसमादधाति अस्मै क्षत्राणि [७. ८३] एतम् इध्मम्" [१०. ६. ३५] इति [कौ० १. २] सूत्रात् ॥

"यत् ते देवा अकृण्वन्" इति चतसृभिः स्वाभिलषितफलकामः अमावास्यां यजेत उपतिष्ठेत् वा । "बृहस्पतिर्नः [७. ५३] यत् ते देवा अकृण्वन् [७. ८४] पूर्णा पश्चात्" [७. ८५] इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७. १०] ॥

तथा दर्शयागे पार्वणहोमं "यत् ते देवा अकृण्वन्" इत्यनया कुर्यात् । "यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् इत्यमावास्यायाम्" इति कौशिकसूत्रात् [कौ० १. ५] ॥

तथा श्रौतदर्शयागे "यत् ते देवा अकृण्वन्" इति कुहूदेवतां परिगृह्णीयात् । "कुहूं देवीं यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् इत्यमावास्यायाम्" इति वैतानं सूत्रम् [वै० १. १] ॥

"विद्म वै ते" इस ऋचाका राजयक्ष्माकी चिकित्सामें "यः कीकसः" इस ७ । ८० के त्र्यृचके साथ विनियोग कह दिया है ।

सोमयागके माध्यन्दिनसवनमें "धृषत् पिब" ऋचासे द्रोणकलशमें स्थित सोमका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतान सूत्र ३ । ६ का प्रमाण भी है, कि–"द्रोणकलशस्थं अनुमन्त्रयेत धृषत् पिबेति माध्यन्दिने" ॥

अभिचारकर्ममें "सांतपनाः" तृचसे बिजलीसे मारे हुये वृक्ष की समिधाओंको रक्खे ।

तथा चातुर्मास्यके साकमेधपर्वमें मध्यन्दिनसमयमें सान्तपन मरुद्यागका "सान्तपनाः" से ब्रह्मा अनुमंत्रण करे । इसी बात का वैतानसूत्रमें वर्णन है, कि–"मध्यन्दिने सान्तपनानां मरुतां सातपनाः" (वैतानसूत्र २ । ५) ॥

सर्वव्याधिभैषज्यकर्ममें "वि ते मुञ्चामि" ऋचासे जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके सूत्रोक्त रीतिसे रोगीको आप्लावित वा अवसिञ्चित करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"सिनीवालि (७ । ४८) वि ते मुञ्चामि (७ ८३) शंभनी (७ । १११) इति मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिंजूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा दर्श पूर्णमासमें रस्सीसे छूटी हुई पत्नीका ब्रह्मा इस मन्त्रसे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि–"वि ते मुञ्चामि (७ । ८३) अहं विष्यामि (१४ । १ । ५७) प्र त्वा मुञ्चामि (१४ । १ । १९) इति पत्नीं योक्त्रेण विमुच्यमानां अनुमन्त्रयते" (वैतानसूत्र १ । ४) ॥

दर्श पूर्णमासमें "अस्मै क्षत्राणि" ऋचासे हविके आसादनके अनन्तर इंधनको रक्खे। इस विषयमें कौशिकसूत्र १।४ का प्रमाण भी है, कि-"अग्निर्भूम्यां (१२।१।१९) इति तिसृभिरुपसमादधाति अस्मै क्षत्राणि (७।८३) एतम् इध्मम् (१०।६।३५)॥"

अपने अभिलषितं फलको चाहने वाला "यत् ते देवा अकृण्वन्" इन चार ऋचाओंसे अमावास्यामें यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।१० का प्रमाण भी है, कि-'बृहस्पतिर्नः (७।५३) यत् ते देवा अकृण्वन् (७।८४) पूर्णा पश्चात् (७।८५)"॥

तथा "यत् ते देवा अकृण्वन्" ऋचासे दर्शयागमें पार्वणहोमको करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र १।५ का प्रमाण है, कि-"यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् इत्यमावास्यायाम्"॥

तथा श्रौतदर्शयागमें "यत् ते देवा अकृण्वन्" से कुहूदेवताका परिग्रहण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र १।१ का प्रमाण भी है, कि-"कुहूं देवीं यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयं इत्यमावास्यायाम्"॥

तत्र प्रथमा॥

वि॒द्म वै ते॑ जायान्य॒ जानं॒ यतो॑ जायान्य॒ जाय॑से।
क॒थं ह॒ तत्र॒ त्वं ह॑नो॒ यस्य॑ कृ॒ण्वमो ह॒विर्गृ॒हे॥१॥

वि॒द्म। वै। ते॒। जा॒या॒न्य॒। जान॑म्। यत॑ः। जा॒या॒न्य॒। जाय॑से।
क॒थम्। ह॒। तत्र॑। त्वम्। ह॒न॒ः। यस्य॑। कृ॒ण्मः। ह॒विः। गृ॒हे १

हे जायान्य जायाभ्य आगत राजयक्ष्माख्य रोग ते तव जानम् जन्म उत्पत्तिनिदानं वा विद्म वै जानीमः खलु। वैशब्दः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिद्योतनार्थः। "यज्जायाभ्योविन्दत् तज्जायेन्यस्य" इति

तैत्तिरीयश्रुतिः [तै० सं० २. ३. ५. २] उदाहृता । हे जायान्य जायासंबन्धाद् आगत रोग यतः यस्मान्निदानात् जायसे उत्पद्यसे तन्निदानं जानीम इति संबन्धः । एवं तवोत्पत्तिं जानाना वयं यस्य यजमानस्य गृहे हविः रोगनिर्हरणक्षमेन्द्रादिदेवतासंबन्धि आज्यादिरूपं कृण्मः कुर्मः देवतोद्देशेन तदुचितं हविः प्रक्षिपामः तत्र तस्मिन् यजमाने । ❀ विषयसप्तमी ❀ । तद्विषये हे क्षयरोग त्वं कथं ह हनः केन प्रकारेण हन्याः । यद्रोगनिर्हरणार्थं यत्र देवता इज्यते तत्र स रोगो न बाधत इत्यर्थः । ❀ हन इति । हन्तेः पञ्चमलकारे अडागमः । कृण्म इति । "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः" इति उप्रत्ययलोपः ❀ ॥

हे स्त्रीसे आये हुए जायान्य राजयक्ष्मा रोग ! हम तेरी उत्पत्ति वा उत्पत्तिनिदानको जानते ही ‡ हैं । हे जायासम्बन्धसे आये हुए ! तू जिस कारणसे उत्पन्न होता है उसको हम जानते हैं, इस प्रकार तेरी उत्पत्तिको जानने वाले हम जिस यजमानके घर में रोगको दूर करनेमें समर्थ इन्द्र आदि देवताओंकी घृत आदि की हविको कर रहे हैं उस घरमें तू किस प्रकार संहार कर रहा है ? अर्थात् जहाँ रोगको दूर करनेके लिये देवताओं की पूजा की जाती है तहाँ वह रोग पीड़ा नहीं देता है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

धृ॒षत् पि॑ब क॒लशे॒ सोम॑मि॑न्द्र वृत्र॒हा शू॑र सम॒रे वसू॑नाम् ।

---

‡ (वै) ही शब्द इस बातको जताता है, कि-इस विषयका वर्णन अन्य श्रुतिमें भी है । जैसे जायान्य रोगका वर्णन तैत्तिरीय संहिता २ । ३ । ५ । २ की श्रुतिमें भी है, कि-'यज्जायाभ्योऽविन्दत् तज्जायेन्यस्य ।'

माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥ २ ॥

धृषत् । पिब । कलशे । सोमम् । इन्द्र । वृत्रऽहा । शूर । सम्ऽअरे । वसूनाम् ।

माध्यन्दिने । सवने । आ । वृषस्व । रयिऽस्थानः । रयिम् । अस्मासु । धेहि ॥ २ ॥

हे इन्द्र धृषत् धृष्टः धर्षको वा शत्रूणाम् । ❀ ञिधृषा प्रागल्भ्ये । शतरि व्यत्ययेन शः ❀ । कलशे द्रोणकलशाख्ये स्थितं सोमं पिब । किंनिमित्तम् । हे शूर विक्रान्त वृत्रहा वृत्रं हतवान् त्वं वसूनाम् धनानां समरे संगमे निमित्ते । अस्मान् धनं संयोजयितुं पिबेत्यर्थः । ❀ संपूर्वाद् अर्तेः "ऋदोरप्" । "थाथ०" इत्यादिस्वरेण अन्तोदात्तः ❀ । सोमपानस्य कालम् आह । माध्यन्दिने मध्यन्दिनसंबन्धिनि सवने । सूयते अभिषूयते सोमः अत्रेति सवनः कालः । तत्र आ वृषस्व सर्वतः सिञ्च । जठरे सोमम् इति शेषः । यद्वा । ❀ आवृषतिर्भक्षणकर्मा इति यास्कः ❀ । भक्ष च । सोमम् इति शेषः । ततः रयिस्थानः तिष्ठन्ति अस्मिन् धनानि इति स्थानः । ❀ अधिकरणे ल्युट् प्रत्ययः ❀ । धननिवासस्थानभूतः स त्वं रयिम् धनम् अस्मासु धेहि धारय ॥

हे शत्रुओंको धमकाने वाले इन्द्र ! आप द्रोणकलशमें स्थित सोमको पीजिये क्योंकि—हे वृत्रहन् शूर ! धनोंके संगमनके निमित्त अर्थात् हमें धनसम्पन्न करनेके लिये हमको धनसे सम्पन्न करिये आप मध्यन्दिनसवनके समय सोमका भक्षण करिये फिर धनके निवासस्थान आप ! हममें धनको स्थापित करिये ॥ २ ॥

तृतीया ।

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन
अस्माकोती रिशादसः ॥ १ ॥

साम्ऽतपनाः । इदम् । हविः । मरुतः । तत् । जुजुष्टन
अस्माक । ऊती । रिशादसः ॥ १ ॥

हे सांतपनाः संतापकारी संतपनः सूर्यः तत्संबन्धिनः । मध्यन्दिने हि सूर्यः संतपति । ❀ संतपनस्य इमे इति "तस्येदम्" इति अण् । "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् । यद्वा संपतनं संतापः । तस्येमे इति पूर्ववद् अण् ❀। उभयत्रापि मध्यन्दिनकाले यष्टव्या इत्यर्थः । हे मरुतः इदं हविः । युष्मदर्थं कल्पितम् इति शेषः । हे मरुतः तत् हविः जुजुष्टन सेवध्वम् । ❀ जुषतेर्व्यत्ययेन श्लुः ❀ । अस्माक अस्माकम् ऊती । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । ऊतये अस्मद्रक्षणार्थम् हे रिशादसः रिशन्ति हिंसन्तीति रिशाः । तेषाम् उपक्षपयितारः । ❀ दस्यतेः अन्तर्णीतण्यर्थात् क्विप् ❀ । यद्वा रिशानाम् अत्तारः । ❀ अद भक्षणे । इत्यस्माद् असुन् । दस्यतेरत्तेर्वा रूपम् इति अनवधारणाद् अनवग्रहः । अपादादित्वाद् आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । अस्मान् रक्षितुं शत्रूणां बाधका यूयं हविः सेवध्वम् इति संबन्धः ॥

हे सूर्यसे संबंध रखने वाले मरुत् देवताओं ! ये हवि आपके लिये कल्पित है आप इसका सेवन करिये, हमारी रक्षा करनेके लिये शत्रुओंके बाधक आप हविका सेवन करिये ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति ।
द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्

यः । नः । मर्तः । मरुतः । दुःऽहृणायुः । तिरः । चित्तानि । वसवः । जिघांसति ।

द्रुहः । पाशान् । प्रति । मुञ्चताम् । सः । तपिष्ठेन । तपसा । हन्तन । तम् ॥ २ ॥

हे वसवः वासकाः । प्रशस्या इत्यर्थः । वसुप्रदा वा हे मरुतः यो मर्तः मरणधर्मा मनुष्यः दुर्हृणायुः दुष्टं क्रुध्यन् तिरः तिरोभूतः अन्तर्हितः दृष्टिविषयम् अप्राप्तः सन् नः अस्माकं चित्तानि जिघांसति हन्तुम् इच्छति । क्षोभयतीत्यर्थः । स शत्रुः द्रुहः पापानां द्रोग्धुर्वरुणस्य पाशान् प्रति मुञ्चताम् धारयतु । वरुणपाशैर्बद्धो भवत्वित्यर्थः । तं जिघांसन्तं जनं तपिष्ठेन तापयितृतमेन तपसा तापकेन आयुधेन हन्तन हिंस्त हे मरुतः । ❀ हन्तेर्लोटि तस्य तस्य तनबादेशः । पित्त्वाद्ध अनुनासिकलोपाभावः ❀ ॥

हे धन देने वाले मरुत्–देवताओं ! जो मरणधर्मी पुरुष दुर्भाव से क्रोध कर हमारे परोक्षमें हमारे चित्तोंको क्षुब्ध करना चाहता वह शत्रु पापसे द्रोह करने वाले वरुणदेवके पाशको धारण करे । और आप उस घात करनेकी इच्छा वाले पुरुषको तापक आयुध से मार डालिये ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः ।

ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा
मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

सम्ऽवत्सरीणाः । मरुतः । सुऽअर्काः । उरुऽक्षयाः । सऽगणाः ।
मानुषासः ।
ते । अस्मत् । पाशान् । प्र । मुञ्चन्तु । एनसः । साम्ऽतपनाः ।
मत्सराः । मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

संवत्सरीणाः संवत्सरं भाविनः वर्षेवर्षे प्रादुर्भविष्यन्तः । ❀ "तम् अधीष्टो भृतो भूतो भावी" इत्यर्थे "संपरिपूर्वात् ख च" इति संपूर्वाद् वत्सरात् खप्रत्ययः ❀ । स्वर्काः । ❀ अर्कशब्दं यास्को बहुधा निरुवाच । अर्को मन्त्रो भवति यद् अनेनार्चन्ति अर्को देवो भवति यद् एनम् अर्चन्ति अर्कम् अन्नं भवति इत्यादि [नि० ५. ४] ❀ । सुमन्त्राः । मन्त्रैः सम्यक स्तूयमाना इत्यर्थः । सूर्यरूपदेवसंबन्धिनो वा अन्नप्रदत्वेन शोभनान्ना वा । उरुक्षयाः । क्षयशब्दो निवासवाची । उरुर्विस्तीर्णः क्षयः अन्तरिक्षरूपो निवासो येषां ते । अन्तरिक्षसंचारिण इत्यर्थः । सगणाः । "सप्तगणा वै मरुतः" इति [तै० सं० २. २. ५. ७] श्रुतेः स्वीयस्वीयसंघयुक्ताः । मानुषासः वृष्टिनिमित्तत्वेन मनुष्यहितकारिणः । सांतपनाः शत्रूणां संतापकारिणः । मत्सराः माद्यन्तः मादयिष्णवः सर्वस्य संतोषकरणशीलाः । ते एवंगुणविशिष्टा मरुतः अस्मत् अस्मत्तः सकाशाद् एनसः पापकारिणः पाशान् बाधकान् प्र मुञ्चन्तु प्रमोचयन्तु ॥

प्रत्येक सम्वत्सरमें प्रादुर्भूत होने वाले, सुन्दर मन्त्रोंसे स्तूयमान, अन्तरिक्षरूप विशाल निवास वाले, वृष्टिके निमित्त होनेके

कारण मनुष्योंका हित करने वाले, शत्रुओंको सन्तप्त करने वाले (सात) गण वाले और सबको संतोष देने वाले मरुत् देवता हमको पापमय पाशोंसे मुक्त करें ॥ ३ ॥

षष्ठी ॥

वि ते॑ मुञ्चामि रश॒नां वि योक्त्रं॒ वि नि॒योज॑नम् ।
इ॒हैव त्वमज॑स्र एध्यग्ने ॥ १ ॥

वि । ते॒ । मु॒ञ्चा॒मि॒ । र॒श॒नाम् । वि । योक्त्र॑म् । वि । नि॒ऽयोज॑नम् ।
इ॒ह । ए॒व । त्वम् । अज॑स्रः । ए॒धि॒ । अ॒ग्ने॒ ॥ १ ॥

हे अग्ने ते तव त्वत्कर्तृकां रशनाम् व्यापिकां रज्जुम् । ❀ अशेरश च [उ० २. ७५] इति युच् प्रत्ययः ❀ । त्वत्कर्तृकां रुग्णविषयां कद्यावस्थितां कण्ठबन्धनसाधनभूतां वा बाधिकां रज्जुं वि मुञ्चामि विमोचयामि प्रयोक्ता अहम् । तथा योक्त्रम् योजनोपयुक्तं रज्जुविशेषं मध्यप्रदेशबन्धनसाधनम् । वि मुञ्चामीति क्रियानुषङ्गः । तथा नियोजनम् नितरां योजनसाधनं नीचीनं वा बंधनसाधनं सर्वावयवबंधकं रज्जुविशेषम् । वि मुञ्चामीत्यनुषङ्गः । सर्वत्र क्रियानुषङ्गं द्योतयितुं वीत्युपसर्गश्रुतिः । अतः बंधनमोचनात् हे अग्ने त्वम् इहैव अस्मिन्नेव रोगार्ते । ❀ विषयसप्तमी ❀ । रुग्णविषये अजस्रः । ❀ जसु हिंसायाम् इति धातुः । "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः" इति ताच्छीलिको रप्रत्ययः ❀ । अबाधनशीलः एधि भव । ❀ अस्तेर्लोटि हेर्धिभावे "ध्वसोरेद्धौ०" इति एकारादेशः ❀ ॥ यद्वा रोगार्त एव संबोध्यते । हे रोगार्त ते तव संबंधिनीम् रशनाम् हननसाधनभूतं मृत्युपाशं वि मुञ्चामि । एवं योक्त्रनियोजनशब्दौ व्याख्येयौ । अतो रशनादिविमोकात् हे अग्ने । अग्निवद् अग्निः । अग्निवद् दीप्य-

मान रोगान्मुक्त पुरुष त्वम् इहैव अस्मिन्नेव लोके अजस्रः परैर्मृत्युना वा अबाधितः एधि भव । ❀ अस्मिन् पक्षे कर्मणि रप्रत्ययो द्रष्टव्यः ❀ ॥ पत्नी वा संबोध्यते ॥

मैं प्रयोक्ता आपकी रोगरूपिणी कण्ठ वा बगलमें व्याप्त रज्जु को खोलता हूँ और मध्यप्रदेशके बंधनकी साधन योक्त्ररज्जुको खोलता हूँ और सर्वावयवबन्धनसाधक नीचीन योक्त्रको भी खोलता हूँ । इस बन्धनको खोलनेके कारण हे अग्ने ! आप इस रोगार्त पुरुषके यहाँ अबाधनशील होकर बढ़िये ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

अ॒स्मै क्ष॒त्राणि॑ धा॒रय॑न्तमग्ने यु॒नज्मि॑ त्वा॒ ब्रह्म॑णा॒ दैव्ये॑न
दी॒दि॒ह्य॑१॒स्मभ्यं॒ द्रवि॑णे॒ह भ॒द्रं प्रेमं वो॑चो ह॒विर्दां दे॒वता॑सु

अ॒स्मै । क्ष॒त्राणि॑ । धा॒रय॑न्तम् । अ॒ग्ने॒ । यु॒नज्मि॑ । त्वा॒ । ब्रह्म॑णा । दैव्ये॑न ।

दी॒दि॒हि । अ॒स्मभ्य॑म् । द्रवि॑णा । इ॒ह । भ॒द्रम् । प्र । इ॒मम् । वो॒च॒ः । ह॒वि॒ःऽदाम् । दे॒वतासु ॥ २ ॥

हे अग्ने अस्मै यजमानाय क्षत्राणि । बलनामैतत् । बलानि धारयन्तम् । प्रयच्छन्तम् इत्यर्थः । तादृशं त्वा त्वां दैव्येन देवसंबंधिना ब्रह्मणा मन्त्रेण युनज्मि हविर्वहनार्थं योजयामि । अथ अस्मभ्यं द्रविणा द्रविणानि धनानि भद्रम् भंदनीयं सुखं पुत्रादिलाभादिनिमित्तं च इह इदानीं दीदिहि । देहीति यावत् । ❀ ददातेश्छांदसं रूपम् ❀ । अथवा । ❀ दीदेतिर्दीप्तिकर्मा इति यास्कः [निघ० १. १६] ❀ । अस्मभ्यं धनादिकं संदीपय । समर्धयेत्यर्थः । यद्वा धनं सुखं च अस्मभ्यं दातुम् इह इदानीं

दीदिहि । इध्मेन दीप्यस्वेत्यर्थः । ततः हविर्दाम् चरुपुरोडाशादिरूपं हविः प्रयच्छन्तम् । ❀ ददातेः क्विप् ❀ । तादृशम् इमं यजमानं देवतासु अग्नीन्द्रादिषु प्र वोचः प्रब्रूहि । असौ यजमानो हविषा देवता यजत इति तस्यै तस्यै यष्टव्यदेवतायै कथयेत्यर्थः ॥

हे अग्निदेव ! इस यजमानको बल देने वाले आपको मैं दिव्य मन्त्रसे हवि वहन करनेके लिये नियुक्त करता हूँ, अतः आप इस समय हमको धन और पुत्रलाभ आदिसे होनेवाला सुख दीजिये। अथवा—आप हमको धन और सुख देनेके लिये इस समय प्रदीप्त हूजिये, तदनन्तर चरु पुरोडाश आदिरूप हविको देने वाले इस यजमानकी बात इन्द्र अग्नि आदि देवताओंसे कहिये अर्थात् यह यजमान हविसे अमुक देवताओंका यजन कर रहा है यह बात आप पूज्य देवताओंसे कहिये ॥ २ ॥

अष्टमी ॥

यत् ते॑ दे॒वा अकृ॑ण्वन् भाग॒धेय॒ममा॑वास्ये सं॒वस॑न्तो

म॒हि॒त्वा ।

तेना॑ नो य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववा॒रे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे

सु॒वीर॑म् ॥ १ ॥

यत् । ते॒ । दे॒वाः । अकृ॑ण्वन् । भा॒ग॒ऽधे॒य॑म् । अमा॑ऽवास्ये । स॒म्ऽ

व॑सन्तः । म॒हि॒ऽत्वा ।

ते॑न । न॒ः । य॒ज्ञम् । पि॒पृ॒हि॒ । वि॒श्व॒ऽवा॒रे॒ । र॒यिम् । न॒ः । धे॒हि॒ ।

सु॒ऽभ॒गे॒ । सु॒ऽवी॑रम् ॥ १ ॥

अमा सह वसतः सूर्यचन्द्रावस्याम् इति अमावास्या ।❀ "अमा-

वस्यदन्यतरस्याम्" इति पक्षे एयत् प्रत्ययः । णित्त्वाद् उपधावृद्धिः ❀ । तस्याः संबुद्धिः । हे अमावास्ये ते तव महित्वा महत्त्वेन । ❀ तृतीयाया आकारादेशः ❀ । यद्वा महित्वा महित्वे । ❀ सप्तम्या आकारः ❀। कर्मकालव्याप्तिपर्यन्तं संवसन्तः सम्यगवसन्तः । हविरपेक्षया तिष्ठन्तो देवाः अग्नीन्द्रसोमादयः भागधेयम् हविषो भागम् अकृण्वन् अकुर्वन् । स्वीकृतवन्त इति यत् । "यत् ते देवा अदधुर्भागधेयम्" इति तैत्तिरीये श्रूयते [तै० सं० ३. ५. १. १] । यद्वा हे अमावास्ये ते तुभ्यं यद् भागधेयं हविषो भागम् अमावास्यायां यष्टव्यत्वेन संवसन्तो देवा अकृण्वन् अकुर्वन् प्रायच्छन् । दर्शे अमावास्याया अपि हविषो भागोस्ति । ❀ भागधेयम् इति । "रूपनामभागेभ्यो०" धेयप्रत्ययः ❀ । तेन हविर्भागस्वीकरणेन नः अस्मदीयं यज्ञं पिपृहि पूरय साङ्गं कुरु हे विश्ववारे विश्वैः सर्वैर्वरणीये । किं च हे सुभगे शोभनभाग्ययुक्ते अमावास्ये नः अस्मभ्यं सुवीरम् । वीराः कर्मणि कुशलाः पुत्रादयः । शोभनपुत्रादियुक्तं रयिम् धनं धेहि प्रयच्छ ॥

हे अमावास्ये ! पूज्य होनेसे साथमें वसते हुए देवताओंने तुम्हारे लिये महत्वके कारण जो भाग दिया है, उस हविर्भागको स्वीकार कर तुम हमारे यज्ञको पूर्ण करो–सांग करो । हे सर्वोसे वरणीय सौभाग्यवति अमावास्ये ! आप हमको कर्ममें कुशल शोभन पुत्र आदिसे सम्पन्न धन दीजिये ॥ १ ॥

नवमी ॥

अ॒ह॒मेवास्म्यं॑मा॒वा॒स्या॒३ मामा व॑सन्ति सु॒कृतो॒ मयी॒मे ।
मयि॑ दे॒वा उ॒भये॑ सा॒ध्याश्चेन्द्र॑ज्येष्ठाः॒ सम॑गच्छन्त॒ सर्वे॑

अ॒हम् । ए॒व । अ॒स्मि॒ । अ॒मा॒ऽवा॒स्या॑ । माम् । आ । व॒स॒न्ति॒ । सु॒ऽकृ॑तः । मयि॒ । इ॒मे ।

मयि॑ । दे॒वाः । उभ॒ये॑ । सा॒ध्याः । च॒ । इन्द्र॑ऽज्येष्ठाः । सम् । अ॒ग॒च्छ॒न्त॒ । सर्वे॑ ॥ २ ॥

अत्र देवतावासस्थानभूतत्वेन अमावास्याशब्दनिष्पत्तिरिति देवता स्वयमेव स्वनाम निर्वक्ति । अहमेव अमावास्याभिमानिनी देवता अमावास्या अस्मि । न केवलं शब्दतः अपि तु अर्थतोपि एतन्नामिका भवामि । तद् दर्शयति पादत्रयेण । सुकृतः सुकर्माणो देवा मां मयि आ वसन्ति निवसन्ति यष्टव्यत्वेन अवतिष्ठन्ते । ❀ "उपान्वध्याङ्वसः" इति आङ्पूर्ववसिप्रयोगे माम् इत्यस्य कर्मता । आ मा वसन्ति देवा इति अमावास्याशब्दनिरुक्तिः । आङ्वसत्योर्मध्ये मा इति अस्मदो द्वितीयैकवचनस्य प्रयोगः । आङुपसर्गस्य ह्रस्वत्वम् । इति अमावास्याशब्दनिष्पत्तिः प्रदर्शिता । प्रत्ययस्तु पूर्वमेव उक्तः ❀ । माम् इति द्वितीयार्थमेव विवृणोति मयीमे इति । इमे देवाः मयि निवसन्ति इति आवासपदस्य अर्थकथनद्वारेणापि अमावास्याशब्दो निरुच्यते । साध्याः । चशब्दः अनुक्तसमुच्चयार्थः । सिद्धाश्च साध्यसिद्धनामका उभये द्विप्रकारा इन्द्रज्येष्ठाः इन्द्रप्रमुखाः सर्वे देवाः मयि समगच्छन्त संगच्छन्ते यष्टव्यत्वेन मिलिता भवन्ति । एतद् उक्तं भवति । माम् आ वसन्ति देवा मयि निवसन्ति यष्टव्यत्वेन मयि संगच्छन्ते इति अन्वर्थम् अमावास्याशब्दवाच्या भवामीति । अमा सह वसुरूप इन्द्रो वसति अस्यां तिथौ इति अमावास्याशब्दनिरुक्तिरिति तैत्तिरीये श्रूयते । "अमा वै नोद्य वसु वसतीति । इन्द्रो हि देवानां वसु । तद् अमावास्याया अमावास्यत्वम्" इति [तै० सं० २. ५. ३. ६] ॥

(यहाँ देवताके आवासरूपसे अमावास्या शब्दको कहा गया है वह देवता स्वयमेव कहते हैं, कि–) मैंही अमावास्याका अभिमानी देवता हूँ, (केवल शब्दसे ही ऐसा नहीं हूँ किन्तु अर्थसे

भी ऐसा ही हूँ, क्योंकि-) सुन्दर कर्म वाले देवता मुझमें यष्टव्यरूपसे रहते हैं (आ मा वसन्ति देवा इति अमावास्याशब्दनिरुक्तिः) यही मेरा अमावास्यात्मक अन्वर्थक नाम है। ये देवता मुझमें रहते हैं। और साध्य सिद्ध नामक इन्द्रज्येष्ठ और इन्द्रप्रमुख इस प्रकार दोनों प्रकारके भी देवता मुझमें यष्टव्यत्वसे मिलित होजाते हैं ‡ ॥ २ ॥

दशमी ॥

आगन् रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती।
अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न
आगन् ॥ ३ ॥

आ। अगन्। रात्री। सम्ऽगमनी। वसूनाम्। ऊर्जम्। पुष्टम्।
वसु। आऽवेशयन्ती।
अमाऽवास्यायै। हविषा। विधेम। ऊर्जम्। दुहाना। पयसा।
नः। आ। अगन् ॥ ३ ॥

रात्री अमावास्याकालयुक्ता तिथिः वसूनाम् धनानां संगमनी संयोजयित्री। ❀ विधेयविशेषणम् एतत् ❀। अस्मान् धनं संयो-

---

‡ अमा अर्थात् साथमें वसुरूप इन्द्र इस तिथिमें रहते हैं—इस प्रकारकी अमावास्या शब्दकी निरुक्ति तैत्तिरीयककी श्रुतिमें है, कि—"अमा वै नोऽद्य वसु वसतीति। इन्द्रो हि देवानां वसु। तद् अमावस्याया अमावास्यत्वम्।—हमारे वसु आज साथमें वसते हैं, इन्द्र ही देवताओंके वसु हैं, यही अमावास्याका अमावास्यापन है" (तैत्तिरीयसंहिता २। ५। ३। ६)॥

जयितुम् आगन् आगच्छतु । ❀ गमेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ । तथा ऊर्जम् अन्नरसं पुष्टम् पोषं वसु धनं च आवेशयन्ती अस्मदभिमुखं प्रयच्छन्ती आगन्निति संबन्धः । अमावास्यां गोरूपेणाह । नः अस्माकम् ऊर्जम् अन्नरसं पयसा क्षीरेण सह दुहाना आगन् आगच्छतु । "अमावास्या सुभगा सुशेवा धेनुरिव भूय आप्यायमाना" इति शाखान्तरे श्रूयते [तै० ब्रा० ३. ७. ५. १३] । तादृश्यै अमावास्यायै तदर्थम् । यद्वा । ❀ कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀ । अमावास्यां देवतां हविषा आज्यादिरूपेण विधेम परिचरेम ॥

[इति] सप्तमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

अमावास्याकालसम्पन्न तिथि वाली रात्रि धनोंका सम्मेलन कराने वाली है, वह हमको धनसे सम्पन्न करनेके लिये आवे । तथा अन्नरसका धनका और पुष्टिका अपनेमें समावेश करती हुई हमारी ओर आवे । (अमावास्याका गोरूपमें वर्णन करते हैं, कि-) यह हमारे लिये अन्नरसको क्षीरके साथ दुहाती हुई आवे ‡ । ऐसी अमावास्याकी हम हविसे सेवा करते हैं ॥ ३ ॥

सप्तम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३९९) ॥

"अमावास्ये न" इत्यस्याः सर्वाभिलषितकर्मणि "यत् ते देवा अकृण्वन्" इत्यत्र विनियोग उक्तः ॥

सर्वफलकामः "पूर्णा पश्चात्" इति द्वाभ्याम् "पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीत्" इत्यनया च पौर्णमासीं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि "प्रजापते न त्वत्" इत्यनया प्रजापतिं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

---

‡ तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । ७ । ५ । १३ में भी कहा है, कि— "अमावास्या सुभगा सुशेवा धेनुरिव भूय आप्यायमाना" ॥

"यत् ते देवा अकृण्वन् [७. ८४] पूर्णा पश्चात् [७. ८५] प्रजापते" [७. ८५. ३] इति [कौ० ७. १०] सूत्रात् ॥

पूर्णमासयागे "पूर्णा पश्चात्" इति पूर्णमासीं देवतां परिगृह्णीयात् । "राकाम् अहम् [७. ५०] पूर्णा पश्चात् [७. ८५] इति पौर्णमास्याम्" इति [वै० १. १] वैतानसूत्रात् ॥

तत्रैव कर्मणि "पूर्णा पश्चात्" इति पार्वणहोमं जुहुयात् । "पूर्णा पश्चाद् इति पौर्णमास्याम्" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ०१.५.] ॥

दर्शपूर्णमासयोः संनतिहोमानन्तरं "प्रजापते न त्वत्" इत्यनया आज्यं जुहुयात् । "पृथिव्याम् अग्नये समनमन् [४. ३६] इति संनतिभिश्च प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः [७. ८५. ३] इति च" इति [कौ० १. ५] सूत्रात् ॥

तथा सर्वेषु श्रौतकर्मसु अनुमन्त्रणमन्त्रानादेशे "प्रजापते न त्वत्" इत्यनया अनुमन्त्रणं कुर्यात् । तद् उक्तं वैताने । "मन्त्रानादेशे लिङ्गवतेति भागलिः । प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति युवा कौशिकः । यथादेवतम् इति माठरः" इति [वै० १. १] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः प्राजापत्यम् आघारम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति प्राजापत्यम् आघारम्" इति [वै० १. २] सूत्रात् ॥

तथा "मारुद्गणीं बलकामस्य" इति [न० क० १७] विहितायां महाशान्तौ "प्रजापते न त्वत्" इत्येनाम् ऋचम् आवपेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "मरुतां मन्वे [४. २७] प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः [७. ८५. ३] इति मारुद्गण्याम्" इति [न० क० १८] ॥

विवाहे "पूर्वापरम्" इति द्व्यृचेन आज्यसमित्पुरोडाशादीनि जुहुयात् । सूत्रितं हि । "सत्येनोत्तभिता [१४. १] पूर्वापरम् [७. ८६] इत्युपदधीत" इति [कौ० १०. १] ॥

महाशान्तौ ग्रहयज्ञे "सोमस्यांशो युधां पते" इति चतुर्ऋचेन

२३१०

हविराज्यहोमसमिदाधानोपस्थानानि बुधाय कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । "यद् राजानः [३. २९] सोमस्यांशो युधां पते [७. ८६. ३–६] इति बुधाय" इति [न० क० १५] ॥

"अमावास्ये न" इसका सर्वाभिलषित कर्ममें "यत् ते देवा अकृण्वन्"'में विनियोग कह दिया है ।

सर्वफलकाम व्यक्ति "पूर्णा पश्चात्" इन दोसे और "पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीत्" इस ऋचासे पौर्णमासीका यजन वा उपस्थान करे ।

उसी कर्ममें "प्रजापते न त्वत्" ऋचासे प्रजापतिका यजन वा उपस्थान करे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि— "यत् ते देवा अकृण्वन् (७ । ८४) पूर्णा पश्चात् (७ । ८५) प्रजापते (७ । ८५ । ३)" ॥

पूर्णमासयागमें "पूर्णा पश्चात्" से पूर्णमासी देवताका परिग्रहण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । १ का प्रमाण भी है, कि— "राकां अहम् (७ । ५०) पूर्णा पश्चात् (७।८५) इति पौर्णमास्याम्"

तहाँ ही कर्ममें "पूर्णा पश्चात्" से पार्वणहोमकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ५ का प्रमाण भी है, कि—"पूर्णा पश्चात् इति पौर्णमास्याम्" ।

दर्शपूर्णमासमें सन्नतिहोमके अनन्तर "प्रजापते न त्वत्" ऋचासे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ५ का प्रमाण भी है, कि—"पृथिव्यां अग्नये समनमन् (४ । ३९) इति सन्नतिभिश्च प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः (७ । ८५ । ३) इति च"॥

तथा सकल श्रौत कर्मोंमें जहाँ अनुमन्त्रणका मन्त्र न लिखा हो तहाँ "प्रजापते न त्वत्" से अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"मन्त्रानादेशे लिंगवतेति भागलिः ।

प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति युवा कौशिकः ।-भागलि ऋषि का मत है, कि-अनुमन्त्रणके मन्त्रका आदेश न होने पर लिंग (चिह्न) वाले मन्त्रसे अनुमन्त्रण करे और युवा कौशिक ऋषिका मत है, कि-"प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः" से अनुमन्त्रण करे"। (वैतानसूत्र १ । १) ॥

तथा दर्शपूर्णमासमें प्राजापत्य आघारका ब्रह्मा इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । २ प्रमाण है, कि-"प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः इति प्राजापत्यं आघारम्" ॥

तथा "मारुद्गणीं बलकामस्य ।-बलकी कामना वालेके लिये मारुद्गणी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित महाशान्तिमें "प्रजापतये न त्वत्" ऋचाको भी सम्मिलित कर लेय। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"मरुतां मन्वे (४ । २७) प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः (७ । ८५ । ३) इति मारुद्गण्याम्" (नक्षत्रकल्प १८) ॥

विवाहमें "पूर्वापरम्" त्र्यृचसे घृत समिधा पुरोडाश आदिकी आहुति देवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"सत्येनोत्तभिता (१४ । १) पूर्वापरम् (७ । ८६) इत्युपदधीत" (कौशिकसूत्र १० । १) ॥

महाशांतिके ग्रहयज्ञमें "सोमस्यांशो युधां पते" इस चतुर्ऋच से हवि घृतहोम समिदाधान और उपस्थानोंको बुधके निमित्त करे । इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि-"यद् राजानः (३ । २६) सोमस्यांशो युधां पते (७ । ८६ । ३—६) इति बुधाय" (नक्षत्रकल्प १५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अमा॑वास्ये॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॑ परि॒भूर्ज॑जान ।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो
रयीणाम् ॥ ४ ॥

अमाऽवास्ये । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि ।
परिऽभूः । जजान ।

यत्ऽकामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम ।
पतयः । रयीणाम् ॥ ४ ॥

हे अमावास्ये त्वत् त्वत्तः अन्यः कश्चिद् देवः एतानि इदानीं वर्तमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि । ❀"शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । रूपाणि रूप्यमाणानि भूतजातानि परिभूः । ❀कृद्योगलक्षणषष्ठ्यभावश्छान्दसः ❀ । परिभूः । परिपूर्वो भवतिः परिग्रहार्थः । परिग्राहको व्यापको न जजान नोत्पन्नः । त्वमेव एतानि परिगृह्यासीत्यर्थः । ❀ जन जनने । लिटि रूपम् ❀ । यद्वा एतानि भूतजातानि त्वत्तः अन्यो देवः परिभूः व्यापकः सन् न जजान नोत्पादयामास । त्वमेव एतानि परिगृह्य स्रष्टुं शक्नोषीति भावः । ❀ जनी प्रादुर्भावे । ण्यन्तस्य लिटि मन्त्रविषयत्वाद् आमभावः । "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ । वयं च यत्कामाः यत्फलं कामयमानास्ते तुभ्यं जुहुमः हवींषि प्रयच्छामः तत् फलं नः अस्माकम् अस्तु भवतु । तथा वयं च रयीणाम् धनानां पतयः ईश्वराः स्याम भवेम ॥

हे अमावास्ये ! तेरे बिना कोई भी देवता सब प्राणियों को व्यापक होकर उत्पन्न नहीं कर सका है अर्थात् तू ही इन देवताओंको परिग्रहण करके सृष्टि रचनेमें समर्थ हुई है। हम भी

जिस फलकी कामना करते हुए तेरे लिये हविकी आहुति देते हैं वह फल हमको प्राप्त हो और हम धनके स्वामी होवें ॥ ४ ॥

द्वितीया ॥

पू॒र्णा प॒श्चादु॒त पू॒र्णा पु॒रस्ता॒दुन्म॑ध्य॒तः पौ॑र्णमा॒सी
जि॑गाय ।
तस्यां॑ दे॒वैः सं॒वस॑न्तो महि॒त्वा नाक॑स्य पृ॒ष्ठे समि॒षा
मदेम ॥ १ ॥

पू॒र्णा । प॒श्चात् । उ॒त । पू॒र्णा । पु॒रस्ता॑त् । उत् । म॒ध्य॒तः ।
पौ॒र्ण॒ऽमा॒सी । जि॒गा॒य॒ ।
तस्या॑म् । दे॒वैः॑ । स॒म्ऽवस॑न्तः । म॒हि॒ऽत्वा । नाक॑स्य । पृ॒ष्ठे ।
सम् । इ॒षा । म॒दे॒म॒ ॥ १ ॥

पूर्णा पूर्णचन्द्रोपेता पौर्णमासी पश्चात् प्रतीच्यां दिशि जिगाय जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । उत अपि च पूर्णा पौर्णमासी पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि जिगाय । तथा मध्यतः प्राक्प्रतीच्योर्दिशोर्मध्ये आकाशमध्ये पौर्णमासी । पूर्णः संपूर्णो माश्चन्द्रः अस्मिन् पर्वणीति पौर्णमासी तिथिः । ❀ "सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम्" इति अणन्तत्वेन निपातितः ❀ । उज्जिगाय उज्जयति । पूर्णकलचन्द्रोपेता पौर्णमासी प्राच्यां प्रतीच्यां च दिशि मध्ये च प्रकाशयुक्ता वर्तत इत्यर्थः । अत्र जेतव्यस्याश्रवणाज्जयतिः उत्कर्षवाची । ❀ "सन्लिटोर्जेः" इति अभ्यासाद् उत्तरस्य जयतेः कवर्गादेशः ❀ । तस्यां पौर्णमास्यां देवैः यष्टव्यैरग्नीषोमादिभिः सह महित्वा महत्त्वेन संवसन्तः संभूय निवसन्तो वयम् । यष्टयष्टव्ययोः एकप्रदेशावस्थानात् संवसन्त इत्युक्तम् । नाकस्य दुःखरहितस्य

स्वर्गस्य पृष्ठे उपरि भागे इषा अन्नेन सं मदेम संमाद्येम। ❀ माद्यतेः "लिङ्याशिष्यङ्" ❀। पौर्णमास्याम् अग्नीषोमादियागेन स्वर्गभोगप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥

जिसमें चन्द्रमा पूर्ण होता है वह तिथि पौर्णमासी कहलाती है ऐसी पूर्णमासी पूर्वदिशामें सर्वोत्कृष्टरूपसे रहती है, पश्चिम दिशामें सर्वोत्कृष्ट भावसे दमकती है और इन दोनों दिशाओंके मध्य आकाशमें यह पूर्णिमातिथि दमकती है। उस पौर्णमासीमें पूजनीय अग्नि सोम आदि देवताओंके साथ महत्वके कारण वसते हुए हम स्वर्गके ऊपर अन्नसे आनन्दको प्राप्त होवें। तात्पर्य यह है, कि-पौर्णमासीमें अग्नीषोम आदि याग करनेसे स्वर्गके भोगों की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

तृतीया ॥

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥

वृषभम् । वाजिनम् । वयम् । पौर्णऽमासम् । यजामहे ।
सः । नः । ददातु । अक्षिताम् । रयिम् । अनुपऽदस्वतीम् ॥२॥

वृषभम् वर्षितारम् अभिमतफलानां प्रधानभूतं वा वाजिनम् अन्नवन्तम् अन्नसाधनत्वात् हविर्भिर्वा युक्तं पौर्णमासम्। ❀ पूर्णो माश्चन्द्रः अस्मिन्निति पूर्णमाः। प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकः अण् ❀। पौर्णमासं पर्व वयं यजामहे आहुत्या। स च अस्माभिरिष्टः पौर्णमासः नः अस्माकम् अक्षिताम् अविनाशितां परैरबाधिताम् अनुपदस्वतीम् उपभोगेपि क्षयरहितां रयिम् रायं धनं दधातु। अक्षिताम् इत्यनेन परकृतः क्षयो निरस्यते। अनुपदस्वतीम् इत्यनेन उपभोगेन व्ययेपि क्षयराहित्यम् उच्यते। ❀ अक्षिताम् इति।

२०

क्षि क्षये । कर्मणि क्तः । "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति पर्युदासाद् दीर्घाभावः । अत एव "क्षियो दीर्घात्" इति निष्ठानत्वाभावश्च । अनुपदस्वतीम् इति । दसु उपक्षये । संपदादिलक्षणो भावे क्विप् । तदन्तान्मतुप् । "मादुपधायाः०" इति वत्वम् । "तसौ मत्वर्थे" इति भसंज्ञायां पदसंज्ञानिबन्धनरुत्वाभावः । अनुपदस्वतीम् इति । "नञ्" इति तत्पुरुषसमासः । "तत्पुरुषे तुल्यार्थ०" इति अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

अभिमत फलकी वर्षा करने वाले, हविरूप अन्न वाले पौर्णमास पर्वकी हम आहुति से उपासना करते हैं, हमसे पूजित हुआ पौर्णमास हममें विनाशरहित और उपभोग करने पर भी क्षयरहित धनको स्थापित करें ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो
रयीणाम् ॥ ३ ॥

प्रजाऽपते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि ।
परिऽभूः । जजान ।
यत्ऽकामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः ।
रयीणाम् ॥ ३ ॥

एषा ऋक् "अमावास्ये न त्वदेतानि" [७. ८४. ४] इत्यनेन व्याख्याता । अमावास्यापदस्थाने प्रजापतिपदं विशिष्यते ॥

हे प्रजापतिदेव ! आप व्यापकरूपसे सब रूपोंकी सृष्टि करने वाले हुए हैं आपके बिना और किसीमें ऐसी शक्ति नहीं है, हम

जिस कामनाको मनमें रख कर आहुति दे रहे हैं वह कामनाएँ हमको प्राप्त हों और हम धनके भी स्वामी बनें ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः

पौर्णऽमासी । प्रथमा । यज्ञिया । आसीत् । अह्नाम् । रात्रीणाम् ।
अतिऽशर्वरेषु ।
ये । त्वाम् । यज्ञैः । यज्ञिये । अर्धयन्ति । अमी इति । ते । नाके ।
सुऽकृतः । प्रऽविष्टाः ॥ ४ ॥

पौर्णमासी पूर्णचन्द्रवती एतन्नामिका तिथिः अह्नां रात्रीणाम् अहो रात्राणां मध्ये प्रथमा आदिभूता मुख्या वा यज्ञिया यज्ञार्हा आसीत् भवति । ❀ "यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" इति घप्रत्ययः ❀ । कस्मिन् विषय इति तद् आह । अतिशर्वरेषु । अतिक्रान्तानि शर्वरीम् अतिशर्वराणि । ❀ "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इति समासः ❀ । रात्रिम् अतीत्य वर्तमानेषु सोमादिहविष्षु । यद्वा अतिशयिता शर्वरी येषु हविष्षु इति अतिशर्वराणि । तृतीयसवनव्यापिषु हविष्षु । यज्ञियासीद् इति संबन्धः । अयम् अर्थः । इष्टिपशुसोमानां दर्शपूर्णमासौ प्रकृतिभूतौ । तत्रापि पूर्णमासयागः प्रथमानुष्ठेयः । स च पौर्णमास्यामेव तिथौ क्रियत इति सर्वेषाम् अहोरात्राणां प्रथमत्वेन यज्ञार्हेति ॥ हे यज्ञिये यज्ञार्हे पौर्णमासि त्वां ये ऋत्विग्यजमाना यज्ञैः दर्शपूर्णमासादिभिः अर्दयन्ति अभिमतफलं याचन्ते । ❀ अर्द गतौ याचने च ❀ ॥ अमी इष्टवन्तस्ते

सुकृतः सुकर्माणो यजमानाः नाके दुःखरहिते स्वर्गलोके प्रविष्टाः स्थिता भवन्ति ॥

पूर्ण चन्द्र वाली तिथि पौर्णमासी दिन और रात्रियोंमें मुख्य है और यज्ञके योग्य है । यह पौर्णमासी रात्रि बिता कर होने वाली तृतीयसवनव्यापी और सोमादि हवियोंमें यज्ञिया है, तात्पर्य यह है, कि—इष्टिपशुसोम दर्श और पूर्णमासके प्रकृतिभूत हैं, क्योंकि—तहाँ पर भी पूर्णमासयागका अनुष्ठान प्रथम ही किया जाता है, और वह पौर्णमासीमें ही किया जाता है, अतः यह सकल दिन और रात्रियोंमें प्रथमत्वरूपसे यज्ञिया है । हे यज्ञिये पौर्णमासी ! जो ऋत्विज और यजमान दर्श और पूर्णमास यज्ञोंके द्वारा तुझसे अभीष्ट फलकी याचना करते हैं, वे यज्ञ करनेवाले सुकृती दुःखरहित स्वर्गलोकमें प्रवेश करते हैं ॥ ४ ॥

षष्ठी ॥

पू॒र्वा॒प॒रं च॑रतो मा॒ययै॒तौ शिशू॒ क्रीड॑न्तौ॒ परि॑ यातो॒र्ण॒वम्
विश्वा॒न्यो भुव॑ना वि॒चष्ट॑ ऋ॒तूँर॒न्यो वि॒दध॑ज्जायसे॒ नव॑ः

पू॒र्व॒ऽअ॒प॒रम् । च॒र॒तः॒ । मा॒यया॑ । ए॒तौ । शिशू॒ इति॑ । क्रीड॑न्तौ ।
परि॑ । या॒तः॒ । अ॒र्ण॒वम् ।
विश्वा॑ । अ॒न्यः । भुव॑ना । वि॒ऽचष्टे॑ । ऋ॒तून् । अ॒न्यः । वि॒ऽदध॑त् ।
जा॒य॒से॒ । नव॑ः ॥ १ ॥

कश्चित् पूर्वो गच्छति सूर्यः । अन्यस्तम् अनुचरति चन्द्रमाः । एवम् एतौ सूर्यचन्द्रौ पूर्वापरम् । क्रियाविशेषणम् एतत् । पौर्वापर्येण मायया सह चरतः द्युलोके गच्छतः । तौ शिशुवद् भ्रमणात् जायमानत्वाद् वा शिशू इत्युच्येते । शिशू सन्तौ क्रीडन्तौ

विहरन्तौ अर्णवम्। अन्तरिक्षनामैतत्। अर्णांसि उदकानि अस्मिन् सन्तीति अर्णवः। ❀ "अर्णसः सलोपश्च" इति वप्रत्ययः सकारलोपश्च ❀। अन्तरिक्षं परि यातः परि गच्छतः। तयोरन्यः आदित्यो [विश्वा] विश्वानि भुवना भुवनानि भूतजातानि विचष्टे पश्यति। ❀ "एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम्" इति निघातनिषेधः। "तिङि चोदात्तवति" इति गतेर्निघातः ❀। अन्यश्चन्द्रमाः ऋतून् वसंतादीन् तदवयवभूतान् मासान् अर्धमासांश्च विदधत् कुर्वन् नवः नूतनः जायते उत्पद्यते। यद्यपि उभयोर्जनिरस्ति तथापि सूर्यस्य सर्वदा प्रवृद्धेः उदयो नाभिप्रेतः। चन्द्रस्य तु कलाहासवृद्धिसद्भावाद् नवो जायत इत्युक्तिर्युक्ता। "चन्द्रमा वै जायते पुनः" इत्यादिश्रुतेश्च [वा० सं० २३, १०]॥

(एक सूर्य पहिले चलता है, दूसरा चन्द्रमा उसके पीछे चलता है इस प्रकार) पूर्वापरकी मायासे द्युलोकमें विचरण करते हुए सूर्य और चन्द्रमा बालककी समान भ्रमण करनेसे वा उत्पन्न होनेसे) शिशू रूपमें जिसमें जल रक्खा होता है उस अर्णवोपनामक अन्तरिक्षमें चलते रहते हैं। इन दोनोंमेंसे एक अर्थात् सूर्य सकल भुवनों प्राणियों-को देखता है और दूसरा चन्द्र वसन्त आदि ऋतुओंको उनके अवयवरूप मास पक्षोंको भी करता हुआ नवीन ही उत्पन्न होता रहता है [†] ॥ १ ॥

[†] यद्यपि दोनोंकी जनि (उदय) होती है तथा सदा प्रवृद्धि रहनेके कारण सूर्यका उत्पन्न होना कहना उपपन्न नहीं है। और चन्द्रमामें कलाओंका हास और वृद्धि होती रहती है अतः उसका नवीन उत्पन्न होना कहना युक्तिसंगत ही है। वाजसनेयसंहिता २३। १० में भी कहा है, कि-"चन्द्रमा वै जायते पुनः।-चन्द्रमा फिर उत्पन्न होता है" ॥

सप्तमी ॥

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरसे दीर्घमायुः

नवःऽनवः । भवसि । जायमानः । अह्नाम् । केतुः । उषसाम् । एषि ।
अग्रम् ।
भागम् । देवेभ्यः । वि । दधासि । आऽयन् । प्र । चन्द्रमः ।
तिरसे । दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

हे चन्द्रमः त्वं जायमानः शुक्लपक्षप्रतिपदादिषु एकैककलाधिक्येन उत्पद्यमानः सन् नवोनवः पुनःपुनरभिनवो भवसि प्रतिदिनं नूतन एव भवसि । ❀ "अनुदात्तं च" इति द्वितीयो नवशब्दः अनुदात्तः ❀ । किं च अह्नाम् तिथीनां केतुः केतुवत् केतयिता ज्ञापयिता प्रतिपदादादीनां तिथीनां चन्द्रकलाह्रासवृद्ध्यधीनत्वात् । तादृशस्त्वम् उषसाम् रात्रीणाम् अग्रम् एषि अग्रणीर्भवसि । रात्रीणां कर्तृत्वात् । यद्वा अह्नां केतुः अहरवसाने शुक्लपक्षे प्रतीच्यां दिशि दृश्यसे कृष्णपक्षे तु उषसाम् रात्रीणाम् अग्रम् अवसानम् एषि । प्राच्यां दिशि दृश्यस इत्यर्थः । केचन एतं पादम् आदित्यदेवत्यम् आहुः । तस्मिन् पक्षे अह्नां केतुत्वम् उषसाम् अग्रगतिश्च सूर्यस्य प्रसिद्धे । एवम् आयन् आगच्छन् प्रतिदिनं ह्रासवृद्धिभ्यां पक्षान्तम् अभिगच्छन् हे चन्द्रमः त्वं देवेभ्यो भागम् हविर्भागं वि दधासि करोषि । तिथिविशेषरूपपर्वनिबन्धनत्वात् सर्वयागानाम् । एवमुक्तलक्षण हे चन्द्रमः त्वं दीर्घम् आयुः प्र तिरसे । ❀ प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः ❀ । प्रवर्धयसि । ❀ अत्र निरुक्तम् । नवोनवो भवसि जायमान इति पूर्वपक्षादिम् अभि-

प्रेत्य । अह्नां केतुरुषसाम् एत्यग्रम् इति अपरपक्षान्तम् अभिप्रेत्य । आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके । भागं देवेभ्यो विदधात्यायन्निति अर्धमासेज्याम् अभिप्रेत्य । प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घम् आयुः इति [नि० ११. ६] ❀ ॥

हे चन्द्रदेव ! आप शुक्ल पक्षकी प्रतिपदा आदिमें एक एक कलाके अधिक होते रहनेसे प्रतिदिन नवीन ही उत्पन्न होने रहते हैं और आप केतुकी समान तिथियोंके ज्ञापक हैं, क्योंकि तिथियें चन्द्रमाकी कलाके अधीन होती हैं, ऐसे आप रात्रियोंके अग्रणी हैं, क्योंकि—आप रात्रियोंके कर्ता हैं । अथवा दिनोंके केतु हैं दिनके अन्तमें शुक्लपक्षमें पश्चिम दिशाकी ओर दीखते हैं और कृष्णपक्षमें रात्रिके अवसानसे पहिले ही आप अवसानको प्राप्त होजाते हैं, इस प्रकार प्रतिदिनकी ह्रासवृद्धिसे पक्षान्तको प्राप्त होते हुए हे चन्द्रदेव ! आप देवताओंके लिये हविका विभाग करते रहते हैं (क्योंकि–सब यागतिथिविशेषरूप पर्वमें होते हैं) हे पूर्वोक्त लक्षणोंसे सम्पन्न चन्द्रदेव ! आप दीर्घायुको बढ़ाते हैं २

अष्टमी ॥

सोम॑स्यांशो युधां पतेनू॑नो नाम॑ वा अ॑सि ।
अनू॑नं दर्श मा कृधि प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च ॥ ३ ॥

सो॑मस्य । अं॒शो॒ इति॑ । यु॒धा॒म् । प॒ते॒ । अनू॑नः । नाम॑ । वै । अ॒सि॒ ।

अनू॑नम् । द॒र्श॒ । मा॒ । कृ॒धि॒ । प्र॒ऽजया॑ । च॒ । धने॑न । च॒ ॥३॥

हे सोमस्यांशो सोमस्य चन्द्रमसः अंशभूत सोमपुत्र हे बुध हे युधां पते युद्धानां योधानां वा पालक । बुधग्रहबलेन हि युद्धजयो भवतीति प्रसिद्धम् । ❀ आमन्त्रितद्वयेपि "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति सोमस्येति युधाम् इति च पदद्वयस्य आमन्त्रितानु-

प्रवेशः । तत्र सोमस्यांशो इत्यत्र "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् । युधां पते इत्यस्य "नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्" इति पूर्वामन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वनिषेधात् "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । एवंगुणविशिष्ट सोमपुत्र हे बुध त्वम् अनूनः संपूर्णो नाम असि वै भवसि खलु । सर्वदा तेजस्वित्वेन अनूनत्वम् । अतः हे दर्श द्रष्टव्य बुध मा मां हविरादिना त्वां प्रीणयन्तं प्रजया पुत्रादिकया धनेन । परस्परसमुच्चयार्थौ चशब्दौ । अनूनम् संपूर्णं समृद्धं कृधि कुरु ॥ एवं विनियोगानुसारेण बुधग्रहपरतया व्याख्यातः । मन्त्रार्थपर्यालोचनया सोम एव प्रतीयते । तस्मिन् पक्षे अयम् अर्थः । हे सोमस्यांशो सोमस्य संपूर्णकलस्य चन्द्रस्य अंशो अंशभूत एककलावच्छिन्न शुक्लप्रतिपदि दृश्यमान चन्द्र हे युधां पते त्वं नाम नाम्ना अनूनोसि संपूर्णकल इति प्रसिद्धोसि । चन्द्रस्य संपूर्णकलत्वमेव सहजो धर्मः । तत्र कलाह्रासवृद्धी सूर्यमरीचिसमाश्लेषतारतम्येनेति ज्योतिःशास्त्रविद आहुः । यतः संपूर्णकलः अतो हे दर्श द्रष्टव्य सर्वैरभिनंदनीय त्वं मा मां तुभ्यं हविः प्रयच्छन्तम् । प्रजाधनाभ्यां संपूर्णं कुरु इति । सोमदैवत्योपि मंत्रो जन्यजनकयोरभेदोपचाराद् बुधग्रहविषयहविर्दानादिषु विनियुज्यते । ❀ कृधीति । डुकृञ् करणे । लोटि हेः "श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि" इति धिरादेशः । विकरणस्य लुक् छान्दसः ❀ ॥

हे सोमके अंश अर्थात् पुत्ररूप बुध ! और युद्धोंके वा योधाओं पालक बुध ! (क्योंकि—बुधग्रहके बलसे ही युद्धमें विजयकी प्राप्ति होती है, यह प्रसिद्ध है) आपका अनून- संपूर्ण नाम है (सर्वदा तेजस्विताके कारण आपको अनून कहा है) अतः हे दर्श अर्थात् द्रष्टव्य बुध ! आपको हवि आदिसे प्रसन्न करते हुए मुझको आप पुत्र आदि प्रजा और धनसे सम्पूर्ण समृद्ध करिये । (इस प्रकार

विनियोगके अनुसार यह बुधग्रहपरक व्याख्या करदी। मन्त्रार्थकी पर्यालोचनासे यह सोमपरक ही सिद्ध होता है, इस पक्षमें यह अर्थ होगा, कि—हे सम्पूर्ण कलावाले चन्द्रमाके अंशभूत एक कलावच्छिन्न शुक्लप्रतिपदामें दीखते हुए चन्द्र! हे युधांपते! आप अनून अर्थात् सम्पूर्ण कला वाले ही प्रसिद्ध हैं (अर्थात् संपूर्णकलत्व ही चन्द्रमाका स्वाभाविक धर्म है और कलाओंकी जो वृद्धि और ह्रास दीखता है यह सूर्यकी किरणोंके संगकी न्यूनाधिकताके अनुसार दीखता है, यह ज्योतिषशास्त्रज्ञोंका सिद्धान्त है, इस प्रकार सम्पूर्ण कला वाले होनेसे) हे दर्श! सबोंसे अभिनन्दनीय आप मुझ हवि देने वालेको प्रजा और धनसे पूर्ण करिये (सोमदेवता वाला मंत्र भी जन्यजनकके अभेदोपचारवश बुधग्रहहविर्दान आदिमें विनियुक्त होता है)॥ ३॥

नवमी ॥

दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोऽसि समन्तः ।
समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ४ ॥

दर्शः । असि । दर्शतः । असि । सम्ऽअग्रः । असि । सम्ऽअन्तः । सम्ऽअग्रः । सम्ऽअन्तः । भूयासम् । गोभिः । अश्वैः । प्रऽजया । पशुऽभिः । गृहैः । धनेन ॥ ४ ॥

हे सोम त्वं दर्शोसि सूर्येण सहैव द्रष्टव्यो भवसि । अमावास्यायां सूर्येण सह चन्द्रमा दृश्यते इति सा तिथिर्दर्शशब्देन उच्यते। यद्वा दर्शोसि शुक्लप्रतिपदि एककलात्मना द्रष्टव्यो भवसि । अनन्तरं दर्शतः तृतीयादिषु ततोपि स्फुटं दर्शनीयो भवसि । अथ

समग्रः अष्टम्यादिषु ततोपि स्फुटतरं कलासमृद्धो भवसि। अनन्तरं समन्तः पौर्णमास्यां संगतान्तप्रदेशः सर्वकलापूर्णमण्डलो भवसि। यत् एवम् अतोहं गवादिभिः समग्रः समृद्धः समन्तः संपूर्णश्च भूयासम् ॥

हे सोम! आप दर्श हैं (अर्थात् सूर्यके साथ ही द्रष्टव्य होते हैं, अमावास्यामें सूर्यके साथ ही चन्द्रमा दीखता है अतः वह तिथि दर्श कहलाती है वह तिथिरूप आप हैं अथवा "आप दर्श हैं" का यह अर्थ भी होसकता है, कि—शुक्लप्रतिपदामें एककलारूपसे आप द्रष्टव्य होते हैं) फिर तृतीया आदिमें उससे भी स्फुट दर्शनीय होजाते हैं, फिर आप समग्र हो जाते हैं अर्थात् अष्टमी आदिमें उससे भी स्फुटतर कलासमृद्ध हो जाते हैं फिर आप समन्त होजाते हैं अर्थात् पौर्णमासीमें सर्वकलाओंसे पूर्ण मण्डल वाले होजाते हैं। आप ऐसे हैं अत एव मैं भी गौ आदिसे समग्र समृद्ध और सम्पूर्ण होजाऊँ ॥ ४ ॥

दशमी ॥

यो॒३॒स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तस्य॒ त्वं प्रा॒णेना प्या॑यस्व
आ व॒यं प्या॑शिषीमहि॒ गोभि॒रश्वैः॑ प्र॒जया॑ प॒शुभि॑र्गृ॒हैर्धने॑न ॥ ५ ॥

यः। अ॒स्मान्। द्वे॑ष्टि। यम्। व॒यम्। द्वि॒ष्मः। तस्य॑। त्वम्। प्रा॒णे॑न। आ। प्या॒य॒स्व॒।
आ। व॒यम्। प्या॒शि॒षी॒म॒हि॒। गोभि॑ः। अश्वैः॑। प्र॒ऽजया॑। प॒शुऽभि॑ः। गृ॒हैः। धने॑न ॥ ५ ॥

यः शत्रुः अस्मान् द्वेष्टि प्रातिकूल्यम् आचारति यं वा शत्रुं वयं

द्विष्मः तस्य प्राणेन हे सोम त्वम् आ प्यायस्व आप्यायितो भव । शत्रोः प्राणम् अपहरेत्यर्थः । वयं च गवादिभिः आ प्यासिषीमहि आप्यायिता भूयास्म । ❀ स्फायी ओप्यायी वृद्धौ । आशिषि लिङि "सिब्बहुलम्०" इति बहुलवचनाद् अलेट्यपि सिप् । "लोपो व्योर्वलि" इति यकारलोपः । "लिङः सीयुट् । इडागमः ❀ ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है अर्थात् हमारे प्रतिकूल आचरण करता है वा जिस शत्रुसे हम द्वेष करते हैं हे सोम ! उसके प्राणसे आप आप्यायित हूजिये अर्थात् उसके प्राणको हरिये । हम भी गौओंसे घोड़ोंसे प्रजासे पशुओंसे घरसे और धनसे आप्यायित होवें

एकादशी ॥

यं दे॒वा अं॒शुमा॑प्या॒य॑न्ति य॒मक्षि॑त॒मक्षि॑ता भ॒क्षय॑न्ति ।
तेना॒स्मान्निन्द्रो॒ वरु॑णो॒ बृह॒स्पति॒रा प्या॑यन्तु॒ भुव॑नस्य
गो॒पाः ॥ ६ ॥

यम् । दे॒वाः । अं॒शुम् । आ॒ऽप्या॒यय॑न्ति । यम् । अक्षि॑तम् ।
अक्षि॑ताः । भ॒क्षय॑न्ति ।

तेन॑ । अ॒स्मान् । इन्द्रः॑ । वरु॑णः । बृह॒स्पतिः॑ । आ ।प्या॒य॒य॒न्तु॒ ।
भुव॑नस्य । गो॒पाः ॥ ६ ॥

यम् अंशुम् एककलात्मकं सोमं देवा आप्याययन्ति शुक्लपक्षे प्रतिदिनम् एकैककलाप्रदानेन वर्धयन्ति यं च सोमम् अक्षितम् अविच्छिन्नं सर्वेष्वपि अहस्सु क्षयरहितं यं सोमम् अक्षिताः अक्षीणाः पित्रादयः भक्षयन्ति पिबन्ति । ❀ "वा क्रोशदैन्ययोः" इति पक्षे दीर्घाभावः ❀ । तेन सोमेन सह इन्द्रः परमैश्वर्यसंपन्नो देवा-

नाम् अधिपतिः वरुणः पापनिवारको देवः बृहस्पतिः बृहतां महतां देवानां हितकारित्वेन पतिः पालयिता च देवः भुवनस्य भूतजातस्य गोपाः गोपायितारः प्रवृद्धिप्रदा इन्द्रादयः अन्ये वा विश्वे देवाः अस्मान् हविरादिना प्रीणयितॄन् आप्याययन्तु वर्धयन्तु ॥

सप्तमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवीर हरिहरमहाराजप्रवर्तिते

अथर्वसंहिताभाष्ये सप्तमकाण्डे सप्तमोनुवाकः ॥

जिस एककलात्मक सोमको देवता आप्यायित करते हैं अर्थात् शुक्लपक्षमें प्रतिदिन एक २ कलाको प्रदान कर सोमको बढ़ाते हैं और जिस सब ही दिनोंमें क्षयरहित सोमको अक्षीण पितर आदि भक्षण करते हैं—पीते हैं, उस सोमके साथ देवाधिपति परमैश्वर्य सम्पन्न इन्द्रदेव, पापनिवारक वरुणदेव, बड़े २ देवताओंके हितकारक होनेसे उनके पालक बृहस्पति, ये प्राणियोंके रक्षक वृद्धिदाता इन्द्र आदि देवता और विश्वेदेवा भी हम हवि आदिसे तृप्त करने वालोंको बढ़ावें—तृप्त करें ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४०१) ॥

अथर्ववेदसंहिताके सप्तम काण्डमें सप्तम अनुवाक समाप्त

अष्टमेनुवाके द्वे सूक्ते । तत्र "अभ्यर्चत" इति आद्ये सूक्ते आद्येन षडृचेन संपत्कामः सर्वफलकामो वा अग्निं यजेत उपतिष्ठेत वा । "समास्त्वाग्ने [२. ६] अभ्यर्चत [७. ८७] इत्यग्निं संपत्कामः" "इति अभ्यर्चत [७. ८७] को अस्या नः" [७. १०८] इति च कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७. १०] ॥

अग्निचयने समिदाधानानन्तरम् "अभ्यर्चत" इति ब्रह्मा जपेत् । तदु उक्तं वैताने । "उदेनम् उत्तरं नय [६. ५] इति समिध आधीयमानाः । चत्वारि शृङ्गा [ऋ० ४. ५८. ३] अभ्यर्चत ७. ८७] इति जपति" इति [वै० ५. २] ॥

तथा "आग्नेयीम् अग्निभये सर्वकामस्य च" इति [न०क०१७] विहितायां महाशान्तौ "अभ्यर्चत" इति आवपेत् ॥

तथा वास्तोष्पत्याख्यायां महाशान्तौ "अभ्यर्चत" इत्यनेन औदुम्बरमणिं बध्नीयात् ॥

तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "अभ्यर्चतेत्याग्नेय्याम्" इति [न० क० १८] ॥

"अभ्यर्चतेत्यौदुम्बरम्" इति च [न० क० १९] ॥

ब्रह्मचारिणः स्वाग्निनाशप्रायश्चित्तार्थं "मय्यग्रे" इति पञ्चर्चेन पञ्च समिध आदध्यात् । सूत्रितं हि । "मय्यग्र इति पञ्चप्रश्नेनादधाति" इति [कौ० ७. ८] ॥

तथा आधाने मथिताग्निं "मय्यग्रे" इत्यनेन आज्येनाक्तं कुर्यात् । "मय्यग्र इत्येतयानक्ति" इति वैतानं सूत्रम् [वै० २. १] ॥

दर्शपूर्णमासयोः "घृतं ते अग्ने" इत्यनया आज्यनिर्वापकाले अग्निं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "घृतं ते अग्न इत्याज्ये निरुप्यमाणेऽग्निम्" इति वैतानं सूत्रम् [वै० १. २] ॥

जलोदरभैषज्यार्थं नद्योः संगमे मण्डपं कृत्वा "अप्सु ते राजन्" इति चतुरृचेन उष्णोदकं संपात्य अभिमन्त्र्य पिंजूलीभिस्तस्मिन् मण्डपे व्याधितम् आप्लावयेत् ॥

तथा अनेन चतुरृचेन अभिमन्त्रितशीतोदकेन तस्मिन् मण्डपे व्याधितं पिंजूलीभिः सह अवसिञ्चेद् वा ॥

सूत्रितं हि । "अप्सु त इति वहन्त्योर्मध्ये विमिते पिंजूलीभिराप्लावयति । अवसिञ्चति । अत्युष्णाः संपातवतीरसंपाताः" इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा धूमकेतुदर्शनलक्षणाद्भुतप्रायश्चित्तार्थं वारुणपशोरवदानानि "अप्सु ते राजन्" इति चतुरृचेन प्रत्यृचं जुहुयात् । तद् उक्तं

कौशिकेन। "अप्सु ते राजन्निति चतसृभिर्वारुणस्य जुहुयात्" इति [कौ० १३. ३५] ॥

पशुतन्त्रे हृदयशूलोद्वासनानन्तरम् "अप्सु ते राजन्" इत्यस्य जपे विनियोगः। "अप्सु ते राजन्निति जपन्ति" इति वैतानं सूत्रम् [वै० २. ६] ॥

तथा अद्भुतमहाशान्तौ "अप्सु ते राजन्" इति वरुणं यजेत। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे। "इन्द्रेमं प्रतरं कृधि [६. ५. २] इति इन्द्रस्य अप्सु ते राजन् [७. ८८] इति वरुणस्य" इति [न० क० १४] ॥

तथा शवसंस्कारानन्तरम् उदकसपीपे ब्रह्मा "उदुत्तमम्" इति जपेत् ॥

अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्ययनार्थं "मास्मत् पाशान्" इति जपेत्॥

आठवें अनुवाकमें दो सूक्त हैं। इनमेंसे "अभ्यर्चत" इस प्रथम सूक्तके पहिले पडृचसे सम्पत्तिको चाहने वाला वा सब प्रकारके फलको चाहने वाला अग्निका यजन वा उपस्थान करे॥ इस विषयमें कौशिक ७।१० का प्रमाण भी है, कि–समास्त्वाग्ने (२।६) अभ्यर्चत (७।८७) इत्यग्निं सम्पत्कामः" इति "अभ्यर्चत (७।८७) को अस्या नः" (७।१०८) इति च॥

अग्निचयनमें समिदाधानके अनन्तर "अभ्यर्चत" का ब्रह्मा जप करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"उदेनं उत्तरं नव (६।५) इति समिध आधीयमानाः। चत्वारि शृंगा (ऋ० ४।५८।३) अभ्यर्चत (७।८७) इति जपति"॥ (वैतानसूत्र ५।२)॥

तथा "आग्नेयीं अग्निभये सर्वकामस्य च।–अग्निका भय होने पर और सर्वकामके लिये आग्नेयी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित महाशान्तिमें "अभ्यर्चत" को पढ़े।

तथा वास्तोष्पत्या नामकी महाशान्तिमें "अभ्यर्चत" से औदुम्बर मणिको बाँधे।

इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"अभ्यर्चतेत्याग्नेय्याम्' (नक्षत्रकल्प १८) और 'अभ्यर्चतेत्यौदुम्बरम्' (नक्षत्रकल्प १९)॥

ब्रह्मचारीके अपनी अग्निके नाशके प्रायश्चित्तके लिये 'मय्यग्रे' इस पञ्चर्चसे पाँच समिधाओंको रक्खे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि--मय्यग्र इति पञ्चप्रश्नेनादधाति' (कौशिकसूत्र ७।८)॥

तथा आधानमें मथित अग्निको 'मय्यग्रे' से घृतसे आक्त करे। इस विषयमें वैतानसूत्र २। १ का प्रमाण भी है, कि—'मय्यग्र इत्येतयानक्ति'॥

दर्शपूर्णमासमें 'घृतं ते अग्ने' से आज्यनिर्वापकालमें ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र १। २ का प्रमाण भी है, कि—'घृतं ते अग्ने इत्याज्ये निरुप्यमाणेऽग्निम्'॥

जलोदरकी चिकित्सा करनेके लिये दो नदियोंके संगम स्थान पर मण्डप बना कर 'अप्सु ते राजन्' इस चतुर्ऋचसे उष्ण जलको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके मुट्ठियोंसे उस मण्डपमें रोगीको आसावित करे।

तथा इस चतुर्ऋचसे अभिमन्त्रित शीतल जलके द्वारा उस मण्डपमें व्याधितको पिञ्जूलियों (कुशा आदिकी मुट्ठियों) से अवसिञ्चित करे।

सूत्रमें भी कहा है, कि–'अप्सु त इति वहन्त्योर्मध्ये विमिते पिंजूलीभिरासावयति। अवसिञ्चति। अत्युष्णाः सम्पातवतीरसम्पाताः।' (कौशिकसूत्र (४। ८)॥

तथा धूमकेतुदर्शनरूप अद्भुतका प्रायश्चित्त करनेके लिये वारुणपशुके अवदानोंका "अप्सु ते राजन्" इस चतुर्ऋचकी प्रत्येक

ऋचासे आहुति देवे । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–‘अप्सु ते एजन्निति चतसृभिर्वारुणस्य जुहुयात्’ (कौशिकसूत्र १३ । ३५) ॥

पशुतन्त्रमें हृदयशूलोद्वासनके अनन्तर ‘अप्सु ते राजन्’ का जप में विनियोग किया जाता है । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ६ का प्रमाण भी है, कि–‘अप्सु ते राजन्निति जपन्ति’ ॥

तथा अद्भुतमहाशान्तिमें ‘अप्सु ते राजन्’ से वरुणका यजन करे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–“इन्द्रेमं मतरं कृधि (६ । ५ । २) इति इन्द्रस्य अप्सु ते राजन् (७ । ८८) इति वरुणस्य” (नक्षत्रकल्प १४) ॥

तथा शवसंस्कारके अनन्तर जलके समीपमें ब्रह्मा “उदुत्तमम्” का जप करे ।

अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययनके लिये “मास्मत् पाशान्” का जप करे ॥

तत्र प्रथमा ॥

अ॒भ्य॑र्चत सु॒ष्टुतिं गव्यं॑मा॒जिम॒स्मासुं॑ भ॒द्रा द्रविं॑णानि
धत्त ।
इ॒मं य॒ज्ञं नं॑यत दे॒वता॑ नो घृ॒तस्य॒ धा॒रा मधुं॑मत् पवन्ताम्

अ॒भि । अ॒र्च॒त॒ । सु॒ऽस्तु॒तिम् । गव्यं॑म् । आ॒जिम् । अ॒स्मासुं॑ ।
भ॒द्रा । द्रवि॑णानि । ध॒त्त॒ ।
इ॒मम् । य॒ज्ञम् । न॒य॒त॒ । दे॒वता॑ । न॒ः । घृ॒तस्य॑ । धारा॑ः । मधु॑ऽमत् ।
प॒व॒न्ता॒म् ॥ १ ॥

सुष्टुतिम् सुस्तोत्रम् अग्निम् । ❀ “नङ्सुभ्याम्” इति उत्तर-

पदान्तोदात्तत्वम् ❀ । अभ्यर्चत । ❀ अर्चतिः स्तुतिकर्मा ❀ । अभिष्टुत । आपो गावो वा संबोध्यन्ते । कीदृशम् । गव्यम् गोसंबन्धिनम् आजिम् संघम् अभिलक्ष्य सुस्तुतिम् । गोसंघादिलाभार्थं स्तूयमानम् इत्यर्थः । ❀ "गोरजादौ तद्धिते यद्वक्तव्यः" इति यत् प्रत्ययः । "वान्तो यि प्रत्यये" इति वान्तादेशः । "यतोनावः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । यद्वा गव्यम् गोभ्यो हितम् । ❀ हितार्थे यत् ❀ । आजिम् अभिगन्तव्यं यज्ञैः । अथवा आजिशब्देन विजिगीषूणां लक्ष्यदेशगमनम् उच्यते । आजिम् आजिधावनं प्रति सुस्तुतिम् इति संबन्धः । सर्वेभ्यो देवेभ्यः पूर्वम् अग्नेरेव निर्दिष्टदेशगमनात् । तथा च ऐतरेयके श्रूयते । "तासां वै देवतानाम् आजिं धावन्तीनाम् अभिसृष्टानाम् अग्निर्मुखं प्रथमः प्रत्यपद्यत" इति [ऐ० ब्रा० ४. ८] । किं च भद्रा भद्राणि भन्दनीयानि द्रविणानि धनानि अस्मासु धत्त निधत्त । तथा नः अस्मदीयम् इमं यज्ञं देवताः अग्न्यादिकाः नयत प्रापयत । अत एव घृतस्य क्षरणशीलस्य आज्यस्य धाराः प्रवाहा मधुमत् । क्रियाविशेषणम् एतत् । मधुररसोपेतं यथा तथा पवन्ताम् । ❀ पवतिर्गतिकर्मा ❀ । गच्छन्तु यष्टव्या देवता इति । यद्वा मधुमत् मधुमत्यो धारा इति । ❀ ङीब्जसोर्लुक् छान्दसः ❀ ॥

गोसंघकी प्राप्तिके लिये सुन्दर स्तुतियोंके पात्र युद्धस्थलमें गमन करने वाले ‡ अग्निकी हे गौओं ! पूजा करो और हममें कल्याणमय धनोंको स्थापित करो और इस यज्ञमें अग्नि आदि देवताओंको लाओ और हमारे यज्ञमें घृतकी धारायें मधुरभावसे देवताओंकी ओर चलें ॥ १ ॥

---

‡ सबसे पहिले अग्निका युद्धगमन तैत्तिरीयकमें प्रसिद्ध है, "तासां वै देवतानां अग्निं धावन्तीनां अभिसृष्टानां अग्निर्मुखं प्रथमं प्रत्यपद्यत ।" (ऐतरेयब्राह्मण ४ । ८) ।

द्वितीया ॥

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥

मयि । अग्रे । अग्निम् । गृह्णामि । सह । क्षत्रेण । वर्चसा । बलेन ।
मयि । प्रऽजाम् । मयि । आयुः । दधामि । स्वाहा । मयि । अग्निम् २

अग्रे प्रथमम् अग्निम् आहुताधारं मथ्यमानम् अग्निं मयि गृह्णामि धारयामि । मदधीनं करोमीत्यर्थः । केन सहेति तद् आह । क्षत्रेण बलेन वर्चसा तेजसा । यद्वा क्षत्रेण क्षतात् त्रायकेण वर्चसा बलेन शारीरेण सामर्थ्येन सह अग्निं गृह्णामि । क्षत्रतेजोबलार्थम् अग्निं स्वाधीनं करोमीत्यर्थः । तथा अग्निस्वाधीनीकरणेन प्रजाम् पुत्रादिलक्षणां मयि दधामि । पुत्रादिकं लभेयेत्यर्थः । आयुः जीवनं मयि दधामि । आयुष्मान् भूयासम् इति यावत् । तथा अग्निम् जाठरं वैश्वानरम् अग्निं मयि दधामि अन्नपाकादिजनितारोग्यार्थम् अग्निं धारयामि । स्वाहा इदं समिदादिरूपम् अग्नौ स्वाहुतम् अस्तु ॥

पहिले मैं आहुताधार मथ्यमान अग्निको अपनेमें धारण करता हूँ, अपने आधीन करता हूँ, क्षतसे रक्षा करने वाले शारीरिक बल क्षत्रको पानेके लिये मैं अग्निको स्वाधीन करता हूँ, फिर अग्निस्वाधीनीकरणके अनन्तर मैं अपनेमें पुत्र आदि लक्षणों वाली प्रजाको धारण करता हूँ अर्थात् पुत्र पौत्र आदि प्रजाको मैं पाऊँ । मैं अपनेमें जीवनको धारण करता हूँ अर्थात् मैं आयुष्मान् होऊँ तथा अन्नपाक आदिसे होने वाले आरोग्यके अर्थ मैं जाठर वैश्वानराग्निको अपनेमें धारण करता हूँ, यह समिधा आदि अग्नि में भली प्रकार आहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इ॒हैवाग्ने॒ अधि॑ धारया र॒यिं मा त्वा॒ नि क्र॒न् पूर्व॑चित्ता निका॒रिणः॑ ।

क्ष॒त्रेणा॑ग्ने सु॒यम॑मस्तु॒ तुभ्य॑मुपस॒त्ता व॑र्धतां ते॒ अनि॑ष्टृतः ३

इ॒ह । ए॒व । अ॒ग्ने॒ । अधि॑ । धा॒र॒य॒ । र॒यिम् । मा । त्वा॒ । नि । क्र॒न् । पूर्व॑ऽचित्ताः । नि॒ऽका॒रिणः॑ ।

क्ष॒त्रेण॑ । अ॒ग्ने॒ । सु॒ऽयम॑म् । अ॒स्तु॒ । तुभ्य॑म् । उ॒प॒ऽस॒त्ता । व॒र्ध॒ताम् । ते॒ । अनि॑ऽस्तृतः ॥ ३ ॥

हे अग्ने इहैव अस्मास्वेव त्वां परिचरत्सु रयिम् धनम् अधि धारय अधिकं स्थापय । ❀ "अन्येषाम् अपि दृश्यते" इति दीर्घः ❀ । ये पूर्वचित्ताः अस्मत्तः पूर्वं त्वद्विषयमनस्का निकारिणः अस्मदपकारिणः ते त्वा त्वां मा नि क्रन् स्वाधीनं मा कार्षुः । एवं वा योजना । निकारिणः अस्मदपकारिणः पूर्वचित्ताः अस्मत्तः पूर्वमपि त्वद्विषयागकरणमनसोपि त्वां यागेन स्वाधीनं मा कार्षुरिति । ❀ करोतेः "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् ❀ । हे अग्ने तुभ्यं तव । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । क्षत्रेण बलेन सह । स्वरूपम् इति शेषः । सुयमम् अस्तु सुस्थितम् अस्तु येन अस्मान् अनुगृह्णासि । ❀ यमेः खलि "लिति" इति प्रत्ययात्पूर्वस्य उदात्तत्वम् । "तुभ्यमह्यौ ङयि" इति तुभ्यादेशे "ङयि च" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । अपि च ते तव उपसत्ता उपसदनशीलः परिचारकोयं यजमानः वर्धताम् पूर्यतां कामैः । अनिस्तृतः केनचिदपि अहिंसितः अतिरस्कृतप्रभावः । ❀ स्तृणातिर्हिंसाकर्मा छादनकर्मा

वा । उपसत्तेति । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । अस्मात् तृचि "एकाचः०" इति इण्निषेधः ❀ ॥

हे अग्निदेव ! आपकी सेवा करने वाले हममें ही आप धनको अधिकाधिक स्थापित करिये । और जो हमसे द्वेष रखने वाले हमसे पहिले ही आपके लिये यज्ञ करनेका संकल्प कर चुके हों वे आपको यागसे स्वाधीन न कर सकें । हे अग्ने ! अपने बलके साथ आप अपने (हम पर अनुग्रह कर सकने वाले) रूपमें सुस्थिर हूजिये । और आपकी सेवा करने वाला यह यजमान किसीसे भी न्यूनप्रभाव न होता हुआ कामोंसे सम्पन्न होवे—बढ़े२

चतुर्थी ॥

अन्व॒ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्य॒दन्वहा॑नि प्रथ॒मो जा॒तवे॑दाः ।
अनु॒ सूर्य॑ उ॒षसो॒ अनु॑ र॒श्मीननु॒ द्यावा॑पृथि॒वी आ
विवेश ॥ ४ ॥

अनु॑ । अ॒ग्निः । उ॒षसा॑म् । अग्र॑म् । अ॒ख्य॒त् । अनु॑ । अहा॑नि ।
प्र॒थ॒मः । जा॒तऽवे॑दाः ।
अनु॑ । सूर्यः॑ । उ॒षसः॑ । अनु॑ । र॒श्मीन् । अनु॑ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ ।
आ । वि॒वे॒श॒ ॥ ४ ॥

अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः उषसाम् अग्रम् प्रादुर्भावम् अनु अख्यत् ख्याति प्रकाशते । दृश्यत इति यावत् । प्रथमं तावद् उषसां मुखे अग्निः प्रकाशते । ❀ "लक्षणेत्थंभूत०" इत्यादिना अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति ख्यातेर्लुङ् । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योङ्" ❀ । अहानि च । अन्वख्यत् इति क्रियानुषङ्गः । अहान्यनु प्रतिप्रकाशते । प्रथमो मुख्यः ।

प्रथमानो वा । ❀ प्रथेरमच् प्रत्ययः ❀ । महान् जातवेदाः जातानि वस्तूनि वेदयतीति जातवेदाः जातानां वेदिता जातप्रज्ञो वा प्रकाशते । ❀ गतिकारकयोरपि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च [उ० ४. २२६] इति वेत्तेरसुन् ❀ । सूर्यात्मना अग्निः उत्तरार्धेन स्तूयते । सूर्यः सूर्यात्मकः । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । “उद्यन्तं वावादित्यम् अग्निरनुसमारोहति । तस्माद्ध धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे” इति [तै० ब्रा० २. १. २. १०] । सूर्यात्मकोऽग्निः उषसोऽनु प्रकाशते । ततो रश्मीन् व्यापनशीलान् किरणान् अनु प्रकाशते । इत्थम् अनेन क्रमेण द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्वा विवेश सर्वत्र द्यावापृथिव्योराविष्टः प्रकाशत इति । ❀ “दिवसश्च पृथिव्याम्” इति द्यावादेशः । द्वितीयाद्विवचनस्य “वा छन्दसि” इति पूर्वसवर्णदीर्घः । “देवताद्वन्द्वे च” इति पूर्वोत्तरपदयोर्युगपत् प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेव उषःकालोंके प्रादुर्भावके साथ ही प्रकाशित होते हैं–दीखते हैं, पहिले उषःके मुखोंमें अग्नि प्रकाशित होते हैं, और यह अग्निदेव दिनोंके साथ भी प्रकाशित होते हैं और यह मुख्य जातवेदा अग्नि सूर्य बनकर † उषःको प्रकाशित करते हैं फिर किरणोंको प्रकाशित करते हैं । इस क्रम से यह सूर्यात्मक अग्नि द्यावापृथिवीमें सर्वत्र व्याप्त होकर प्रकाश फैलाते हैं।

पञ्चमी ॥

प्र॒त्य॑ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्य॒त् प्रत्यहा॑नि प्रथ॒मो जा॒तवे॑दाः ।

---

† इस मन्त्रके उत्तरार्धमें सूर्यरूप अग्निकी स्तुति की गई है । तैत्तिरीयकमें भी कहा है, कि–“उद्यन्तं वावादित्यं अग्निरनुसमारोहति । तस्माद्ध धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे ।–उदय होते हुए सूर्यदेव पर अग्निदेव अनुसमारोहण करते हैं। इस कारण दिनमें अग्नि का धुआँ ही दीखता है” (प्रकाश नहीं दीखता है) (तैत्तिरीय-ब्राह्मण २ । १ । २ । १०) ॥

प्रति॒ सूर्य॑स्य पुरु॒धा च॑ र॒श्मीन् प्रति॒ द्यावा॑पृथि॒वी आ
त॑तान ॥ ५ ॥

प्रति॑ । अ॒ग्निः । उ॒षसा॑म् । अग्र॑म् । अ॒ख्य॒त् । प्रति॑ । अहा॑नि ।
प्र॒थ॒मः । जा॒तऽवे॑दाः ।

प्रति॑ । सूर्य॑स्य । पु॒रु॒ऽधा । च॒ । र॒श्मीन् । प्रति॑ । द्यावा॑पृथि॒वी
इति॑ । आ । त॒ता॒न॒ ॥ ५ ॥

पूर्वार्धं पूर्वमन्त्रेण व्याख्यातम् । अनोः स्थाने प्रति पदं विशिष्यते । ❀ "लक्षण०" इत्यादिना प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वम् ❀ । किं च पुरुत्रा पुरून् बहुरूपत्वाद् बहुधा प्रवृत्तान् । ❀ "देवमनुष्य०" इत्यादिना त्राप्रत्ययः ❀ । सूर्यश्च रश्मींश्च प्रति अख्यत् प्रकाशते सूर्यस्य रश्मीन् प्रति स्वयमेव प्रकाशते अग्निसूर्ययोः अत्यन्तभेदाभावात् । इत्थम् अनेन क्रमेण द्यावापृथिवी प्रत्या ततान सर्वत्र द्यावापृथिव्योराततो भवति । प्रकाशम् आत्मीयम् आतनोतीति यावत् ॥

अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेव प्रत्येक उषःकालके प्रादुर्भावमें प्रकाशित होते हैं और यह अग्निदेव प्रत्येक दिनोंके साथ ही प्रकाशित होते हैं और मुख्य जातवेदा सूर्यात्मक अग्निदेव, अनेकरूप होनेसे अनेक प्रकारसे प्रवृत्त सूर्यकी किरणोंमें भी स्वयं ही प्रकाशित होते हैं, (क्योंकि–अग्नि और सूर्यमें अत्यन्त भेद नहीं है) इस प्रकार यह द्यावापृथिवी आदि सबमें अपने प्रकाशका विस्तार करते हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

घृ॒तं ते॑ अग्ने दि॒व्ये स॒धस्थे॑ घृ॒तेन॑ त्वा मनु॑र॒द्या समि॑न्धे ।

घृतं ते देवीर्नप्त्य१ आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रता गावो
अग्ने ॥ ६ ॥

घृतम् । ते । अग्ने । दिव्ये । सधऽस्थे । घृतेन । त्वाम् । मनुः ।
अद्य । सम् । इन्धे ।

घृतम् । ते । देवीः । नप्त्यः । आ । वहन्तु । घृतम् । तुभ्यम् ।
दुह्रताम् । गावः । अग्ने ॥ ६ ॥

हे अग्ने ते तव संबन्धि घृतम् आज्यं दिव्ये दिवि भवे सधस्थे सहस्थाने देवैः सह निवासस्थाने । वर्तत इति शेषः । अद्य इदानीं मनुः एतत्संज्ञकः त्वां घृतेन क्षरणशीलेन दीपकेन वा आज्येन समिन्धे सम्यग् दीपयति । मनुर्नाम राजर्षिः इदानीमपि अग्निम् आज्याहुतिभिः समर्धयतीत्यर्थः । हे अग्ने ते तुभ्यं देवीः द्योतमानाः नप्त्यः न पातयित्र्यः नप्तृसंज्ञापत्यभूता वा । आप इत्यर्थः । घृतम् आज्यम् आ वहन्तु अभिमुखं प्रापयन्तु । उदकैरेव ओषध्यादिवृद्ध्या अपां न पातयितृत्वम् । "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यम् उपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः" इति [म० स्मृ० ३. ७६] स्मृते अपां नप्तृसंज्ञकापत्यभूतत्वम् । किं च हे अग्ने तुभ्यं त्वदर्थं गावः धेनवः घृतं दुह्रताम् दुहताम् । ❀ "बहुलं छन्दसि" इति रुडागमः ❀ ॥

हे अग्निदेव ! आपका घृत देवताओंके साथ २ रहनेके स्थान द्यौमें है । आज कल भी मनु नामक राजर्षि आपको क्षरणशील (दीपक वा) घृतके द्वारा भली प्रकार प्रदीप्त करते रहते हैं

आपके प्रकाशवान् नप्ता जल ‡ घृतको आपके अभिमुख लावें और हे अग्ने ! गौएँ आपके लिये घृतको दुहें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

अप्ऽसु । ते । राजन् । वरुण । गृहः । हिरण्ययः । मिथः ।
ततः । धृतऽव्रतः । राजा । सर्वा । धामानि । मुञ्चतु ॥ १ ॥

हे राजन् सर्वेषां देवानां स्वामिन् वरुण पापनिवारक देव ते तव अप्सु उदकेषु उदकमध्ये मिथः अनन्यसाधारणः परेषाम् अनभिगम्यो वा हिरण्ययः हिरण्मयः । ❀ "ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि" इति मयटो मकारलोपो निपात्यते ❀। सुवर्णमयो गृहः निवासस्थानम् अस्ति यतः ततः तस्मात् कारणाद् धृतव्रतः । व्रतम् इति कर्मनाम । नियतकर्मा सत्यकर्मा राजा वरुणः सर्वा सर्वाणि धामानि स्थानानि अस्मदीयानि मुञ्चतु त्यजतु । ❀ धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति हि यास्कः [नि० ६. २८] ❀। जलोदरादयो रोगा हि वरुणकर्तृकाः । तस्य हि जलमध्ये निवासस्थानम् अस्ति । अतः स्वेन

---

‡ जलसे ही औषधि आदिकी वृद्धि होती है अत एव जलों का 'न पातयितृत्व' है और अपत्यरूप नप्तृत्व भी है, क्योंकि–मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके छिहत्तरवें श्लोकमें लिखा है, कि–'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः० ।–अग्निमें भली प्रकार होमी हुई आहुति आदित्यके पास पहुँचती है । और आदित्यसे वृष्टि होती है ।' इस प्रकार जल अग्निका पोता हुआ ।

गृहीतानि अस्मदीयावयवरूपाणि स्थानानि त्यक्त्वा स्वगृहे निवसत्वित्यर्थः ॥

हे सब देवताओंके स्वामिन् पापनिवारक वरुणदेव ! जलोंके भीतर जो दूसरोंको नहीं मिल सकता ऐसा मिथः अर्थात् अनन्यसाधारण सुवर्णमय घर है । इस कारण सत्यकर्मा राजा वरुणदेव उन हममें विद्यमान अपने सब घरोंको छोड़ देवें ॥ (तात्पर्य यह है, कि-जलोदर आदि रोग वरुणदेवके करनेसे होते हैं । इन वरुणदेवका जलके मध्यमें निवासस्थान है अतः वह अपने आप ग्रहण किये हुए हमारे अवयवरूप स्थानोंको छोड़ कर अपने घरमें निवास करें) ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

धाम्नो॑धाम्नो राजन्नि॒तो व॑रुण मुञ्च नः ।
यदापो॑ अ॒घ्न्या इति॒ व॒रुणेति॒ यदू॑चि॒म ततो॑ वरुण
मु॒ञ्च नः ॥ २ ॥

धा॑म्नःऽधाम्नः । रा॒ज॒न् । इ॒तः । व॒रु॒ण॒ । मु॒ञ्च॒ । नः॒ ।
यत् । आ॒पः॑ । अ॒घ्न्याः । इति॑ । वरु॑ण । इति॑ । यत् । ऊ॒चि॒म ।
त॑तः । व॒रु॒ण॒ । मु॒ञ्च॒ । नः॒ ॥ २ ॥

हे राजन् हे वरुण इतः अस्माद् धाम्नोधाम्न सर्वस्माद् रोगस्थानात् नः अस्मान् मुञ्च मोचय । ❀ धाम्नोधाम्न इति । वीप्सायां द्विर्वचनम् । "अनुदात्तं च" इति आम्रेडितस्य अनुदात्तत्वम् ❀ । किं च हे वरुण ततोपि पापात् नः अस्मान् मुञ्च मोचय । हे आपः इति हे अघ्न्याः इति हे वरुण इति यद् ऊचिम यच्छापवाक्यम् अवोचाम । यच्छापवाक्यवचनेन पापम् आर्जितं तस्मादपि मुञ्चेति

संबन्धः । शापो हि प्रशस्तदेवतानामसंकीर्तनेन परेषाम् अनर्थाशंसनम् । यद्वा सत्यसति वा विषये "आपो वै सर्वा देवताः" [ऐ० ब्रा० २. १६] इति सर्वदेवतात्मिकानाम् अपां साक्षित्वेन प्रमाणीकरणम् । हविराधारभूताया गोर्वा जलाधिपतेर्वरुणस्य वा । उपलक्षणम् एतत् प्रशस्तदेवतानाम् अन्यासामपि । हे आपः यूयम् अस्मिन् सत्ये असत्ये वा विषये साक्षिभूता भवथ हे आपः युष्मभ्यं शपामहे इदम् इत्थम् इत्येवंविधं प्रशस्तदेवतानामधेयपुरःसरं यद् वाक्यं तेन पापम् आर्ज्यते। सत्येपि हि विषये शपथकरणेन धर्मस्यार्धं वैवस्वतो निकृन्तीति किल असत्ये किमु वक्तव्यम् । अतो देवतानामधेयकीर्तनरूपशपथकरणजनितपापाद् अस्मान् मोचयेत्यर्थः । अत्र ऊचिमेति पदेन वचनमात्रं न विवक्षितं किं तु शपथरूपमेव । अत एव तैत्तिरीये "यदापो अघ्निया इति वरुणेति शपामहे" [तै० ब्रा० २. ६. ६. २] इति समाम्नायते । ❀ आपो अघ्न्या वरुणेति श्रुताद्युदात्तानां मन्त्रपदानाम् इदम् अनुकरणम् । ततश्च सत्यपि पदात् परत्वे आमन्त्रितनिघातो न प्रवर्तते । अघ्न्याशब्दो यप्रत्ययान्तः अन्तोदात्तः । यथा "दुहाम् अश्विभ्यां पयो अघ्न्येयम्" [ऋ० १. १६४. २७] इति । तस्य आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् । वरुणेति । षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् । ऊचिमेति । ब्रूञो लिटि वच्यादेशः । यजादित्वात् संप्रसारणम् । "लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्" इति अभ्यासस्य संप्रसारणम् ❀ ॥

हे राजन् वरुणदेव ! हमारे शरीरमें स्थित अपने सब रोगस्थानों. की पीड़ा) से हमको मुक्त करिये और हे वरुण ! हम को पापसे भी मुक्त करिये । हे जलो ! अघ्न्य ! हे वरुण ! और हम जिस शापवाक्यको बोल चुके हैं (अर्थात् शापवाक्य कहनेसे जो पाप हमने अर्जित किया है) उस पापसे भी हमको मुक्त करिये † २

---

† प्रशस्तदेवताका नाम लेकर दूसरोंके लिये अनर्थमय वाक्य

नवमी ॥

उ॒दु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय।
अधा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम २

उत् । उ॒त्ऽत॒मम् । व॒रु॒ण॒ । पाश॑म् । अ॒स्मत् । अव॑ । अ॒ध॒मम् ।
वि । म॒ध्य॒मम् । श्र॒थ॒य॒ ।

अध॑ । व॒यम् । आ॒दि॒त्य॒ । व्र॒ते । तव॑ । अना॑गसः । अदि॑तये । स्या॒म॒२

हे वरुण उत्तमम् ऊर्ध्वकायस्थितं पाशम् अस्मत् अस्मत्तः सका-

कहना शाप कहलाता है, और जिस विषयके सत् वा असत् होने पर 'आपो वै सर्वा देवताः ।-जल सम्पूर्ण देवमय हैं' इस ऐतरेय ब्राह्मण २ । १६ के अनुसार सर्वदेवतात्मक जलोंका साक्षीरूपसे प्रमाण करना भी शाप कहलाता है । और हविकी आधारभूत गौका तथा जलाधिपति वरुणका साक्षीरूपमें प्रमाण करना शाप कहलाता है, अधिक क्या ! सकल प्रशस्त देवताओं का साक्षीरूपमें प्रमाण करना यहाँ शापशब्दवाच्य है ।जैसे कि-हे जलों ! तुम इस सत्य वा असत्य विषयमें साक्षी रहो, हे देवताओं ! हम आपके लिये इस प्रकार शाप खाते हैं । इस प्रकार जो प्रशस्त देवताका नाम लेकर शाप खाया जाता है तो उससे पाप अर्जित होता है । बात सच्ची हो तब भी शपथकरणसे धर्मके आधे भागको यमराज अवश्य काट लेते हैं, फिर असत्य के विषयमें तो कहा ही क्या जावे । अतः देवताके नाम लेने रूप शपथसे उत्पन्न हुए पापसे हमको छुड़ाइये । (तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । ६ । ६ । २ में कहा है, कि-"यदापो अघ्निया इति वरुणेति शपामहे" ॥

शाद् उच्छ्रथय ऊर्ध्वम् उत्कृष्य नाशय । अधमम् अधःकायस्थितं पाशम् अव श्रथय अधस्ताद् अवकृष्य नाशय । मध्यमम् मध्यदेहस्थितं पाशं वि श्रथय विकृष्य नाशय । ❀ श्रथ दौर्बल्ये । चुरादिरदन्तः । वर्णव्यत्ययेन उपान्त्यस्य दीर्घत्वम् । यद्वा श्रन्थ प्रतिहर्षमोचनयोः । अस्मात् लोटि "शायच्छन्दसि सर्वत्र" इति श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशः । "अतो हेः" इति हेर्लुक् ❀ । अथ अनन्तरम् हे आदित्य अदितेः पुत्रः । ❀ "दित्यदित्यादित्य०" इति एयप्रत्ययः ❀ । हे आदित्य वरुण तव व्रते कर्मणि । ❀ विषयसप्तमी ❀ । कर्मार्थं यागयोग्यतासिद्ध्यर्थम् अनागसः विमुक्तसर्वपाशा वयम् अदितये अखण्डितत्वाय अनभिशस्तये स्याम भवेम । ❀ अनागस इति । बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इत्येष स्वरो व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀ ॥

हे वरुण ! हमारे शरीरके ऊपरके भागमें स्थित पाशको हमारे पाससे ऊपरको खींच कर नष्ट करिये । और शरीरके नीचे भागमें स्थित पाशको भी खींच कर नष्ट करिये । और मध्यदेहमें स्थित पाशको भी निकाल कर नष्ट करिये । हे अदितिके पुत्र ! इसके अनन्तर हम आपके यागकी योग्यताकी सिद्धिके लिये सब पाशोंसे रहित होकर अखण्डित स्थितिमें रहनेके लिये समर्थ होवें ॥ ३ ॥

दशमी ॥

प्रास्मत् पाशा॑न् वरुण मुञ्च॒ सर्वा॒न् य उ॑त्त॒मा अ॑ध॒मा
वा॑रु॒णा ये ।
दु॒ष्वप्न्यं॑ दु॒रि॒तं नि ष्वा॒स्मदथ॑ गच्छेम सु॒कृतस्य॑ लो॒कम्

प्र । अस्मत् । पाशान् । वरुण । मुञ्च । सर्वान् । ये । उत्ऽतमाः । अधमाः । वारुणाः । ये ।

दुःऽस्वप्न्यम् । दुःऽइतम् । निः । स्व । अस्मत् । अथ । गच्छेम । सुऽकृतस्य । लोकम् ॥ ४ ॥

हे वरुण अस्मत् अस्मत्तः सर्वान् पाशान् प्रमुञ्च । ये वारुणाः वरुणस्य भवतः संबन्धिनः उत्तमा अधमाश्च ये पाशाः सन्ति । उद्भूताभिभूतशक्तिभेदाद् अधर्मपाशानां द्वैविध्यम् । ❀ “उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र” इति उञ्छादिषु पाठाद् उत्तमशब्दः अन्तोदात्तः ❀। किं च दुःष्वप्न्यम् दुष्टे स्वप्ने भवं दुरितम् पापम् अरिष्टम् अस्मत् अस्मत्तः निः ष्व निस्सुव । निर्गमयेत्यर्थः । ❀ षू प्रेरणे । अस्मात् लोटि तुदादित्वात् शः । यणादेशो व्यत्ययेन ❀ । अथ पाशदुरितविमोचनानन्तरं सुकृतस्य सुष्ठु कृतस्य पुण्यस्य लोकं गच्छेम प्राप्नुयाम ॥

[इति] अष्टमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे वरुणदेव ! हमसे सब पाशोंको छुड़ाइये, जो वरुणदेवके (उद्भत और अनुद्भूतशक्ति-भेदसे) उत्तम और अधम पाश हैं, उनसे आप हमको मुक्त करिये । दुःस्वप्न देखनेसे होने वाले पाप को हमसे दूर करिये । इस प्रकार पाश और पापोंसे मुक्त होनेके उपरान्त हम पुण्यलोकको प्राप्त होवें ॥ ४ ॥

अष्टम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४०३) ॥

“अनाधृष्यो जातवेदाः” इति प्रथमाया ऋचः अग्न्युपस्थाने लैङ्गिको विनियोगः ॥

इन्द्रमहाख्ये उत्सवे “इन्द्र क्षत्रम्” इत्यनया हविर्जुहुयात् । “इन्द्र क्षत्रम् इति हविषो हुत्वा” इति हि [कौ० १४; ४] सूत्रम् ॥

अग्निचयने पुरीषाच्छन्नां चितिं "मृगो न भीमः" इतिं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "मृगो न भीमा [७.८९.३]वैश्वानरो न ऊतये [६. ३५] इति चितिं पुरीषाच्छन्नाम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ५. २] ॥

स्वस्त्ययनार्थं "त्यमू षु" "त्रातारम्" इत्याभ्यां प्रत्येकम् इन्द्रं यजेत उपतिष्ठेत वा । "त्यमू षु [७. ९०] त्रातारम् [७. ९१] आ मन्द्रैः [७. १२२] इति स्वस्त्यनकामः" इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

तथा "त्यमू षु" "त्रातारम्" इत्यनयोः स्वस्त्ययनगणे पाठाद् उपाकर्मणि आज्यहोमे विनियोगः । "स्वस्त्ययननैराज्यं जुहुयात्" इति [कौ० १४. ३] सूत्रात् ॥

तथा अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्यनार्थं 'त्यमू षु' "त्रातारम्" इति जपेत्

तथा इन्द्रमहाख्योत्सवे "त्रातारम् इन्द्रम्" इत्यनया आज्यं जुहुयात् । "त्रातारम् इन्द्रम्" [७. ९१] इन्द्रः सुत्रामा [७. ९६] इत्याज्यं हुत्वा" इति हि [कौ० १४. ४] सूत्रम् ॥

स्वस्त्ययनकामः "यो अग्नौ" इति ऋचा रुद्रान् यजेत उपतिष्ठेत वा । "यो अग्नाविति रुद्रान् स्वस्त्ययनकामः" इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

तथा अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्ययनार्थम् एताम् ऋचं जपेत् ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः "यो अग्नौ" इत्यनया आग्नीध्रः संमार्गम् अग्नौ निक्षिपेत् । उक्तं वैताने । "अग्नीध्रः संमार्गं प्रहरति यो अग्नाविति" [वै० १. ४] ॥

तथा चातुर्मास्येषु साकमेधपर्वणि त्रैयम्बककर्मणि अस्या विनियोगः । उक्तं वैताने । "अथोदञ्चश्चतुष्पथे त्रैयम्बकं यो अग्नाविति" इति [वै० २. ५] ॥

तथा अग्निष्टोमे शालादहनानन्तरं "यो अग्नौ" इत्यनेन अग्नये

नमस्कारं कुर्यात् । "यो अग्नाविति नमस्कृत्य तेनैव निष्क्रामन्ति" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. १४] ॥

सर्पविषभैषज्यार्थम् "अपेहि" इत्यनया तृणानि प्रज्वाल्य सर्पाभिमुखं प्रक्षिपेत् । दष्टस्थाने निक्षिपेद्वा वा । सूत्रितं हि । "अपेहीति तृणानि प्रघृत्य अहिम् अभि निरस्यति । यतो दष्टः" इति [कौ० ४. ५] ॥

परिमोक्षविधौ "अपो दिव्याः" इति चतसृभिः शान्त्युदकम् अभिमन्त्रयेत ॥

तथा वेदव्रतादिषु "अपो दिव्याः" इति त्र्यृचेन "एधोसि" इत्यनया च तिस्रः समिध आदध्यात् ॥

सूत्रितं हि । "अपो दिव्या इति पर्यवेतव्रत उदकान्ते शान्त्युदकम् अभिमन्त्रयते । अस्तमिते समित्पाणिरेत्य तृतीयावर्जं समिध आदधाति" इति [कौ० ५. ६] ॥

तथा आचार्यमरणे तत्संस्कारानन्तरम् "अपो दिव्याः" इति चतसृभिः ब्रह्मचारी स्नायात् । तद् उक्तं कौशिकेन । "त्रिरात्रम् अपर्यावर्तमानः शयीत । नोपशयीतेति कौशिकः । स्नानीयाभिः स्नायात्" इति [कौ० ५. १०] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः इडाभागप्राशनानन्तरम् "अपो दिव्याः" इति तिसृभिः प्रस्तरे मार्जनं कुर्यात् । तद् उक्तं वैताने । "अपो दिव्या इति तिसृभिः पवित्रवति मार्जयते" इति [वै० १. ३] ॥

तथा अग्निष्टोमे अवभृथस्नानानन्तरम् "अपो दिव्याः" इति आहवनीयाग्निम् उपतिष्ठेत । "अपो दिव्याः" इत्याहवनीयम् उपतिष्ठते" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. १४] ॥

अग्निकार्ये ब्रह्मचारी "इदम् आपः" इति हस्तौ प्रक्षालयेत् । "इदम् आपः प्र वहत इति पाणी प्रक्षालयते" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७. ८] ॥

तथा चातुर्मास्येषु वरुणप्रघासपर्वणि "इदम् आपः" इति मार्जनं कुर्यात् । "आषाढ्यां वरुणप्रघासः" इति प्रक्रम्य "इदम् आपः प्र वहतेति मार्जयते" इति वैताने सूत्रितम् [वै० २. ४] ॥

दर्शपूर्णमासयोः दक्षिणाप्रतिग्रहानन्तरम् "एधोसि" इति मन्त्रेण अग्नीध्रः समिधम् आदध्यात् । तद् उक्तं वैताने । "संप्रेषित आग्नीध्र एधोसीति समुद्धृत्य समिधम् आधाय" इति [वै १. ४] ॥

तथा स्मार्तदर्शपूर्णमासयोः संस्रावहोमानन्तरम् "एधोसि" इति मन्त्रेण द्वितीयां "समिदसि" इति मन्त्रेण तृतीयां समिधम् आदध्यात् । "तेजोसि" इति मन्त्रेण मुखं विमृज्यात् । सूत्रितं हि "अग्नये स्वाहेति समिधम् आदधाति । एधोसीति द्वितीयां समिदसीति तृतीयां तेजोसीति मुखं विमार्ष्टि" इति [कौ० १. ६] ॥

तथा अग्निकार्ये ब्रह्मचारी "एधोसि" इति हस्तम् अग्नौ प्रताप्य उष्माणं भक्षयेत् । "एधोसीत्युष्मभक्षं भक्षयति" इति हि [कौ० ७. ८] सूत्रम् ॥

जारोच्चाटनार्थं "अपि वृश्च" इति तृचेन जारं दृष्ट्वा वदेत् ॥

तथा अनेन पाषाणम् अभिमन्त्र्य जारसंगमस्थाने प्रक्षिपेत् ॥

सूत्रितं हि । "अपि वृश्चेति जायायै जारम् अन्वाह । क्लीबपदे बाधकं धनुर्विष्यति । आशयेश्मानं प्रहरति" इति [कौ० ४. १२] ॥

'अनाधृष्यो जातवेदाः' इस पहिली ऋचाका अग्निदेवके उपस्थानमें लिंगके अनुसार विनियोग किया जाता है ।

इन्द्रमह नामक उत्सवमें 'इन्द्र क्षत्रम्' ऋचासे हविकी आहुति देवे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १४ । ४ का प्रमाण है, कि-'इन्द्र क्षत्रं इति हविषो हुत्वा' ॥

अग्निचयनमें पुरीषाच्छन्ना चितिका ब्रह्मा 'मृगो न भीमः' से अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ५ । २ का प्रमाण भी है, कि-'मृगो न भीमः (७ । ८६ । ३) वैश्वानरो न ऊतये (६ । ३५) इति चितिं पुरीषाच्छन्नाम्' ॥

स्वस्त्ययन करनेके लिये 'त्यमूषु' और 'त्रातारम्' इन दोनों मेंसे प्रत्येकसे इन्द्रदेवका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७। १० का प्रमाण भी है, कि–'त्यमूषु (७। ९०) त्रातारम्(७। ९१)आ मन्द्रैः (७। १२२) इति स्वस्त्ययनकामः'॥

तथा 'त्यमू षु' और 'त्रातारम्' इन दोनों सूक्तोंका स्वस्त्ययनगणमें पाठ होनेसे उपाकर्मके घृतहोममें विनियोग होता है। इस विषयमें कौशिकसूत्र १४। ३ का प्रमाण है, कि-'स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्' ॥

तथा अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययन करनेके लिये 'त्यमू षु' और 'त्रातारम्' का जप करे।

तथा इन्द्रमह नामक उत्सवमें 'त्रातारम् इन्द्रम्' ऋचासे घृतकी आहुति देय। इस विषयमें कौशिकसूत्र १४। ४ का प्रमाण भी है, कि–'त्रातारम् इन्द्रम् (७। ९१) इन्द्रः सुत्रामा (७। ९६) इत्याज्यं हुत्वा' ॥

स्वस्त्ययन चाहने वाला 'यो अग्नौ' ऋचासे रुद्रोंका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७। १० का प्रमाण भी है, कि -'यो अग्नाविति रुद्रान् स्वस्त्ययनकामः' ॥

तथा अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययनके लिये इस ऋचाका जप करे।

तथा दर्श और पूर्णमासमें आग्नीध्र 'यो अग्नौ' ऋचासे संमार्ग को अग्निमें डाल देय। इस विषयमें वैतानसूत्र १। ४ का प्रमाण भी है, कि–'आग्नीध्रः सम्मार्गं प्रहरति यो अग्नाविति'।

तथा चातुर्मास्योंमें साकमेधपर्वके त्रैयम्बक कर्ममें इसका विनियोग होता है। इस विषयमें वैतानसूत्र २। ५ का प्रमाण भी है, कि–'अथोदञ्चश्चतुष्पथे त्रैयम्बकं यो अग्नाविति' ॥

तथा अग्निष्टोममें शालादहनके अनन्तर 'यो अग्नौ' से अग्निके लिये नमस्कार करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ३। १४ का प्रमाण है, कि–'यो अग्नाविति नमस्कृत्य तेनैव निष्क्रामन्ति' ॥

सर्पविषकी चिकित्सा करनेके लिये 'अपेहि' ऋचासे तृणोंको प्रज्वलित करके सर्पके अभिमुख फेंक देवे। सूत्रमें भी कहा है, कि–'अपेहीति तृणानि प्रघृत्य अहिं अभि निरस्यति। यतो दष्टः' (कौशिकसूत्र ४। ५)॥

परिमोक्षविधिमें 'अपो दिव्याः' इन चार ऋचाओंसे शान्ति-जलका अभिमन्त्रण करे।

तथा वेदव्रत आदिमें 'अपो दिव्याः' इस द्व्यृचसे और 'एधोऽसि' इस तृचसे भी तीन समिधाओंको रक्खे।

इनमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'अपो दिव्या इति पर्यवेतव्रत उदकान्ते शान्त्युदकं अभिमन्त्रयते। अस्तमिते समित्पाणिरेत्य तृतीयावर्जं समिध आदधाति।' (कौशिकसूत्र ५। ६)॥

तथा आचार्यमरणमें उनके संस्कारके अनन्तर 'अपो दिव्याः' इन चार ऋचाओंसे ब्रह्मचारी स्नान करे। इसी बातको कौशिकने कहा है, कि-'त्रिरात्रं अपर्यावर्तमानः शयीत नोपशयीतेति कौशिकः। स्नानीयाभिः स्नायात्' (कौशिकसूत्र ५। १०)॥

तथा दर्श और पूर्णमासयागमें इडाभागप्राशनके अनन्तर 'अपो दिव्याः' इन तीन ऋचाओंसे प्रस्तरमें मार्जन करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–'अपो दिव्या इति तिसृभिः पवित्रवत्रि मार्जयते' (वैतानसूत्र १। ३)॥

तथा अग्निष्टोममें अवभृथ स्नानके अनन्तर 'अपो दिव्याः' से आहवनीयका उपस्थान करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ३। १४ का प्रमाण है, कि–'अपो दिव्या इत्याहवनीयं उपतिष्ठते'

अग्निकार्यमें ब्रह्मचारी 'इदं आपः' से हाथोंको प्रक्षालित करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७। ८ का प्रमाण भी है, कि–'इदं आपः प्रवहत इति पाणी प्रक्षालयते'॥

तथा चातुर्मास्योंके वरुणप्रघासपर्वमें "इदं आपः" से मार्जन

करे । "आषाढ्यां वरुणप्रघासः—आषाढ़ीमें वरुणप्रघास होता है" इस बातका आरम्भ करके कहा है, कि—"इदं आप प्रवहतेति मार्जयते" (वैतानसूत्र २ । ४) ॥

दर्श और पूर्णमासमें दक्षिणाका प्रतिग्रह करनेके अनन्तर अग्नीध्र 'एधोऽसि' मन्त्रसे समिधाको रक्खे । इसी बातको वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि—"सम्प्रेषित आग्नीध्र एधोऽसीति समुद्धृत्य समिधं आधाय" ॥

तथा स्मार्त दर्श और पूर्णमासमें संस्रावहोमके अनन्तर "एधोऽसि" मन्त्रसे दूसरीको, 'समिदसि' मन्त्रसे तीसरी समिधाको रक्खे और 'तेजोऽसि' मन्त्रसे मुखकी शुद्धि करे । इस विषयमें सूत्र का प्रमाण भी है, कि—'अग्नये स्वाहेति समिधं आदधाति । एधोऽसीति द्वितीयां समिदसीति तृतीयां तेजोऽसीति मुखं विमार्ष्टि ।' (कौशिकसूत्र १ । ६) ॥

तथा अग्निकार्यमें ब्रह्मचारी 'एधोऽसि' से हाथको अग्निसे ताप कर ऊष्मका भक्षण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ८ का प्रमाण भी है, कि—'एधोऽसीत्युष्मभक्षं भक्षयति' ॥

जारोच्चाटनके लिये 'अपि वृश्च' तृचसे जारको देखकर बोले । तथा इससे पाषाणको अभिमन्त्रित करके जारसंगम स्थानमें डाल देय ।

तत्र प्रथमा ॥

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद्
दीदिहीह ।
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि
पाहि नो गयम् ॥ १ ॥

अ॒ना॒धृ॒ष्यः । जा॒तऽवे॑दाः । अम॑र्त्यः । वि॒ऽराट् । अ॒ग्ने॒ । क्ष॒त्र॒ऽभृत् ।
दी॒दि॒हि॒ । इ॒ह ।
विश्वा॑ः । अमी॑वाः । प्र॒ऽमु॒ञ्चन् । मानु॑षीभिः । शि॒वाभि॑ः ।
अ॒द्य । परि॑ । पा॒हि॒ । न॒ः । गय॑म् ॥ १ ॥

हे अग्ने अनाधृष्यः ईषदपि धर्षयितुम् अशक्यः । ❀ ञिधृषा प्रागल्भ्ये । "ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृतेः" इति क्यप् । "कृत्योकेष्णुक्०" इत्यादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । जातवेदाः जातानां वेदिता जातधनो वा अमर्त्यः अमरणधर्मा विराट् विविधं राजमानः क्षत्रभृत् क्षत्रस्य बलस्य भर्ता धारयिता ईदृशः सन् इह अस्मिन् कर्मणि स्थाने वा दीदिहि दीप्यस्व । ❀ दीदेतिर्दीप्तिकर्मा इति यास्कः । दीव्यतेर्वा "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः ❀ । तथा दीप्तश्च त्वं विश्वाः सर्वा अमीवाः रोगान् प्रमुञ्चन् प्रकर्षेण मोचयन् विनाशयन् मानुषीभिः मानुषहिताभिः । ❀ "मनोर्जातावञ्यतौ०" इति अञ्प्रत्ययान्तो मानुषशब्दः । तस्मात् "तस्येदम्" इत्यर्थे अण् । "टिड्ढाणञ्०" इत्यादिना ङीप् ❀ । शिवाभिः कल्याणकारिणीभिः ऊतिभिः अद्य इदानीं नः अस्माकं गयम् गृहं परि पाहि सर्वतो रक्ष ॥

हे अग्ने ! आप अनाधृष्य हैं, उत्पन्न हुए प्रत्येक प्राणीको जानने वाले हैं, अमर्त्य (देवता , हैं, अनेक प्रकारसे दमकते रहते हैं, बलके धारक हैं, ऐसे आप इस कर्ममें दीप्त हूजिये । और प्रदीप्त होकर सकल रोगोंको नष्ट करते हुए मनुष्यका कल्याण करने वाली रक्षाओंके साथ हमारे घरकी भली प्रकार रक्षा करिये

द्वितीया ॥

इन्द्र॑ क्ष॒त्रम॒भि वा॒ममो॑जोजा॑यथा वृषभ चर्षणी॒नाम् ।

अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु
लोकम् ॥ २ ॥

इन्द्र । क्षत्रम् । अभि । वामम् । ओजः । अजायथाः । वृषभ ।
चर्षणीनाम् ।

अप । अनुदः । जनम् । अमित्रऽयन्तम् । उरुम् । देवेभ्यः ।
अकृणोः । ऊं इति । लोकम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र क्षत्रम् क्षतात् त्रायकं वामम् वननीयम् ओजः बलम् अभिलक्ष्य अजायथाः उत्पन्नोसि । हे वृषभ कामानां वर्षितः चर्षणीनाम् मनुष्याणाम् अस्माकम् । ❀"नाम् अन्यतरस्याम्" इति नाम उदात्तत्वम् ❀ । उत्पत्त्यनन्तरम् अमित्रयन्तम् अमित्रः शत्रुः स इवाचरन्तं जनम् अपानुदः अपागमयः । अपगमय्य च देवेभ्यः उरुम् विस्तीर्णं लोकम् स्वर्गाख्यम् अकृणोः अकार्षीः सुखनिवासाय । ❀ उशब्दः समुच्चये ❀ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप क्षतसे रक्षा करनेवाले सेवनीय बलको लक्ष्य करके उत्पन्न हुए हैं, हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले अग्निदेव ! उत्पत्तिके अनन्तर आप शत्रुकी समान आचरण करतेहुए जनसंघको दूर करिये । और देवताओंके लिये विशाल स्वर्गलोक को सुखनिवासके लिये दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात्
परस्याः ।

सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि
मृधो नुदस्व ॥ ३ ॥

मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिऽस्थाः । पराऽवतः । आ ।
जगम्यात् । परस्याः ।

सृकम् । सम्ऽशाय । पविम् । इन्द्र । तिग्मम् । वि । शत्रून् ।
ताढि । वि । मृधः । नुदस्व ॥ ३ ॥

कुचरः कुत्सितचरणः गिरिष्ठाः पर्वतनिवासी । ❀ तिष्ठतेर्विच् प्रत्ययः ❀ । मृगो न सिंह इव भीमः भयंकरो भवति इन्द्रः । स च परस्याः परावतः अतिशयेन दूराद् द्युलोकाद् आ जगम्यात् आगच्छतु । ❀ गमेर्विधिलिङि व्यत्ययेन शपः श्लुः ❀ ॥ अथ प्रत्यक्षकृत उत्तरोर्धर्चः । आगत्य च हे इन्द्र सृकम् सरणशीलं तिग्मम् तीक्ष्णं पविम् वज्रं संशाय सम्यक् तीक्ष्णीकृत्य । ❀ शो तनूकरणे । ल्यपि रूपम् ❀ । शत्रून् अस्मदीयान् वैरिणः वि ताल्हि तेन वज्रेण विशेषेण विविधं वा ताडय । विनाशयेत्यर्थः । ❀ तड आघाते । अस्माण्ण्यन्तात् लोटि "छन्दस्युभयथा" इति हेः आर्धधातुकत्वात् णिलोपः ❀ । तथा मृधः संग्रामोद्युक्तान् युयुत्सून् अन्यानपि शत्रून् वि नुदस्व विशेषेण प्रेरय । तिरस्कुर्वित्यर्थः ॥

कुत्सित चरणवाले, पर्वतनिवासी सिंहकी समान भयंकर इन्द्र परम दूर द्युलोकसे आजावें और आकर हे इन्द्रदेव! आप सरणशील तीक्ष्ण वज्रको भली प्रकार तीक्ष्ण करके हमारे वैरियोंको उस वज्रसे नष्ट करिये और संग्राम करनेके लिये उद्यत अन्य शत्रुओंका भी तिरस्कार करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

त्यमू॒ षु वा॒जिनं॑ दे॒वजू॑तं स॒होवा॑नं तरु॒तारं॒ रथा॑नाम् ।
अरि॑ष्टनेमिं पृत॒नाजि॑मा॒शुं स्व॒स्तये॒ तार्क्ष्य॑मि॒हा हु॑वेम १

त्यम् । ऊं इति । सु । वाजिनम् । देवऽजूतम् । सहःऽवानम् । तरुतारम् । रथानाम् ।
अरिष्टऽनेमिम् । पृतनाऽजिम् । आशुम् । स्वस्तये । तार्क्ष्यम् । इह । आ । हुवेम ॥ १ ॥

त्यमु तं प्रसिद्धमेव तार्क्ष्यम् तृक्षपुत्रं सुपर्णम् । ❀ तृक्षशब्दो गर्गादिषु पठ्यते ❀ । इह अस्मिन् कर्मणि स्वस्तये क्षेमाय सु सुष्ठु आ हुवेम आह्वयेम । ❀ "बहुलं छन्दसि" इति ह्वयतेः संप्रसारणम् । "लिङ्याशिष्यङ्" । यद्वा प्रार्थनायां लिङि व्यत्ययेन शः ❀ । कीदृशम् । वाजिनम् अन्नवन्तं बलवन्तं वा देवजूतम् देवैः सोमाहरणाय प्रेरितम् । ❀ जु इति गत्यर्थः सौत्रो धातुः । अस्मात् कर्मणि निष्ठा । "तृतीया कर्मणि" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । यद्वा देवैः प्रीयमाणं तर्प्यमाणम् । ❀ यद्ध आह यास्कः । जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वेति [नि० १०. २८] ❀ । सहोवानम् सहस्वन्तं बलवन्तम् अभिभवनशक्तिमन्तं वा । ❀ "छन्दसीवनिपौ" इति वनिप् ❀ । अत एव रथानाम् अन्यदीयानां तरुतारम् संग्रामे तरीतारम् । यद्वा रंहणशीला इमे लोका रथाः । तेषां सोमाहरणसमये शीघ्रं तरीतारम् । श्रूयते हि । 'एष हीमाँल्लोकान्त्सद्यस्तरति" इति [ऐ० ब्रा० ४. २०] । ❀ तरतेस्तृचि "ग्रसितस्कभित०" इत्यादिसूत्रे उडागमो निपात्यते ❀ । अरिष्टनेमिम् । नेमिशब्देन तद्वान्

रथो लक्ष्यते । अहिंसितरथम् । यद्वा नेमिः नमनशीलम् आयुधम् अतिरस्कृतायुधम् । अथ वा उपचाराज्जनके जन्यशब्दः । अरिष्टनेमेर्मम ऋषेर्जनकम् । पृतनाजम् पृतनानां शत्रुसेनानां प्राजितारं प्रगमयितारं जेतारं वा । ❀ अज गतिक्षेपणयोः । अस्मात् क्विप् । “ वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते” इति वचनाद् वीभावाभावः । जयतेर्वा डप्रत्ययः ❀ । आशुं शीघ्रगामिनम् ॥

हम उन प्रसिद्ध तृक्षपुत्र सुपर्णको ही इस कर्ममें स्वस्तिके लिये आह्वान करते हैं, यह सुपर्ण बलवान् हैं, देवताओंने सोमका आहरण करनेके लिये इनको प्रेरित किया था, इनमें अभिभवन (तिरस्कार) करनेकी शक्ति है । यह रंहणशील इन लोकरूप रथोंको सोमहरणके समय शीघ्र ही तर गए थे † और यह मुझ अरिष्टनेमिके पिता हैं, और यह शत्रुओंकी सेनाओंको जीननेवाले हैं तथा शीघ्रगामी हैं (ऐसे सुपर्णका मैं आह्वान करता हूँ) १

पञ्चमी ॥

त्रा॒तार॒मिन्द्र॑मवि॒तार॒मिन्द्रं॒ हवे॑हवे सु॒हवं॒ शूर॒मिन्द्र॑म् ।
हु॒वे नु श॒क्रं पु॑रुहू॒तमिन्द्रं॑ स्व॒स्ति न॒ इन्द्रो॑ म॒घवा॑न्
कृणोतु ॥ १ ॥

त्रा॒तार॑म् । इन्द्र॑म् । अ॒वि॒तार॑म् । इन्द्र॑म् । हवे॑ऽहवे । सु॒ऽहव॑म् ।
शूर॑म् । इन्द्र॑म् ।
हु॒वे । नु । श॒क्रम् । पु॒रु॒ऽहू॒तम् । इन्द्र॑म् । स्व॒स्ति । न॒ः । इन्द्र॑ः ।
म॒घऽवा॑न् । कृ॒णो॒तु॒ ॥ १ ॥

---

† ऐतरेय ब्राह्मण ४ । २० में कहा है, कि–“एष हीमान् लोकान् सद्यस्तरति” ॥

त्रातारम् रक्षकम् इन्द्रं हुवे ह्वयामि । अवितारम् इन्द्रम् इति पुनरुक्तिः पातृतमत्वख्यापनार्था । यद्वा त्राणं नाम उपस्थितेभ्यो भयहेतुभ्यो रक्षणम् । अवनं तु उदेष्यतां निरोध इति विशेषः । अथ वा पारमैश्वर्यलक्षणम् अवनम् । हवेहवे सर्वेषु ह्वानेषु सुहवम् ह्वातुं सुशकं शूरम् समर्थम् इन्द्रं ह्वयामि । तथा शक्रम् शक्तं सर्वत्र पुरुहूतम् इन्द्रं नु क्षिप्रं हुवे ह्वयामि । स च मघवान् धनवान् इन्द्रः स्वस्ति क्षेमम् अविनाशं न अस्माकं कृणोतु करोतु । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः ❀ ॥

मैं रक्षक इन्द्रदेवका आह्वान करता हूँ, मैं उपस्थित भयोंसे रक्षा करने वाले इन्द्रदेवका आह्वान करता हूँ, सकल संग्रामोंमें सरलतासे आह्वान करने योग्य इन्द्रदेवका मैं आह्वान करता हूँ तथा मैं शक्र पुरुहूत इन्द्रका आह्वान करता हूँ वह धनी इन्द्र हमारा क्षेम करें ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो
अस्त्वग्नये ॥ १ ॥

यः । अग्नौ । रुद्रः । यः । अप्ऽसु । अन्तः । यः । ओषधीः ।
वीरुधः । आऽविवेश ।
यः । इमा । विश्वा । भुवनानि । चक्लृपे । तस्मै । रुद्राय । नमः ।
अस्तु । अग्नये ॥ १ ॥

यो रुद्रः रोदयति शत्रून् इति रुद्रः । ❀ "रोदेर्णिलुक् च"

[उ० २. २२] इति रक् प्रत्ययः । णेर्लुक् ❀। एतन्नामा देवः अग्नौ अन्तः मध्यम् आविवेश यष्टव्यत्वेन अग्निमध्यं प्रविष्टः । यश्च अप्सु अन्तः आविवेश वरुणात्मना प्रविष्टः । ❀ “ऊडिदम्०” इत्यादिना अप्शब्दाद् उत्तरस्या विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । यश्च वीरुधः विशेषेण विविधं वा रोहन्तीः ओषधीः ओषः फलपाको धीयते निधीयते आस्विति ताः फलपाकान्ता लताः आविवेश सोमात्मना आविष्टः । ❀ वीरुध इति । विपूर्वाद् रोहतेः क्विपि “नहिवृति०” इत्यादिना उपसर्गस्य दीर्घः । हकारस्य धकारोपजनश्छान्दसः ❀ । किं बहुना यो रुद्रः इमा इमानि नामरूपात्मना परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भवन्ति भूतानि । स्रष्टुम् इति शेषः । चाक्लृपे समर्थो भवति । ❀ क्लृपू सामर्थ्ये । लिटि “कृपो रो लः” इति लत्वम् । अभ्यासस्य छान्दसः सांहितिको दीर्घः ❀ । तस्मै सर्वजगत्स्रष्ट्रे सर्वं जगद् अनुप्रविष्टाय रुद्राय रुद्रात्मने अग्नये नमः नमस्कारोस्तु । यद्वा अग्नये अङ्गनादिगुणविशिष्टाय रुद्राय नमोस्तु ॥

शत्रुओंको रुलाने वाले जो रुद्र नामक देव यष्टव्यरूपसे अग्नि के मध्यमें प्रविष्ट हैं और जो वरुणरूपसे जलमें प्रविष्ट होगए हैं और जो लताओंमें सोमात्मारूपसे प्रविष्ट होगए हैं, अधिक क्या ? जो रुद्र इन समस्त भूतोंकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं, उन सर्वजगत् के स्रष्टा सब जगत्में अनुप्रविष्ट रुद्रात्मक अग्निदेवके लिये नमस्कार है अथवा अंगनादि गुणविशिष्ट रुद्रदेवके लिये नमस्कार है १

सप्तमी ॥

अपे॒ह्यरि॒रस्यारि॒र्वा अ॑सि ।

वि॒षे॑ वि॒षम॑पृक्था वि॒षमिद् वा अ॑पृक्थाः ।

अहि॒मेवाभ्यपे॑हि॒ तं॑ ज॑हि ॥ १ ॥

अप । इहि । अरिः । असि । अरिः । वै । असि ।
विषे । विषम् । अपृक्थाः । विषम् । इत् । वै । अपृक्थाः ।
अहिम् । एव । अभिऽअपेहि । तम् । जहि ॥ १ ॥

अत्र सर्पविषं संबोध्यते । हे विष अपेहि अपगच्छ अस्माद् दष्टात् पुरुषात् । यतस्त्वम् अरिः शत्रुः असि भवसि । न केवलम् अस्यैव अरिरसि वै सर्वस्य शत्रुर्भवसि खलु । अतो विषे विषवति सर्पे । ❀ अर्शआदित्वाद् अच् प्रत्ययः ❀ । विषम् अपृक्थाः संपर्चयः संयोजय । एतदेव पुनराह । विषमित् विषमेव अपृक्थाः संयोजय । वैशब्दः अवधारणे । विषवति सर्प एव पुनर्विषमेव संयोजयेत्यर्थः । ❀ पृची संपर्के । छान्दसे लुङि "एकाचः" इति इण्निषेधः । "झलो झलि" इति सिचो लोपः ❀ । उक्तार्थमेव विशदयति । हे विष त्वं यस्य विषं भवसि तम् अहिम् आहन्तारं सर्पमेव अभ्युपेहि अभिलक्ष्य समीपं गच्छ । गत्वा च तम् अहिं जहि विनाशय ॥

(इस मन्त्रमें सर्पविषको सम्बोधित किया गया है, कि—) हे विष ! तू इस डसे हुए पुरुषमेंसे निकल जा, क्योंकि—तू शत्रु है, तू केवल इसका ही शत्रु नहीं है, किन्तु सबका शत्रु है, अत एव तू विष वाले सर्पमें संयुक्त होजा ! तू विषको अर्थात् अपने को सर्पसे संयुक्त कर, हे विष ! तू जिसका विष है उस काटने वाले सर्पको ही प्राप्त हो और प्राप्त होकर उस सर्पका विनाश करडाल

अष्टमी ॥

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥

अपः । दिव्याः । अचायिषम् । रसेन । सम् । अपृक्ष्महि ।
पयस्वान् । अग्ने । आ । अगमम् । तम् । मा । सम् । सृज । वर्चसा १

दिव्याः दिवि भवा अपः उदकानि । ❀ "ऊडिदम्०" इति शस उदात्तत्वम् ❀ । अचायिषम् पूजयामि । स्नानार्थम् अभिष्टौमीत्यर्थः । ❀ चायृ पूजानिशामनोः । लुङि रूपम् ❀ । तासाम् अपां रसेन समपृक्ष्महि संगताः स्मः । रसेन संसिक्ता भवाम इत्यर्थः । वचनव्यत्ययो वा । समपृक्षि संगतोस्मि । ❀ पृची संपर्के । "लिङ्सिचावात्मनेपदेषु" इति सिचः कित्त्वम् ❀ ॥ हे अग्ने अहं त्वां पयस्वान् अन्नवान् हविर्भिस्तद्वान् आगमम् आगतोस्मि । हविषा यष्टुं तव समीपम् आगतोऽस्मीत्यर्थः । गमेर्लुङि लृदित्वाद् अङ् ❀ । तं तादृशं त्वत्समीपं प्राप्तं मा मां वर्चसा । ❀ वर्चो वृणक्तेः ❀ । तेजोविशेषेण सं सृज संयोजय । "अग्ने यत् ते दिवि वर्चः पृथिव्याम्" इति हि निगमः [ऋ० ३. २२. २]॥

द्यौमें होने वाले जलोंका (मैं स्नान करनेके लिये) पूजन करता हूँ, उनके रससे मैं संयुक्त होऊँ । हे अग्ने ! मैं आपके पास पय अर्थात् हविरूप अन्न लेकर आगया हूँ अर्थात् हवि लेकर आपका यजन करनेके लिये आगया हूँ, ऐसे मुझको आप तेजसे † संयुक्त करिये ॥ १ ॥

नवमी ॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ।२।

---

† ऋग्वेदसंहिता ३ । २२ । २ में कहा है, कि–'अग्ने यत् ते दिवि वर्चः पृथिव्याम् ।–हे अग्निदेव ! आपका जो द्यौमें और पृथिवीमें वर्च (तेज) है' ॥

सम् । मा । अग्ने । वर्चसा । सृज । सम् । प्रऽजया । सम् । आयुषा ।

विद्युः । मे । अस्य । देवाः । इन्द्रः । विद्यात् । सह । ऋषिऽभिः २

हे अग्ने मा मां वर्चसा तेजसा बलेन वा सं सृज संयोजय। प्रजया पुत्रादिकया सं सृज । आयुषा जीवनेन च सं सृज । किं च अस्य एनम्। ❀ अन्वादेशे इदमः अशादेशोऽनुदात्तः। विभक्तिः सुप्त्वाद् अनुदात्ता । अतः सर्वानुदात्तं पदम् ❀। एनं मे माम्। ❀ कर्मार्थे षष्ठ्यौ ❀ । देवा विद्युः असौ पूत इति जानीयुः । तथा ऋषिभिः अतीन्द्रियदर्शिभिर्मुनिभिः सह इन्द्रश्च विद्यात् मां पूतं जानीयात् । यद्वा अस्य एतादृशस्य मे अभिमतफलं साधयितुम् इन्द्रादयो विद्युरिति ॥

हे अग्ने ! आप मुझको बलसे सम्पन्न करिये, पुत्र पौत्र आदि प्रजा और जीवनसे सम्पन्न करिये, इस मुझको देवता और ऋषियों सहित इन्द्रदेव 'यह पवित्र है' यह समझें ॥ २ ॥

दशमी ॥

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् ।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ॥ ॥ ३ ॥

इदम् । आपः । प्र । वहत । अवद्यम् । च । मलम् । च । यत् ।

यत् । च । अभिऽदुद्रोह । अनृतम् च । यत् । शेपे । अभीरुणम् ३

हे आपः इदं पापं प्र वहत अपनयत । यद् अवद्यम् गर्ह्यं निन्दारूपं यच्च मलम् दुरितं च मयि वर्तते यच्च अनृतम् असत्यम् अभिदुद्रोह पित्रादिभ्यः अयथार्थनिर्बन्धेन द्रोहम् अकार्षम् यच्च अभीरुणम् । उत्तमर्णाय देयं वस्तु रुणम् इत्युच्यते । तद्व

ऋणम् अभिप्राप्य शेपे अपलापाय शपथं कृतवान् अस्मि । तत् पापम् अपनयतेति संबन्धः । ❀ अभिदुद्रोहेति । द्रुह जिघांसायाम् । लिटि उत्तमणलि रूपम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातनिषेधः । "तिङि चोदात्तवति" इति गतेर्निघातः । शेपे इति । शप आक्रोशे । अस्माल्लिटि उत्तमैकवचने इटि "शप उपालम्भने" इति आत्मनेपदम् । वाचा शरीरस्पर्शनम् उपालम्भः । यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः ❀ ॥

हे जलो ! मेरे इस पापसंघको दूर करो, जो निन्दारूप मल और पाप मुझमें वर्तमान है, और जो असत्य है तथा पिता आदिका यथार्थसम्मान न करना रूप जिस तथा द्रोहको मैं कर चुका हूँ और ऋणको लेकर उसका अपलाप करनेके लिये जो मैंने शपथ खाई है (इन समस्त कार्योंके करनेसे उत्पन्न हुए पापको आप दूर करिये) ॥ ३ ॥

एकादशी ॥

एधो॑स्येधिषी॒य स॒मिदं॑सि॒ समां॑धिषीय ।
तेजो॑सि॒ तेजो॒ मयिं धेहि ॥ ४ ॥

ए॑धः । अ॒सि॒ । ए॒धि॒षी॒य । स॒म्ऽइत् । अ॒सि॒ । सम् । ए॒धि॒षी॒य॒ ।
ते॑जः । अ॒सि॒ । ते॑जः । म॑यि । धे॒हि॒ ॥ ४ ॥

हे अग्ने त्वम् एधः इद्धः दीप्तः असि भवसि । ❀ ञिइन्धी दीप्तौ । घञि "अवोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः" इति उपधानकारलोपो निपात्यते ❀ । यतस्त्वं समिदाधानेन दीप्तो भवसि अतः । यद्वा । ❀ एध वृद्धौ इत्यस्माद् उत्पन्न एधशब्दः ❀ । हविषा प्रवृद्धो भवसि । अतोहम् एधिषीय फलेन समृद्धो भूयासम् । ❀ ञिइन्धी दीप्तौ । आशीर्लिङि व्यत्ययेन नकारलोपे गुणे च रूपम् । यद्वा

एध वृद्धौ इत्यस्मात् आशीर्लिङि रूपम् । उभयत्र लिङः सीयुट्। वलादिलक्षण इट् । "इटोत्" इति अदादेशः ❀ । तथा हे अग्ने समित् समिद्धः समित्संबन्धनी वा संदीपनी शक्तिरसि । ❀इन्धेः कर्मणि करणे वा क्विपि उपधानकारलोपः ❀ । यतः अग्ने त्वं समिदसि अतोहं समेधिषीय फलैः समिद्धः संपूर्णो भूयासम् । ❀ अत्र इन्धेः आशीर्लिङि छान्दसं रूपं प्रदर्शितं भवति ❀ । हे अग्ने त्वं तेजोसि दीप्तिः तेजःसाधनं वा भवसि । अतस्त्वं तेजस्तादृशं मयि धेहि स्थापय ॥

हे अग्ने ! आप प्रदीप्त होजाते हैं, (आप समिदाधानसे समृद्ध होते हैं इस कारण) मैं भी फलसे समृद्ध होऊँ, हे अग्ने ! आप समित्सम्बन्धिनी संदीपिनी शक्ति हैं अत एव मैं भी फलोंसे समिद्ध होऊँ, हे अग्ने ! आप तेजःस्वरूप हैं अत एव मुझमें तेज को स्थापित करिये ॥ ४ ॥

द्वादशी ॥

अपि॑ वृश्च पुरा॒णवद् व्र॒तते॑रिव गुष्पि॒तम् ।
ओजो॑ दा॒सस्य दम्भय ॥ १ ॥

अपि । वृ॒श्च॒ । पु॒रा॒ण॒ऽवत् । व्र॒तते॑ःऽइव । गु॒ष्पि॒तम् ।
ओ॑जः । दा॒सस्य॑ । द॒म्भ॒य॒ ॥ १ ॥

हे अग्ने त्वं पुराणवत् । ❀ व्यत्ययेन द्वितीयार्थे वतिः ❀ । पुराणान् पुरातनान् शत्रूनिव इदानींतनमपि जाररूपं शत्रुं वृश्च छिन्धि । ❀ "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" इति निपातनात् तुडभावः । ओव्रश्चू छेदने । तुदादित्वात् शः । "ग्रहिज्या॰" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ । यद्वा । ❀ पुराणवदिति "तत्र तस्येव" इति षष्ठ्यर्थे वतिः ❀ । पुराणानां पुरातनानां शत्रूणा-

मिव नूतनस्यापि जाररूपशत्रोर्बलं वृश्च इति बलशब्दाध्याहारेण योजना । छेदने दृष्टान्तः व्रततेरिव गुष्पितम् इति । ❀ गुष्पतिर्गुल्फतिपर्यायो द्रष्टव्यः ❀ । यथा व्रततेर्लताया गुल्फं कुञ्जं शाखासमूहं वृश्चन्ति तद्वदिति । तदेवाह तृतीयपादेन । दासस्य उपक्षपयितुः शत्रोर्जारस्य ओजः बलं प्रजननसमर्थं वीर्यं वा दम्भय विनाशय । ❀ दम्भयतिर्वधकर्मा इति यास्कः ❀ ॥

हे अग्ने ! आप पुरातन शत्रुओंकी समान इस जाररूप शत्रुका भी छेदन करिये, अथवा इस पुरातन शत्रुओंकी समान इस जार रूप शत्रुके बलको इस प्रकार काट डालिये, जिस प्रकार लताओं के कुञ्ज (शाखासमूह) को काटते हैं । और दासके अर्थात् उपक्षय करने वाले शत्रु जारके वीर्यको नष्ट करिये ॥ १ ॥

त्रयोदशी ॥

व॒यं तद॑स्य॒ संभृ॑तं॒ वस्विन्द्रे॑ण॒ वि भ॑जामहै ।
म्ला॒पया॑मि भ्र॒जः शि॒भ्रं वरु॑णस्य व्र॒तेन॑ ते ॥ २ ॥

व॒यम् । तत् । अ॒स्य॒ । सम्ऽभृ॑तम् । वसु॑ । इन्द्रे॑ण । वि । भ॒जा॒म॒है॒ ।
म्ला॒पया॑मि । भ्र॒जः । शि॒भ्रम् । वरु॑णस्य । व्र॒तेन॑ । ते॒ ॥ २ ॥

अस्य पुरोवर्तिनो जारस्य शत्रोः संभृतम् एकत्र संपादितं तद् वसु धनम् इन्द्रेण सहायभूतेन वयं वि भजामहै विभक्तम् अपगतं करवामहै । यद्वा तस्य धनं वयं विशेषेण भजामहै । तस्य धनस्य वयं भागिनो भवाम इत्यर्थः ॥ उत्तरार्धे जारः संबोध्यते । हे जार ते तव शुभ्रम् श्वेतवर्णं भ्रजः दीप्तम् अपत्यप्रजननसमर्थं रेतः वरुणस्य वारकस्य देवस्य व्रतेन कर्मणा म्लापयामि क्षीणं करोमि । ❀ ग्लै म्लै हर्षक्षये । ण्यन्तात् पुगागमः । भ्रजतेर्दीप्त्यर्थाद् असुनि रूपं भ्रज इति ❀ ॥

इस जार-शत्रुके एकत्रित किये हुए धनको हम इन्द्रकी सहायतासे निकालते हैं। हे जार ! तेरा जो सन्तानको उत्पन्न करनेमें समर्थ शुभ्र वर्ण वाला दमकता हुआ वीर्य है उसको मैं निवारक वरुणदेवके कर्मसे क्षीण करता हूँ ॥ २ ॥

चतुर्दशी ॥

यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः ।
अवस्थस्य क्नदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः ।
यदाततमव तत् तनु यदुत्ततं नि तत् तनु ॥ ३ ॥

यथा । शेपः । अपऽअयातै । स्त्रीषु । च । असत् । अनावयाः ।
अवस्थस्य । क्नदिऽवतः । शाङ्कुरस्य । निऽतोदिनः ।
यत् । आऽततम् । अव । तत् । तनु । यत् । उत्ऽततम् । नि ।
तत् । तनु ॥ ३ ॥

शेपः पुंस्प्रजननस्य नाम । ❀ वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुक् च [उ० पा० ४, २००] इति असुन् । पुडागमः ❀ । यथा येन प्रकारेण शेपः जारस्य व्यञ्जनम् अपायातै अपगच्छेत् । भोग्यायाः पतिवत्न्या नार्याः सकाशाद् अपगतं भवेत् । ❀ अय पय गतौ । लेटि "लेटोऽडाटौ" इति आडागमः । "वैतोन्यत्र" इति एकारस्य ऐकारादेशः ❀ । च यथा च स्त्रीषु भोग्यासु अनावयाः । ❀ वेतेर्गत्यर्थाद् असुन् । लिङ्गव्यत्ययः ❀ । अनागच्छद् असत् भवेत् । यथा जारस्य व्यञ्जनं स्त्रीषु संसक्तं न भवेदित्यर्थः । ❀ असत् इति । अस्तेर्लेटि रूपम् ❀ । यद्वा । आवयतिः अत्तिकर्मा । ❀ आङ्पूर्वाद् वेतेर्भक्षणार्थाद् असुन् ❀ । अत्र भक्षणं भोगमात्रोपलक्षणम् । यथा च जारः स्त्रीषु परकीयासु अनावयाः अभोक्ता संभोग-

रहितः असत् भवेत् । अयम् अर्थः। यथा जारस्य शेपो भोग्यायाः स्त्रियाः सकाशाद् अपगच्छेत् भोक्तुं न क्षमेत यथा च स्त्रीव्यञ्जने संसक्तं जारो वा संभोक्ता न भवेत् तथा कुर्विति देवः प्रार्थ्यते । कस्य शेपः इति तम् आह उत्तरेणार्धेन । अवस्थस्य स्त्रीसमीपे अवतिष्ठमानस्य । ❀ अवपूर्वात् तिष्ठतेः "स्थः क च" इति कप्रत्ययः ❀ । अथ वा अवः अवस्तात् स्त्रिया अधःप्रदेशे संभोगाय तिष्ठतः । ❀ "पूर्वापराधराणाम् असिपुरधवश्चैषाम्" इति अधरशब्दस्य असिप्रत्यये अव् आदेशः । अवोपसृष्टात् तिष्ठतेः असिप्रत्ययान्ताधरशब्दपूर्वाद् वा तिष्ठते रूपम् इति व्युत्पत्त्यनवधारणाद् अनवग्रहः ❀ । स्त्रीसमीपे संभोगाय तिष्ठतः क्रदिवतः । ❀ क्रदेः आह्वानार्थाद् औणादिको भावे इप्रत्ययः। रेफस्य नकारोपजनश्छान्दसः ❀ । संभोगार्थम् आह्वानवतः शाङ्कुरस्य शङ्कुरिव शङ्कुः पुंव्यञ्जनं तद्वान् शङ्कुरः । ❀ रो मत्वर्थीयः ❀ । शङ्कुर एव शाङ्कुरः । ❀ प्रज्ञादित्वाद् अण् ❀ । पुंव्यञ्जनवतः नितोदिनः नितरां संभोगेन नारीं व्यथयतः ।❀ तुद व्यथने इत्यस्माद् "बहुलम् आभीक्ष्ण्ये" इति णिनिः ❀ । एतादृशस्य जारस्य आततम् आयामवत् यत् शेपोऽस्ति तत् शेपः अव तनु अवततं दैर्घ्यरहितं कुरुः । तथा उत्ततम् ऊर्ध्वं विस्तृतम् उन्नतं यत् शेपः तत् नि तनु नितनं नीचीनं कुरु ॥

अष्टमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरश्रीवीरमहाराजराज्यधुरंधर-
सायणाचार्यविरचिते माधवीये अथर्वसंहिताभाष्ये
वेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे अष्टमोनुवाकः ॥

जिस प्रकार जारका पुंव्यञ्जन नारीके पाससे दूर होजावे और स्त्रियोंमें संसक्त न होवे, (इस प्रकारकी हम देवताओंसे प्रार्थना करते हैं) स्त्रीके अधः प्रदेशमें संभोगके लिये स्थित,

संभोगके लिये आह्वान वाले शंकु (खूँटे) की समान पुंव्यञ्जन वाले, संभोगसे नारीको अतिपीड़ित करने वाले जारके आतत पुंव्यञ्जनको दीर्घतारहित करिये और उत्ततको नीचा करिये ३

अष्टम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४१०) ॥

अथर्ववेदसंहिताके अष्टम काण्डमें अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

नवमेनुवाके द्वे सूक्ते । तत्र "इन्द्रः सुत्रामा" इत्याद्ये सूक्ते आद्येन तृचेन ग्रामकामः इन्द्रं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि उदुम्बरपलाशकर्कन्धूनां समिदाधानसभोपस्तरणहोमादीनि कर्माणि अनेन कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "इन्द्रः सुत्रामेति ग्रामकामो ग्रामसांपदानामप्ययः" इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा इन्द्रमहाख्ये उत्सवे "इन्द्रः सुत्रामा" इत्यनया आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "अर्वाञ्चम् इन्द्रम् [५. ३. ११] त्रातारम् इन्द्रम् [७. ९१] इन्द्र सुत्रामा [७. ९६] इत्याज्यं हुत्वा" इति [कौ० १४. ४] ॥

अग्निष्टोमे ["ध्रुवं ध्रुवेण" इति ऋचा] आसन्दीं नीयमानं सोमराजम् अनुमन्त्रयेत । उक्तं वैताने । "ध्रुवं ध्रुवेणेति राजानं राजवहनाद् आसन्द्यां नीयमानम् अनुमन्त्रयते" इति [वै० ३.३]

तथा अग्निष्टोमे आग्निमारुतशस्त्रावसाने अवनीयमानं ध्रुवपात्रस्थसोमम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "ध्रुवं ध्रुवेणेति ध्रुवम् अवनीयमानम् अनुमन्त्रयते" इति हि [वै० ३. १२] सूत्रम् ॥

आभिचारिके कर्मणि "उदस्य श्यावौ" इति तृचेन आज्यं जुहुयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि सूत्रोक्तरीत्या अनेन तृचेन मण्डूकमुखम् अपनुदेत् ॥

अभिचारकर्मणि "असदन् गावः" इति ऋचा रक्तशालितण्डुलैः क्षीरौदनं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य द्वेष्याय दद्यात् ॥

दर्शपूर्णमासयोः "यद्द अद्य त्वा प्रयति" इत्यष्टर्चेन संस्थितहोमान् जुहुयात् । "यद्द अद्य त्वा प्रयति [७, १०२] इत्यष्टर्चेन संस्थितहोमाः । मनसस्पते [७. १०२. ८] इत्युत्तमं चतुर्गृहीतेन" । इति [कौ० १, ६] सूत्रात् ॥

उपनयनकर्मणि ब्रह्मचारिणं "समिन्द्र णः" इत्यनया अष्टर्चेनाभिमन्त्रितम् उदपात्रम् अवेक्षयेत् । "उपनयनं" प्रक्रम्य सूत्रितम् । "उदपात्रं समवेक्षयेत् समिन्द्र णः" इति [कौ० ७. ६] ॥

नवम सूक्तमें दो अनुवाक हैं । उनमेंसे 'इन्द्रः सुत्रामा' इस पहिले सूक्तके पहिले तृचसे ग्रामकी चाहना वाला इन्द्रदेवका यजन वा उपस्थान करे ।

तथा उसी कर्ममें गूलड़ पलाश और बेरकी समिधाओंका आधान, सभामें पिरालसा बिछाना और होम आदि कर्मोंको करे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'इन्द्रः सुत्रामेति ग्रामकामो ग्रामसाम्पदानामप्ययः ।' (कौशिकसूत्र ७ । १०) ॥

तथा इन्द्रमह नाम वाले उत्सवमें "इन्द्रः सुत्रामा" से घृतकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अर्वाञ्चं इन्द्रम् (५ । ३ । ११) त्रातारम् इन्द्रम् (७ । ६१) इन्द्र सुत्रामा (७ । ६६) इत्याज्यं हुत्वा" (कौशिकसूत्र १४ । ४) ॥

अग्निष्टोममें "ध्रुवं ध्रुवेण ऋचासे पालकी पर ले जाते हुए सोमराजका अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–'ध्रुवं ध्रुवेणेति राजानं राजवहनाद् आसन्द्यां नीयमानं अनुमन्त्रयेत' (वैतानसूत्र ३ । ३) ॥

तथा अग्निष्टोममें अग्निमारुतशस्त्रावसानमें अवनीयमान ध्रुवपात्रमें स्थित सोमका इस ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे ।–इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १३ का प्रमाण है, कि–'ध्रुवं ध्रुवेणेति ध्रुवं अवनीयमानं अनुमन्त्रयेत' ॥

आभिचारिक कर्ममें 'उदस्यश्यावौ' तृचसे घृतकी आहुति देवे । तथा इसी कर्ममें सूत्रोक्तरीतिसे इस तृचसे मण्डूकके मुखका अपनुदन्न करे ।

अभिचारकर्ममें 'असदन् गावः' ऋचासे रक्तशाली तण्डुलों से क्षीर भात बना कर सम्पातित और अभिमंत्रित द्वेष्यके लिये देदेय ।

दर्श और पूर्णमासमें 'यद् अद्य त्वा प्रयति' इस अष्टर्चसे संस्थित होमोंको करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ६ का प्रमाण है, कि—'यद् अद्य त्वा प्रयति (७ । १०२) इत्यष्टर्चेन संस्थितहोमाः । मनसस्पते (७ । १०२ । ८) इत्युत्तमं चतुर्गृहीतेन' ॥

उपनयनकर्ममें ब्रह्मचारीको 'समिन्द्र णः' इस ऋचासे अष्टर्चसे अभिमंत्रित जलपूर्ण पात्रको दिखावे । उपनयनका आरंभ करके कौशिकसूत्र ७।६ में कहा है, कि—'उदपात्रं समवेक्षयेत् समिन्द्र णः' ॥

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्र॑ः सु॒त्रामा॒ स्ववाँ॒ अवो॑भिः सुमृडी॒को भ॑वतु वि॒श्व-
वे॑दाः ।
बाध॑तां॒ द्वेषो॒ अभ॑यं नः कृणोतु सु॒वीर्य॑स्य॒ पत॑यः स्याम १

इन्द्र॑ः । सु॒ऽत्रामा॑ । स्वऽवान् । अव॑ःऽभिः । सु॒ऽमृ॒डी॒कः॒ । भ॒व॒तु॒ ।
वि॒श्व॑ऽवेदाः ।
बाध॑ताम् । द्वेषः॑ । अभ॑यम् । न॒ः । कृ॒णो॒तु॒ । सु॒ऽवीर्य॑स्य । पत॑यः ।
स्या॒म॒ ॥ १ ॥

सुत्रामा सुष्ठु त्राता । ❀ "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति मनिन् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । स्ववान् धनवान् हितात्मा

वा इन्द्रः अवोभिः रक्षणैः सुमृळीकः सुसुखः सुष्ठु सुखयिता भवतु । कीदृशः । विश्ववेदाः बहुधनः विश्वं विद्वान् वा । द्वेषः । द्विष अप्रीतौ । असुन् । शेर्लुक् ❀ । द्वेषांसि द्वेष्टॄन् बाधताम् हिनस्तु । अभयं च नः अस्माकं कृणोतु करोतु । वयं सुवीर्यस्य शोभनवीर्योपेतस्य धनादिकस्य पतयः स्वामिनः स्याम भूयास्म । ❀ सुवीर्यस्येति । "वीरवीर्यौ च" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाले धनी इंद्र रक्षाओंके द्वारा हमको सुन्दर सुख देने वाले होवें और यह बड़े भारी धनसे सम्पन्न इन्द्र हमारे शत्रुओंका संहार करें। और हमको अभय भी देवें। और हम शोभन वीर्य वाले धनके स्वामी होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

स सु॒त्रामा॒ स्व॒वाँ इन्द्रो॑ अ॒स्मदा॒राच्चि॒द् द्वेषः॑ सनु॒तर्यु॑योतु ।
तस्य॑ व॒यं सु॑म॒तौ य॒ज्ञिय॒स्यापि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म १

सः । सु॒ऽत्रामा॑ । स्वऽवा॑न् । इन्द्रः॑ । अ॒स्मत् । आ॒रात् । चि॒त् । द्वेषः॑ ।
स॒नु॒तः । यु॒यो॒तु ।

त॑स्य । व॒यम् । सु॒ऽम॒तौ । य॒ज्ञि॑यस्य । अपि॑ । भ॒द्रे । सौ॒म॒न॒से । स्या॒म॒ १

सुत्रामा सुष्ठु त्राता स्ववान् धनवान् स प्रसिद्ध इन्द्रः अस्मत् अस्मत्तः आराच्चित् दूरादेव द्वेषः द्वेष्टॄन् । ❀ द्विषतेर्व्यत्ययेन क्विप् प्रत्यये गुणः । द्वितीयाबहुवचनं शस् ❀ । सनुतः । अन्तर्हितनामैतत् । तिरोहितान् गूढान् युयोतु पृथक् करोतु । ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोः । "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः ❀ । यज्ञियस्य यज्ञार्हस्य तस्य इन्द्रस्य सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहबुद्धौ वर्तमानाः वयं तस्यैव भद्रे कल्याणे सौमनसे सुमनसो भावे अपि स्याम विषयभूता भवेम ॥ ❀ सौमनस इति । सुमनःशब्दाद् भावे अण् प्रत्ययः ❀ ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाले धनी इन्द्र हमसे दूर ही हमारे शत्रुओंको तिरोहित कर डालें अलग २ कर डालें, हम यज्ञके पात्र उन इन्द्रदेवकी अनुग्रहरूपा बुद्धिमें रहते हुए उनके कल्याणमय भावको पाते रहें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रे॑ण म॒न्युना॑ व॒यम॒भि ष्या॑म पृतन्य॒तः ।
घ्नन्तो॑ वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति ॥ १ ॥

इन्द्रे॑ण । म॒न्युना॑ । व॒यम् । अ॒भि । स्या॒म॒ । पृ॒त॒न्य॒तः ।
घ्नन्तः॑ । वृ॒त्राणि॑ । अ॒प्र॒ति ॥ १ ॥

इन्द्रेण सहायेन मन्युना तदीयेन कोपेन । यद्वा मन्यतिर्दीप्तिकर्मा । मन्युमता इन्द्रेण सहायेन वयं पृतन्यतः पृतनां संग्रामम् इच्छतः युयुत्सून् शत्रून् अभि ष्याम अभिभवेम । ❀ "कप्यध्वरपृतनस्यर्चिलोपः" इति क्यचि पृतनाशब्दस्य अन्त्यलोपः । अभि ष्यामेति । "उपसर्गप्रादुर्भ्याम् अस्तिर्यच्परः" इति षत्वम् ❀ । किं कुर्वन्तः वयम् । वृत्राणि आवारकाणि पापानि । शत्रून् इत्यर्थः । अप्रति अप्रतिपक्षं घ्नन्तः यथा प्रतिपक्षशेषो न भवति तथा घ्नन्तः । निःशेष हिंसन्त इत्यर्थः ॥

प्रदीप्त इन्द्रदेवकी सहायतासे हम संग्राम करना चाहने वाले शत्रुओंको दबा डालें, उन शत्रुओंका कुछ भी भाग शेष न रखते हुए उनको समाप्त कर डालें ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

ध्रु॒वं ध्रु॒वेण॑ ह॒विषाव॒ सोमं॑ नयामसि ।
यथा॑ न॒ इन्द्रः॒ केव॑ली॒र्विशः॒ संम॑नस॒स्कर॑त् ॥ १ ॥

ध्रु॒वम् । ध्रु॒वेण॑ । ह॒विषा॑ । अव॑ । सोम॑म् । न॒या॒म॒सि॒ ।

यथा॑ । नः॒ । इन्द्रः॑ । केव॑लीः । विशः॑ । सम्ऽम॑नसः । करत् १

ध्रुवेण स्थिरेण सुप्रतिष्ठितेन हविषा पुरोडाशादिना युक्तं ध्रुवम् ध्रुवग्रहस्थं सोमम् अव नयामसि अवाङ्मुखं निनयामः । यद्वा ध्रुवम् स्थिरं सोमं राजवहनाद् अनसः सकाशाद् आसन्दीं प्रति अवतारयामः । यथा येन प्रकारेण इन्द्रो नः अस्माकं विशः प्रजाः केवलीः असाधारणाः संमनसः संगतमनस्काः समानमनस्काश्च करत् करोतु । तथा अव नयामसीति संबन्धः । ❀ "केवलमामकभागधेय०" इति केवलशब्दाद् ङीप् । करत् इति । करोतेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

सुप्रतिष्ठित स्थिर पुरोडाश आदि हविसे युक्त ध्रुवग्रहस्थ सोम को हम अवाङ्मुख लाते हैं अथवा स्थिर सोमको गाड़ीसे राजा की सवारी पालकीमें लाते हैं (ऐसा करनेसे) इन्द्र देवता हमारी प्रजाओंको असाधारणरूपसे समान मन वाली करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

उद॑स्य श्या॒वौ वि॑थु॒रौ गृ॒ध्रौ द्यामि॑व पेततुः ।
उ॒च्छो॒च॒न॒प्र॒शो॒च॒नाव॒स्योच्छोच॑नौ हृ॒दः ॥ १ ॥

उत् । अ॒स्य॒ । श्या॒वौ । वि॒थु॒रौ । गृध्रौ॑ । द्याम्ऽइ॑व । पे॒त॒तुः॒ ।

उ॒च्छो॒च॒न॒ऽप्र॒शो॒च॒नौ । अ॒स्य । उ॒त्ऽशोच॑नौ । हृ॒दः ॥ १ ॥

अस्य मण्डूकात्मना भावितस्य शत्रोः संबन्धिनौ विथुरौ । ❀ व्यथ भयचलनयोः इत्यस्माद् औणादिकः कुरच् प्रत्ययः । छान्दसं संप्रसारणम् ❀ । संततं चलनशीलौ श्यावौ श्याववर्णौ ओष्ठौ उत्पेततुः उत्पतताम् उद्गच्छताम् । मण्डूकमुखापनोदनेन

शत्रोरोष्ठौ विदारितौ भवताम् इत्यर्थः । यद्वा । ❀ श्यैङ् गतौ इत्यस्माद् उत्पन्नः श्यावशब्दः ❀ । श्यावौ परस्परसंसक्तौ शत्रुरूपेण भावितस्य मण्डूकस्य प्राणापानौ विथुरौ व्यथनशीलौ भयवन्तौ सन्तौ उत्पतताम् इति । श्याववर्णौ वा प्राणापानौ । तौ हि वायोर्वृत्तिभेदौ । वायोर्हि धूम्रवर्णत्वं मन्त्रशास्त्रप्रसिद्धम् । उद्गमने दृष्टान्तः । गृध्रौ द्यामिवेति । यथा गृध्रौ तार्क्ष्यौ द्याम् दिवम् उत्पततः । ❀ "औतोम्शसोः" इति द्योशब्दस्य अमि परत आकारादेशः । पेततुरिति । छान्दसो लिट् ❀ । किं च उच्छोचनप्रशोचनौ । उच्छोचयति ऊर्ध्वम् उत्कृष्य उत्कृष्टं वा शोकं करोतीति उच्छोचनः । प्रकर्षेण शोचयतीति प्रशोचनः । एतत्संज्ञकौ मृत्युदूतौ अस्य पुरोवर्तिमण्डूकरूपेण भावितस्य शत्रोः हृदः हृदयस्य उच्छोचनौ उत्कर्षेण शोचयितारौ । भवत इति शेषः । ❀ शोचयतेर्नन्द्यादित्वात् ल्युः ❀ ॥

इस मण्डूकात्मारूपसे भावित शत्रुके सदा चलते रहने वाले श्याव वर्ण वाले (ओठ) चिर जावें अर्थात् मण्डूकका मुख चीरनेसे शत्रुके ओष्ठ विदीर्ण होजावें । अथवा–शत्रुरूपसे भावित मण्डूकके परस्परसंसक्त प्राण और अपान भयभीत होकर (इस प्रकार) उड़ जावें जिस प्रकार गीध आकाशमेंको उड़ते हैं । ऊपरको उत्कृष्टरूपसे खेंच कर शोक देने वाले उच्छोचन और प्रकृष्टरूपसे शोक देने वाले प्रशोचन नाम वाले दोनों मृत्युदूत इस सामने वर्तमान मण्डूकरूपमें भावित शत्रुके हृदयको बड़ा ही शोक देने वाले होवें ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

अ॒हमे॑ना॒वुद॑तिष्ठिपं॒ गावौ॑ श्रान्त॒सदा॑विव ।
कु॒र्कु॒रावि॑व॒ कूज॑न्तावु॒दव॑न्तौ॒ वृका॑विव ॥ २ ॥

अ॒हम् । ए॒नौ॒ । उत् । अ॒ति॒ष्ठि॒प॒म् । गावौ॑ । श्रा॒न्त॒सदौ॑ऽइव ।

कु॒र्कु॒रौ॑ऽइव । कू॒ज॑न्तौ । उ॒त्ऽअव॑न्तौ । वृकौ॑ऽइव ॥ २ ॥

एनौ पूर्वमन्त्रोक्तौ श्यावौ ओष्ठौ प्राणापानौ वा शत्रुसंबन्धिनौ । ❀ इदंशब्दस्य अन्वादेशे "द्वितीयाटौस्स्वेनः" इति एनादेशः अनुदात्तः ❀ । अहं प्रयोक्ता उदतिष्ठिपम् उत्थापयामि उद्गमयामि । बलान्निःसारयामीत्यर्थः । ❀ तिष्ठतेर्ण्यन्तात् लुङि चङि "तिष्ठतेरित्" इति इत्त्वम् ❀ । बलात्कारेण उत्थापने दृष्टान्तत्रयं गावावित्यादि । यथा श्रान्तसदौ श्रान्तौ श्रमवन्तौ सीदन्तौ गोष्ठे श्रमेण निषीदन्तौ गावौ वालदण्डमूलनितोदनादिना बलाद् उत्थापयन्ति । यथा च कूजन्तौ ध्वनिं कुर्वन्तौ कुर्कुरौ श्वानौ पाषाणप्रहरणादिना बलाद् अपसारयन्ति । यथा च वृकौ । अरण्यश्वा वृक इत्युच्यते । उदवन्तौ गोयूथमध्ये वत्सान् उद्गृह्य गच्छन्तौ धावन्तौ वृकौ यथा गोपालाः बलाद् यूथाद् अपसारयन्ति तद्वत् । ओष्ठयोः प्राणापानयोर्वा द्वित्वाद् द्वित्वसंख्यावन्तौ गावौ श्वानौ वृकौ दृष्टान्तत्वेन उपन्यस्तौ । ❀ अवतेर्धातो रक्षणाद्यनेकार्थस्मरणाद् अत्र गत्यर्थः अवतिः ❀ ॥

जैसे थक कर बैठे हुए बैलोंको (पूँछ आदि खेंच कर) उठाते हैं और भौंकते हुए कुत्तोंको (पाषाण आदि फेंक कर) भगा देते हैं और बछड़ोंको पकड़ कर लेजाने वाले भेड़ियोंको गोपाल बलपूर्वक भगा देते हैं । इसी प्रकार मैं पूर्वमन्त्रमें कहे हुए शत्रुके ओठ वा प्राणोंको बलपूर्वक अलग करता हूँ ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

आ॒तो॒दिनौ॑ नि॒तो॒दि॒नाव॑थो॑ सं॒तो॒दिना॑वु॒त ।
अपि॑ नह्या॑म्यस्य॒ मेढ्रं॒ य इ॒तः स्त्री पुमा॑न् ज॒भार॑ ३

आऽतोदिनौ । निऽतोदिनौ । अथो इति । सम्ऽतोदिनौ । उत । अपि । नह्यामि । अस्य । मेढ्रम् । यः । इतः । स्त्री । पुमान् । जभार ॥ ३ ॥

अत्र शत्रोरोष्ठौ प्राणापानौ वा उत्क्रमणवेलायाम् एतदेतदवस्थापन्नौ करोतीति पूर्वार्धेन उच्यते । आतोदिनौ सर्वतो व्यथनशीलौ शत्रोः सर्वावयवसंक्लेशकारिणौ । उत्थापयामीति पूर्वमन्त्रोक्तक्रियानुषङ्गः । तथा नितोदिनौ नितरां निकृष्टं वा व्यथयन्तौ अतिकष्टं बाधाकारिणौ । अथो अनन्तरम् उत अपि च संतोदिनौ संभूय व्यथाकारिणौ । उद्गमयामीति संबन्धः । किं च यः स्त्री पुमान् वा द्वेष्यः इतः अस्मदीयात् स्थानात् जभार जहार । आस्माकीनं धनम् इति शेषः । यद्वा इतः अस्मिन् प्रदेशे जहार प्रहृतवान् अस्मान् बाधितवान् । अस्य शत्रोः मेढ्रम् । मर्मस्थानोपलक्षणम् एतत् । अपि नह्यामि बध्नामि । यथा मर्मस्थानबन्धनेन मरिष्यति तथा करोमीत्यर्थः ॥

मैं शत्रुके प्राणोंको उत्क्रमणके समय सब अवयवोंको क्लेश देने वाले, अति कष्ट देने वाले और एकत्रित होकर व्यथित करने वाले करके उखाड़ता हूँ । जिस स्त्री वा पुरुषने हमारे धनको हर लिया है वा हम पर प्रहार किया है उसके मेढ्र आदि मर्मस्थानोंको मैं बाँधता हूँ, (कि—वह मर्मस्थानोंके बन्धनसे मर जावे) ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

असदन् गावः सदनेपप्तद् वसतिं वयः ।
आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् १

अ॑सदन् । गा॑वः । स॑दने । अप॑प्तत् । व॒स॒तिम् । व॑यः ।

आ॒ऽस्थाने॑ । प॑र्वताः । अ॒स्थु॒ः । स्था॑म्नि । वृ॒क्कौ । अ॒ति॒ष्ठि॒प॒म् १

सदने । सीदन्ति अत्रेति सदनम् । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । यथा गावः गोष्ठे असदन् सीदन्ति निषीदन्ति । ❀ सदेश्छान्दसे लुङि लृदित्त्वात् च्लेः अङ् आदेशः ❀ । यथा च वयः पक्षी वसतिम् स्वकीयं नीडम् अपप्तत् पतति गच्छति । प्रविशतीत्यर्थः । ❀ पतेर्लुङि पूर्ववत् अङ् । "पतः पुम्" इति पुम् आगमः ❀ । यथा च पर्वताः गिरयः स्थाने स्वकीये आस्थुः आतिष्ठन्ति । ❀ तिष्ठतेर्लुङि "गातिस्था०" इति सिचो लुक् । "आतः" इति झेर्जुस् ❀ । यथा गवादिकाः स्वेस्वे सदने सुखेन निवसन्ति तथा स्थाम्नि । तिष्ठन्ति अत्रेति स्थाम गृहम् । ❀ तिष्ठतेः अधिकरणे मनिन् प्रत्ययः ❀ । शत्रोर्गृहे वृक्कौ वृक्कश्च वृक्की च एतौ । ❀ "पुमान् स्त्रिया" इति पुंस एकशेषः ❀ । दम्पतिभूतौ वृक्कौ अतिष्ठिपम् स्थापयामि निदधामि । शत्रुगृहं वृक्कावासस्थानं करोमि। आगन्तुकवृक्कप्रवेशशङ्कानिरासाय वृक्काविति स्त्रीपुंसौ निर्दिष्टौ यथा वृक्कः स्त्रीपुत्रादिभिः शत्रोर्गृहे वर्तते तथा करोमीति । अनेन शत्रुं निःशेषं हत्वा तद्गृहम् अरण्यं करोमीत्यर्थ उक्तो भवति ॥

जैसे गौ गोठमें सुखपूर्वक बैठती हैं और जैसे पक्षी घोंसलेकी ओर दौड़ते हैं और जैसे पर्वत अपने स्थानमें स्थित हैं, इसी प्रकार मैं शत्रुके घरमें वृक और वृकीको स्थापित करता हूँ अर्थात् इस प्रकार शत्रुको निःशेष करके उसके घरको जंगलसा बनाना चाहता हूँ ॥ १ ॥

नवमी ॥

यद॒द्य त्वा॑ प्रय॒ति य॒ज्ञे अ॒स्मिन् होत॑श्चिकित्व॒न्नवृ॑णीम॒हीह ।

ध्रु॒वम॑यो ध्रु॒वमु॒ता श॑विष्ठ प्रवि॒द्वान् य॒ज्ञमुप॑ याहि॒ सोम॑म्

यत् । अ॒द्य । त्वा॒ । प्र॒ऽय॒ति । य॒ज्ञे । अ॒स्मिन् । होत॑ः । चि॒कि॒त्व॒न् ।

अवृ॑णीमहि । इ॒ह ।

ध्रु॒वम् । अ॒य॒ः । ध्रु॒वम् । उ॒त । श॒वि॒ष्ठ॒ । प्र॒ऽवि॒द्वान् । य॒ज्ञम् । उप॑ ।

या॒हि॒ सोम॑म् ॥ १ ॥

हे होतः देवानाम् आह्वातः यष्टर्वा । ❀ ह्वयतेर्जुहोतेर्वा रूपम् एतत् ❀ । हे चिकित्वन् ज्ञानवन् । ❀ कित ज्ञाने । अस्माद् यङ्लुगन्तात् मतुप् । अभ्यासस्य गुणाभावश्छान्दसः । “नामन्त्रिते समानाधिकरणे०” इति पूर्वामन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वनिषेधेन पदात् परत्वात् सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । एवंगुणक हे अग्ने त्वा त्वाम् अद्य इदानीं प्रयति प्रवर्तमाने । विच्छेदेन विना क्रियमाण इत्यर्थः । अस्मिन् यज्ञे इह अस्मिन् प्रयोजने यत् यस्माद् अवृणीमहि होतृत्वेन वयं वृतवन्तः । ❀ वृङ् संभक्तौ । क्र्यादित्वात् श्ना प्रत्ययः । यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः । प्रयतीति । प्रपूर्वाद् एतेः शतरि यणादेशः । “शतुरनुमो नद्यजादी” इति सप्तम्या उदात्तत्वम् ❀ । यस्माद् वयं होतृत्वेन त्वां वृतवन्तः तस्माद् ध्रुवम् सर्वथा अयः अयाक्षीः यज । यष्टव्यान् देवान् इति शेषः । “ऋधग् अयाड् ऋधग् उताशमिष्ठाः” इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० सं० १. ४. ४४. २] । ❀ यजतेः “छन्दसि लुङ्लङ्लिटः” इति लङि छान्दसी रूपसिद्धिः ❀ । उत अपि च ध्रुवम् अशमिष्ठाः शमय । कर्मणो वैगुण्यम् इति शेषः । किं च प्रविद्वान् प्रकर्षेण जानन् सोमम् सोमवन्तं यज्ञम् उप याहि समीपम् आगच्छ । यद्वा यज्ञं प्रविद्वान् अस्मदभिमतफलोपायत्वेन प्रजानन् सोमम् अस्माभिर्दीय-

मानं हविः उप याहि उपगच्छेति ॥ अथ वा यत् यस्मात् त्वां वृतवन्तः तस्माद् यज्ञम् उप याहि । आगत्य च ध्रुवम् अयाक्षीः यष्टव्यान् देवान् ध्रुवम् अशमिष्ठाः यज्ञं संस्थापितवान् असीति ॥ ❀ भूतार्थे एव लुङ् प्रत्ययः ❀ ॥

हे देवताओंका आह्वान करने वाले ज्ञानवान् अग्ने ! हम आपका अविच्छिन्नरूपसे होते हुए इस यज्ञमें होतारूपसे वरण करते हैं हमने आपका होतारूपसे वरण किया है, इस कारण आप देवताओंका पूजन करिये और कर्मकी विगुणताको शान्त कर दीजिये । और हमारे अभीष्टफलके उपायको समझते हुए हमारी दी हुई हविके समीप आइये ॥ १ ॥

दशमी ॥

समि॑न्द्र नो॒ मन॑सा नेष॒ गोभिः॒ सं सू॒रिभि॑र्हरिव॒न्त्सं स्व॒स्त्या ।
सं ब्रह्म॑णा दे॒वहि॑तं॒ यदस्ति॒ सं दे॒वानां॑ सुम॒तौ य॒ज्ञिया॑नाम् ॥ २ ॥

सम् । इ॒न्द्र॒ । नः॒ । मन॑सा । ने॒ष॒ । गोभिः॑ । सम् । सू॒रिऽभिः॑ । ह॒रि॒ऽव॒न् । सम् । स्व॒स्त्या ।
सम् । ब्रह्म॑णा । दे॒वऽहि॑तम् । यत् । अस्ति॑ । सम् । दे॒वाना॑म् । सु॒ऽम॒तौ । य॒ज्ञिया॑नाम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र नः अस्मान् मनसा गोभिः शब्दैः स्तुतिलक्षणैश्च सं नेष संनय संयोजय । मनस्विनो वाग्मिनश्च कुरु । त्वां स्तोतुम् इत्यर्थः । यद्वा गोभिः पशुभिः संनय । ❀ नयतेर्लोटि शप् ।

"सिब्बहुलम्०" इति सिप्। "अतो हेः" इति हेर्लोपः ❀ । किं च हे हरिवः । हरिसंज्ञकौ अश्वौ । ❀ हरी इन्द्रस्येति यास्कवचनात् [निघ० १. १५] ❀ । तद्वन् हे इन्द्र सूरिभिः विद्वद्भिः । संनयेति क्रियानुषङ्गः। स्वस्त्या अविनाशेन संनय । किं च ब्रह्मणा वेदेन वेदार्थज्ञानेन तदर्थानुष्ठानेन वा संनय । यच्च देवहितम् देवेभ्यो हितम् अस्ति अग्निहोत्रादि कर्म तेनापि संनय । ❀ "क्ते च" इति चतुर्थ्यन्तपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तथा यज्ञियानाम् यज्ञार्हाणां देवानाम् अग्न्यादीनां सुमतौ शोभनायां बुद्धौ अनुग्रहात्मिकायां संनय अस्मान् । ❀ सुमतौ इति । "मन्त्रे वृषेष०" इति क्तिन उदात्तत्वम् । "मन्क्तिन्व्याख्यान०" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ ॥

[इति] नवमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! आप हमको मनसे और स्तुतिरूपा वाणियोंसे संयुक्त करिये अर्थात् अपनी स्तुति करनेके लिये आप हमको मनस्वी और वाग्मी करिये । अथवा पशुओंसे संयुक्त करिये । और हे हरिनामक घोड़ों वाले इन्द्र ! आप विद्वानोंके साथ स्वास्तिके साथ हमको संयुक्त करिये और वेदार्थज्ञानके साथ वा वेदानुष्ठान के साथ हमको संयुक्त करिये और देवताओंका हित करने वाला जो अग्निहोत्र आदि है उससे भी हमको संयुक्त करिये । और यज्ञमें पूजनीय देवताओंकी अनुग्रहरूपा बुद्धिसे भी हमको संयुक्त करिये ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४१६) ॥

दर्शपूर्णमासयोः संस्थितहोमेषु "यान् आवहः" इत्यादीनां षण्णाम् ऋचाम् "यदद्य त्वा प्रयति" इत्यत्र विनियोगः उक्तः ॥

तथा श्रौतदर्शपूर्णमासयोः "यान् आवहः" इति षड्ऋचेन संस्थितहोमान् जुहुयात् । उक्तं वैताने। "यान् आवह इति षड्भिः

संस्थितहोमान् जुहोति मनसस्पत इत्यासाम् उत्तमा” इति [वै० १. ४] ॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रह्रियमाणप्रस्तरानुमन्त्रणं “सं बर्हिरक्तम्” इत्यनया ब्रह्मा कुर्यात् । “सं बर्हिरक्तम् इति प्रस्तरं प्रह्रियमाणम्” इति [वै० १. ४] ॥

स्मार्तदर्शपूर्णमासयोः “सं बर्हिरक्तम्” इत्यनया बर्हिःप्रहरणं कुर्यात् । “बर्हिराज्यशेषेणानक्ति” इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । “सं बर्हिरक्तम् इत्यनुप्रहरति” इति [कौ० १. ६] ॥

श्रौतदर्शपूर्णमासयोः वेदिं परिस्तृणन्तम् अध्वर्युम् “परि स्तृणीहि” इत्यनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । “परि स्तृणीहीति वेदिं परिस्तृणन्तम्” इति वैतानसूत्रात् [वै० १. २] ॥

दुःस्वप्नदर्शननिमित्तदोषपरिहारार्थम् “पर्यावर्ते” इति ऋचं जपन् पर्यावर्तेत ॥

स्वप्ने अन्नभक्षणनिमित्तदोषपरिहारार्थं “यत् स्वप्ने” इति ऋचं जपेत् ॥

सूत्रितं हि । “पर्यावर्ते [७. १०५] इति पर्यावर्तते । यत् स्वप्ने [७. १०६] इत्यशात्यवेक्षते” इति [कौ० ५. १०] ॥

स्वस्त्ययनार्थं “नमस्कृत्य” इत्यनया मान्त्रवर्णिकीभ्यो देवताभ्यो नमस्कारम् उपस्थानं वा कुर्यात् । “नमस्कृत्येति मन्त्रोक्तम्” इति हि सूत्रम् [कौ० ७. ३] ॥

दर्श और पूर्णमासके संस्थित होमोंमें “यान् आवहः” इत्यादि छः ऋचाओंका “यदद्य त्वा प्रयति” में विनियोग कह दिया है ।

तथा श्रौत दर्शपूर्णमासयागमें “यान् आवहः” इस षडृचसे संस्थित होमोंकी आहुति देय । इसी बातको वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि—“यान् आवह इति षड्भिः संस्थितहोमान् जुहोति मनसस्पत इत्यासां उत्तमा” ॥

ब्रह्मा 'सं बर्हिरक्तम्' ऋचासे दर्श और पूर्णमासमें प्रह्रियमाण प्रस्तरका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र १।४ का प्रमाण है, कि—"सं बर्हिरक्तं इति प्रस्तरं प्रह्रियमाणम्" ॥

स्मार्त दर्श और पूर्णमासमें 'सं बर्हिरक्तम्' से बर्हिप्रहरण करे।

कौशिकसूत्र १। ६ में इस विषयका प्रमाण भी है, कि—"बर्हिराज्यशेषेणानक्ति" का आरम्भ करके सूत्रमें कहा है, कि-'सं बर्हिरक्तं इत्यनुप्रहरति'

श्रौतदर्शपूर्णमासमें वेदीका परिस्तरण करते हुए अध्वर्युको "परि स्तृणीहि" ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र १। २ का प्रमाण भी है, कि—"परि स्तृणीहीति वेदिं परिस्तृणन्तम्" ॥

दुःस्वप्न देखनेसे होसकने वाले दोषको दूर करनेके लिये 'पर्यावर्ते' ऋचाका जप करता हुआ पर्यावर्तन करे।

स्वप्नमें किये हुए अन्नभक्षणसे होसकने वाले दोषका परिहार करनेके लिये 'यत् स्वप्ने' ऋचाको जपे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"पर्यावर्ते (७।१०५) इति पर्यावर्तते। यत् स्वप्ने (७। १०६) इत्यश्नात्यवेक्षते" (कौशिकसूत्र ५। १०)॥

स्वस्त्ययनके लिये "नमस्कृत्य" ऋचासे मांत्रवर्णिक (मन्त्र में वर्णित) देवताओंके लिये नमस्कार वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।२ का प्रमाण है, कि—'नमस्कृत्येति मंत्रोक्तम्'

तत्र प्रथमा ॥

यानाव॑ह उश॒तो दे॑व दे॒वांस्तान् प्रेर॑य॒ स्वे अ॑ग्ने स॒धस्थे॑।
ज॒क्षि॒वांसः॑ पपि॒वांसो॒ मधू॑न्य॒स्मै ध॑त्त वसवो॒ वसू॑नि २

यान् । आ॒ऽअव॑हः । उ॒श॒तः । दे॒व॒ । दे॒वान् । तान् । प्र । ई॒र॒य॒ ।

स्वे । अ॒ग्ने॒ । स॒धऽस्थे॑ ।

ज॒क्षि॒ऽवांस॑ः । प॒पि॒ऽवांस॑ः । मधू॑नि । अ॒स्मै । ध॒त्त॒ । व॒स॒व॒ः ।

वसू॑नि ॥ ३ ॥

हे देव दीप्यमान हे अग्ने त्वम् उशतः हवींषि कामयमानान् यान् देवान् आवहः आवाहितवान् आहूतवान् असि । ❀ वहेर्लङि यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः । उशत इति । वशेः शतरि अदादित्वात् शपो लुक् । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् । "शतुरनुमः०" इति द्वितीयाया उदात्तत्वम् ❀ । तान् आहूतान् देवान् स्वे स्वकीये सधस्थे सहस्थाने यत्र ते सह तिष्ठन्ति तत्र प्रेरय प्रस्थापय । ❀ "सुपि स्थः" इति तिष्ठतेः अधिकरणार्थेपि को द्रष्टव्यः । "सध मादस्थयोः०" इति सहस्य सधादेशः ❀ ॥ ते देवाः संबोध्यन्ते । जक्षिवांसः पुरोडाशादीन् भक्षितवन्तः मधूनि मधुररसोपेतानि आज्यादीनि पपिवांसः पीतवन्तः हे वसवः लोकानां वासयितारः यूयं वसूनि धनानि अस्मै यजमानाय धत्त । प्रयच्छतेत्यर्थः । ❀ जक्षिवांस इति । लिडादेशे क्वसौ "लिट्यन्यतरस्याम्" इति अदेर्घस्लादेशः । "गमहन०" इति उपधालोपः । पपिवांस इत्यत्रापि लिटः क्वसुः । उभयत्र "वस्वेकाजाद्घसाम्" इति इडागमः । वसव इति । "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ ॥

हे दमकते हुए अग्निदेव ! आपने हविकी कामना करने वाले जिन देवताओंको बुला लिया है । उन बुलाये हुए देवताओंको जहाँ वे एकत्रित होकर स्थित होते हैं उस सधस्थमें प्रेरित करिये । पुरोडाश आदिका भक्षण करने वाले, मधुररससम्पन्न घृत

आदिका पान करने वाले वसुओ ! आप इस यजमानको धन दीजिये ॥ ३ ॥

द्वितीया ॥

सु॒गा वो॑ देवा॒ः सद॑ना अकर्म॒ य आ॑ज॒ग्म सव॑ने मा
जुषा॒णाः ।
वह॑माना॒ भर॑माणा॒ः स्वा वसू॑नि॒ वसु॑ घ॒र्मं॑ दिव॒मा
रो॑ह॒तानु॑ ॥ ४ ॥

सु॒ऽगा । व॒ः । दे॒वा॒ः । सद॑ना । अ॒क॒र्म॑ । ये । आ॒ऽज॒ग्म । सव॑ने ।
मा॒ । जु॒षा॒णाः ।
वह॑मानाः । भर॑माणाः । स्वाः । वसू॑नि । वसु॑म् । घ॒र्म॑म् । दिव॑म् ।
आ । रो॒ह॒त । अनु॑ ॥ ४ ॥

हे देवाः वः युष्माकं सदना सदनानि स्थानानि सुगा सुगानि सुगमनानि सुखेन गन्तव्यानि अकर्म अकार्ष्म । ❀ सुपूर्वाद् गमेः "गमश्च" इति डः । अत्र सदनेत्यत्रापि "शेश्छन्दसि०" इति शेर्लोपः । अकर्मेति । करोतेः "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "छन्दस्युभयथा" इति तिङ आर्धधातुकत्वेन ङित्त्वाभावाद् गुणः❀। देवा विशेष्यन्ते । जुषाणाः हवींषि सेवमानाः तैः प्रीयमाणा वा ये यूयम् इमा इमानि सवना सवनानि आजग्म आगताः स्थ । ❀ गमेर्लिटि मध्यमबहुवचने "गमहन०" इति उपधालोपः ❀ । यतः युष्मदर्थं सदनानि अकार्ष्मः अतः यूयं स्वा स्वानि स्वकीयानि वसूनि धनानि वहमानाः प्रापयन्तः अस्मान् । तथा भरमाणाः पोषयन्तः अस्मदर्थं धनानि हस्तैर्धारयन्तो वा वसुम् सर्वस्य

लोकस्य वासयितारं घर्मम् आदित्यम् आ रोहत आतिष्ठत । अनु अनन्तरं दिवम् द्युलोकम् आ रोहत आतिष्ठत । ❀ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे ❀ । अस्मभ्यं धनानि दत्त्वा स्वीयं स्थानं गच्छतेत्यर्थः ॥

हे हविसे प्रसन्न हुए देवताओं ! आप यहाँ आये थे अब आपके लिये हमने आपके स्थानोंको सुखसे प्रस्थान करने योग्य कर दिया है । क्योंकि–हमने आपके लिये भवन ठीक कर दिये हैं अतः आप हमारे लिये धनोंको प्राप्त कराते हुए और हमारे लिये पुष्टि देते हुए आदित्य पर आरोहण करिये फिर द्युलोक पर आरोहण करिये । अर्थात् हमको धन देकर अपने स्थानोंको पधारिये ॥ ४ ॥

तृतीया ॥

यज्ञं य॒ज्ञं ग॑च्छ य॒ज्ञप॑तिं गच्छ । स्वां योनिं॑ गच्छ॒
स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

यज्ञ॑ । य॒ज्ञम् । ग॒च्छ॒ । य॒ज्ञऽप॑तिम् । ग॒च्छ॒ ॥ स्वाम् । योनि॑म् ।
ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

हे यज्ञ त्वं यज्ञम् यष्टव्यं परमात्मानं विष्णुं गच्छ येन त्वं प्रतिष्ठितो भवेः । अनन्तरं यज्ञपतिम् यज्ञस्य पालयितारं यजमानं गच्छ फलप्रदानेन प्राप्नुहि । ❀ “पत्यावैश्वर्ये” इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । अनन्तरं स्वाम् आत्मीयां योनिं गच्छ । योनिः कारणम् सर्वजगत्कारणभूता पारमेश्वरी शक्तिः । तां प्राप्नुहि । स्वाहा स्वाहुतम् इदम् आज्यं तवास्त्विति ॥

हे यज्ञ ! आप पूजनीय परमात्मा विष्णुके पास जाइये कि–जिनसे आप प्रतिष्ठित हुए हैं । फिर यज्ञके पालक यज्ञपति यजमानको फलप्रदानसे प्राप्त हूजिये । फिर सब जगत्की कारण-

भूत पारमेश्वरी शक्ति अपनी योनिको प्राप्त हूजिये । यह भली प्रकार आहुत घृत आपका हो ॥ ५ ॥

चतुर्थी ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा ६

एषः । ते । यज्ञः । यज्ञऽपते । सहऽसूक्तवाकः ॥ सुऽवीर्यः । स्वाहा ॥ ६ ॥

हे यज्ञपते यजमान एष यज्ञः सहसूक्तवाकः । सूक्तं वक्तीति सूक्तवाकः यथाक्रमं यष्टव्यदेवतानामकीर्तनपरः प्रैषः । तत्सहित एष यज्ञः । अथ वा सूक्तवचनसहितः त्रिविधस्तोत्रकः सुवीर्यः सुबलः शोभनपुत्रपौत्रादिकर्मयुक्तो वा ते तव । श्रेयसे कल्पताम् इत्यर्थः । स्वाहा स्वाहुतम् इदम् आज्यम् अग्नयेस्तु ॥

हे यज्ञपते ! यह पूजनीय देवताके नामका कीर्तन करने वाले प्रैषरूप सूक्तके साथ वर्तमान शोभन कर्मयुक्त यज्ञ आपके कल्याण के लिये समर्थ होवे, भली प्रकार आहुत यह घृत अग्निके लिये हो ६

पञ्चमी ॥

वषंड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः । देवां गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥

वषट् । हुतेभ्यः । वषट् । अहुतेभ्यः ॥ देवाः । गातुऽविदः । गातुम् । वित्त्वा । गातुम् । इत ॥ ७ ॥

हुतेभ्यः इष्टेभ्यो देवेभ्यः वषट् । प्रदानवाची वषट् शब्दः । इदम् आज्यं हुतम् अस्तु । अहुतेभ्यः पूर्वम् अनिष्टेभ्यो देवेभ्यो वषट् इदम् आज्यं वषट् हुतम् अस्तु । अस्य संस्थितहोमत्वात् पूर्वं

हविःप्रदानेन प्रीणिता अपि देवा हूयन्ते किल किम् उत पूर्वम् अहुता देवा इत्युभयत्र वषट्कारप्रयोगः । ❀ "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इति हुताहुतशब्दाभ्यां चतुर्थी ❀ । हे गातुविदः गातुर्मार्गस्तं जानाना हे देवाः यूयम् । ❀ "विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्" इति पूर्वस्यामन्त्रितस्य अविद्यमानत्वनिषेधाद् द्वितीयस्य निघातः ❀ । गातुम् मार्गं वित्त्वा लब्ध्वा अस्मदीयं यज्ञं प्रति आगमनकाले येन मार्गेण आगतास्तमेव मार्गं लब्ध्वा गातुम् इत समाप्ते कर्मणि पुनः स्वकीयगृहगामनाय तमेव मार्गं तेनैव मार्गेण प्रतिनिवर्तध्वम् । ❀ वित्त्वेति । विदेर्लाभार्थात् क्त्वाप्रत्यये "एकाचः०" इति इट्प्रतिषेधः । ज्ञानार्थात् तु निषेधाभावाद् इड्भवत्येव । तस्मादेव वा "अनित्यम् आगमशासनम्" इति इडभावः । गातुं वित्त्वा विदित्वा ज्ञात्वेति तत्रार्थः । इतेति । इण् गतौ । लोटि मध्यमबहुवचने अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥

जिन देवताओंका यजन कर चुके हैं उनके लिये यह घृत हुत होवे और पहिले जिनकी पूजा नहीं की गई है उन देवताओंके लिये यह घृत आहुत हो । हे मार्गको जानने वाले देवताओं ! यज्ञमें आगमनके समय जिस मार्गसे आप आए थे उसी मार्गको जान कर कर्मके समाप्त होने पर फिर उसी मार्गसे अपने घरको जाने के लिये लौट जाओ ॥ ७ ॥

षष्ठी ॥

मन॑सस्पत इ॒मं नो॑ दि॒वि दे॒वेषु॑ य॒ज्ञम् ।
स्वाहा॑ दि॒वि स्वाहा॑ पृथि॒व्यां स्वाहा॒न्तरि॑क्षे॒ स्वाहा॒
वाते॑ धा॒॑ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

मन॑सः । प॒ते॒ । इ॒मम् । नः॒ । दि॒वि । दे॒वेषु॑ । य॒ज्ञम् ।

स्वाहा॑ । दि॒वि । स्वाहा॑ । पृ॒थि॒व्या॑म् । स्वाहा॑ । अ॒न्तरि॑क्षे ।
स्वाहा॑ । वाते॑ । धा॒म् । स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

हे मनसस्पते सर्वभूतानाम् अन्तरात्मतया मनसोपि पते हे देव । ❀ "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति मनस इति शब्दस्य आमन्त्रितानुप्रवेशाद् मनसस्पत इति षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । नः अस्मदीयम् इमं यज्ञं दिवि द्युलोके वर्तमानेषु देवेषु अग्न्यादिषु धाम् । ❀ पुरुषव्यत्ययः ❀ । धाः धेहि स्थापय । इति स्वाहा सरस्वती । अब्रवीद् इत्यर्थः । मन्त्रमध्यवर्तिनां स्वाहाशब्दानां प्रदानार्थत्वाभावात् । वस्तुतश्च स्वाहाशब्दस्य वाक्कर्तृकवचनरूपेर्थे निरुक्तत्वात् । स्वा स्वकीया प्रजापतिसंबन्धिनी वाग् आह अब्रवीत् इति स्वाहाशब्दस्य अर्थ उक्तः । तथा च तैत्तिरीयके वाक्प्रजापत्योरुक्तिप्रत्युक्तिरूपं वाक्यम् एवं श्रूयते । "तं वाग् अभ्यवदज्जुहुधीति । कस्त्वम् इत्यब्रवीत् । स्वैव ते वाग् इत्यब्रवीत् । सोजुहोत् स्वाहेति । तत् स्वाहाकारस्य जन्म" इति [तै० ब्रा० २. १. २. ३] । एवम् उत्तरे त्रयः स्वाहाशब्दा व्याख्येयाः । अनन्तरं द्युपृथिव्यन्तरिक्षलोकेषु अस्मदीयं यज्ञं धाः स्थापयेति सरस्वत्याहेति । ततः इमम् अस्मदीयं यज्ञं वाते सर्वकर्माधारे धाः स्थापय । यस्माद् अयं यज्ञः प्रयुक्तः तत्रैव वाते स्थापय । "वाताद् अध्वर्युर्यज्ञं प्रयुङ्क्ते" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० ३. ३. ६. १२] । "मनसस्पतिना देवेन वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्" इति च [तै० ब्रा० ३. ७. ४. १] । स्वाहा इदम् आज्यं स्वाहुतम् अस्तु इति अन्तिमस्वाहाशब्दस्य प्रदानार्थता ।❀दिवीति। "ऊडिदम्०" इति सप्तम्या उदात्तत्वम् । पृथिव्याम् इति । "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । धाम् इति । दधातेर्लेटि

"बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक्। "तिङां तिङो भवन्ति" इति सिपो मिबादेशः। "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः ❀ ॥

हे सब भूतोंके अन्तरात्मा होनेसे मनके पते देव! हमारे इस यज्ञको द्युलोकमें वर्तमान देवताओंमें स्थापित करिये। इस बातको प्रजापतिसंबधिनी वाणी सरस्वती कहती है ‡। फिर पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोकमें हमारे इस यज्ञको द्युलोकमें वर्तमान देवताओंमें स्थापित करिये। इस बातको प्रजापतिसम्बन्धिनी वाणी सरस्वती कहती है। फिर हमारे इस यज्ञको सर्वकर्माधार वातमें स्थापित करिये ÷ यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ८ ॥

---

‡ जो स्वाहा शब्द मन्त्रके अन्तमें आते हैं उनका ही 'यह आहुति स्वाहुत हो' यह अर्थ होता है, मन्त्रके मध्यमें आये स्वाहा शब्दका अर्थ आहुति स्वाहुत हो यह नहीं होना है, किन्तु वाक्-कर्तृक वचनरूपमें निरुक्तसे उक्त होनेके कारण सरस्वती होता है। अर्थात् अपनी प्रजापतिसम्बन्धिनी वाणी कहती है यह मध्यगत स्वाहाशब्दका अर्थ होता है। इसी लिये तैत्तिरीय ब्राह्मण २। १। २। ३ में वाणी और प्रजापतिका उक्तिप्रत्युक्तिरूपवाक्य इस प्रकार लिखा है, कि-"तं वागभ्यवदज्जुहुधीति। कस्त्वं इत्यब्रवीत्। स्वैव ते वाग् इत्यब्रवीत्। सोऽजुहोत् स्वाहेति। तत् स्वाहाकारस्य जन्म।-वाणीने उससे कहा कि-आहुति दो। उसने कहा, कि-तू कौन है। उत्तर दिया, कि-स्वाहा यही स्वाहाकारका जन्म है ॥

÷ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ३। ६। १२ में कहा है, कि-'वाताद् अध्वर्युर्यज्ञं प्रयुंक्ते।-वातसे अध्वर्यु यज्ञका प्रयोग करता है' और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ७। ४। १ में भी कहा है, कि-"मनसस्पतिना देवेन वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्।-मनसस्पति देवके द्वारा वातसे यज्ञको प्रयुक्त करो" ॥

सप्तमी ॥

सं ब॒र्हिर॒क्तं ह॒विषा॑ घृ॒तेन॒ समिन्द्रे॑ण॒ वसु॑ना॒ सं म॒रुद्भिः॑ ।
सं दे॒वैर्वि॒श्वदे॑वेभिर॒क्तमिन्द्रं॑ गच्छतु ह॒विः स्वाहा॑ १

सम् । ब॒र्हिः । अ॒क्तम् । ह॒विषा॑ । घृ॒तेन॑ । सम् । इन्द्रे॑ण । वसु॑ना ।
सम् । म॒रुत्ऽभिः॑ ।
सम् । दे॒वैः । वि॒श्वऽदे॑वेभिः । अ॒क्तम् । इन्द्र॑म् । ग॒च्छ॒तु॒ । ह॒विः ।
स्वाहा॑ ॥ १ ॥

बर्हिः स्रुगाद्यासादनस्थानभूतं हविषा पुरोडाशादिना घृतेन आज्येन च समक्तम् सम्यग् अभ्यक्तम् अभूत् । ❀ अञ्जू व्यक्तिम्लक्षणादिषु । कर्मणि निष्ठा ❀ । तथा वसुना वासकेन वस्वाख्यदेवसहितेन वा इन्द्रेण समक्तम् इत्यनुषङ्गः । मरुद्भिश्च समक्तम् । तथा विश्वदेवेभिः विश्वदेवैः एतत्संज्ञकैः देवैः गणदेवैः समक्तम् अभूत् । तादृशं सर्वदेवाधिष्ठितं हविरासादनाधारभूतं बर्हिः इन्द्रम् सर्वदेवप्रमुखं गच्छतु प्राप्नोतु । स्वाहा इदं बर्हिः स्वाहुतम् अस्तु ॥

स्रुवा आदि रखनेका स्थानरूप बर्हि पुरोडाश घृत आदिसे समक्त होगया है और वसुनामक देवता और इन्द्रसे भी समक्त होगया है । मरुत् देवता और विश्वेदेवताओंसे भी समक्त हो गया है, ऐसा सब देवताओंसे अधिष्ठित हविके आसादनका आधारभूत बर्हि सर्वदेवप्रमुख इन्द्रदेवको प्राप्त हो, यह बर्हिः स्वाहुत हो ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

परि॑ स्तृणीहि॒ परि॑ धेहि॒ वेदिं॒ मा जा॒मिं मो॑षीरमु॒या
शया॑नाम् ।

हो॒तृ॒षद॑नं॒ हरि॑तं हिर॒ण्यय॑ं नि॒ष्का ए॒ते यज॑मान॑स्य लो॒के॑

परि॑ । स्तृ॒णीहि॒ । परि॑ । धे॒हि॒ । वेदि॑म् । मा । जा॒मिम् । मो॒षी॒ः । अ॒मु॒या॑ । शयानाम् ।

हो॒तृ॒ऽसद॑नम् । हरि॑तम् । हि॒र॒ण्यय॑म् । नि॒ष्काः । ए॒ते । यजमानस्य । लो॒के ॥ १ ॥

अत्र आस्तीर्यमाणो दर्भस्तम्बः संबोध्यते । हे दर्भस्तम्ब परि स्तृणीहि वेदिं परित आस्तीर्णो भव आच्छादय वा । ❀ स्तृञ् छादने । क्र्यादिः ❀ । एतदेवाह । वेदिं परि धेहि वेदिम् आच्छादय । अमुया अनया वेद्या सह शयानाम् तिष्ठन्तीम् । वेद्या यजमानसंमितत्वात् तत्समानाकृतित्वं यजमानस्यास्तीति शयानाम् इत्युक्तम् । ❀ शीङः शानच् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ❀। अथ वा । ❀ सप्तम्या याजादेशः ❀ । अमुष्यां वेद्याम् ।❀ विषयसप्तमी ❀ । वेदिविषये शयानाम् । परिचरन्तीम् इत्यर्थः । यद्वा । ❀ द्वितीयाया याजादेशः ❀ । अमूं वेदिं शयानाम् । उपवसन्तीम् इत्यर्थः । जामिम् जायत इति जामिः प्रजा तां बन्धुभूतां यजमानं मा मोषीः । मा हिंसीरित्यर्थः । ❀ मुष स्तेये । “माङि लुङ्” ❀। कीदृशो दर्भः संबोधितः तं दर्शयति । होतृषदनम् । ❀ होता सीदति अत्रेति अधिकरणे ल्युट् ❀ । दर्भरूपवस्त्वपेक्षया नपुंसकत्वम् । दर्भकदम्बकापेक्षया वा । हरितम् हरिद्वर्णं हिरण्ययम् हिरण्मयं शोभनवर्णं हितरमणीयं वा एतादृशम् हे दर्भरूप वस्तु । त्वं परि स्तृणीहीति पूर्वत्र संबन्धः ॥ अथ परोक्षकृतश्चरमः पादः । एते आस्तीर्यमाणा दर्भाः यजमानस्य लोके पुण्यभोगस्थाने निष्काः सुवर्णमया अलंकारा भवन्तु ॥

(इस ऋचासे फैलाये जाते हुए दर्भस्तम्बको सम्बोधित किया गया है) हे दर्भस्तम्ब ! वेदी पर चारों ओर फैल जाइये। वेदी को चारों ओरसे ढक दीजिये और इस विराजमान वेदीकी संतानरूप यजमानको नष्ट न करिये । यह दर्भ होताओंके बैठनेका स्थान है, हरित वर्ण वाला है, शोभन वर्ण वाला है, ऐसे हे दर्भ! आप वेदी पर फैल जाइये । यह बिछाये हुए दर्भ यजमानके पुण्यभोगस्थलमें सुवर्णमय अलंकार होवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

परिऽआवर्ते । दुःऽस्वप्न्यात् । पापात् । स्वप्न्यात् । अभूत्याः ।
ब्रह्म । अहम् । अन्तरम् । कृण्वे । परा । स्वप्नऽमुखाः । शुचः १

दुष्वप्न्यात् दुष्टस्वप्नप्रभवात् पापात् पर्यावर्ते प्रतिनिवृत्तो भवामि। अपसरामीत्यर्थः । ❀ वृतु वर्तने । लटि उत्तमे रूपम् ❀ । तथा स्वप्नात् । पापाद् इति अनुषज्यते । दुष्टात् स्वप्नात् जनितायाः इति शेषः । अभूत्याः असंपदः अश्रेयसः । पर्यावर्त इति संबन्धः। किं च अहं ब्रह्म मन्त्रम् अन्तरम् दुःस्वप्ननिवारकं व्यवधायकं कृण्वे कुर्वे । यथा दुःस्वप्नजनितं दुरितं मां न प्राप्नोति तथा तन्निर्हरणसमर्थं मन्त्रसंघं कवचं करोमीत्यर्थः । तेन व्यवधिकरणेन स्वप्नमुखाः । मुखशब्द उपाये वर्तते । स्वप्नद्वारिकाः दुःस्वप्ननिबन्धनाः शुचः शोकाः परा । भवन्तु इति क्रियाध्याहारः ॥

मैं दुष्ट स्वप्नसे होने वाले पापसे पर्यावृत्त होता हूँ-लौटता हूँ। स्वप्नके पापसे मुक्त होता हूँ और असम्पत्तिसे मुक्त होता हूँ, मैंने दुःस्वप्ननिवारक मन्त्रको व्यवधायक (रोकने वाला) कर लिया

है अर्थात् दुःस्वप्नजनित दुरित मुझको प्राप्त न हो इसलिये मैं उसको दूर करनेमें समर्थ मन्त्रपुंजको कवचकी समान धारण कर रहा हूँ। इस कारण दुःस्वप्ननिबन्धन शोक पलायन कर जावें १

दशमी ॥

यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥१॥

यत् । स्वप्ने । अन्नम् । अश्नामि । न । प्रातः । अधिऽगम्यते ।
सर्वम् । तत् । अस्तु । मे । शिवम् । नहि । तत् । दृश्यते । दिवा ।

यद् अन्नं स्वप्ने अश्नामि भक्षयामि । ❀ अश भोजने । क्र्यादिः ❀ । तद् अन्नं प्रातर्नाधिगम्यते न दृश्यते । हि यस्मात् तद् अन्नं दिवा अहनि न दृश्यते अतः तत् स्वप्ने अन्नभोजनं सर्वम् अन्नभोजनसदृशम् अखाद्यभक्षणादिकं मे मम शिवम् मङ्गलकारि अस्तु भवतु । स्वप्ने अन्नभोजनेन यद् अरिष्टं भवति तद् अनेन मन्त्रजपेन शाम्यतु प्रत्युत कल्याणकारि भवत्वित्यर्थः ॥

मैं जिस अन्नको स्वप्नमें खाता हूँ, वह अन्न प्रातःकाल नहीं दीखता है, क्योंकि-वह अन्न दिनमें नहीं दीखता है, अतः वह स्वप्नका अन्न भोजन और अखाद्यभक्षण आदि सब अन्न मेरे लिये मङ्गलकारी हो (अर्थात् स्वप्नमें अन्नभोजनसे जो अरिष्ट होता है वह इस मन्त्रजपसे शान्त होजावे और कल्याण करने वाला हो ॥ १ ॥

एकादशी ॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे ।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मां हिंसिषुरीश्वराः ॥ १ ॥

न॒मः॒ऽकृत्य॑ । द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑म् । अ॒न्तरि॑क्षाय । मृ॒त्यवे॑ ।

मे॒क्षामि॑ । ऊ॒र्ध्वः । तिष्ठ॑न् । मा । मा॒ । हिं॒सि॒षुः॒ । ई॒श्व॒राः ॥१॥

द्यावापृथिव्यादिभ्यो नमस्कृत्य नमस्कारं कृत्वा तिष्ठन् आसीनोहम् ऊर्ध्वः ऊर्ध्ववत् ऊर्ध्वमुखो मैष्यामि । ऊर्ध्वलोकं मा गमिष्यामीत्यर्थः । यद्वा नमस्कारेण ऊर्ध्वो मा गमिष्यामि । किं तु तिष्ठन् इह लोके चिरकालावस्थायी । भवामीति शेषः । ❀ मैष्यामीति । "अमानोवाः प्रतिषेधे" इति प्रतिषेधवाचिनो मा इति निपातस्य ग्रहणं न तु ङितो माशब्दस्य । यदि माङ्स्तर्हि "माङि लुङ्" स्यात् । तस्य सर्वलकाराणाम् अपवादत्वात् । एतेर्लृट् । "स्यतासी०" इति स्यः ❀ । ईश्वराः स्वामिनः द्युपृथिव्यन्तरिक्षदेवता अग्निवायुसूर्या मृत्युश्च मा मां मा हिंसिषुः मा वधिषुः । चिरकालम् इह लोके माम् अवस्थापयन्तु इत्यर्थः ॥

नवमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

इति माधवीये अथर्वसंहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे
सप्तमकाण्डे नवमोनुवाकः ॥

द्यावापृथिवीके लिये, अन्तरिक्षके लिये और मृत्युदेवताके लिये नमस्कार करके बैठा हुआ मैं ऊपरके लोकोंमें न जाऊँ, किंतु इसी लोकमें चिरकाल तक बैठा रहूँ, द्युलोक पृथिवीलोक और अन्तरिक्ष लोकके ईश्वर अग्नि वायु और सूर्यदेव तथा मृत्यु मेरा वध न करें अर्थात् मुझे चिरकाल तक इसी लोकमें स्थापित रक्खें॥१॥

नवम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४२२)॥
सप्तमकाण्डमें नवम अनुवाक समाप्त ॥

दशमेनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र "को अस्या नः" इति आद्ये सूक्ते आद्याभ्याम् ऋग्भ्यां सर्वफलकामः प्रजापतिं यजेत उपतिष्ठेत

वा । "को अस्या न इति प्रजापतिम्" इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

"कः पृश्निम्" इत्येषा उर्वराख्ये सवयज्ञे विनियुक्ता । "कः पृश्निम् इत्युर्वराम्" इति [कौ० ८. ७] सूत्रात् ॥

उपनयने आदित्यवीक्षणानन्तरम् "अपक्रामन्" इत्यनया माणवकं प्राङ्मुखम् उपवेशयेत् । सूत्रितं हि । "अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणान इत्येनं बाहुगृहीतं प्राञ्चम् अवस्थाप्य" इति [कौ० ७. ६]॥

ग्रामगृहादिषु अन्योक्तसंदेशाकथने तत्प्रायश्चित्तार्थं "यद् अस्मृति" इत्यनया अग्निम् उपतिष्ठेत । "यद् अस्मृतीति संदेशम् अपर्याप्य" इति हि [कौ० ५. १०] सूत्रम् ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः "यद् अस्मृति" इत्यनया कर्मविस्मरणप्रायश्चित्तार्थं जुहुयात् "यन्मे स्कन्नम् यद् अस्मृति [१११] इति च स्कन्नास्मृतिहोमौ" [कौ० १. ६] सूत्रितम् ॥

अग्निष्टोमे दीक्षानियमलोपप्रायश्चित्तार्थम् अनया अग्निम् उपतिष्ठेत । "व्रतलोपे यदस्मृतीत्यग्निम् उपतिष्ठते" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. २]॥

कासश्लेष्मभैषज्यार्थम् "अव दिवस्तारयन्ति" इति ऋचा अन्नं सक्तुमन्थं वा अभिमन्त्र्य भक्षयेद् उदकं वा अभिमन्त्र्य आचामयेत् सूर्योपस्थानं वा कुर्यात् । "यथा मनः [६. १०५] अव दिवः [७. ११२] इत्यरिष्टेन" इति [कौ० ४. ७] सूत्रात् ॥

अभिचारकर्मणि "यो नस्तायत्" इति द्व्यृचेन अशनिहतवृक्षसमिध आदध्यात् ॥

द्यूतजयकर्मणि "इदम् उग्राय" इति सप्तर्चेन दधिमधुनोस्त्रिरात्रं वासितान् अक्षान् अभिमन्त्र्य द्यूतक्रीडां कुर्यात् । "इदम् उग्रायेति वासितान् अक्षान् निवपति" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ५. ५]॥

अग्न्याधाने "इदम् उग्राय" इति घृतेन अभ्यक्तान् अक्षान् अध्वर्यवे दद्यात् । तद्ध उक्तं वैताने । "इदम् उग्रायेत्यन्वक्तान् अक्षान् विदेवनायाध्वर्यवे प्रयच्छति" इति [वै० २. २] ॥

दशम अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमेंसे "को अस्या नः" इस प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे सकल फलोंको चाहने वाला प्रजापति देवताका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिक सूत्र ७।१० का प्रमाण है, कि–'को अस्या न इति प्रजापतिम्' ॥

"कः पृश्निम्" इस ऋचाका उर्वर नामक सत्रयज्ञमें विनियोग होता है । इस विषयमें कौशिकसूत्र ८ । ७ का प्रमाण है, कि–"कः पृश्निम् इत्युर्वराम्" ॥

उपनयनमें सूर्यको देखनेके अनन्तर "अपक्रामन्" ऋचासे बालकको पूर्वकी ओर मुख करके बैठावे । कौशिकसूत्र ७ । ६ में कहा है, कि–"अपक्रामन् पौरुषेयाद्‌ वृणान इत्येनं बाहुगृहीतं प्राञ्चं अवस्थाप्य" ॥

ग्राम घर आदिमें दूसरेके कहे हुए सन्देशेको न कहनेका प्रायश्चित्त करनेके लिये "यद्‌ अस्मृति" ऋचासे अग्निका उपस्थान करे । कौशिकसूत्र ५ । १० में कहा है, कि–"यद्‌ अस्मृतीति संदेशं अपर्याप्य" ॥

तथा दर्श और पूर्णमासमें "यद्‌ अस्मृति" ऋचासे कर्मविस्मरण का प्रायश्चित्त करनेके लिये आहुति देवे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ६ का प्रमाण भी है, कि–"यन्मे स्कन्नं यद्‌ अस्मृति" (१११) इति च स्कन्नास्मृतिहोमौ' ॥

अग्निष्टोममें दीक्षानियमलोपका प्रायश्चित्त करनेके लिये इस ऋचासे अग्निका उपस्थान करे । वैतानसूत्र ३ । २ में कहा है, कि–"व्रतलोपे यदस्मृतीत्यग्निं उपतिष्ठते" ॥

खाँसी और कफरोधकी चिकित्साके लिये "अवदिवस्तार-

यन्ति" ऋचासे अन्नको वा सक्तु मन्थको अभिमन्त्रित करके भक्षण करावे वा अभिमन्त्रित करके आचमन करा देय वा सूर्योपस्थान करे। कौशिकसूत्र ४।७ में कहा है, नि 'यथा मनः (६।१०५) अत्र दिवः (७।११२) इत्यरिष्टेन' ॥

अभिचारकर्ममें "यो नस्तायत्" आदि दो ऋचाओंसे बिजली से ताड़ित वृक्षकी समिधाओंको रक्खे।

द्यूतजयकर्ममें "इदं उग्राय" इस सप्तर्चसे दही और शहदमें तीन रात डाले हुए फाँसोंको अभिमन्त्रित करके द्यूतक्रीड़ा करे कौशिकसूत्र ५।५ में कहा है, कि—"इदं उग्रायेति वासितान् अक्षान् निवपति" ॥

अग्न्याधानमें 'इदं उग्राय' से घृतप्लुत फाँसोंको अध्वर्यु को देवे। इसी बातको वैतानसूत्र २।२ में कहा है, कि—'इदं उग्रायेत्यन्वक्तान् अक्षान् विदेवनायाध्वर्यवे प्रयच्छति' ॥

तत्र प्रथमा ॥

को अ॒स्य नो॑ द्रु॒हो॒ऽवद्य॑वत्या॒ उन्ने॑ष्यति क्ष॒त्रियो॒ वस्य॑
इ॒च्छन् ।
को य॒ज्ञका॑म॒ः क उ॒ पूर्ति॑काम॒ः को दे॒वेषु॑ वनुते दी॒र्घमायु॑ः

कः । अ॒स्याः । न॒ः । द्रु॒हः । अ॒व॒द्य॒ऽवत्याः । उत् । ने॒ष्य॒ति॒ ।
क्ष॒त्रिय॑ः । वस्य॑ः । इ॒च्छन् ।

कः । य॒ज्ञऽका॑मः । कः । ऊ॒ इति॑ । पूर्ति॑ऽकामः । कः । दे॒वेषु॑ ।
व॒नु॒ते॒ । दी॒र्घम् । आयु॑ः ॥ १ ॥

अस्मिन् त्र्यृचे प्रश्नवाचिना किंशब्देन प्रजापतिरुच्यते । अनि-

रुक्तत्वात् तस्य । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । “कोहं स्याम् इत्यब्रवीत् एतत् प्रदायेति । एतत् स्या इत्यब्रवीद् यद् एतद् ब्रवीषीति” इति [तै० ब्रा० २. २. १०. २] । को ह वै नाम प्रजापतिरिति प्रश्नवाचिन एव किंशब्दस्य प्रजापतिवाचकत्वं युक्तम् । अन्यथा “कस्मै देवाय हविषा विधेम” [ऋ० १०. १२१. १] इत्यत्र स्मै इति आदेशो न स्यात् । अयम् अस्या ऋचोर्थः । वस्यः वसीयः प्रशस्तं फलम् । ❀ वसुशब्दाद् ईयसुनि ईकारलोपश्छान्दसः ❀। इच्छन् अस्मभ्यं प्रदातुं कामयमानः कः क्षत्रियः क्षत्रियजात्यभिमानी को राजा । ❀ “क्षत्राद् घः” इति घः ❀ । अस्याः इदानीं बाधिकाया अवद्यवत्याः । गर्ह्यम् अवद्यम् । ❀ “अवद्यपण्यवर्या०” इति गर्ह्यार्थे अवद्यशब्दो यत्प्रत्ययान्तत्वेन निपातितः ❀ । निंद्यरूपादियुक्ताया द्रुहः द्रोग्ध्र्याः । ❀ द्रुह जिघांसायाम् क्विप् ❀। अहितकारिण्याः पिशाच्या दुर्गतेः सकाशात् नः अस्मान् उन्नेष्यति उद्धरिष्यति । को वा यज्ञकामः अस्माभिरनुष्ठीयमानं यज्ञं कामयमानो भवति । उशब्दः वार्थे । पूर्तिकामः अस्माकं धनादिपूर्तिम् अभिवाञ्छन् भवति । को वा देवेषु मध्ये दीर्घम् चिरकालभावि आयुः जीवनं वनते संभजते । ❀ वन षण् संभक्तौ । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ । यद्वा । ❀ वनतिर्दानार्थवाची । धातूनाम् अनेकार्थत्वात् ❀ । देवेषु मध्ये को वा दीर्घम् आयुः प्रयच्छति॥ अत्रोक्तानां प्रश्नवाक्यानां कः प्रजापतिरेव अस्मान् दुर्गताद् उद्धरिष्यति अस्मदीयं यज्ञं पूर्तिं च कामयते आयुश्च प्रयच्छति इत्युत्तरं भवति । किंशब्देन प्रजापतिरुच्यते इत्युक्तत्वात् ॥

प्रशस्त फलको देना चाहने वाला कौन राजा इस बाधिका निन्दनीया द्रोहिणी पिशाची दुर्गतिसे आज हमारा उद्धार करेगा। और हमारे अनुष्ठित इस यज्ञको कौन चाहता है। और कौन हमारी धन आदिकी पूर्तिको करेगा। और देवताओंमें कौन

दीर्घायुका सेवन करता है अथवा कौन दीर्घायुका प्रदान करता है (उत्तर क अर्थात् प्रजापति) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

कः पृश्निं धे॒नुं वरु॑णेन द॒त्तामथ॑र्वणे सु॒दुघां॒ नित्य॑वत्साम्

बृह॒स्पति॑ना स॒ख्यं जुषा॒णो य॑थाव॒शं त॒न्वः कल्पयाति

कः । पृश्नि॑म् । धे॒नुम् । वरु॑णेन । द॒त्ताम् । अथ॑र्वणे । सु॒ऽदुघा॑म् ।
नित्य॑ऽवत्साम् ।

बृह॒स्पति॑ना । स॒ख्यम् । जु॒षा॒णः॒ । य॒था॒ऽव॒शम् । त॒न्वः । क॒ल्प॒या॒ति॒ १

पृश्निम् प्राष्टवर्णाम् । ❀ पृश्निः प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ता इति हि यास्कः [नि० २. १४] ❀ । लोहितादिवर्णोपेतां सुदुघाम् सुष्ठु दोग्ध्रीम् । ❀ "दुहः कब्घश्च" इति कप् प्रत्ययः । घकारश्च अन्तादेशः ❀ । दोग्धुं सुशकां वा । ❀ "ईषद्दुःसुषु०" इति खल् । वर्णोपजनश्छान्दसः । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀ । नित्यवत्साम् सर्वदा वत्सोपेताम् । अनेन सर्वदा नवप्रसूतत्वम् उक्तं भवति । अथर्वणे वरुणेन दत्तां धेनुम् । वरुणेनाथर्वणे गौर्दत्तेति पञ्चमकाण्डे स्पष्टम् आम्नातम् । "कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः । पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः" इति [५. ११] । एतादृशीं धेनुं बृहस्पतिना बृहतां महतां देवानां पालकेन देवेन सख्यम् सौहार्दं जुषाणः सेवमानः को देवः यथावशम् यथाकामम् । ❀ पदार्थानतिवृत्तौ अव्ययीभावः ❀ । तन्वः तनूः कल्पयाति कल्पयेत् समर्थानि कुर्यात् । ❀ कल्पयतेर्लेटि आडागमः ❀ । कः कल्पयेत् इति प्रश्नस्य प्रजापतिरेव कल्पयतीत्युत्तरं भवति ॥

लोहित आदि वर्णोंसे युक्त, अच्छी तरहसे दुहाने वाली, सदा बछड़ेसे युक्त रहने वाली, अथर्वाके द्वारा वरुणको भी दी हुई धेनुको बृहस्पतिके साथ मित्रता रखने वाले प्रजापतिदेव कामना के अनुसार शरीरकी शक्तियोंको प्रदान करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

अ॒प॒क्राम॒न् पौरु॑षेयाद् वृणा॒नो दैव्यं॒ वचः॑ ।
प्रणी॑तीर॒भ्याव॑र्तस्व॒ विश्वे॑भिः॒ सखि॑भिः स॒ह ॥ १ ॥

अ॒प॒ऽक्राम॑न् । पौरु॑षेयात् । वृ॒णा॒नः । दैव्य॑म् । वचः॑ ।
प्रऽनी॑तीः । अ॒भि॒ऽआव॑र्तस्व । विश्वे॑भिः । सखि॑ऽभिः । स॒ह १

हे माणवक त्वं पौरुषेयात् पुरुषेभ्यो हितं तत्र वर्तमानं कामवादभक्षणादिकं लौकिकं कर्म तस्मात् । ❀ "सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ" इति ढञ् प्रत्ययः । ढस्य एय् आदेशः ❀ । तस्मात् लौकिकात् कर्मणः अपक्रामन् अपगच्छन् दैव्यम् देवसंबन्धि । ❀ "देवाद्यञञौ" इति यञ् प्रत्ययः ❀ । तद्वचः वाक्यं वेदलक्षणं वृणानः संभजमानः । ❀ वृङ् संभक्तौ । क्र्यादिः । हेतौ शानच् प्रत्ययः ❀ । स्वाध्यायसंभजनाद्धेतोः प्रणीतीः प्रकृष्टनयनादिवेदब्रह्मचर्यनियतीः अभ्यावर्तस्व अभिगच्छ । विश्वेभिः सर्वैः सखिभिः समानख्यानैः सब्रह्मचारिभिः सह । अभ्यावर्तस्वेति ॥

हे माणवक ! तू पुरुषोंके लिये हितकर कामवाद भक्षण आदि लौकिककर्मसे दूर हटता हुआ देवसंबन्धी वेदलक्षण वाक्यको भजता हुआ स्वाध्यायका सेवन करनेके लिये ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन आदि वेदको शीघ्र ही सिखाने वाली प्रणीतियोंका अपने सकल सहपाठियोंके साथ आश्रय ले ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥ १ ॥

यत् । अस्मृति । चकृम । किम् । चित् । अग्ने । उपऽआरिम । चरणे । जातऽवेदः ।
ततः । पाहि । त्वम् । नः । प्रऽचेतः । शुभे । सखिऽभ्यः । अमृतऽत्वम् । अस्तु । नः ॥ १ ॥

हे अग्ने वयम् अस्मृति स्मरणरहितं पूर्वोत्तरकर्मानुसंधानरहितं यत् किंचित् कर्म चकृम अकार्ष्म । सांतत्येन क्रियमाणे कर्मणि मध्ये यत् किंचित् कर्म अनुष्ठेयं विस्मृतवन्तः अन्योक्तं वा संदेशादिकं तदीयाय जनाय न कथितवन्तो वा । तथा हे जातवेदः जातानां वेदितः जातैः भूतैर्ज्ञायमान वा चरणे अनुष्ठाने उपारिम यत् कर्म उपार्तं लुप्तम् अकार्ष्म । यत्कर्मानुष्ठाने मूढा अभूमेत्यर्थः । ❀ चकृमेति । करोतेर्लिटि क्रादिनियमात् इण्निषेधः । उपारिमेति । उपपूर्वाद् अर्तेः "इडत्यर्तिव्ययतीनाम्" इति इडागमः । यद्वृत्तयोगाद् अनिघाते "तिङि चोदात्तवति" इति गतेर्निघातः ❀। हे प्रचेतः प्रकृष्टज्ञान अग्ने त्वं ततः तस्माद् विस्मरणनिबन्धनात् पापात् नः अस्मान् पाहि पालय । ततः सखिभ्यः समानख्यानेभ्यः प्रियभूतेभ्यो नः अस्मभ्यं त्वदनुग्रहात् शुभे शोभने सांगे कर्मणि । संपन्ने इति शेषः । अमृतत्वम् अविनाशित्वम् अस्तु ॥

हे अग्ने ! हमने पूर्वोत्तरकर्मके अनुसंधानसे रहित जो कुछ स्मरणरहित कर्म कर लिया है, अर्थात् चलते हुए कर्म में मध्यमें

करने योग्य कर्मको भूल कर अगला कर्म कर लिया है वा दूसरे से कहने योग्य संदेशेको भूल गए हैं। हे जातवेदः! अनुष्ठानके समय जो कर्म हमसे लुप्त होगया है तात्पर्य यह है, कि–जिस कर्मके अनुष्ठानमें हम मूढ़ होगए थे, हे प्रकृष्ट ज्ञान वाले अग्ने! आप उस विस्मरणसे होसकने वाले पापसे हमारी रक्षा करिये। फिर हम समान प्रसिद्धि वालोंका आपके अनुग्रहसे सांग कर्म पूर्ण होने पर अविनाशित्व होवे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अत्र॑ दि॒वस्ता॑रयन्ति स॒प्त सूर्य॑स्य र॒श्मय॑ः ।
आप॑ः समु॒द्रिया॒ धा॒रास्तास्ते॑ श॒ल्यम॑सिस्रसन् ॥१॥

अत्र॑ । दि॒वः । ता॒र॒य॒न्ति॒ । स॒प्त । सूर्य॑स्य । र॒श्मय॑ः ।
आप॑ः । स॒मु॒द्रिया॑ः । धारा॑ः । ताः । ते॒ । श॒ल्यम् । अ॒सि॒स्र॒सन् १

एकस्य हि सूर्यस्य अंशभूताः सप्त सूर्या विद्यन्ते। तत्र प्रधानभूतः कश्यपसंज्ञकः सर्वदा महामेरौ वर्तते। इतरे तदंशभूता आरोगादिनामानो विश्वस्य प्रकाशकाः प्रवर्षकाश्च भवन्ति। श्रूयते हि तैत्तिरीयके। “आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः। ते अस्मै सर्वे दिवम् आतपन्ति” इति। “कश्यपोऽष्टमः। स महामेरुं न जहाति” इति। “यस्मिन् सूर्या अर्पिताः सप्त साकम्” इति च [तै० आ० १. ७. १]॥ तथा चास्या ऋचः अयम् अर्थः। सूर्यस्य कश्यपनाम्नः संबन्धिनः सप्त सप्तसंख्याका रश्मयः व्यापकाः किरणा आरोगादयः सूर्याः समुद्रियाः। समुद्रम् अन्तरिक्षम्। ❀ समुद्द्रवन्त्यस्माद् आप इति हि यास्कः [नि० २. १०]। तत्र भवाः। “समुद्राभ्राद् घः” इति घः ❀। अन्तरिक्षभवा धारारूपा आपः। ❀ द्वितीयार्थे प्रथमा ❀। अपः दिवः

द्युलोकाद् अत्र तारयन्ति अवपातयन्ति । प्रवर्षन्तीत्यर्थः । ताः सूर्यरश्मिभिरवतारिता आपः हे रुग्ण ते तव शल्यवत् शल्यम् पीडाकारिणं कासश्लेष्मादिरोगम् असिस्रसन् स्रंसयन्तु विनाशयन्तु । ❀ स्रंसु गतौ । ण्यन्तात् लुङि चङि "अनिदिताम्०" इति उपधानकारलोपः । "सन्वल्लघुनि०" इति सन्वद्भावात् "सन्यतः" इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀ ॥

(एक ही सूर्यके अंशभूत सात सूर्य हैं । उनमें प्रधानभूत कश्यप नामक सूर्य सदा महामेरुमें रहते हैं । दूसरे उनके अंशभूत आरोग आदि नाम वाले विश्वको प्रकाशित करते रहते हैं और वर्षा भी करते हैं । तैत्तिरीय आरण्यक १ । ७ । १ में कहा है, कि—"आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः । ते अस्मै सर्वे दिवम् आतपन्ति ।—आरोग भ्राज पटर पतंग स्वर्णर ज्योतिषीमान् और विभास नामक सात सूर्य इसके लिये द्यौमें तपते रहते हैं" । "कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति ।—कश्यप आठवें हैं वे महामेरुको नहीं छोड़ते हैं" ॥ तथा 'यस्मिन् सूर्याः अर्पिताः सप्त साकम् ।—जिसमें एक साथ ही सात सूर्य अर्पित हैं" ॥ अब इस ऋचाका अर्थ यह हैं, कि—) कश्यप नामक सूर्य से सम्बन्ध रखने वाली सात किरणें अर्थात् आरोग आदि सात सूर्य अन्तरिक्षमें होने वाली जलरूप धाराओंको द्युलोकसे नीचे उतारती हैं, वे सूर्यकी किरणोंसे नीचेको उतारे हुए वर्षारूप जल हे रोगिन् ! तेरे शल्यकी समान पीड़ा देने वाले खाँसी श्लेष्मा आदि रोगको नष्ट कर डालें ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

यो नस्तायद् दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने ।

प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान् मैषामग्ने वास्तु भून्मो
अपत्यम् ॥ १ ॥

यः । नः । तायत् । दिप्सति । यः । नः । आविः । स्वः । विद्वान् ।
अरणः । वा । नः । अग्ने ।

प्रतीचीः । एतु । अरणी । दत्वती । तान् । मा । एषाम् । अग्ने ।
वास्तु । भूत् । मो । इति । अपत्यम् ॥ १ ॥

हे अग्ने यः शत्रुः नः अस्मान् तायत् । अन्तर्हितनामैतत् । अन्तर्हितम् अप्रकाशं दिप्सति दम्भितुं हिंसितुम् इच्छति । ❀ "दन्भ इच्च" इति सन्प्रत्यये इकारादेशः । "अत्र लोपोभ्यासस्य" इति अभ्यासलोपः ❀ । यश्च शत्रुः नः अस्मान् आविः प्रकाशं दिप्सति । तथा विद्वान् परबाधनोपायं जानन् स्वः स्वीयः बन्धुर्वा नः अस्मान् दिप्सति । अरणः । ❀ अर्तेः अरणः ❀ । अरातिर्वा नः अस्मान् हन्तुम् इच्छति । तान् अप्रकाशहननोद्युक्तादीन् शत्रून् दत्वती दन्तोपेता । ❀ "छन्दसि च" इति दन्तशब्दस्य दत् आदेशः ❀ । अरणी आर्तिकारणी राक्षसी प्रतीची प्रत्यगञ्चना एतु प्राप्नोतु । दन्ताभ्यां तान् भक्षयितुम् अभिगच्छत्वित्यर्थः । निःशेषहननाय दत्वतीति विशेषणम् । किं च हे अग्ने एषां पूर्वोक्तानाम् अन्तर्हितघातकादीनां वास्तु गृहं मा भूत् । अपत्यम् पुत्रादिकं मो मैव भूत् ॥

हे अग्ने ! जो शत्रु हमको अन्तर्हित करना चाहता है, जो हम को मारना चाहता है, जो हमारे प्रकाशको बन्द करना चाहता है, दूसरोंको पीड़ा देनेकी युक्तिको जानने वाला जो अपना बंधु हमको मारना चाहता है, जो शत्रु हमको मारना चाहता है ।

उनको यह दाँतोंकी रस्सी वाली पीड़ा देने वाली राक्षसी अभिमुख होकर प्राप्त हो और इन शत्रुओंका घर न रहे और इनके पुत्र आदि भी न रहें ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो
जातवेदः ।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जात-
वेदः ॥ २ ॥

यः । नः । सुप्तान् । जाग्रतः । वा । अभिऽदासात् । तिष्ठतः ।
वा । चरतः । जातऽवेदः ।
वैश्वानरेण । सऽयुजा । सऽजोषाः । तान् । प्रतीचः । निः । दह ।
जातऽवेदः ॥ २ ॥

यः शत्रुः सुप्तान् निद्राणान् नः अस्मान् अभिदासात् अभिदासयेत् अभितः उपक्षपयेत् अभिमुख वा हिंस्यात् । ❀ दसु उपक्षये । ण्यन्तात् लेटि आडागमः । "छन्दस्युभयथा" इति तिप आर्धधातुकत्वात् णिलोपः ❀ । यः शत्रुः जाग्रतः प्रबुध्यमानान् नः अस्मान् अभिदासयेत् । ❀ जागृ निद्राक्षये । शतरि अदादित्वात् शपो लुक् । "जक्षित्यादयः षट्" इति अभ्यस्तसंज्ञायाम् "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । तथा हे जातवेदः जातप्रज्ञ हे अग्ने तिष्ठतः सुखेन एकत्रासीनान् अस्मान् यो हिंस्यात् चरतः कार्येषु व्याप्रियमाणान् वा अस्मान् यः शत्रुः उपक्षपयेत् । ❀ तिष्ठतश्चरत इत्युभयत्र लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ❀ । हे जातवेदः ज्ञातानां वेदितरग्ने त्वं वैश्वानरेण विश्व-

२६०२

नरसंबन्धिना एतत्संज्ञकेन जाठराग्निना । ❀ "नरे संज्ञायाम्" इति विश्वशब्दस्य दीर्घः ❀ । तेन अग्निना सयुजा सहयोक्त्रा सहायेन सजोषाः समानप्रीतिः सन् प्रतीचः स्वप्नजागरणाद्यवस्थापन्नान् अस्मान् उपक्षपयितुं प्रतिमुखम् आगच्छतस्तान् शत्रून् निर्दह निःशेषेण भस्मसात् कुरु । जाठराग्निः अन्तर्दहतु त्वं तु बहिर्दहेत्यर्थः ॥

जो शत्रु हम सोतों हुओंको क्षीण करना चाहता है, जो हम जागते हुओंको मारे, और हे जातवेदा अग्ने ! जो हम बैठे हुओं को या घूमने वालोंको मारे सन्मुख आते हुए उन सब शत्रुओंको आप वैश्वानर (जाठर) अग्निके साथ मित्रता कर मार डालिये । तात्पर्य यह है, कि–जाठर अग्नि भीतरसे भस्म करे और आप बाहरसे भस्म करिये ॥ २ ॥

अष्टमी ॥

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥ १ ॥

इदम् । उग्राय । बभ्रवे । नमः । यः । अक्षेषु । तनूऽवशी ।
घृतेन । कलिम् । शिक्षामि । सः । नः । मृडाति । ईदृशे ॥ १ ॥

उग्राय उद्गूर्णबलाय बभ्रवे बभ्रुवर्णाय एतत्संज्ञकाय द्यूतजयकारिणे देवाय इदं नमः नमस्करणम् । भवतु इति शेषः । ❀ "नमःस्वस्ति०" इति नमःशब्दयोगे बभ्रव इति चतुर्थी ❀ । यो बभ्रुः अक्षेषु देवनसाधनेषु तनूवशी यथाकामी । स्वेच्छाधीनजय इत्यर्थः । घृतेन आज्येन मन्त्राभिमन्त्रितेन कलिम् । पराजयहेतुः पञ्चसंख्यायुक्तोऽक्षविषयोऽयः कलिरित्युच्यते । तं शिक्षामि ताडयामि । हन्मीत्यर्थः । एकादयः पञ्चसंख्यान्ता अक्षविषया अयाः । तत्र पञ्चानां

कलिरिति संज्ञा । तथा च तैत्तिरीयकम् । "ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः" इति [तै० ब्रा० १.५.११.१]। तत्र कलिशब्दवाच्यस्य अयस्य आगमने पराजयो भवति । तम् अनेन आज्येन विनाशयामि । अहम् अन्यैर्न पराजीये किं तु अन्यान् अहमेव जयामीत्यर्थः । ❀ शिक्षतिर्विद्योपादानवाची । तच्च विद्याग्रहणम् अध्यापककर्तृककशाताडनं विना न भवतीति अत्र लक्षणया ताडनमात्रं विवक्ष्यते । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀। यद्वा । ❀ शकेः सनि प्रत्यये "सनि मीमा०" इति इस् आदेशः। "अत्र लोपः०" इति अभ्यासलोपः ❀ । कलिं शिक्षामि शक्तं समर्थं कर्तुम् इच्छामि। यथा कलिः स्वयं पराजयसमर्थः पराजयवान् भवति तथा करोमीत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे देवतानुग्रहम् आशास्ते । स नमस्कृतः अक्षद्यूतदेवता बभ्रुः ईदृशे देवननिबन्धने कलिपराभावनरूपे जयलक्षणे च फले नः अस्मान् मृडाति मृडयतु सुखयतु । ❀ मृड सुखने । लेटि आडागमः ❀ ॥

प्रचण्ड बल वाले बभ्रु नामक द्यूतमें विजय देनेवाले देवताके लिये यह नमस्कार हो, यह बभ्रु अक्षों (फाँसों) में अपनी कामनाके अनुसार विजय दिलाने वाले हैं। और मन्त्राभिमन्त्रित घृतसे मैं (पञ्चसंख्यायुक्त पराजयके हेतु) कलि नामक फाँसेको ताड़ित करता हूँ † यह बभ्रु देवता इस खेलनेसे होने वाले जयपराजयमें हमको सुख देवें ॥ १ ॥

---

† एकसे पाँच तकके फाँसे अय कहलाते हैं । उनमें पाँचोंकी कलि संज्ञा है । तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ५ । ११ । १ में कहा है, कि–"ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः ।– जो चारका फाँसा होता है वह कृत कहलाता है और पाँचका कलि कहलाता है" ॥

नवमी ॥

घृ॒तम॑प्स॒राभ्यो॑ व॒ह त्वम॑ग्ने पां॒सून॒क्षेभ्यः॒ सिक॑ता अ॒पश्च॑ ।
य॒था॒भा॒गं ह॒व्यदा॑तिं जु॒षा॒णा मद॑न्ति दे॒वा उ॒भया॑नि
ह॒व्या ॥ २ ॥

घृ॒तम् । अ॒प्स॒राभ्यः । व॒ह॒ । त्वम् । अ॒ग्ने॒ । पां॒सून् । अ॒क्षेभ्यः॑ ।
सिक॑ताः । अ॒पः । च॒ ।
य॒था॒ऽभा॒गम् । ह॒व्यऽदा॑तिम् । जु॒षा॒णाः । मद॑न्ति । दे॒वाः ।
उ॒भया॑नि । ह॒व्या ॥ २ ॥

हे अग्ने त्वम् अप्सराभ्यः । अप्सु सरन्त्यश्चरन्त्यः अन्तरिक्षचारिण्यो वा । ताभ्यः तदर्थं घृतम् अक्षाभ्यञ्जनसाधनम् आज्यं वह प्रापय । अस्माकं जयार्थम् इति शेषः । तथा अक्षेभ्यः । अक्षशब्देन तैर्दीव्यन्तः प्रतिकितवा उच्यन्ते । अक्षहस्तेभ्यः प्रतिकितवेभ्यः पांसून् सूक्ष्मान् भूरजःकणान् सिकताः शर्कराः अपः उदकानि च प्रापय । यथा तेषां पराजयो भवति तथा तन्मुखेषु पांस्वादीन् प्रक्षिपेत्यर्थः ॥ किं च यथाभागम् भागम् अनतिक्रम्य स्वीयस्वीयभागानुसारेण हव्यदातिम् हविषः प्रदानं जुषाणाः सेवमाना देवाः इन्द्राद्या उभयानि द्विप्रकाराणि औषधपाशुकभेदेन सोमाज्यभेदेन श्रौतस्मार्तकर्मभेदेन वा द्विविधानि हव्या हव्यानि हवींषि । आस्वाद्येति शेषः । मदन्ति माद्यन्ति तृप्ता भवन्ति । ते देवा अपि अस्माकं द्यूतजयं कुर्वन्तु इति प्रार्थना ॥

हे अग्ने ! आप अन्तरिक्षमें विचरण करने वाली अप्सराओंके लिये (फाँसोंको स्वच्छ करने वाले) घृतको पहुँचाइये। और

फाँसोंसे खेलने वाले हमारे प्रतिद्वन्द्वी जुआरियोंके निमित्त जल और रेता धूल दीजिये (अर्थात् उनका पराजय करनेके लिये उनके मुखमें धूल आदि झोंक दीजिये) और अपने २ भागके अनुसार हव्यदानका सेवन करते हुए इन्द्र आदि देवता औषध पाशुक, सोम और घृत, तथा श्रौत और स्मार्त इन दो प्रकारकी हवियोंका आस्वादन कर तृप्त होवें (वे भी हमको द्यूतमें विजय देवें, यही प्रार्थना है) ॥ २ ॥

दशमी ॥

अ॒प्स॒रसः॑ स॒ध॒मादं॑ मदन्ति ह॒वि॒र्धान॑म॒न्त॒रा सूर्यं॑ च ।
ता मे॒ हस्तौ॒ सं सृ॑जन्तु घृ॒तेन॑ स॒पत्नं॑ मे कित॒वं
रन्धयन्तु ॥ ३ ॥ ॥

अ॒प्स॒रसः॑ । स॒ध॒ऽमाद॑म् । म॒द॒न्ति॒ । ह॒वि॒ःऽधान॑म् । अ॒न्त॒रा ।
सूर्य॑म् । च॒ ।
ताः । मे॒ । हस्तौ॑ । सम् । सृ॒ज॒न्तु॒ । घृ॒तेन॑ । स॒ऽपत्न॑म् । मे॒ ।
कि॒त॒वम् । र॒न्ध॒य॒न्तु॒ ॥ ३ ॥

अप्सरसः द्यूतक्रियादेवताः सधमादम् सह संभूय मादः मादनं यस्मिन् मदनकर्मणि तत् । ❀माद्यतेर्घञ् व्यत्ययेन ।“सधमादस्थयोश्छन्दसि” इति सहस्य सधादेशः ❀ । सहमदनं यथा भवति तथा मदन्ति माद्यन्ति । कुत्रेति तद् उच्यते । हविर्धानम् हविर्धीयते अत्रेति हविर्धानो भूलोकः । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । तं सूर्यम् सूर्याधिष्ठितं द्युलोकं तं च अन्तरा । ❀“अन्तरान्तरेण युक्ते” इति द्वितीया ❀ । द्यावापृथिव्योर्मध्ये अन्तरिक्षलोके माद्यन्ति । ताः अप्सरसः मे मम हस्तौ देवनसाधनौ पाणी घृतेन

घृतवत् सारभूतेन जयलक्षणेन फलेन सं सृजन्तु संयोजयन्तु । तथा सपत्नम् प्रतिदीव्यन्तं कितवं मे मम रन्धयन्तु । ❀ रध्यतिर्वशगमने इति यास्कः [नि० १०. ४०] ❀ । वशयन्तु स्वाधीनं कुर्वन्तु । ❀ रध हिंसासंराध्योः । णिचि "रधिजभोरचि" इति नुम् आगमः ❀ ॥

[इति] दशमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

द्यूतक्रियाकी देवता अप्सरायें (जिसमें एकत्रित होकर मद होता है उस) हविःधान अर्थात् भूलोकमें, सूर्याधिष्ठित द्युलोकमें और इन दोनोंके बीचके लोक अन्तरिक्षलोकमें मदमें भरी रहती हैं, वे अप्सरायें मेरे खेलनेके हाथोंको घृतकी समान सारमय जयरूप फलसे संयुक्त करें और खेलते हुए प्रतिपक्षी जुआरीको मेरे वशमें करें ॥ ३ ॥

दशम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥

"आदिनवं प्रतिदीव्ने" इति चतुर्ऋचस्य द्यूतजयकर्मणि "इदम् उग्राय" इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

परसेनाजयार्थम् "अग्न इन्द्रश्च" इति द्वाभ्यां नवरथं संपात्य अभिमन्त्र्य ससारथिं राजानम् आरोहयेत् । तद् उक्तं कौशिकेन । "अग्न इन्द्रः [७. ११५] दिशश्चतस्रः [८. ८. २२] इति नवं रथं राजानं ससारथिम् आस्थापयति" इति [कौ० २. ६] ॥

तथा सर्वफलकामः "अग्न इन्द्रश्च" इति तिसृभिः अग्नीन्द्रौ यजेत उपतिष्ठेत वा । "अग्न इन्द्रश्चेति मन्त्रोक्तान् सर्वकामः" इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

आग्रयणेष्टौ "अग्न इन्द्रश्च" इति आग्नेन्द्रपुरोडाशयागम् अनुमन्त्रयते । "अग्न इन्द्र इत्यग्नेन्द्रम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० २. ४] ॥

वृषोत्सर्गे "इन्द्रस्य कुक्षिः" इत्यनया वृषभं संपात्य अभिमन्त्र्य

विसृजेत् । "इन्द्रस्य कुक्षिः [७. ११६] साहस्रः [६. ४] इत्यृषभं संपातवन्तम् अतिसृजति" इति कौशिकसूत्रात् [कौ० ३.७]॥

अग्निष्टोमे प्रातःसवने सोमसहितं पूतभृत्पात्रम् "इन्द्रस्य कुक्षिः" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "इन्द्रस्य कुक्षिरित्यासिक्ते सोमे पूतभृतम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ७] ॥

सर्वव्याधिभैषज्यार्थं "शुम्भनी" इति द्वृचेन उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य मौञ्जैः पाशैः संधिषु बद्धं व्याधितं दर्भपिंजूलीभिः आस्रावयेद् अवसिञ्चेद् वा । सूत्रितं हि । "शुम्भनी इति मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा पिंजूलीभिरास्रावयत्यवसिञ्चति" इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा "शुम्भनी" इत्यस्य अंहोलिङ्गगणे पाठात् "ओषधिवनस्पतीनाम् अनूक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः" इत्यादौ [कौ० ४. ८] विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

विवाहे "शुम्भनी" इत्यनया आज्यं हुत्वा वरवध्वोर्मूर्ध्नोः संपातान् आनयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनयर्चा वरवध्वोरञ्जल्योः उदपात्रोदकं निनयेत् ॥

सूत्रितं हि । "तुभ्यम् अग्रे [१४. २] शुम्भनी [७. ११७] अग्निर्जनवित् इति मूर्ध्नोः संपातान् आनयति । उदपात्र उत्तरान् शुम्भन्याञ्जल्योर्निनयति" इति [कौ० १०. ४] ॥

'आदिनवं प्रतिदीव्ने' इस चतुऋर्चका द्यूतजयकर्ममें 'इदं उग्राय' के साथ विनियोग कह दिया है ।

शत्रुकी सेनाको जीतनेके लिये 'अग्न इन्द्रश्च' इन दो ऋचाओं से नवीन रथको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके सारथिसहित राजाको उस पर चढ़ावे । इसी बातको कौशिकसूत्र २।६

में कहा है, कि–'अग्न इन्द्रः (७।११५) दिशश्चतस्रः (८।८।२२) इति नवं रथं राजानं ससारथिं आस्थापयति' ॥

तथा सर्वफलकाम "अग्न इन्द्रश्च" इन तीन ऋचाओंसे अग्नि और इन्द्रदेवका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण है, कि–"अग्न इन्द्रश्चेति मन्त्रोक्तान् सर्वफलकामः" ॥

आग्रयणेष्टिमें "अग्न इन्द्रश्च" से आग्नेन्द्रपुरोडाशयागका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ४ का प्रमाण है, कि–' अग्न इन्द्र इत्याग्नेयम्" ॥

वृषोत्सर्गमें 'इन्द्रस्य कुक्षिः' ऋचासे वृषभको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके छोड़ देय इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ का प्रमाण है, कि–'इन्द्रस्य कुक्षिः (७ । ११६ , साहस्रः (६ । ४) इत्यृषभं सम्पातवन्तं अतिसृजति' ॥

अग्निष्टोमके प्रातःसवनमें सोमसहित पूतभृत्पात्रका 'इन्द्रस्य कुक्षिः' से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ७ का प्रमाण है, कि–'इन्द्रस्य कुक्षिरित्यासक्ते सोमे पूतभृतम्' ॥

सर्वव्याधिचिकित्साके लिये "शुम्भनी" ऋचसे जलपूर्ण घट को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके रोगीको मूँजके पाशोंसे जोड़ों पर बाँधे फिर दर्भकी मुट्ठीसे आसावित वा अवसिञ्चित करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ४ । ८ का प्रमाण भी है, कि–'शुम्भनी इति मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिरासावयत्यवसिञ्चति" ॥

तथा "शुम्भनी" ऋचाका अंहोलिंगगणमें पाठ होनेसे 'औषधिवनस्पतीनां अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अंहोलिंगाभिः' इत्यादिमें विनियोग करना चाहिये।

विवाहमें "शुम्भनी" ऋचासे घृतकी आहुति देकर वर और वधूके मस्तक पर सम्पातोंको लावे।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस ऋचासे वर और वधूके हाथमें जलपूर्णपात्रके जलको डाले ।

इस विषयमें कौशिकसूत्र १० । ४ का प्रमाण भी है, कि— 'तुभ्यं अग्ने १४ । २ शुम्भनी ७ । ११७ अग्निर्जनवित् इति मूर्ध्नोः सम्पातान् आनयति । उदपात्र उत्तरान् शुंभन्याञ्जल्योर्निनयति'

तत्र प्रथमा ॥

आ॒दि॒न॒वं प्र॑ति॒दीव्ने॑ घृ॒तेना॒स्माँ अ॒भि क्ष॑र ।
वृ॒क्षमि॑वा॒शन्या॑ ज॒हि यो अ॒स्मान् प्र॑ति॒दीव्य॑ति ४

आ॒दि॒न॒वम् । प्र॒ति॒ऽदीव्ने॑ । घृ॒तेन॑ । अ॒स्मान् । अ॒भि । क्ष॒र॒ ।
वृ॒क्षम्ऽइ॑व । अ॒शन्या॑ । ज॒हि । यः । अ॒स्मान् । प्र॒ति॒ऽदीव्य॑ति ४

प्रतिदीव्ने प्रतिकूलम् दीव्यते प्रतिकितवाय । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀ । प्रतिदिवानं जेतुम् आदिनवम् आदीव्यामि अक्षैः आदीवनं करोमि । ❀ आङ्पूर्वाद् दीव्यतेश्छान्दसे लङि व्यत्ययेन श्नः । "लोपो व्योर्वलि" इति वकारलोपः । "तस्थस्थमिपाम्०" इति अम् आदेशो गुणश्च । यद्वा । लङि व्यत्ययेन श्नम् । प्रतिपूर्वाद् दीव्यतेः कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः इति [उ० १..१५४·] कनिन् प्रत्ययः । चतुर्थ्येकवचने अल्लोपे कृते "हलि च" इति दीर्घः ❀ । अस्मान् आदीव्यतः घृतेन घृतवत्सारभूतेन जयलक्षणेन फलेन अभि क्षर संयोजय । देवनक्रियाभिमानी देवः संबोध्यते । यः कितवः अस्मान् प्रतिदीव्यति जेतुं प्रतिकूलं द्यूतं करोति तम् अशन्या विद्युता वृक्षम् शुष्कं तरुमिव जहि तिरस्कुरु । ❀ "हन्तेर्जः" इति जादेशः ॥

(हे देवनक्रियाके अभिमानी देव ! मैं प्रतिपक्षी जुआरीको जीतनेके लिये खेलता हूँ, मुझको आप घृतकी समान सारभूत

जयरूप फलसे संयुक्त करिये । जो जुआरी हमसे खेलना चाहता है उसको आप बिजलीसे मारे हुए वृक्षकी समान तिरस्कृत कर डालिये ॥ ४ ॥

द्वितीया ॥

यो नो॑ द्यु॒वे धन॑मि॒दं च॒का॒र यो अ॒क्षा॒णां॑ ग्लह॑नं॒

शेष॑णं च ।

स नो॑ दे॒वो ह॒विरि॒दं जु॑षा॒णो ग॑न्ध॒र्वे॑भिः सध॒मादं॑ मदेम

यः । नः॒ । द्यु॒वे । धन॑म् । इ॒दम् । च॒कार॑ । यः । अ॒क्षाणा॑म् ।

ग्लह॑नम् । शेष॑णम् । च॒ ।

सः । नः॒ । दे॒वः । ह॒विः । इ॒दम् । जु॒षा॒णः॑ । ग॒न्ध॒र्वे॑भिः । स॒ध॒ऽ-

मा॑दम् । म॒दे॒म॒ ॥ ५ ॥

यो देवः नः अस्माकं द्युवे द्यूताय तदर्थम् । यद्वा द्युवे दीव्यते नः । ❀ वचनव्यत्ययः ❀ । मह्यम् । अथ वा नः अस्मदीयाय द्युवे दीव्यते पुरुषाय इदं प्रतिक्कितवसंबन्धि धनं चकार जयेन संपादितवान् । ❀ द्युव इति । दीव्यतेः कर्तरि भावे वा क्विप् । "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" इति वकारस्य ऊठ् । यण् आदेशः ❀। यश्च देवः अक्षाणां परकीयानां ग्लहनम् ग्रहणं स्वकीयैरक्षैर्जित्वा स्वीकरणं शेषणम् स्वीयानाम् अक्षाणां जयाहस्थाने अवशेषणं च कृतवान् । ❀ग्लहनम् इति । ग्लहु ग्लहे इति धात्वन्तरम् अन्यैर्भूवादौ पठ्यते । तस्मात् ल्युट् । गृह्णातेर्वा । रेफस्य लत्वं छान्दसम् ❀ । स देवः द्यूताभिमानी नः अस्मदीयम् इदं हविः जुषाणः सेवमानो भवतु । वयं च गन्धर्वेभिः गन्धर्वैः अक्षाधिष्ठायकैः सधमादम् सहमदनं यथा तथा मदेम हृष्यास्म । ❀ माद्यतेः "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ ॥

जिन देवताने हमारे जुएके लिये इस प्रतिपक्षीके धनको जय से सम्पादित किया है और जिन देवताने शत्रुओंके अक्षोंको जितवा कर दिलाया है और शत्रुओंके फाँसोंको निःशेष कर दिया है, यह द्यूताभिमानी देवता हमारी हविका सेवन करें और हम अक्षोंके अधिष्ठायक गन्धर्वोंके साथ आनन्द पावें ॥ ५ ॥

तृतीया ॥

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्य१क्षाः।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्

सम्ऽवसवः । इति । वः । नामऽधेयम् । उग्रम्ऽपश्याः । राष्ट्रऽभृतः । हि । अक्षाः ।

तेभ्यः । वः । इन्दवः । हविषा । विधेम । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ६ ॥

हे गन्धर्वाः अक्षा वा यूयं संवसव इति संप्राप्तधनाः संप्रापितधना यतो भवथ अतो वः युष्माकं संवसव इति नामधेयं भवति। हि यस्माद् उग्रंपश्या। ❀ षष्ठ्या लुक् ❀। उग्रंपश्यायाः राष्ट्रभृतः। इदं द्वयम् अप्सरोविशेषनामधेयम्। तयोः संबन्धिनो भवन्ति अक्षाः। अक्षाणाम् एतत्संबन्धित्वं तैत्तिरीये श्रूयते । "उग्रंपश्ये राष्ट्रभृच्चाचराणि यद् अक्षवृत्तम् अनुवृत्तम् एतत्" इति [तै० आ० २. ४. १]। तेभ्यः गन्धर्वाप्सरोभ्यः तदधिष्ठितेभ्यः अक्षेभ्यो वा वः युष्मभ्यं युष्मदर्थम् इन्दवः। ❀ लुप्तमत्वर्थीयः ❀। इन्दुमन्तः सोमवन्तः सोमोपलक्षितहविर्युक्ता वयं हविषा उचितेन विधेम परिचरेम। ❀ विध विधाने तौदादिकः ❀। अनन्तरं वयं दीव्यन्तः रयीणाम् धनानां पतयः स्वामिनः स्याम भवेम। द्यूते प्रतिकितवजयेन धनवन्तः स्यामेत्यर्थः ॥

हे गन्धर्वों ! वा अक्षों ! धनको प्राप्त कराने वाले होनेसे आपका संवसव नाम है, यह अक्ष उग्रंपश्या और राष्ट्रभृत् नामक अप्सराओं के सम्बन्धी हैं ‡ उन गंधर्व अप्सराओंकी वा उनसे अधिष्ठित अक्षोंकी सोम वाली हविको लिये हुए हम सेवा करते हैं, तदनन्तर खेलते हुए हम धनके स्वामी होवें ॥ ६ ॥

चतुर्थी ॥

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥७॥

देवान् । यत् । नाथितः । हुवे । ब्रह्मऽचर्यम् । यत् । ऊषिम ।

अक्षान् । यत् । बभ्रून् । आऽलभे । ते । नः । मृडन्तु । ईदृशे ७

नाथितः उपतप्तः । ❀ नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु । अस्मात् निष्ठा ❀ । देवान् अग्न्यादीन् हुवे आह्वयामि धनलाभार्थम् इति यत् । ❀ ह्वयतेर्व्यत्ययेन शपः शः ❀ । ब्रह्मचर्यम् वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचारिनियमम् ऊषिम ऊषितवन्त इति यत् । ❀ वसेर्निवासार्थात् लिटि उत्तमबहुवचने धातोरभ्यासस्य च संप्रसारणे "शासिवसिघसीनां च" इति षत्वे रूपम् ❀ । बभ्रून् बभ्रुवर्णान् बभ्रुणा अक्षाभिमानिना देवेन अधिष्ठितान् वा अक्षान् देवनसाधनभूतान् आलभे देवितुं स्पृशामीति यत् । ❀ आङ्पूर्वो लभिः स्पर्शार्थः । तस्माद्व वर्तमाने लटि उत्तमे रूपम् ❀ । तेन कारणेन ते देवादयः ईदृशे जयलक्षणे फले नः अस्मान् मृडन्तु सुखयन्तु ॥

---

‡ तैत्तिरीय आरण्यक २।४।१ में अक्षोंका अप्सराओंसे सम्बन्ध सुना जाता है, कि—'उग्रंपश्ये राष्ट्रभृच्चराणि यद्व अक्षवृत्तं अनुवृत्तं एतत्' ॥

उपतप्त हुआ मैं धनके लाभके लिये अग्नि आदि देवताओंका आह्वान करता हूँ । हमने जो ब्रह्मचर्य किया है और हम बभ्रु-देवतासे अधिष्ठित पाशोंको छू रहे हैं इस कारण वे देवता आदि ऐसे जयलक्षणरूपफलमें हमको सुख देवें ॥ ७ ॥

पञ्चमी ॥

अ॒ग्न इन्द्र॑श्च दा॒शुषे॑ ह॒तो वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति । उ॒भा हि वृ॑त्र॒-
हन्त॑मा ॥ १ ॥

अग्ने॑ । इन्द्र॑ः । च॒ । दा॒शुषे॑ । ह॒तः । वृ॒त्राणि॑ । अ॒प्र॒ति ॥ उ॒भा ।
हि । वृ॒त्र॒हन्ऽत॑मा ॥ १ ॥

हे अग्ने इन्द्रश्च युवां दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तदर्थं वृत्राणि आवरकाणि शत्रुरूपाणि दुरितानि अप्रति अप्रतिपक्षम् । निःशेषम् इत्यर्थः । हथः हिंस्थः । ❀ हन्तेर्वर्तमाने लटि मध्यमद्विवचने रूपम् ❀ । हि यस्माद् उभा उभौ अग्नीन्द्रौ वृत्रहन्तमा वृत्रहन्तमौ अतिशयेन वृत्रं हतवन्तौ । ❀ "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु०" इति क्विप् । तदन्तात् आतिशायनिकस्तमप् । "नाद् घस्य" इति नुडागमः ❀ ॥

हे अग्ने ! और हे इन्द्रदेव ! आप हवि देने वाले यजमानके आवरक शत्रुरूप पापोंको निःशेषरूपसे नष्ट करिये, क्योंकि— आप दोनों वृत्रको मारने वाले ही हैं ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

या॒भ्याम॑जय॒न्त्स्व॑१॒रग्र॑ ए॒व या॑वा॒तस्थतु॒र्भुव॑नानि॒ विश्वा॑
प्र॒च॑र्षणी॒ वृष॑णा॒ वज्र॑बाहू अ॒ग्निमिन्द्रं॑ वृ॒त्रहणा॑ हु॒वेहम्

या॑भ्याम् । अज॑यन् । स्व॒॑ः । अग्रे॑ । ए॒व । यौ । आ॒ऽत॒स्थतुः॑ ।

भुव॑नानि । विश्वा॑ ।

प्र॑च॒र्षणी इ॒ति प्र॑ऽच॒र्षणी । वृष॑णा । वज्र॑बाहू॒ इति॒ वज्र॑ऽबाहू । अ॒ग्निम् ।

इन्द्र॑म् । वृ॒त्र॒ऽहना॑ । हु॒वे॒ । अ॒हम् ॥ २ ॥

अग्रे पूर्वं याभ्याम् अग्नीन्द्राभ्यामेव स्वः स्वर्गम् अजयन् स्वाधीनीकृतवन्तो देवाः । यौ च अग्नीन्द्रौ विश्वा विश्वानि भुवनानि भवन्ति भूतजातानि आतस्थतुः स्वमहिम्ना आक्रान्तवन्तौ । व्याप्तवन्तौ यौ च प्रचर्षणी प्रकर्षेण द्रष्टारौ । स्वोपासकसंबन्धिकर्मफलस्येति शेषः । यद्वा चर्षणय इति मनुष्यनाम । प्रकृष्टाश्चर्षणयो मनुष्या ययोर्यष्टृत्वेन सन्तीति तौ । वृषणा वृषणौ वर्षितारौ अभिमतफलस्य । वज्रबाहू । वज्रो बाह्वोर्ययोरिति व्यधिकरणबहुव्रीहिः । वज्रः वर्जकम् आयुधम् । आयुधपाणी अत एव वृत्रहणा वृत्रहणौ वृत्रं हत-वन्तौ । तादृशम् अग्निम् इन्द्रं च अहं जयकामः हुवे आह्वयामि ॥

पहिले जिन दोनों अग्नि और इन्द्रके द्वारा ही देवताओंने स्वर्गको अपने वशमें किया था और जो इन्द्र और अग्निदेवता सकल भूतोंमें अपनी महिमासे व्याप्त होगए हैं और जो उपासक के कर्मफलको भली प्रकार देखने वाले हैं-वा अनेक पुरुष जिन का पूजन करते हैं ऐसे अभिमत फलकी वर्षा करने वाले, हाथमें वज्र धारण करने वाले वृत्रके नाशक इन्द्र और अग्निका विजयाभिलाषी मैं आह्वान करता हूँ ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

उप॑ त्वा दे॒वो अ॑ग्रभीच्चम॒सेन॒ बृह॒स्पतिः॑ ।
इन्द्र॑ गी॒र्भिर्न॒ आ वि॑श॒ यज॑मानाय सुन्व॒ते ॥ ३ ॥

उप । त्वा । देवः । अग्रभीत् । चमसेन । बृहस्पतिः ।

इन्द्र । गीःऽभिः । नः । आ । विश । यजमानाय । सुन्वते ॥३॥

हे इन्द्र त्वा त्वां बृहस्पतिः बृहतां महतां देवानां पतिः हिताचरणेन पालयिता एतन्नामा देवः चमसेन । चमन्ति अदन्ति अत्र सोमम् इति चमसः सोमपात्रम् । तेन उपाग्रभीत् उपगृहीतवान् । अन्यत्र यथा न गच्छसि तथा स्वाधीनं कृतवान् इत्यर्थः । ❀ ग्रहेः लुङ् । "हृग्रहोर्भः०" ❀ । अतो बृहस्पतिपरिग्रहात् हे इन्द्र सुन्वते सोमम् अभिषुण्वते यजमानाय । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀ । यजमानं धनादिना पोषयितुं नः प्रयोक्तॄणाम् अस्माकं गीर्भिः स्तुतिभिः आ विश । स्तूयमान आगच्छेत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! आपको बड़े २ देवताओंका हिताचरण कर उनका पालन करने वाले बृहस्पति नामक देवने सोमपात्रके द्वारा ग्रहण कर लिया है अर्थात् आप अन्यत्र न जा सकें इस प्रकार आपको स्वाधीन कर लिया है । अतः बृहस्पतिके पकड़ने से हे इन्द्र ! आप सोमका अभिषव करने वाले यजमानको धन आदिसे पुष्ट करनेके लिये हमारी स्तुतियोंसे प्रवेश करिये अर्थात् स्तुति पाते हुए आइये ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधानं आत्मा देवानामुत मानुषाणाम् ।
इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम्

इन्द्रस्य । कुक्षिः । असि । सोमऽधानः । आत्मा । देवानाम् ।

उत । मानुषाणाम् ।

इह । प्रऽजाः । जनय । याः । ते । आसु । याः । अन्यत्र । इह । ताः । ते । रमन्ताम् ॥ १ ॥

अत्र अतिसृज्यमानो वृषभः पूतभृत्पात्रं वा संबोध्यते । हे वृषभ पूतभृत्कलश वा त्वं सोमधानः । सोमो धीयते निधीयतेऽत्रेति सोमधानः । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । सोमाधारभूतः इन्द्रस्य कुक्षिः जठरम् असि । तथा । उतशब्दः चार्थे । देवानां मानुषाणां च आत्मा शरीरम् असि । किं च इह लोके प्रजाः पुत्रादिका जनय उत्पादय । आसु पुरोवर्तिनीषु गोषु यजमानादिरूपासु वा विक्षु ते त्वदर्थं या विद्यन्ते अन्यत्र अन्यस्मिन् देशे या गावो यजमानादिरूपा वा प्रजा विद्यन्ते ताः प्रजा इह अस्मिन् लोके ते त्वदर्थं रमन्ताम् सुखेन विहरन्तु । यद्वा इह आसु गोषु प्रजासु वा प्रजाः जनय यास्त्वदर्थम् आसु बभूवुः । तथा अन्यत्र च या भवन्ति ता इह अस्मिन् प्रदेशे त्वदर्थं रमन्ताम् । ❀आसु । "ऊडिदम्०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । यद्वा । अस्तेर्लेटि प्रथमपुरुषबहुवचने उसि अन्त्यलोपश्छान्दसः । भूभावो व्यत्ययेन न प्रवर्तते । यद्वृत्तयोगाद् अनिघाते प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । अस गतिदीप्त्यादानेषु । अस्माद् वा लिट् । सुबन्तपक्षे तिङन्तपक्षे च स्वरः समानः ❀ ॥

(यहाँ उत्सृज्यमान वृषभ वा पूतभृत् पात्रको सम्बोधित किया गया है, कि–) हे वृषभ ! वा पूतभृत्कलश ! आप सोमको धारण करने वाले हैं, मनुष्योंके और देवताओंके आत्मा हैं, इस लोकमें आप प्रजाओंको उत्पन्न करिये, जो इन सामने खड़ी हुई गौओंमें वा यजमानादिरूप प्रजाओंमें प्रजाएँ हैं वा अन्यत्र हैं वे आपके लिये सुखसे विहार करें ॥ १ ॥

नवमी ॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते ।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

शुम्भनी इति । द्यावापृथिवी इति । अन्तिसुम्ने इत्यन्तिऽसुम्ने ।
महिव्रते इति महिऽव्रते ।

आपः । सप्त । सुस्रुवुः । देवीः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः १

शुम्भनी शुम्भन्यौ । ❀ शुभ शुम्भ शोभार्थे । अस्मात् ल्युट् ❀ । सर्वस्य शोभाकारिण्यौ । द्यावापृथिव्योर्मध्ये विश्वस्यावस्थानात् । अन्तःस्वप्ने । स्वपन्तीति स्वप्नाः अज्ञानावृता जनाः । ❀ "स्वपो नन्" इति नन् प्रत्ययः कर्तरि व्यत्ययेन भवति ❀ । स्वप्नाः अचेतनाश्चेतनाश्च ययोरन्तः मध्ये वर्तन्ते तादृश्यौ महिव्रते महद्व्रतं कर्म ययोस्ते द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ । वर्तेते इति शेषः । तथा सप्त सर्पणस्वभावाः सप्तसंख्याका वा देवीः देव्यः द्योतमाना आपः सुस्रुवुः स्रवन्ति । ❀ स्रु गतौ ❀ । ताः द्यावापृथिव्यौ आपश्च अंहसः पापाद् नः अस्मान् मुञ्चन्तु मोचयन्तु पृथक् कुर्वन्तु ॥

द्यावापृथिवी परमशोभायुक्त हैं, उनके मध्यमें चेतन और अचेतन अज्ञानवृत व्यक्ति रहते हैं, इनका कर्म विशाल है, और दमकते हुए सात जल भी सरकते रहते हैं । ये द्यावापृथिवी और जल हमको पापसे मुक्त करें ॥ १ ॥

दशमी ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् २

मु॒ञ्च॑न्तु । मा॒ । श॒प॒थ्या॑त् । अथो॒ इति॑ । व॒रु॒ण्या॑त् । उ॒त ।

अथो॒ इति॑ य॒मस्य॑ । पड्वी॑शात् । विश्व॑स्मात् । दे॒व॒ऽकि॒ल्बि॒षात् २

"मुञ्चन्तु मा शपथ्यात्" इत्येषा पूर्वमेव व्याख्याता [६. ९६. २]

[इति] दशमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जल मुझको शपथजनित ब्राह्मणके आक्रोशरूप पापसे अलग रक्खें, और झूठ बोलनेसे भोगने पड़ने वाले वरुणके अधिकार के पापसे भी मुझको अलग करें और यमराजके अधिकारके पादबन्धनसे भी मुझको मुक्त रक्खें और क्या सब ही देवसंबन्धी पापोंसे मुझको मुक्त रक्खें ॥

दशम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४३२) ॥

स्त्रीपुरुषयोः परस्परविद्वेषणार्थं बाणापर्ण्याख्यौषधिचूर्णं लोहितायाजायाः क्षीरद्रप्सेन संमिश्र्य "तृष्टिके" इति द्व्यृचेन अभिमन्त्र्य शय्यायां परिकिरेत् ॥

तथा दौर्भाग्यकरणार्थम् "आ ते ददे" इत्यनया मन्त्रोक्तान् अवयवान् स्पृशन् अभिमन्त्रयेत विद्वेषिणं दृष्ट्वा जपेद्वा ॥

सूत्रितं हि । "तृष्टिके [७. ११८] इति बाणापर्णीम् । आ ते ददे [७. ११९] इति मन्त्रोक्तानि संस्पृशति । अपि चान्वाह" इति [कौ० ४. १२] ॥

रक्षोग्रहादिभैषज्यार्थं "प्रेतो यन्तु" इत्यनया आज्यसमित्पुरोडाशादिशष्कुल्यन्तद्रव्याणां त्रयोदशानाम् अन्यतमं जुहुयात् । "प्राग्नये [६. ३४] प्रेतः [७. ११९. २] इत्युपदधीत" इति हि [कौ० ४. ७] सूत्रम् ॥

नैर्ऋतकर्मसु चतुर्थे कर्मणि काकस्य जङ्घायां सपुरोडाशं लोहकण्टकं बद्ध्वा "प्र पतेतः" इत्यनया तं काकं विसृजेत् ॥

पञ्चमे नैर्ऋतकर्मणि सूत्रोक्तलक्षणैर्वस्त्रैः परिधानाच्छादनशिरो-

वेष्टनानि कर्ता कृत्वा "या मा लक्ष्मीः" इत्यनया लोहितखण्डसहितम् उष्णीषम् उदके प्रक्षिपेत् ॥

"एकशतं लक्ष्म्यः" इत्यनया आच्छादनवस्त्रं लोहखण्डेन सह अप्सु प्रक्षिपेत् ॥

"एता एनाः" इत्यृचा परिधानीयं लोहेन सह अप्सु प्रक्षिपेत् ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । "कृष्णचैलपरिहितः । निर्ऋतिकर्माणि प्रयुङ्क्ते" इति प्रक्रम्य "कृष्णशकुनेः सव्यजङ्घायाम् अङ्कम् अनुग्रथ्य अङ्के पुरोडाशं प्र पतेत इत्यनावृतं प्रपातयति । नीलं संधाय लोहितम् आच्छाद्य शुक्लं परिणह्य द्वितीययोष्णीषम् अङ्केनोपसाद्य सव्येन सहाङ्केन अवाङ् अप्सु प्रविध्यति । तृतीययाच्छन्नं चतुर्थ्या संवीतम्" इति [कौ० ३. १] ॥

काम्यकर्मसु विघ्नरूपदुःस्वप्नदर्शनदोषपरिहारार्थं "प्र पतेतः पापि लक्ष्मि" इति चतसृभिर्दुःस्वप्नदर्शनम् अभिषिञ्चेत् । "चत्वारः खलु विनायका भवन्ति" इति [शा० क० ४] प्रक्रम्य शान्तिकल्पेऽभिहितम् । "ताभिष्ट्वाम् अभिषिञ्चामि पावमानीः पुनन्तु त्वा । प्र-पतेतः पापि लक्ष्मीति चतस्रः" इति [शा० क० ६. १६] ॥

सर्वज्वरभैषज्यार्थं सूत्रोक्तप्रकारेण मण्डूकं बद्ध्वा खट्वाया अधः संस्थाप्य तस्या उपरि स्थितं व्याधितं "नमो रूराय" इति ऋचाभिमन्त्रितोदकेन अवसिञ्चेत् । सूत्रितं हि । "नमो रूरायेति शयने निवेश्य इषीकाचितं मण्डूकं नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्या सकृत्तं बद्ध्वा" इति [कौ० ४. ८] ॥

स्वस्त्ययनकामः "आ मन्द्रैः" इति द्व्यृचेन इन्द्रस्य यागम् उपस्थानं वा कुर्यात् । "त्यमू षु [७. ९०] त्रातारम् [७. ९१] आ मन्द्रैः [७. १२२] इति स्वस्त्ययनकामः" इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

शवसंस्कारानन्तरं कर्ता प्रतिदिनं स्वस्त्ययनार्थम् "आ मन्द्रैः" इति जपेत् ॥

तथा अग्निष्टोमे हारियोजनग्रहहोमानुमन्त्रणम् "आ मन्द्रैः" इति कुर्यात् । "हारियोजनहोमम् आ मन्द्रैः" इति वैतानसूत्रात् [वै० ३. १३] ॥

परसेनात्रासनार्थं "मर्माणि ते" इत्यनया कवचम् अभिमन्त्र्य धारणार्थं राज्ञे दद्यात् । "मर्माणि त इति क्षत्रियं संनाहयति" इति हि [कौ० २. ७] सूत्रम् ॥

महाव्रते दुन्दुभ्याहननानन्तरं "मर्माणि ते" इति राजानं संनाहयेत् । उक्तं वैताने । "तीर्थदेशे राजानम् अन्यं वा मर्माणि त इति संनद्धम्" इति [वै० ६. ४] ॥

स्त्री पुरुषमें परस्पर विद्वेष करानेके लिये बाणापर्णी नामक औषधके चूर्णको लाल बकरीके पतले दहीमें मिलाकर "तृष्टिके" ऋचसे अभिमन्त्रित करके शय्यामें बखेर देय ।

तथा दौर्भाग्यकरणके लिये "आ ते ददे" ऋचासे मन्त्रमें कहे हुए अवयवोंका स्पर्श करके अभिमन्त्रण करे वा विद्वेषीको देख कर जप करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"तृष्टिके (७।११८) इति बाणापर्णीम् । आ ते ददे (७ । ११९) इति मन्त्रोक्तानि संस्पृशति । अपि चान्वाह" (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

राक्षस ग्रह आदिकी चिकित्साके लिये 'प्रेतो यन्तु' ऋचासे घृत समिधा पुरोडाश आदि तेरह द्रव्योंमेंसे एक द्रव्यकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ४ । ७ का प्रमाण भी है, कि-"प्राग्नये (६ । ३४] प्रेतः (७ । ११९ । २) इत्युपदधीत" ॥

नैर्ऋतकर्मके चतुर्थ कर्ममें काककी जङ्घामें पुरोडाशसहित लोहकण्टकको बाँध कर "प्र पतेतः" ऋचासे कौएको छोड देय ।

पञ्चम नैर्ऋतकर्ममें सूत्रमें कहे हुए वस्त्रोंसे कर्ता परिधान (बिछौना) आच्छादन (ओढ़ना , शिरोवेष्टन (पगड़ी) करके 'या मा लक्ष्मीः' ऋचासे लोहखण्डसहित पगड़ीको जलमें फेंकदेय ।

"एकशतं लक्ष्म्यः" ऋचासे आच्छादनवस्त्रको लोहखण्डके साथ जलमें फेंक देय ।

"एता एनाः" ऋचासे परिधानीयवस्त्रको लोहेके साथ जलमें फेंक देय ।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—"कृष्णचैलपरिहितः । निर्ऋतिकर्माणि प्रयुङ्क्ते" इति प्रक्रम्य 'कृष्णशकुनेः सव्यजङ्घायां अङ्कम् अनुग्रथ्य अंके पुरोडाशं प्र पतेत इत्यनावृतं प्रपातयति । नीलं सन्धाय लोहितं आच्छाद्य शुक्लं परिणह्य द्वितीययोष्णीषं अंकेनोपसाद्य सव्येन सहांकेन अवाङ् अप्सु प्रविध्यति । तृतीययाच्छन्नम् चतुर्थ्या सम्वीतम्" (कौशिकसूत्र ३ । १) ॥

काम्यकर्मोंमें विघ्नरूप दुःस्वप्नके दर्शनकी दोषकी शान्तिके लिये 'प्र पतेतः पापि लक्ष्मि' इन चार ऋचाओंसे दुःस्वप्नदर्शन का अभिषेक करे । शान्तिकल्प ४ में 'चत्वारः खलु विनायका भवन्ति ।—चार विनायक हैं' का आरम्भ करके शान्तिकल्प ६ । १६ में कहा है, कि—'ताभिष्ट्वां अभिषिञ्चामि पावमानीः पुनन्तु त्वा । प्र पतेतः पापि लक्ष्मीति चतस्रः'॥

सर्वज्वरकी चिकित्साके लिये सूत्रमें कही हुई रीतिसे मेंडक को बाँध कर खट्वाके नीचे स्थापित करे फिर उस खट्वाके ऊपर स्थित रोगीको 'नमो रूराय' इस ऋचसे अभिमन्त्रित जल से अवसिञ्चित करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'नमो रूरायेति शयने निवेश्य इषीकाचितं मण्डूकं नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां सकक्षं बद्ध्वा नमो रूरायसे खाटमें बैठा कर सीकों से घिरे हुए मण्डूकको नीले और लाल डोरोंसे बगलमें बाँध कर" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

स्वस्त्ययनको चाहने वाला 'आ मन्द्रैः' ऋच से इन्द्रका याग वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण है, कि–'त्यमूषु (७ । ९०) त्रातारम् (७ । ९१) आ मन्द्रैः (७ । १२२) इति स्वस्त्ययनकामः' ॥

शवसंस्कारके अनन्तर कर्ता प्रतिदिन स्वस्त्ययनके लिये 'आ मन्द्रैः' को जपे ।

तथा अग्निष्टोममें 'आ मन्द्रैः' से हारियोजनग्रहहोमका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १३ का प्रमाण है, कि–'हारियोजनहोमं आ मन्द्रैः' ॥

शत्रुकी सेनाको डरानेके लिये 'मर्माणि ते' ऋचासे कवचको अभिमन्त्रित करके धारण करनेके लिये राजाको देवे । इस विषय में कौशिकसूत्र २ । ७ का प्रमाण भी है, कि–'मर्माणि त इति क्षत्रियं संनाहयति' ॥

महाव्रतमें दुन्दुभिको ताडित करनेके अनन्तर 'मर्माणि ते' से राजाको कवच पहिरावे ।

इसी बातको वैतानसूत्र ६ । ४ में कहा है, कि "तीर्थदेशे राजानं अन्यं वा मर्माणि त इति सन्नद्धम्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

तृष्टि॑के॒ तृष्ट॑वन्दन॒ उद॒मूं छि॑न्धि तृष्टिके ।
यथा॑ कृ॒तद्वि॒ष्टासो॒मुष्मै॑ शे॒प्यावते ॥ १ ॥

तृष्टि॑के । तृष्ट॑ऽवन्दने । उत् । अ॒मूम् । छि॒न्धि॒ । तृ॒ष्टि॒के॒ ।
यथा॑ । कृ॒तऽद्वि॑ष्टा । अस॑ः । अ॒मुष्मै॑ । शे॒प्याऽव॑ते ॥ १ ॥

हे तृष्टिके । कुत्सिता तृष्टा तृष्टिका । ❀ "कुत्सिते" इति कप्रत्ययः । ञितृष पिपासायाम् इत्यस्मात् तृष्टशब्दः ❀ । अति-

पिपासया अन्तः शरीरे दाहो जन्यते। अत्र जन्ये जनकशब्दः। अतः तृष्टशब्दस्य दाहजनकत्वमात्रमेव अत्रार्थो विवक्षितः। हे कुत्सिते दाहजनिके हे बाणापर्ण्याख्यौषधे हे तृष्टवन्दने। वन्दना नाम लतानां वृक्षाणां चोपरि प्ररूढास्तदीयशाखाम् आवेष्टमाना विभिन्नपर्णलताविशेषाः। तृष्टाः दाहजनिका वन्दना लताविशेषा यस्याः सा ओषधिः स्वयमपि दाहजनिका दाहकलतोपेता च। एतादृशि अतिरुक्षे ओषधे त्वम् अमूं स्त्रियम् उच्छिन्धि उद्वृह्य विभिन्नां कुरु। भोक्तुः पुरुषाद् बलात्कारेण पृथक्कुर्वित्यर्थः। उच्छेदनप्रकारमेवाह। हे तृष्टिके कोपजनिके हे ओषधे शेप्यावते। शेप इति पुंस्प्रजननस्य नाम। तत्र भवं शेप्यं वीर्यं तद्वते प्रजननसामर्थ्यवते संभोगक्षमाय अमुष्मै पुरुषाय यथा कृतद्विष्टा कृतं संपादितं द्विष्टं द्वेषणं क्रोधो यया द्वेषकारिणी यथा येन प्रकारेण असः भवेः। ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀। योषिदोषध्योः अभेदविवक्षया भवेरिति मध्यमपुरुषप्रयोगः। यद्वा। ❀ अस इति। तिपः स्थाने व्यत्ययेन सिप् ❀। यथा असौ योषित् पुरुषाय द्विष्टा भवेत् तथा अमूम् उच्छिन्धीति ॥

हे कुत्सित दाहको उत्पन्न करने वाली हे तृषाको उत्पन्न करनेकी लता वाली ! तू इस स्त्रीको भोक्ता पुरुषके पाससे बलात्कारपूर्वक पृथक् कर। हे कोपजनिके औषधे ! इस प्रजननसामर्थ्य वाले संभोगक्षमपुरुषके लिये यह जिस प्रकार द्वेष उत्पन्न करने वालीहो तिस प्रकार कर ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि ।
परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥ २ ॥

तृष्टा । असि । तृष्टिका । विषा । विषातकी । असि ।

परि॑ऽवृक्ता । यथा॑ । अस॑सि । ऋ॒ष॒भस्य॑ । व॒शाऽइ॑व ॥ २ ॥

हे ओषधे तृष्टिका कुत्सिता दाहजनिका त्वं तृष्टा दाहजनकस्वभावा असि भवसि । तृतीयपादगतो यथाशब्दः अत्रापि अनुषज्यते । यथा तृष्टासि । यथा च विषा विषस्वरूपा त्वं विषातकी । ❀ तकि कृच्छ्रजीवने ❀ । विषम् आतङ्कयति संयोजयतीति विषातकी । विषस्य संयोजयित्री असि । यथा च परिवृक्ता सर्वैः परिवर्जिता अससि भवसि । स्प्रष्टुम् अयोग्यासि । चरमः पादो दृष्टान्तः । ऋषभस्य पुंगवस्य वशेव यथा वशा वन्ध्या गौः पुंगवस्य परिवर्जनीया भवति एवम् इयं योषिदपि भोगयोग्या च न भवेत् ॥ यद्वा एकं विशेषणम् ओषधिपरतया द्वितीयं योषित्परतया व्याख्येयम् । यथा ओषधे त्वं तृष्टासि एवम् इयं योषित् तृष्टिका पुरुषस्य क्रोधरूपदाहजनिका भवेत् । यथा च ओषधे त्वं विषातक्यसि एवम् इयं योषित् विषा पुरुषस्य विषरूपिणी स्यात् । यथा विषम् अभोज्यम् एवम् इयम् इति विषेत्युक्तम् । यथा च ओषधे त्वं परिवृक्ता सर्वैः प्राणिभिः परिवर्जिता अससि भवसि एवम् इयं योषित् स्वपुरुषस्य परिवृक्ता संभोगेन त्यक्ता भवेत् । तत्र दृष्टान्तः । ऋषभस्य वशेवेति । यथा पुंगवस्य वन्ध्या गौर्भोग्या न भवति एवम् इयं पुरुषस्य भोग्या न स्याद् इति ॥

हे कुत्सित दाहको उत्पन्न करने वाली तृष्टिका औषधे ! तू दाहजनक स्वभाव वाली है विषस्वरूप है, इस कारण तू बंध्या गौ जिस प्रकार वृषभसे परित्यक्त रहती है, तिस प्रकार तू सबसे परित्यक्त रहती है । (दूसरा अर्थ) हे औषधे ! जैसे तू तृष्टिका (दाहजनिका) है इसी प्रकार यह स्त्री पुरुषके क्रोधरूप दाहको उत्पन्न करने वाली हो हे ओषधे ! जैसे तू विषातकी है इसी प्रकार यह पुरुषके लिये विषकी समान लगे अर्थात् जिस प्रकार विष अभोज्य होता है ऐसे ही यह अभोग्या होजाय । हे औषधे !

जैसे सब प्राणी तुझको छोड़ देते हैं, तिसी प्रकार पुरुष इस स्त्री को त्याग देय । उसमें दृष्टान्त यह है, कि–जैसे साँडके लिये वंध्या गौ भोग्या नहीं होती है, इसी प्रकार यह पुरुषके भोगके योग्य न होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आ ते॑ ददे व॒क्षणा॑भ्य॒ आ ते॒हं हृद॑याद् ददे ।
आ ते॒ मुख॑स्य॒ संका॑शा॒त् सर्वं॑ ते॒ वर्च॒ आ द॑दे ॥ १॥

आ । ते॒ । द॒दे॒ । व॒क्षणा॑भ्यः । आ । ते॒ । अ॒हम् । हृद॑यात् । द॒दे॒ ।
आ । ते॒ । मुख॑स्य । सम्ऽका॑शात् । सर्व॑म् । ते॒ । वर्चः॑ । आ । द॒दे॒ १

हे नारि ते तव वक्षणाभ्यः । ऊरुसंधिर्वङ्क्षण इत्युच्यते । तेन स्त्रीप्रजननं लक्ष्यते । स्त्रीलिङ्गत्वं योनिशब्दापेक्षया बहुवचनं तु अवयवबहुत्वापेक्षया । यद्वा । ❀ वक्ष रोषे इति धातुः । रुध्यते पुरुषो यैरिति । वक्षणाः । व्यत्ययेन टाप् ❀ । कटित्रिकटचूरुपादेभ्य इत्यर्थः । तेभ्योऽङ्गेभ्यः वर्चः सौभाग्यलक्षणं तेजः आ ददे स्वीकरोमि । अपहरामीत्यर्थः । तथा हे नारि ते तव हृदयात् समीचीनपदार्थध्यायिनो धीरान्मनसः सकाशाद् वर्चः साधुपुरुषध्यानरूपं तेजः अहम् आ ददे । नारीविषयदौर्भाग्यकामोहम् अपहरामीत्यर्थः । तथा ते तव मुखस्य विश्वाह्लादकस्य वदनस्य संकाशाद् वर्चः विश्वसंमोहनरूपं तेजः । आ इति उपसर्गश्रुतेर्ददे इत्यषङ्गः । किं बहुना ते तव सर्वम् सर्वावयववर्ति वर्चः सौभाग्यलक्षणं तेजः आ ददे अपहरामि । ❀ "आङो दोनास्यविहरणे" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥ अयं मन्त्रः प्रकरणात् स्त्रीविषयदौर्भाग्यकरणे विनियुज्यते ॥

हे नारि ! जिनसे पुरुष रुँधता है मोहको उत्पन्न होता है उन

तेरे ऊरु कटि विकटि पैर आदि अङ्गोंसे मैं सौभाग्यरूप तेजको ग्रहण करता हूँ । और हे नारि! तेरे समीचीनपदार्थका ध्यान करने वाले धीर मनसे साधु पुरुषका ध्यान करने योग्य तेजको नारीविषयकदौर्भाग्यको चाहने वाला मैं अपहरण करता हूँ । और तेरे मुख से सबको आल्हादित करने वाले तेजका मैं अपहरण करता हूँ, अधिक क्या मैं तेरे सब अवयवोंमें विद्यमान सौभाग्यरूप तेजको दूर करता हूँ (इस मन्त्रका प्रकरणवश स्त्रीविषयकदौर्भाग्यकरण में विनियोग होता है) ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

प्रेतो य॑न्तु॒ व्या᳡ध्य॒ः प्रानु॒ध्याः प्रो अश॑स्तयः ।
अ॒ग्नी र॑क्ष॒स्विनी॑र्हन्तु॒ सोमो॑ हन्तु दुर॒स्यतीः ॥ २ ॥

प्र । इ॒तः । य॒न्तु॒ । वि॒ऽआ॑ध्यः । प्र । अ॒नु॒ऽध्याः । प्रो इति॑ । अश॑स्तयः ।

अ॒ग्निः । र॒क्ष॒स्विनीः॑ । ह॒न्तु॒ । सोमः॑ । ह॒न्तु॒ । दु॒र॒स्य॒तीः ॥ २ ॥

व्याध्यः आधयो मानस्यः पीडाः । विविधा मनोनिष्ठाः पीडा व्याधयः रोगा वा । इतः अस्माद् रक्षोग्रहादिगृहीतात् पुरुषात् प्र यन्तु प्रगच्छन्तु । ❀ व्याङ्पूर्वाद् दधाते किः । "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति "जसि च" इति विहितस्य गुणस्याभावे यण् आदेशः ❀ । यद्वा विविधानि आध्यानानि दुश्चिन्तनानि प्रगच्छन्तु । ❀ व्याङ्पूर्वाद् ध्यायतेः "अन्येभ्योपि दृश्यते" इति क्विपि संप्रसारणे च यण् आदेशः ❀ । तथा अनुध्याः अनुध्यानानि रक्षोग्रहादिविषयाणि अनुगतानि संततानि स्मरणानि प्र । यन्तु इति अनुषङ्गः । तथा अशस्तयः अस्तुतयः परकृता निन्दाः हिंसा वा प्रो प्रैव यन्तु । किं च अग्निर्देवः रक्षस्विनीः रक्षो राक्षसः तद्वतीः तत्सहिताः पिशाचीः हन्तु विनाशयतु । सोमश्च दुरस्यतीः दुष्टं परेषाम् इच्छन्तीः

इन्नु । ❀ "दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति" इति दुष्टशब्दस्य क्यचि दुरस्भावो निपात्यते । तदन्तात् शतृप्रत्ययः । "उगितश्च" इति ङीप् ❀ ॥

तुम्हारी विविध प्रकारकी मानसी पीड़ायें वा व्याधियें दूर होजावें । और राक्षस आदिके सब समय सदा रहनेवाले स्मरण दूर होजावें । और परकृतनिन्दायें दूर होजावें । अग्निदेवता राक्षसियों सहित पिशाचियोंको नष्ट कर डालें । और सोमदेव भी दूसरोंका बुरा चाहने वाली पिशाचियोंको नष्ट कर डालें २

पञ्चमी ॥

प्र प॑ते॒तः पा॑पि लक्ष्मि॒ नश्ये॒तः प्रामुतः॑ पत ।
अ॒य॒स्मये॑ना॒ङ्केन॑ द्वि॒षते त्वा संजामसि ॥ १ ॥

प्र । प॒त॒ । इ॒तः । पा॒पि॒ । ल॒क्ष्मि॒ । नश्य॑ । इ॒तः । प्र । अ॒मुतः॑ । प॒त॒ ।
अ॒य॒स्मये॑न । अ॒ङ्केन॑ । द्वि॒ष॒ते । त्वा॒ । आ । स॒जा॒म॒सि॒ ॥ १ ॥

हे पापि पापरूपिणि लक्ष्मि । अलक्ष्मीत्यर्थः । ❀ "केवलमामक०" इत्यादिना पापशब्दात् ङीप् । पापि लक्ष्मि इत्युभयत्र "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् ❀ । इतः अस्मात् प्रदेशात् प्र पत प्रगच्छ । तथा इतः अस्मिन् प्रदेशे । ❀ सप्तम्यर्थे तसिः ❀ । नश्य अदृष्टा विनष्टा भव । ❀ णश अदर्शने । दैवादिकः ❀ । किं च अमुतः । अदःशब्दो विप्रकृष्टवाची । अतिदूरात् देशादपि प्र पत प्रगच्छ । अपि च हे अलक्ष्मि अतिदूराद् देशादपि प्रगच्छन्तीं त्वा त्वाम् अयस्मयेन अयोमयेन अंकेन कण्टकेन सह द्विषते शत्रवे सचामसि संबध्नीमः । ❀ षच समवाये अयस्मयेनेति । "अयस्मयादीनि च्छन्दसि" इति निपातनाद् भसंज्ञायां पदसंज्ञानिबन्धनरुत्वाभावः ❀ ॥

हे पापरूपिणि लक्ष्मि अर्थात् अलक्ष्मि ! इस प्रदेशसे जा तथा इस प्रदेशमें नष्ट हो जा और दूरसे भी दूर देशमें चली जा । हे अलक्ष्मि ! अति दूर देशको भी जाती हुई तुझको हम लोहे के काँटेके साथ शत्रुसे संयुक्त करते हैं ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो
रराणः ॥ २ ॥

या । मा । लक्ष्मीः । पतयालूः । अजुष्टा । अभिऽचस्कन्द ।
वन्दनाऽइव । वृक्षम् ।
अन्यत्र । अस्मत् । सवितः । ताम् । इतः । धाः । हिरण्यऽहस्तः ।
वसु । नः । रराणः ॥ २ ॥

पतयालूः पातयित्री दौर्गत्यकारिणी । ❀ पत गत्याम् इति चुरादौ अदन्तः पठ्यते । तस्माद् आलुच् प्रत्ययः ❀ । अजुष्टा अप्रिया निन्द्या या लक्ष्मीः मा माम् अभिचस्कन्द अभितो व्याप्ता वर्तते । तत्र दृष्टान्तः वन्दनेव वृक्षम् इति । वन्दना लताविशेष इति "तृष्टिके तृष्टवन्दने" इत्यत्र [११८] उक्तम् । सा यथा वृक्षम् अभित आवेष्ट्य वर्तते । ❀ स्कन्दिर्गतिशोषणयोः ❀ । अलक्ष्मीः मा मां शोषयामास-वा । यथा वृक्षं वन्दना शोषयति । प्ररूढवन्दनस्तरुः शुष्यतीति प्रसिद्धम् । हे सवितः सर्वस्य प्रेरक देव ताम् अलक्ष्मीम् अस्मत् अस्मत्तः इतः अस्माद् अन्यत्र प्रदेशे धाः धेहि स्थापय । ❀ दधातेर्लेटि "इतश्च लोपः०" इति सिप इकार-

लोपः ❀ । किं कुर्वन् । हिरण्यहस्तः सुवर्णयुक्तपाणिः हिरण्मयपाणिर्वा नः अस्माकं वसु धनं रराणः प्रयच्छन् । ❀ रा दाने । लिटः कानच् ❀ । “हिरण्यपाणिम् ऊतये सवितारम् उप ह्वये” [ऋ० १. २२. ५] इत्यादौ सवितुर्हिरण्यहस्तत्वम् आम्नायते ॥

दुर्गति देने वाली अप्रिय जो लक्ष्मी मेरे चारों ओर वृक्षको सुखाने वाली वन्दनाकी समान व्याप्त है, अर्थात् मुझको सुखा रही है, (यह प्रसिद्ध ही है, कि–जिसके ऊपर वन्दना चढ़ जाती है वह वृक्ष सूख जाता है) हे सूर्यदेव ! आप सुवर्णको हाथमें ले ‡ हमको सुवर्ण देते हुए उस अलक्ष्मीको इस हमारे स्थानसे दूसरे स्थानमें भेज दीजिये ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

एक॑शतं ल॒क्ष्म्यो॒३ मर्त्य॑स्य सा॒कं त॒न्वा॒ जनु॒षोऽधि॑ जा॒ताः
ता॒सां पापि॑ष्ठा नि॒रितः॑ प्र हि॑ण्मः शि॒वा अ॒स्मभ्य॑ं
जातवे॒दो नि य॑च्छ ॥ ३ ॥

एक॑ऽशतम् । ल॒क्ष्म्यः॒ । मर्त्य॑स्य । सा॒कम् । त॒न्वा॒ । ज॒नुषः॑ ।
अधि॑ । जा॒ताः ।
ता॑साम् । पापि॑ष्ठाः । निः॒ । इ॒तः । प्र । हि॒ण्मः॒ । शि॒वाः ।
अ॒स्मभ्य॑म् । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । नि । य॒च्छ॒ ॥ ३ ॥

एकशतम् एकाधिकशतसंख्याका लक्ष्म्यः मर्त्यस्य मरणधर्मणः

---

‡ ऋग्वेदसंहिता १ । २२ । ५ में कहा है, कि–“हिरण्यपाणिम् ऊतये सवितारम् उपह्वये ।–मैं सुवर्णपाणि सूर्यदेवका रक्षाके लिये आह्वान करता हूँ ॥ २ ॥

मनुष्यस्य तन्वा शरीरेण साकम् सह जनुषः । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । जन्मनः उत्पत्तिप्रभृति जाताः उत्पन्नाः । मनुष्यस्य शरीरोत्पत्तिसमकाल एव एकशतं लक्ष्म्य उत्पन्नाः । तासां लक्ष्मीणां मध्ये पापिष्ठाः अतिशयेन पापीः अलक्ष्मीः इतः अस्मात् प्रदेशाद् निः निःशेषं प्र हिण्मः प्रेषयामः अपसारयामः । ❀ हि गतौ वृद्धौ च । स्वादित्वात् श्नुः । "हिनु मीना" इति णत्वम् । "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः" इति उकारलोपः ❀ । हे जातवेदः जातानां वेदितः अग्ने तासां मध्ये याः शिवाः मङ्गलकारिण्यो लक्ष्म्यः ताः अस्मभ्यं नि यच्छ नियमय । स्थापयेत्यर्थः । ❀ यमेः "इषुगमियमां छः" इति छा देशः ❀ । यद्वा नि यच्छ नितरां प्रयच्छ । ❀ दाण् दाने । "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀ ॥

एकसौ एक लक्ष्मियें मनुष्यके जन्मके साथ उत्पन्न हुई हैं, उनमेंसे परम पापभरी (अलक्ष्मियों) को हम यहाँसे पूर्णरूपसे विदा करते हैं । हे जातवेदा अग्ने ! इनमें जो कल्याणारिणी लक्ष्मियें हैं उनमें हमको नियमपूर्वक स्थापित करिये ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

ए॒ता ए॒ना व्याक॑रं खि॒ले गा विष्ठि॑ता इव ।
रम॑न्तां॒ पुण्यां॑ ल॒क्ष्मीर्याः पा॒पीस्ता अ॑नीनशम् ।४।

ए॒ताः । ए॒नाः । वि॒ऽआक॑रम् । खि॒ले । गाः । विस्थि॑ताःऽइव ।
रम॑न्ताम् । पु॑ण्याः । ल॒क्ष्मीः । याः । पा॒पीः । ताः । अ॒नी॒न॒श॒म् ४

एताः निर्दिष्टा एनाः एकशतं लक्ष्म्य इत्यन्वादिष्टा लक्ष्मीः व्याकरम् विविच्य आकरोमि द्विधा करोमि । ❀ करोतेर्लुङि "कृमृदृरुहिभ्यः०" इति च्लेः अङ् । "ऋदृशोङि गुणः" इति गुणः ❀ ।

तत्र दृष्टान्तः । यथा खिले व्रजे विष्ठिताः विशेषेण संभूय स्थिता एकत्र प्रदेशेवस्थिता गा यथा विविञ्चन्ति गोपालास्तत्तत्कार्यकरणाय ॥ तत्र पुण्याः कल्याण्यो लक्ष्मी लक्ष्म्यः रमन्ताम् मयि सुखेन निवसन्तु । याः पापीः पापकारिण्यो दुर्लक्ष्म्यः ताः सर्वा अनीनशन् । नश्यन्तु इत्यर्थः । ❀ स्वार्थिको णिच् ❀ । नाशयन्तु वा देवाः ॥

मैं इन एक सौ एक लक्ष्मियोंको विचार कर दो भागोंमें इस प्रकार विभक्त करता हूँ, (जिस प्रकार) गोठमें वर्तमान गोपाल गौओंको विभक्त कर लेते हैं । इन लक्ष्मियोंमेंसे कल्याणमयी लक्ष्मियें मुझमें रमण करें और पापकारिणी सब लक्ष्मियें-दुर्लक्ष्मियें नष्ट होजावें ॥ ४ ॥

नवमी ॥

नमो॑ रू॒राय॒ च्य॑व॑नाय॒ नोद॑नाय धृ॒ष्णवे॑ ।
नम॑ः शी॒ताय॑ पूर्व॑काम॒कृत्व॑ने ॥ १ ॥

नम॑ः । रू॒राय॑ । च्यव॑नाय । नोद॑नाय । धृ॒ष्णवे॑ ।
नम॑ः । शी॒ताय॑ । पू॒र्व॒का॒म॒ऽकृत्व॑ने ॥ १ ॥

च्यवनाय । ❀ च्युङ् प्लुङ् गतौ । "अनुदात्तेतश्च हलादेः" इति युच् ❀ । च्यावयित्रे शारीरस्वेदपातयित्रे नोदनाय । ❀ नुद प्रेरणे ❀ । इतस्ततः प्रेरकाय विक्षेपयित्रे धृष्णवे । ❀ धृष प्रसहने इति चुरादौ पठ्यते । "आधृषाद् वा" इति विकल्पितो णिच् । "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" इति क्नुः ❀ । प्रसहनकारिणे रूराय उष्णज्वराय ज्वराभिमानिने देवाय नमः नमस्कारोस्तु । तथा पूर्वकामकृत्वने पूर्वेषाम् अभिलाषाणां कर्तित्रे छेत्रे शीताय ज्वराय शीतज्वराभिमानिने नमः नमस्कारोस्तु । शीतज्वरो हि इदं

करोमि इदं करोमीति पूर्वं काम्यमानम् अभिलाषं निकृन्तति चिरकालं बाधाकारित्वात् । ❁ कृती छेदने । "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्वनिप् । "नेड्वशि कृति" इति इण्निषेधः ❁ ॥

शरीरमेंसे पसीना बहाने वाले, शरीरको इधर उधर फिकवाने वाले, धर्षक उष्णज्वर (के अभिमानी) रूरके लिये नमस्कार हो, तथा पहिली अभिलाषाओंको छिन्न भिन्न करनेवाले शीतज्वरके अभिमानी शीतके लिये नमस्कार हो अर्थात् शीतज्वर ही यह करूँगा वह करूँगा आदि अभिलाषाओंको चिरकाल तक रहनेके कारण नष्ट कर डालता है ॥ १ ॥

दशमी ॥

यो अ॑न्ये॒द्युरु॒भ॒ये॒द्युर॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॒त्वव्र॒तः ॥२॥

यः । अ॒न्ये॒द्युः । उ॒भ॒ये॒ऽद्युः । अ॒भि॒ऽएति॑ । इ॒मम् । म॒ण्डूक॑म् ।
अ॒भि । ए॒तु॒ । अ॒व्र॒तः ॥ २ ॥

यो ज्वरः अन्येद्युः अन्यस्मिन् दिवसे इमं पुरुषम् अभ्येति अभिगच्छति । यश्च उभयेद्युः उभयोर्दिवसयोः । अतीतयोरिति शेषः । अभ्येति । चातुर्थिकज्वर इत्यर्थः । इदम् अनियतकालागामिनो ज्वरस्य उपलक्षणम् । ❁ "सद्यः परुत् परार्यैषमः०" इति सूत्रे अन्येद्युरुभयेद्युरिति शब्दौ निपातितौ ❁ । अव्रतः । व्रतशब्दो नियमवाची । अनियतकालः स ज्वरः मण्डूकम् भेकम् अभ्येतु अभिगच्छतु ॥

जो ज्वर तीसरे दिन इस पुरुषको आजाता है अथवा चौथे दिन आजाता है, ऐसा अनियमित ज्वर मण्डूक पर उतर जावे २

एकादशी ॥

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भिर्या॒हि म॒यूर॑रोमभिः ।

मा त्वा॒ के चि॒द् वि य॑म॒न् विं न पा॒शिनो॑ति॒ धन्वे॑व॒
ताँ इ॑हि ॥ १ ॥

आ । म॒न्द्रैः । इ॒न्द्र॒ । हरि॑ऽभिः । या॒हि । म॒यूर॑रोमऽभिः ।
मा । त्वा॒ । के । चि॒त् । वि । य॒म॒न् । विम् । न । पा॒शिनः॑ ।
अ॑ति । धन्व॑ऽइव । तान् । इ॒हि॒ ॥ १ ॥

हे इन्द्र मन्द्रैः मदशीलैः स्तुत्यैर्वा मयूररोमभिः मयूररोमसदृशरोमयुक्तैः श्यामवर्णैः हरिभिः अश्वैः आ याहि आगच्छ । हे इन्द्र त्वा त्वां के चित् स्तोतारः मा वि यमन् स्तुतिभिर्मा विशेषेण नियच्छन्तु । मा निरौत्सुरित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः विं न पाशिन इति । नशब्द उपमार्थे । यथा विम् पक्षिणं पाशिनः पाशवन्तो व्याधा पाशैर्बध्नन्ति तद्वत् । तान् अन्यान् स्तोतॄन् अति । ❀ अतिक्रमणे अतिः कर्मप्रवचनीयः ❀ । अतीत्य इहि गच्छ अस्मान् । तत्र दृष्टान्तः धन्वेवेति । यथा धन्व निर्जलं मरुप्रदेशं पिपासिताः पान्थाः शीघ्रम् अतियन्ति तद्वत् । मद्व्यतिरिक्तान् अन्यान् स्तोतॄन् अतीत्य अस्मान् एव शीघ्रम् आगच्छेत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! आप मदमाते और मयूरोंके रोमकी समान रोम वाले घोड़ोंके द्वारा यहाँ आइये । जैसे जल वाले बहेलिये पक्षीको बाँध लेते हैं, इस प्रकार आपको कोई और स्तोता रोक न सकें. जैसे प्यासा मनुष्य मरुदेशको शीघ्र ही लाँघ जाता है तिसी प्रकार आप उन अन्य स्तोताओंको लाँघकर शीघ्र हमारे पास ही आइये १

द्वादशी ॥

मर्मा॑णि ते॒ वर्म॑णा छादयामि॒ सोम॑स्त्वा॒ राजा॒मृते॑ना॒नु
वस्ताम् ।

उ॒रोर्वरी॑यो॒ वरु॑णस्ते कृणोतु॒ जय॑न्तं॒ त्वानु॑ दे॒वा मद॑न्तु १

मर्मा॑णि । ते॒ । वर्म॑णा । छा॒द॒या॒मि॒ । सोम॑ः । त्वा॒ । राजा॑ । अ॒मृ-ते॑न । अनु॑ । व॒स्ता॒म् ।

उ॒रोः । वरी॑यः । वरु॑णः । ते॒ । कृ॒णो॒तु॒ । जय॑न्तम् । त्वा॒ । अनु॑ । दे॒वाः । म॒द॒न्तु॒ ॥ १ ॥

हे जयकाम राजन् ते त्वदीयानि मर्माणि मर्मस्थानानि वर्मणा कवचेन छादयामि प्रयोक्ता अहं संवृणोमि । सोमो राजा त्वा त्वाम् अमृतेन अविनाशिना तेजसा वा अनु वस्ताम् मर्मच्छादनानन्तरम् आच्छादयतु । ❀ वस आच्छादने । आदादिकः । अनुदात्तेत् । लोटि “आम् एतः” इति आम् आदेशः ❀ ॥ तथा उरोः बहोरपि वरीयः उरुतरं सुखं वरुणः शत्रुनिवारकः एतन्नामा देवः ते तुभ्यं कृणोतु करोतु । ❀ वरीय इति । उरुशब्दाद् ईयसुन् । “प्रियस्थिर०” इत्यादिना वर् आदेशः ❀ ॥ तथा देवाः इन्द्राद्याः सर्वे जयन्तम् परसेनां त्रासयन्तं [त्वा] त्वाम् अनु मदन्तु अनुहृष्यन्तु । जहि भिन्धि इत्येवंविधैर्वाक्यैः प्रोत्साहयन्तु इत्यर्थः ॥

तृतीयं सूक्तम् ।

सप्तमकाण्डे दशमोऽनुवाकः ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवीरहरिहरमहाराजधुरन्धरेण
सायणाचार्येण विरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये
सप्तमकाण्डः समाप्तः ॥

हे जयाभिलाषिन् राजन् ! प्रयोग करने वाला मैं आपके मर्मस्थानोंको कवचसे ढकता हूँ, मर्माच्छादनके अनन्तर राजा सोम आपको अविनाशी तेजसे सम्पन्न करें। और वरुण देवता आपको बड़ेसे बड़ा सुख देवें। और शत्रुसेनाको जीतते हुए आपका इन्द्र आदि देवता अनुमोदन करें अर्थात् मार डालिये, काट डालिये आदि वाक्योंसे आपको उत्साहित करें ॥ १ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (४३८) ॥

दशम अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका सप्तम काण्ड ऋषिकुमार
प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका
सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र
शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल
भाषानुवाद सहित
समाप्त.

॥ सप्तमः काण्डः समाप्तः ॥

❀ श्रीहरिः ❀

अथर्ववेदसंहिता

अष्टमं काण्डम्

सायणभाष्य और भाषानुवादसहित

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानाम् उपक्रमे ॥
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥

वागीश आदि देवता सब कार्योंका आरम्भ करते समय जिन को प्रणाम करके कृतकृत्य होते हैं उन गजाननको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योखिलं जगत् ॥
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सम्पूर्ण वेदोंकी सृष्टि की है उन विद्यातीर्थ महेश्वर–शंकर–को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

अष्टमकाण्डे पञ्चानुवाकाः । तत्र आद्येनुवाके पञ्च सूक्तानि । तेषु "अन्तकाय मृत्यवे" इत्यादिसूक्तद्वयम् अर्थसूक्तम् इत्युच्यते । अनेन उपनयनकर्मणि माणवकस्य नाभिं संस्पृश्य आचार्यो जपं कुर्यात् । "उपनयनम्" प्रक्रम्य सूत्रितम् । "दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे [८. १] आ रभस्व" [८. २] इति [कौ० ७. ६] ॥

तथा आयुष्कामस्य "अन्तकाय" इति सूक्तद्वयेन शरीरम् अभिमन्त्रयेत ॥

तथा ऋषिहस्तेन आयुष्कामस्य शरीरम् अभिमन्त्रयेत ॥

सूत्रितं हि । "उप प्रियम् [७. ३३] अन्तकाय मृत्यवे [८. १] आ रभस्व" [८. २] इति [कौ० ७. ९] ॥

तथा अस्य अर्थसूक्तस्य आयुष्यगणे पाठाद् "विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्" [कौ० १४. ३] इत्यादिषु विनियोगोनुसंधेयः ॥

तथा त्रिशन्महाशान्तितन्त्रभूतायां महाशान्तौ "अन्तकाय" इत्यनेन जपं कुर्यात् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । "पुनस्तदेव जप्यं तु शंतातीयम् अथावतः । अन्तकाया रभस्वेति" इति [न०क०२३] ॥

आठवें काण्डमें पाँच अनुवाक हैं । पहिले अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । इसमें "अन्तकाय मृत्यवे" ये दो सूक्त अर्थसूक्त कहलाते हैं । इस अर्थसूक्तसे उपनयनकर्ममें बालककी नाभिका स्पर्श कर आचार्य जप करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ में कहा है, कि-"उपनयनम्" का आरम्भ करके फिर कहा है, कि-'दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे (८।१) आ रभस्व (८।२) इति" ॥

तथा "अन्तकाय" इन दोनों सूक्तोंसे आयुष्कामके शरीरका अभिमन्त्रण करे ।

तथा ऋषिहस्तसे आयुष्कामके शरीरका अभिमन्त्रण करे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ९ का प्रमाण है, कि-"उप प्रियम् (७। ३३) अन्तकाय मृत्यवे (८।१) आ रभस्व(८।२)" ॥

तथा इस अर्थसूक्तका आयुष्यगणमें पाठ होनेसे "विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात् ।-विश्वकर्मगणके आयुष्यगणके और स्वस्त्ययनगणके मन्त्रोंसे घृतकी आहुति देय ।" इन का कौशिकसूत्र ७ । ९ आदिमें विनियोग करना चाहिये ।

तथा तीस महाशान्तियोंकी प्रधानरूप महाशान्तिमें 'अन्तकाय' से जप करे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"पुनस्तदेव जप्यं तु शन्तातीयं अथावतः । अन्तकाया रभस्वेति" (नक्षत्रकल्प २३)॥

तत्र प्रथमा ॥

अन्त॑काय मृ॒त्यवे॒ नमः॑ प्रा॒णा अ॑पा॒ना इ॒ह ते॑ रमन्ताम् ।
इ॒हायम॑स्तु॒ पुरु॑षः स॒हासु॑ना॒ सूर्य॑स्य भा॒गे अ॒मृत॑स्य
लो॒के ॥ १ ॥

अन्त॑काय । मृ॒त्यवे॑ । नमः॑ । प्रा॒णाः । अ॒पा॒नाः । इ॒ह । ते॒ । र॒म॒न्ता॒म् ।

इ॒ह । अ॒यम् । अ॒स्तु॒ । पुरु॑षः । स॒ह । असु॑ना । सूर्य॑स्य । भा॒गे । अ॒मृत॑स्य । लो॒के ॥ १ ॥

आयुष्कामस्य आयुर्वृद्धिः मृत्योरधीनेति तन्नमस्कार आदौ क्रियते । अन्तकाय अन्तं करोतीत्यन्तकस्तस्मै सर्वप्राणिनाशकर्त्रे मृत्यवे प्राणिवियोजकाय एतन्नामकाय देवाय नमः नमस्कारः । अस्त्विति शेषः । हे आयुष्काम माणवकादे ते तव प्राणाः । प्राणन्तीति प्राणाः बहिर्मुखसंचारिणो वायवः । अपानाः । अप अनन्तीत्यपानाः अवाङ्मुखसंचारिणः । ते च अन्तकानुग्रहाद् इह अस्मिन् शरीरे रमन्ताम् क्रीडन्तु । प्राणापहर्तुर्मृत्योर्नमस्कारेण प्रीतत्वात् तद्विषयभीतिम् अपहाय सुखेन संचरन्तु इत्यर्थः । प्राणापानयोर्व्यापारवृत्तेर्बहुत्वाद् बहुवचनप्रयोगः । एवं प्राणापानयोरनपगमम् आशास्य इ॒दानीं तत्सहितस्य पुरुषस्य अनपगतिम्

आशास्ते । अयं प्राणप्रच्युतिं शङ्कमानः पुरुषः असुना प्राणेन । वृत्तिबहुत्वानपेक्षयात् सामान्याभिप्रायेण एकवचनम् । तेन सह सर्वदा अविनाभूतः सन् इह भूलोक एवास्तु भवतु । इह अस्त्विति यद् उक्तं तद् विशिनष्टि । सूर्यस्य आदित्यस्य भागे प्रदेशविशेषे भूलोके । सूर्यव्याप्तेर्विषयभूतास्त्रयो भागाः द्यौरन्तरिक्षं भूश्च । तत्र अपेक्षितत्वाद् इह भागशब्देन भूलोकः परिगृह्यते । तम् एव विशिनष्टि । अमृतस्य लोके । अमृतशब्देनात्र पौत्रादिरूपेणावस्थानम् अभिधीयते मनुष्यैराशास्यमानत्वात् । श्रूयते हि । "प्रजाम् अनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्" इति [तै० ब्रा० १.५.५.६]। तथाविधस्य अमृतस्य लोके । लोक्यत इति लोकः स्थानं भूलोक इत्युक्तं भवति ॥

(आयुष्कामकी आयुर्वृद्धि मृत्युके अधीन है अत एव पहिले उसको ही नमस्कार करते हैं, कि–) अन्त करने वाले अन्तक, सकल प्राणियोंका नाश करने वाले मृत्यु नामक देवताके लिये नमस्कार है । बहिर्मुखसञ्चारी प्राणन करने वाले प्राण, और अवाङ्मुखसञ्चारी अपान अंतकके अनुग्रहसे इस शरीरमें क्रीड़ा करें । तात्पर्य यह है, कि-प्राणका हरण करनेवाले मृत्युके नमस्कार के द्वारा प्रसन्न होने पर उसकी भीतिको छोड़ कर (अनेक प्रकारकी व्यापारवृत्ति वाले) प्राण और अपान सुखपूर्वक विचरण करें । (इस प्रकार प्राण और अपानके अनपगमनकी प्रार्थना कर अब उनके साथ वर्तमान पुरुषके अनपगमनकी आशा करते हैं, कि–) यह प्राणोंके छूटनेकी शङ्का करता हुआ पुरुष प्राणसे रहता हुआ प्रजा आदिसे अमृतलोक इस सूर्यके भागरूप भू लोकमें रहे † ॥ १ ॥

---

† सूर्यव्याप्तिके द्यौ अन्तरिक्ष और भू ये तीन लोक हैं यहाँ अपेक्षित होनेसे भाग शब्दसे भूलोकका ही ग्रहण किया है और

द्वितीया ॥

उदे॑नं॒ भगो॑ अग्रभी॒दुदे॑नं॒ सोमो॑ अंशु॒मान् ।
उदे॑नं म॒रुतो॑ दे॒वा उदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये ॥ २ ॥

उत् । ए॒न॒म् । भग॑ः । अ॒ग्र॒भी॒त् । उत् । ए॒न॒म् । सोम॑ः । अं॒शु॒ऽमान् ।
उत् । ए॒न॒म् । म॒रुत॑ः । दे॒वाः । उत् । इ॒न्द्रा॒ग्नी इति॑ । स्व॒स्तये॑ ।२।

भगो नाम आदित्यमूर्तिविशेषः । “अंशश्च भगश्च” [तै० आ० १. १३. ३] इति अदितिपुत्राणां मध्ये श्रवणात् । सर्वप्राणिभिर्भजनीयो भगो देवः एनं मूर्च्छालक्षणे अन्धे तमसि प्रविशन्तं पुरुषम् उद् अग्रभीत् उद्धृतवान् । ❀ “हृग्रहोर्भश्छन्दसि” इति भत्वम् ❀ ॥ तथा अंशुमान् अमृतमयैरंशुभिस्तद्वान् सोमो देवः । एनम् उत् । अग्रभीत् इत्यनुषज्यते । एवं मरुतः एकोनपञ्चाशत्संख्याका देवा एनम् उत् । अग्रभीषुरिति वचनविपरिणामेन अनुषङ्गः कर्तव्यः । एवम् इन्द्राग्नी इन्द्रश्च अग्निश्च उभावपि मुख्यौ देवौ उदग्रहीष्टाम् । अत्र द्विवचनविपरिणामः किमर्थम् उद्ग्रहणम् इति तत्राह । स्वस्तये । सु अस्तीति स्वस्तिः । क्षेमायेत्यर्थः ॥

भग (सूर्य) नामक सब प्राणियोंके भजने योग्य देवताने इस मूर्छारूप अन्धकारमें प्रवेश करते हुए पुरुषका उद्धार कर

पुत्र पौत्र आदिरूपमें वर्तमान रहनारूप अमृतत्वकी मनुष्य प्रार्थना करते हैं, अत एव मर्त्यलोकको अमृतका लोक कहा है । तैत्तिरीयब्राह्मण १।५।५।६ में कहा है, कि—प्रजाम् अनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम् ।—जो तू प्रजारूपमें उत्पन्न होता है, हे मर्त्य ! यही तेरा अमृतत्व है” ॥

लिया है तथा (अमृतमय) किरणों वाले चन्द्रदेवने भी इसका उद्धार कर लिया है, उड़श्वास मरुद्गणोंने भी इसका उद्धार कर लिया है तथा इन्द्र और अग्निदेवताने भी इसका उद्धार करनेके लिये इसको ग्रहण कर लिया है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इह तेसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः ।
उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि

इह । ते । असुः । इह । प्राणः । इह । आयुः । इह । ते । मनः ।
उत् । त्वा । निःऽऋत्याः । पाशेभ्यः । दैव्या । वाचा । भरामसि ३

हे आयुरर्थयमान पुरुष ते असुः मुख्यः प्राणश्चक्षुरादिः इह शरीरे अस्तु । तथा ते प्राणः पञ्चवृत्त्यात्मको वायुरपि इह अस्तु । एवं ते आयुरपि इह अस्तु । तथा ते मनोपि इह अस्तु । एते सर्वेपि त्वां विहाय अन्यत्र मापसरन्तु । हे गतासो पुरुष त्वा त्वाँ निर्ऋत्याः एतन्नामिकायाः पापदेवतायाः पाशेभ्यः बन्धनरज्जुभ्यः सकाशाद्द दैव्या देवसंबन्धिन्या वाचा मन्त्ररूपया उद्धरामसि ऊर्ध्वं भरामः हरामः नयामः ॥

हे आयुकी प्रार्थना करने वाले पुरुष ! तेरा मुख्य प्राण चक्षु आदि इस शरीरमें रहे, तथा पञ्चवृत्त्यात्मक प्राण भी इस शरीर में रहे, तेरी आयु भी इसी शरीरमें रहे और तेरा मन भी यहाँ ही रहे । अर्थात् ये सब तुझको छोड़ कर अन्यत्र न जावें । हे गतासो पुरुष ! तुझ निर्ऋति नामक पापदेवताके पाशोंसे देवसम्बन्धी मन्त्ररूपा वाणीसे उद्धार करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उत् क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः ।

मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ।४।

उत् । क्राम । अतः । पुरुष । मा । अव । पत्थाः । मृत्योः ।

षड्वीशम् । अवऽमुञ्चमानः ।

मा । छित्थाः । अस्मात् । लोकात् । अग्नेः । सूर्यस्य । सम्ऽदृशः

हे पुरुष त्वम् अतः अस्माद् मृत्युपाशनिचयाद् उत्क्राम उत्क्रमणं कुरु । माव पत्थाः अवपतनं मा कार्षीः । ❀ पद गतौ इत्यस्मात् लुङि "एकाच उपदेशेनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः । "झलो झलि" इति सिचो लोपः ❀ । बद्धस्य कथम् उत्क्रमणं घटत इत्यत आह । मृत्योः हिंसकस्य देवस्य पड्वीशम् पादबन्धनपाशम् अवमुञ्चमानः विच्छिन्दन् अस्माद् भूलोकाद् मा च्छित्थाः छिन्नो मा भूः । ❀ छिदेर्लुङि पूर्ववद् इट्प्रतिषेधः ❀ । किमर्थम् इति चेद् उच्यते । अग्नेः सूर्यस्य च संदृशः संदर्शनाद् हेतोः अग्निसूर्ययोश्चिरकालसंदर्शनाय । चिरजीवनायेत्यर्थः । "ज्योक् च सूर्यं दृशे" इति हि श्रुतिः [ऋ० १०. ६. ७] । ❀ संपूर्वाद् दृशेः संपदादित्वाद् भावे क्विप् ❀ ॥

हे पुरुष ! तू इस मृत्युके पाशजालसे उत्क्रमण कर, इसमें ही नीचेको मत गिर । तू हिंसक मृत्युदेवके पाशबन्धनको काट दे और इस भूलोकसे अग्नि और सूर्यदेवका दर्शन करनेके लिये ‡ छिन्न न हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः ।

---

‡ ऋग्वेदसंहिता १० । ६ । ७ में कहा है, कि—"ज्योक् च सूर्यं दृशे" ॥

सूर्य॑स्ते त॒न्वे॒३॒ शं त॑पाति॒ त्वां मृ॒त्युर्द॑यतां॒ मा प्र मे॑ष्ठाः ५

तुभ्य॑म् । वातः॑ । प॒व॒ता॒म् । मा॒त॒रिश्वा॑ । तुभ्य॑म् । व॒र्ष॒न्तु॒ । अ॒मृ-ता॑नि । आप॑ः ।

सूर्यः॑ । ते॒ । त॒न्वे॑ । शम् । त॒पा॒ति॒ । त्वाम् । मृ॒त्युः । द॒य॒ता॒म् । मा । प्र । मे॒ष्ठा॒ः ॥ ५ ॥

पुनः -मरणाभावं सोपपत्तिकम् आशास्ते । हे मुमूर्षो पुरुष तुभ्यं त्वदर्थं मातरिश्वा । माता अन्तरिक्षम् निर्मीयन्तेस्मिन् भूतानीति व्युत्पत्तेः । तस्मिन् श्वसितीति मातरिश्वा । तादृशो वातः वायुस्तव सुखाय पवताम् । ❀ पवतिर्गतिकर्मा ❀ । संचरतु । तथा आपश्च तुभ्यं त्वदर्थम् अमृतानि वर्षन्तु सिञ्चन्तु । तथा सूर्यो देवस्ते तव तन्वे शरीराय शम् सुखं यथा भवति तथा तपाति तपतु । ❀ तप संतापे । अस्मात् लेट् । "लेटोडाटौ" इति आडागमः ❀ । एतत् सर्वं मृत्योरनुग्रहम् अन्तरेण न घटत इति तदनुग्रहम् आशास्ते । हे पुरुष त्वां मृत्युर्देवो दयताम् रक्षां करोतु । अतस्त्वं मा प्र मेष्ठाः मृतिं मा गाः । ❀ मीङ् हिंसायाम् । लुङि पूर्ववद् इट्प्रतिषेधः ❀ ॥

हे मुमूर्षु पुरुष ! जिसमें भूतोंका निर्माण होता है उस मातारूप अन्तरिक्षमें श्वास लेने वाले मातरिश्वा वायु तेरे लिये सुखपूर्वक चलें, और जल भी तेरे लिये अमृतकी वर्षा करें, सूर्यनारायण तेरे शरीरको जिस प्रकार सुख पहुँचे तिस प्रकार तपें, (यह सब मृत्युके अनुग्रहके बिना नहीं होसकता अतः मृत्युसे आशा करते हैं, कि-) मृत्युदेवता तेरे ऊपर दया करें, इस लिये तू मृत्युको प्राप्त न हो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि
आ हि रोहेममममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि

उत्ऽयानम् । ते । पुरुष । न । अवऽयानम् । जीवातुम् । ते । दक्षऽतातिम् । कृणोमि ।

आ । हि । रोह । इमम् । अमृतम् । सुऽखम् । रथम् । अथ । जिर्विः । विदथम् । आ । वदासि ॥ ६ ॥

हे पुरुष ते तव उद्यानम् उद्गमनमेव । मृत्युपाशाद् इति शेषः । अवयानम् अवागमनं नैवास्ति । तत् कथम् एतत् संपत्स्यत इति तत्राह । ते तव जीवातुम् जीवनौषधं कृणोमि करोमि । केवलं जीवनमेव न किं तु दक्षतातिम् । ❀ स्वार्थिकस्तातिः ❀ । दक्षं बलं च कृणोमि । त्वं च आ रोह अधितिष्ठ इमम् अमृतम् अमरणधर्मकं सुखम् इन्द्रियेभ्योनुकूलं रथम् यानम् । देहो वा रथत्वेन उपचर्यते । अतो जीवात्मनो देहेवस्थानं प्रार्थ्यते । आरुह्य च अजिर्विः अजीर्णः सन् । ❀ जॄष् वयोहानौ । औणादिको विन् प्रत्ययः । "ॠत इद्धातोः" इति इत्त्वम् ❀ । विदथम् वेदनम् आ वदासि आवद । लब्धसंज्ञोस्मीति आचक्ष्वेत्यर्थः ॥

हे पुरुष ! मृत्युके पाशसे तेरा उद्गमन ही होवे उस पर नीचे को गिरना न हो (ऐसा होनेका उपाय यह है, कि–) तेरे जीनेके लिये औषधको करता हूँ । तेरे लिये बलको करता हूँ । तू इस अमरणधर्मक इन्द्रियसुखके निमित्त रथरूप शरीर पर आरोहण कर और आरूढ़ होकर अजीर्ण रहता हुआ वेदनको कह अर्थात् मुझको होश होगया है–यह कह ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो
मानु गाः पितॄन् ।
विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥ ७ ॥

मा । ते । मनः । तत्र । गात् । मा । तिरः । भूत् । मा । जीवेभ्यः ।
प्र । मदः । मा । अनु । गाः । पितॄन् ।
विश्वे । देवाः । अभि । रक्षन्तु । त्वा । इह ॥ ७ ॥

तत्र तस्मिन् यमविषये ते मनो मा गात् गतं मा भूत् । तथा मा तिरो भूत् अन्तर्हितं विलीनमपि मा भूत् । किं च त्वं जीवेभ्यः बन्धुभ्यस्तेषाम् अर्थाय मा प्र मदः अनवधानं माप्नुहि । ❀ मदी हर्षे । पुषादित्वाद् अङ् । मदिः प्रोपसृष्टः अनवधाने वर्तते ❀ । पितॄन् मृतान् पूर्वपुरुषान् मानु गाः अनुगतिं मा कार्षीः । विश्वे देवाः इन्द्राद्या इन्द्रियाणि वा त्वा त्वाम् अभि रक्षन्तु सर्वतः पालयन्तु । कुत्रेति चेद् उच्यते । इह अस्मिन्नेव शरीरे इह भूतले वा ॥

यमके विषयमें तेरा मन न जावे, तथा विलीन भी न होवे और तू बन्धुरूप जीवोंसे प्रमाद न कर, पितरोंके पास मत जा । इन्द्र आदि संपूर्ण देवता वा इन्द्रियें इस शरीरमें ही चारों ओर तेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥८॥

मा । गतानाम् । आ । दीधीथाः । ये । नयन्ति । पराऽवतम् ।
आ । रोह । तमसः । ज्योतिः । आ । इहि । आ । ते । हस्तौ ।
रभामहे ॥ ८ ॥

गतानाम् पितृलोकं प्राप्तानाम् । मार्गम् इति शेषः। मा दीधीथाः तं प्रति देवनं मा कार्षीः । ❀ दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः । लुङ् । छान्दसः सिचो लुक् ❀ । अथ वा गतमार्गं मा ध्याय । ❀ ध्यै चिन्तायाम् । छान्दसी रूपसिद्धिः ❀ । अथ वा । ❀ गतानाम् इति कर्मणि षष्ठी ❀ । मृतान् मा चिन्तयेत्यर्थः । ते विशेष्यन्ते । ये गतास्त्वामपि परावतम् दूरदेशं नयन्ति । यथा त्वं पुनर्नायासि तथा प्रापयन्तीत्यर्थः । अतस्त्वं तमसः । म्रियमाणस्य पुरुषस्य समस्तस्यापि ज्ञानस्य नाशात् तमःप्रवेश इव भवति अतस्तमसः सकाशात् ज्योतिः । ज्योतिः प्रकाशः । प्रकाशं ज्ञानम् आ रोह अधिष्ठित । आश्रयेत्यर्थः। अन्धकारप्रविष्टस्य कथम् आरोहणम् इति तत्राह । ते तव हस्तौ आ रभामहे गृह्णीमः । आरोहणानुकूलप्रयत्नं कुर्म इत्यर्थः ॥

पितृलोकको प्राप्त हुए पितरोंके मार्गका चिन्तवन न कर–उन मरे हुओंका ध्यान न कर–वे गए हुए भी तुझको दूर देश को लेजासकते हैं, जिस प्रकार तू फिर न आवे तिस प्रकार ले जा सकते हैं (मरनेके निकट पड़े हुए पुरुषका समस्त ज्ञान नष्ट होजानेसे उसका वह अंधकार प्रवेश सा होता है अतः उस) अंधकारसे ज्योति प्रकाश–ज्ञान पर आरूढ़ हो (अंधकारमें घुसे हुएका आरोहण किस प्रकार हो सकता है, इस शंकाके उत्तर में कहते हैं, कि–) तेरे हाथोंको हम ग्रहण करते हैं अर्थात् आरोहणके अनुकूल प्रयत्नको करते हैं ॥ ८ ॥

नवमी ॥

श्या॒मश्च॑ त्वा॒ मा श॒बल॑श्च॒ प्रेषि॑तौ य॒मस्य॒ यौ प॑थि॒रक्षी॒
श्वानौ॑ ।
अ॒र्वाङेहि॒ मा वि दी॑ध्यो॒ मात्र॑ तिष्ठः॒ परा॑ङ्मनाः ९

श्या॒मः । च॒ । त्वा॒ । मा । श॒बलः॑ । च॒ । प्रऽइ॑षितौ । य॒मस्य॑ ।
यौ । प॒थि॒रक्षी॒ इति॑ प॒थि॒ऽरक्षी॑ । श्वानौ॑ ।
अ॒र्वाङ् । आ । इ॒हि॒ । मा । वि । दी॒ध्यः॒ । मा । अत्र॑ । ति॒ष्ठः॒ ।
परा॑क्ऽमनाः ॥ ९ ॥

हे मुमूर्षो पुरुष त्वा त्वां श्यामश्च एतन्नामा श्वा । वर्णप्रयुक्तेयं संज्ञा । मा । बाधताम् इति शेषः । एवं शबलश्च श्वा मा बाधताम् । चित्रवर्णत्वात् शबल इति संज्ञा । तौ विशेष्येते । यमस्य सर्वप्राणिप्राणापहर्तुर्देवस्य पथिरक्षी मार्गरक्षकौ यौ श्वानौ स्तः । तत्र श्यामश्च शबलश्चेति संबन्धः । श्वभ्याम् असंदष्टः सन् अर्वाङ् अस्मदभिमुखः एहि आगच्छ । मा वि दीध्यः ध्यानं मा कार्षीः । किम् इत्याशङ्कायां मृतानां मार्गम् इत्यवतिष्ठते । तदेव भङ्ग्यन्तरेणाह । अत्र अस्मिन् भूलोके वर्तमानः सपदि पराङ्मनाः अप्रतिनिवृत्तिचित्तविषयध्यानोपेतः सन् मा तिष्ठः मा वर्तस्व ॥

हे मुमूर्षु पुरुष ! सब प्राणियोंके प्राणोंको हरने वाले यमराजके जो श्याम और शबल नामक मार्गरक्षक दो कुत्ते हैं वे तुझको बाधा न दें, कुत्तोंसे न कटवा कर हमारी ओर मुख करके आ, ध्यान मत करे, विषयोंसे पराङ्मुख होकर यहाँ न रह (सांसारिक सभी कामोंको कर) ॥ ९ ॥

दशमी ॥

मैतं पन्था॒मनु॑ गा भी॒म ए॒ष येन॒ पू॒र्वं नेयथ॒ तं ब्र॑वीमि ।
तम॑ ए॒तत् पु॑रुष॒ मा प्र प॑त्था भ॒यं प॒रस्ता॒दभ॑यं ते अ॒र्वाक् ॥

मा । ए॒तम् । पन्था॑म् । अनु॑ । गा॒ः । भी॒मः । ए॒षः । येन॑ । पूर्व॑म् ।
न । इ॒यथ॑ । तम् । ब्र॒वी॒मि॒ ।
तम॑ः । ए॒तत् । पु॒रु॒ष॒ । मा । प्र । प॒त्था॒ः । भ॒यम् । प॒रस्ता॑त् । अभ॑-
यम् । ते॒ । अ॒र्वाक् ॥ १० ॥

हे गतासो पुरुष त्वम् एतं पूर्वोक्तं पन्थाम् पन्थानं मृता येन गच्छन्ति तं मानु गाः अनुसृत्य मा याहि । अनुगमननिषेधस्य कारणम् आह । एष मार्गो भीमो भयहेतुः । एतच्छब्दार्थम् आह । येन मार्गेण पूर्वम् मृतेः प्राकाले नेयथ न गच्छसि । ❀ वचनव्यत्ययः ❀ । [तं] मार्गं ब्रवीमि । मानु गा इति निषेधप्रतियोगितया वच्मीत्यर्थः । एतत् मरणलक्षणं तमः अन्धकारम् अज्ञानं मा प्र पत्थाः प्रपदनं मा कार्षीः । पुरस्तात् पूर्वदेशे यमपुरप्रदेशे भयम् । भवतीति शेषः । अर्वाक् अस्मदभिमुखागमनमार्गे ते तव अभयम् भयाभावः । क्षेमं भवतीत्यर्थः ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे गतासु पुरुष ! जिससे मरे हुए पुरुष जाते हैं उस मार्गका अनुसरण करके तू न जा, क्योंकि–यह मार्ग भयंकर है, इस मार्ग से मरनेसे पहिले नहीं जाना चाहिये। हे पुरुष ! तू इस मरणात्मक अन्धकारको प्राप्त न हो, यमदेशमें भय होता है और हमारी ओर मुख करके आनेके मार्गमें भयाभाव अर्थात् क्षेम होगा ॥ १० ॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥

"रक्षन्तु त्वा" इत्यस्य सूक्तस्य उपनयनकर्मादिषु पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

तथा हिरण्यगर्भाख्ये महादाने "रक्षन्तु त्वा" इत्यनेन कर्तू रक्षां कुर्यात् । "हिरण्यगर्भविधिम् अनुक्रमिष्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "यदाबध्नन् [१. ३५] इति हिरण्यस्रजम् आग्रथ्य रक्षन्तु त्वा [८. २. ११–२१] इति रक्षां कृत्वा" इति [प० १३. १] ॥

तथा अश्वरथाख्यमहादाने अनेन यजमानम् अभिमन्त्रयेत । "अथाश्वरथदानविधिः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "पुनन्तु मा [६. १९] इत्यात्मानम् आलभ्य जपेद् रक्षन्तु त्वाग्नयः [८, २] इति यजमानम् अभिमन्त्र्य" इति [प० १४. १] ॥

"रक्षन्तु त्वा" इस सूक्तका उपनयन कर्म आदिमें पहिले सूक्त के साथ विनियोग कह दिया है ।

तथा हिरण्यगर्भ नामक महादानमें "रक्षन्तु त्वा" से कर्ताकी रक्षा करे । परिशिष्टमें "हिरण्यगर्भविधिम् अनुक्रमिष्यामः" का आरंभ करके कहा है, कि–"यदाबध्नन् (१ । ३५) इति हिरण्यस्रजं आग्रथ्य रक्षन्तु त्वा (८ । २) इति यजमानं अभिमन्त्र्य" (परिशिष्ट १३ । १)

तथा अश्वरथ नामक महादानमें इससे यजमानका अभिमन्त्रण करे । "अथाश्वरथप्रदानविधिः" का आरम्भ करके परिशिष्टमें कहा है, कि–"पुनन्तु मा (६ । १९) इत्यात्मानं आलभ्य जपेद् रक्षन्तु त्वाग्नयः (८ । २) इति अभिमन्त्र्य" (परिशिष्ट १४ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

रक्ष॑न्तु त्वाग्न॒यो॒ ये अ॒प्स्व॑१॒न्ता रक्ष॑न्तु त्वा मनु॒ष्या॒३॒
यमि॒न्धते॑ ।

वै॒श्वा॒न॒रो र॑क्षतु जा॒तवे॑दा दि॒व्यस्त्वा॒ मा प्र धाग्
वि॒द्युता॑ स॒ह ॥ ११ ॥

र॑क्षन्तु । त्वा॒ । अ॒ग्नयः॑ । ये । अ॒प्ऽसु । अ॒न्तः । र॑क्षतु । त्वा॒ ।
म॒नु॒ष्याः॑ । यम् । इ॒न्धते॑ ।
वै॒श्वा॒न॒रः । र॒क्ष॒तु॒ । जा॒तऽवे॑दाः । दि॒व्यः । त्वा॒ । मा । प्र ।
धा॒क् । वि॒ऽद्युता॑ । स॒ह ॥ ११ ॥

अप्सु अन्तः उदकेषु मध्ये ये अग्नयो वाडवादिरूपेण वर्तन्ते तेऽग्नयः त्वा त्वाम् हे रक्षाकाम राजादे रक्षन्तु पालयन्तु । उदकेष्वग्निसद्भावम् आह मन्त्रः । "अप्स्वग्ने सधिष्टव" [ऋ० ८. ४३. ९] अग्निं च विश्वशंभुवम्" [ऋ० १०. ९. ६] इत्यादिकः । "सोपः प्राविशत् [तै० सं० २. ६. ६. १] इति च । अबधिष्ठानबहुत्वम् अपेक्ष्य अग्नीनां बहुत्वाभिधानम् । यद्वा अग्नीषोमयोरखिलजगत्कारणत्वेन विकारेषु सर्वेष्वपि अग्निसंभवाद् बहुत्वाभिधानम् । तथा यम् अग्निं मनुष्या आहवनीयादिरूपेण वर्तमानं वा पाकाद्यर्थम् अवस्थापितं वा इन्धते दीप्तं कुर्वन्ति सोपि त्वां रक्षतु । ❀ अन्ता रक्षत्वित्यत्र "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति दीर्घः ❀ । एवं वैश्वानरः विश्वेषां नराणां संबन्धी जाठरोग्निः स च जातवेदाः जातप्रज्ञो जातधनो वा त्वां रक्षतु । तथा दिव्यः दिवि भवो वैद्युतो विद्युता स्वशरीरेण सह सहितः सन् त्वां मा प्र धाक् प्रकर्षेण मा दहतु । ❀ दह भस्मीकरणे । "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् ❀ ।

जो अग्नियें बड़वा आदि रूपसे जलोंमें रहती है + वे हे रक्षा-

+ जलमें अग्निका होना इन मन्त्रोंमें स्पष्टतया कहा है, कि-

काम ! तेरी रक्षा करें। तथा जिन आह्वनीयादिरूपमें वा पाक आदिके लिये स्थापित अग्निको मनुष्य प्रदीप्त करते हैं वे अग्नियें भी हे रक्षाकाम ! तेरी रक्षा करें। इसी प्रकार वैश्वानर जाठराग्नि जातवेदा तेरी रक्षा करें। और द्यौमें होने वाला दिव्य वैद्युत अग्नि अपने शरीर बिजलीके द्वारा तुझे भस्म न करें॥११॥

द्वितीया ॥

मा त्वा॑ क्र॒व्याद॒भि मं॑स्ता॒रात् सं॑क॑सुकाच्चर ।
रक्षं॑तु त्वा॒ द्यौ रक्षं॑तु पृ॒थिवी सूर्यं॑श्च त्वा॒ रक्षं॑तां च॒न्द्रमां॑श्च
अ॒न्तरि॑क्षं रक्षतु देवहे॒त्याः ॥ १२ ॥

मा॑ । त्वा॒ । क्र॒व्य॒ऽअ॒त् । अ॒भि । मं॒स्त॒ । आ॒रात् । सम्ऽक॑सुकात् । च॒र॒ ।
रक्ष॑तु । त्वा॒ । द्यौः । रक्ष॑तु । पृ॒थि॒वी । सूर्यः॑ । च॒ । त्वा॒ । रक्ष॑ताम् ।
च॒न्द्रमाः । च॒ ।
अ॒न्तरि॑क्षम् । र॒क्ष॒तु॒ । दे॒व॒ऽहे॒त्याः ॥ १२ ॥

क्रव्यात् मांसाशनोग्निः । ❀ "क्रव्ये च" इति अदेर्विट् ❀ । स च त्वा त्वां माभि मंस्त मम त्वम् आहार इत्यभिमानं मा करोतु । "नास्य रुद्रः पशून् अभिमन्यते" [तै० सं० १. ६. ७. ४] इत्यादौ तथा दर्शनात् । ❀ मन ज्ञाने । लुङि सिचि "एकाच उपदेशेनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः ❀ । त्वं च संकुसुकात् शत्र-

---

"अप्स्वग्ने सधिष्टव" (ऋग्वेदसंहिता ८ । ४३ । ९) तथा "अग्निं च विश्वशंभुवम्०" (ऋग्वेदसंहिता १० । ९ । ६) और तैत्तिरीयसंहिता २ । ६ । ६ । १ में भी कहा है, कि—"सोऽपः प्राविशत्—वह जलमें प्रवेश कर गया" ॥

भक्षकाद् एतन्नामकाद् अग्नेः आरात् दूरदेश एव चर। तथा द्यौः पृथिवी सूर्यश्चन्द्रमाश्च प्रत्येकं स्वस्वसंबन्धिनो भयात् त्वा त्वां रक्षतु। अन्तरिक्षमपि त्वां देवहेत्याः देवप्रेरिताद् आयुधाद् रक्षतु ॥

मांसका भक्षण करने वाला क्रव्याद् अग्नि मेरा यह आहार है–इस प्रकार तुझको न माने। और तू भी शवभक्षक संकुसुक नामक अग्निसे दूरस्थानमें ही विचरण कर। तथा सूर्य चन्द्रमा द्यौ और पृथिवी अपने २ भयसम्बन्धसे तेरी रक्षा करें। अन्तरिक्ष भी देवप्रेरित आयुधसे तेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

बो॒धश्च॑ त्वा प्रतीबो॒धश्च॑ रक्षतामस्व॒प्नश्च॑ त्वानवद्रा॒णश्च॑
रक्षताम्।
गो॒पा॒यंश्च॑ त्वा॒ जागृ॑विश्च रक्षताम् ॥ १३ ॥

बो॒धः। च॒। त्वा॒। प्र॒ति॒ऽबो॒धः। च॒। र॒क्ष॒ता॒म्। अ॒स्व॒प्नः। च॒। त्वा॒। अ॒न॒व॒ऽद्रा॒णः। च॒। र॒क्ष॒ता॒म्।
गो॒पा॒यन्। च॑। त्वा॒। जागृ॑विः। च॒। र॒क्ष॒ता॒म् ॥ १३ ॥

[बोधप्रतीबोधौ नाम ऋषी]। "ऋषी बोधप्रतीबोधौ" इति प्रागुक्तत्वात् [५. ३०. १०]। तत्सहप्रपाठाद् अत्रोक्ताः षडपि ऋषयः। बोधः सर्वदा प्रतिबुध्यमानः। प्रतीबोधः प्रतिवस्तु प्रतिक्षणं वा बुध्यमानः। अस्वप्नः स्वप्नरहितः। अनवद्राणः निद्रारहितः। गोपायन् सर्वदा देहस्य गोपायिता। जागृविः जागरणशीलः। एते सर्वे देहाश्रयाः प्राणापानमनोबुद्धिचक्षुर्द्वयरूपा इन्द्रियाभिमानिदेवा यथोचितं बोद्धव्याः। ते युग्मशस्त्वां रक्षन्त्वित्यर्थः॥

सदा बुध्यमान बोध, प्रतिवस्तुको जानने वाले प्रतिबोध, स्वप्नरहित अस्वप्न, निद्रारहित अनवद्राण, सदा देहकी रक्षा करने

वाले गोपायन् और जागरणशील जागृवि ऋषि तेरी रक्षा करें। तात्पर्य यह है, कि–ये सब देहाश्रय प्राण अपान, मन बुद्धि और नेत्रद्वयरूप इन्द्रियाभिमानी देवता युग्म २ होकर तेरी रक्षा करें १३

चतुर्थी ॥

ते त्वा॑ रक्षन्तु॒ ते त्वा॑ गोपायन्तु॒ तेभ्यो॒ नम॒स्तेभ्यः॒
स्वाहा॑ ॥ १४ ॥

ते । त्वा॒ । र॒क्ष॒न्तु॒ । ते । त्वा॒ । गो॒पा॒य॒न्तु॒ । तेभ्यः॑ । नमः॑ । तेभ्यः॑ ।
स्वाहा॑ ॥ १४ ॥

ते बोधाद्याः त्वा त्वां रक्षन्तु पालयन्तु । ते त एव त्वा गोपायन्तु । गोपायनं सर्वतो रक्षणम् । तेभ्यः बोधादिभ्यो देवेभ्यो नमः नमस्कारोस्तु । तेभ्यः स्वाहा । इदं द्रव्यं स्वाहुतम् अस्तु ॥

वे बोध आदि तेरा पालन करें, वे ही तेरी चारों ओरसे रक्षा करें, इन बोध आदि देवताओंके लिये नमस्कार हो, यह द्रव्य उनके लिये आहुत हो ॥ १४ ॥

जी॒वेभ्य॑स्त्वा स॒मुदे॑ वा॒युरिन्द्रो॑ धा॒ता द॑धातु सवि॒ता
त्राय॑माणः ।
मा त्वा॑ प्रा॒णो बलं॑ हासी॒दसुं॒ तेनु॑ ह्वयाम॒सि ॥ १५ ॥

जी॒वेभ्यः॑ । त्वा॒ । स॒म्ऽउदे॑ । वा॒युः । इन्द्रः॑ । धा॒ता । द॒धा॒तु॒ ।
स॒वि॒ता । त्राय॑माणः ।

मा । त्वा॒ । प्रा॒णः । बल॑म् । हा॒सी॒त् । असु॑म् । ते॒ । अनु॑ । ह्व॒या॒म॒सि॒ ॥ १५ ॥

मा त्वा॑ ज॒म्भः संह॑नु॒र्मा तमो॑ विद॒न्मा जि॒ह्वा ब॒र्हिः
प्र॑म॒युः क॒था स्या॑ः ।
उत् त्वा॑दि॒त्या वस॑वो भर॒न्तूदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये॑ ॥१६॥

मा । त्वा॒ । ज॒म्भः । सम्ऽह॑नुः । मा । तमः॑ । वि॒द॒त् । मा । जि॒ह्वा । आ । ब॒र्हिः । प्र॒ऽम॒युः । क॒था । स्या॒ः ।

उत् । त्वा॒ । आ॒दि॒त्याः । वस॑वः । भ॒र॒न्तु॒ । उत् । इ॒न्द्रा॒ग्नी इति॑ । स्व॒स्तये॑ ॥ १६ ॥

उत् त्वा॒ द्यौरुत् पृ॑थि॒व्युत् प्र॒जाप॑तिरग्रभीत् ।
उत् त्वा॑ मृ॒त्योरोष॑धय॒ः सोम॑राज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥

उत् । त्वा॒ । द्यौः । उत् । पृ॒थि॒वी । उत् । प्र॒जाऽप॑तिः । अ॒ग्र॒भी॒त् ।

उत् । त्वा॒ । मृ॒त्योः । ओष॑धयः । सोम॑ऽराज्ञीः । अ॒पी॒प॒र॒न् १७

पञ्चमी । जीवेभ्यः । अत्र जीवोपयुक्तानि इन्द्रियाणि जीवशब्दव्यपदेशं भजन्ते । तेषाम् अर्थाय । अथ वा जीवाः पोषणीयाः पुत्रभार्यादासादयः । तेषाम् अर्थाय । तादर्थ्ये विशिनष्टि । समुदे तेषां संमोदाय त्वां वाय्वादयः प्रत्येकं समुदायो वा दधातु स्थापयतु मृत्योराकृष्य प्रयच्छतु । त्रायमाण इति सवितुर्विशेषणम् । त्वां पालयमानः ॥ किं च त्वा त्वां प्राणः शरीरबलं च मा हासीत् मा त्याक्षीत् । ते असुम् अनुह्वयामसि आनुकूल्येन आह्वयाम ॥ किं च त्वा त्वां संहनुः संहतदन्तो जम्भः असुरः । अथ वा संहनुः संहतहनुर्जम्भः अस्थूलदन्तो मा विदत्

मा विन्दतु । भक्षयितुम् इति शेषः । "तं वो जम्भे दधामि" [तै० सं० ४. ५. ११. २] इत्यादिमन्त्रदर्शनात् । तथा तमः अज्ञानमपि मा विदत् । एवं बर्हिः बर्हिरिव आयामविस्तारोपेता उह्यमाना जिह्वा रक्षःप्रभृतेः सँबन्धिनी मा विदत् । किमर्थम् एवं प्रार्थ्यत इति चेत् तत्राह । कथा केन प्रकारेण त्वं प्रमयुः प्रगतहिंसः प्रगतहिंसको वा स्याः भवेः । एवमर्थं जम्भादि मा विददित्यर्थः ॥

षष्ठी ॥ आदित्याः अदितेः पुत्रा देवा धात्रादयः त्वा त्वाम् उद्धरन्तु ऊर्ध्वं हरन्तु मृत्योर्मुखात् । तथा वसवः अष्टसंख्याका धरादयः उद्धरन्तु । इन्द्राग्नी । इन्द्रश्च अग्निश्च देवौ उद्धरताम् । किमर्थम् । स्वस्तये क्षेमाय । तथा द्यौः द्युदेवता त्वाम् उद्धरतु पृथिवी च उद्धरतु । किं बहुना । प्रजापतिः सर्वेषां देवानां पिता उदग्रभीत् उद्ग्रहणम् अकार्षीत् उद्गृह्णातु । सोमराज्ञीः सोमस्य पत्न्यः ओषधयो देव्यो मृत्योः सकाशात् त्वाम् उदपीपरन् अपालयन् ॥

वायु इन्द्र धाता और रक्षा करते हुए सूर्यदेव तुझको मृत्युसे खेंच कर जीवकी उपयोगी इन्द्रियोंके लिये वा पोषणीय पुत्र भार्या दास आदिके लिये, उनको प्रसन्न करनेके लिये देवें । प्राण और बल तुझको न छोड़े, हम तेरे प्राणको अनुकूलरूपमें बुलाते हैं ॥

मिले हुए ओठों वाला जंभ नामक असुर भक्षण करनेके लिये तुझको खानेके लिये न पासके । अज्ञान भी तुझको प्राप्त न होवे और कुशाकी समान विस्तार आदि वाली राक्षस आदिकी जिह्वा भी तुझको प्राप्त न होवे । क्योंकि—तू प्रगतहिंसक होगया है ॥

अदितिके पुत्र धाता आदि मृत्युके मुखसे तेरा उद्धार करें । धरादि आठवसु भी तेरा मृत्युमुखसे उद्धार करें । इन्द्र और अग्निदेवता भी क्षेमके लिये तेरा उद्धार करें ॥ द्युदेवता और

पृथिवी भी तेरा उद्धार करे। अधिक क्या सब देवताओंके पिता प्रजापति भी तेरा उद्धार करें, सोमकी पत्नियें औषधियें भी मृत्युसे तेरा पालन करें ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

सप्तमी ॥

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः।
इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥ १८ ॥

अयम्। देवाः। इह। एव। अस्तु। अयम्। मा। अमुत्र। गात्। इतः।
इमम्। सहस्रऽवीर्येण। मृत्योः। उत्। पारयामसि ॥ १८ ॥

हे देवाः आदित्याद्या अयं पुरुषः इहैव भूलोके अस्तु भवतु। एतदेव व्यतिरेकमुखेनाह। अयम् इतः अस्माद्भूलोकाद् अमुत्र स्वर्गे मा गात्। वयं रक्षाकर्तारः इमं पुरुषं सहस्रवीर्येण अपरिमितसामर्थ्येन रक्षाविधानेन मृत्योः सकाशाद् उत्पारयामसि उत्पारयामः ॥

हे देवताओं! यह पुरुष इस भूलोकमें ही रहे। यह इस लोकसे स्वर्गलोकमें न जावे। रक्षा करने वाले हम अपरिमित शक्तिवाले रक्षाविधानसे मृत्युके फन्देसे इसको बाहर कर रहे हैं ॥१८॥

अष्टमी ॥

उत् त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः।
मा त्वा व्यस्तकेश्यो३ मा त्वाघरुदो रुदन् ॥१९ ॥

उत्। त्वा। मृत्योः। अपीपरम्। सम्। धमन्तु। वयःऽधसः।
मा। त्वा। व्यस्तऽकेश्यः। मा। त्वा। अघऽरुदः। रुदन् १९

हे आयुष्काम पुरुष त्वा त्वां मृत्योरुदपीपरन् पालयन्तु वयो-

धसः अन्नस्य आयुष्यस्य वा धातारो देवाः सं धमन्तु संधानं कुर्वन्तु च । ❀ धमतिर्गतिकर्मा ❀ । त्वा त्वां प्रति व्यस्तकेश्यः कीर्णकेशा बन्धुयोषितो मा रुदन् अश्रुविमोकं मा कार्षुः । तथा अघरुदः अघे व्यसने दुःखे बान्धवेन रोदनकर्तारो मा रुदन् ॥

हे आयुष्काम पुरुष ! अन्न वा आयुको पुष्ट करने वाले देवता तेरा संधान करें । तेरे लिये बांधवोंकी स्त्रियें बाल बखेर कर न रोवें, और दुःखमें रोने वाले बांधव भी तेरे निमित्त रोने वाले न होवें ॥ १९ ॥

नवमी ॥

आहार्षमविंदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेविदम् ॥ २० ॥

आ । अहार्षम् । अविदम् । त्वा । पुनः । आ । अगाः । पुनःऽनवः ।
सर्वऽअङ्ग । सर्वम् । ते । चक्षुः । सर्वम् । आयुः । च । ते । अविदम्

हे मृत्युग्रस्त पुरुष त्वा त्वाम् आहार्षम् मृत्युमुखाद् आहृतवान् अस्मि । आहृत्य च त्वा त्वाम् अविदम् लब्धवानस्मि । हे पुनर्नव पुनरुत्पन्न त्वं पुनरागाः पुनरागतोसि । पुनर्जीवलाभात् पुनर्नवत्वव्यपदेशः । हे सर्वाङ्ग केनचिदपि चक्षुराद्यङ्गेन अविकल संपूर्णाङ्ग । मृत्यभावेपि प्रायेण अंगवैकल्यं दृढरोगग्रस्तस्य भवतीत्यभिप्रायेण एवम् आह । ते तव सर्वं चक्षुः । चक्षुर्विषयम् इत्यर्थः । सर्वमपि इन्द्रियजातं स्वविषयप्रकाशकम् । भवत्विति शेषः । ते तव सर्वम् शतसंवत्सरलक्षणम् आयुः अविदम् लब्धवान् अस्मि ॥

हे मृत्युग्रस्त पुरुष ! मैंने तुझको मृत्युके मुखसे खेंच लिया है और खेंचकर तुझको पालिया है, हे दूसरी वार उत्पन्न हुए

पुरुष ! तू फिर आया है, इसलिये फिर नवीन होगया है । हे चक्षु आदि प्रत्येक अङ्गसे अविकलरूपमें सम्पन्न ! तेरी चक्षु आदि सकल इन्द्रियें अपने २ विषयोंको प्रकाशित करने वाली होवें । तेरे निमित्त सौ वर्षकी आयुको मैंने प्राप्त कर लिया है २०

दशमी ॥

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत् ।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥२१॥

वि । अवात् । ते । ज्योतिः । अभूत् । अप । त्वत् । तमः । अक्रमीत् ।
अप । त्वत् । मृत्युम् । निःऽऋतिम् । अप । यक्ष्मम् । नि । दध्मसि

हे विसंज्ञ पुरुष ते व्यवात् व्यौच्छत् तमोविवासनम् अभूत् । अत एव ज्योतिः संज्ञानम् अभूत् । तथा त्वत् त्वत्तः सकाशात् तमः कृत्स्नम् अपाक्रमीत् अपक्रान्तम् अभूत् । कुतो हेतोरिति तत्राह । त्वत् त्वत्तः मृत्युम् प्राणापहर्त्री देवतां निर्ऋतिम् पापदेवताम् अप । नि दध्मसीति उत्तरक्रियानुषङ्गः । तथा यक्ष्मम् बाह्यम् आभ्यन्तरं च रोगम् अप नि दध्मसि अपनिदध्मः त्वत्तः प्रच्यावयामः ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे संज्ञाहीन पुरुष ! तेरा तम दूर होगया है, अत एव संज्ञान होगया है । तथा तेरे पाससे सारा अन्धकार दूर होगया है, क्योंकि—तेरे पाससे हम प्राणोंका अपहरण करने वाली मृत्युदेवताको और पापदेवता निर्ऋतिको अलग कर चुके हैं और तेरे भीतरी बाहरी रोगको भी दूर कर चुके हैं ॥ २१ ॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४३९) ॥

“आ रभस्व” इति सूक्तत्रयम् अर्थसूक्तम् । तेन उपनयनकर्मणि माणवकस्य नाभिं संस्पृश्य आचार्यो जपं कुर्यात् । “उपनयनं” प्रक्रम्य सूत्रितम् । “दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे [८. १] आ रभस्व” [८. ३] इति [कौ० ७. ६] ॥

तथा आयुष्कामः “आ रभस्व” इति सूक्तत्रयेण शरीरम् अभिमन्त्रयेत ॥

तथा ऋषिहस्तेन आयुष्कामस्य शरीरम् अनेनाभिमन्त्रयेत ॥

सूत्रितं हि । “आ रभस्व [८. १] प्राणाय नमः [११.४] विषासहिम् [१७. १] इत्यभिमन्त्रयते” इति [कौ० ७. ९] ॥

तथा अस्यार्थसूक्तस्य आयुष्यगणे पाठाद् “विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्” [कौ० १४. ३] इत्यादिषु विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

तथा नामकरणाख्ये कर्मणि अनेनार्थसूक्तेन कुमारस्य हस्ते अविच्छिन्नाम् उदकधारां निनयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनार्थसूक्तेन देवदारुमणिं संपाद्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । तस्यैव मणिं निघृष्य पायनं च कुर्यात् । तद् उक्तं कौशिकेन । “अथ नामकरणम् आ रभस्वेमाम् इत्यविच्छिन्नाम् उदकधाराम् आलम्भयति । पूतिदारुं बध्नाति । पाययति” इति [कौ० ७. ९] ॥

अन्त्येष्टौ “आ रभस्व” इति त्रिभिः प्रेताग्निम् आदीपयेत् ॥

त्रिंशन्महाशान्तितन्त्रभूतायां महाशान्तौ “आ रभस्व” इत्येतज्जपेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे ॥

पुनस्तदेव जप्यं तु शंतातीयम् अथावतः ।
अन्तकाया रभस्वेति [न० क० २३] ॥

तथा “वैश्वदेवीं गतायुषाम्” इति [न० क० १७] विहि-

तायां महाशान्तौ देवदारुमणिबन्धनम् अनेन कुर्यात् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “आ रभस्वेति पूतिदारुं वैश्वदेव्याम्” इति [न० क० १९] ॥

‘आरभस्व’ आदि तीन सूक्तोंका समूह अर्थसूक्त कहलाता है। इससे उपनयनकर्ममें माणवककी नाभिका स्पर्श करके आचार्य जप करे। उपनयनका आरंभ करके सूत्रमें कहा है, कि-‘दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे (८।१) आ रभस्व (८ । ३)’ ॥

तथा आयुको चाहने वाला ‘आरभस्व’ आदि तीन सूक्तोंसे शरीरका अभिमन्त्रण करे।

तथा ऋषिहस्तसे आयुष्कामके शरीरका इससे अभिमंत्रण करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–‘आरभस्व (८ । १) प्राणाय नमः (११ । ४) विषासहिम् (१७ । १) इत्यभिमन्त्रयते’ (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

तथा इस अर्थसूक्तका आयुष्यगणमें पाठ होनेसे ‘विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्’ कौशिकसूत्र ७ । ६ आदि में विनियोग करना चाहिये।

तथा नामकरण नामक कर्ममें इस अर्थसूक्तसे कुमारके हाथमें अविच्छिन्न (अटूट) जलधाराको डाले।

तथा इसी कर्ममें इस अर्थसूक्तसे देवदारुकी मणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे। और उसीकी मणिको घिस कर भी पिलावे। इसी बातको कौशिकने कहा है, कि–‘अथ नामकरणं आ रभस्वेमां इत्यवच्छिन्नां उदकधारां आलंभयति। पूतिदारुं बध्नाति। पाययति’ ॥

अन्त्येष्टिमें ‘आ रभस्व’ आदि तीनसे प्रेताग्निको प्रचण्ड करे।

तीस महाशान्तियोंकी प्रधान महाशांतिमें ‘आरभस्व’ का जप

करे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–‘पुनस्तदेव जप्यं तु शान्तातीयं अथावतः। अन्तकाया रभस्वेति’ (नक्षत्रकल्प २३)॥

तथा ‘वैश्वदेवीम् गतायुषाम्–गतायुओंके लिये वैश्वदेवी शान्तिको करे’ इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित वैश्वदेवी महाशान्तिमें इससे देवदारुमणिबंधनको करे। इसी बातको नक्षत्रकल्प १९ में कहा है, कि–‘आ रभस्वेति पूतिदारुं वैश्वदेव्याम्’॥

तत्र आ रभस्वेति प्रथमसूक्ते प्रथमा ॥

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयु पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥ १ ॥

आ। रभस्व। इमाम्। अमृतस्य। श्नुष्टिम्। अच्छिद्यमाना। जरत्ऽअष्टिः। अस्तु। ते।
असुम्। ते। आयुः। पुनः। आ। भरामि। रजः। तमः। मा। उप। गाः। मा। प्र। मेष्ठाः॥ १॥

हे आयुष्काम पुरुष इमाम् अस्माभिः क्रियमाणाम् अमृतस्य अमरणत्वस्य श्नुष्टिम् प्रस्तुतिम् आ रभस्व उपक्रमस्व। अनुभवितुम् इति शेषः। यद्वा कुमारस्य हस्ते अविच्छिन्नाम् उदकधारां निनयेदिति विनियोगाद् अमृतशब्देन उदकम् उच्यते। तस्य श्नुष्टिम्। उदकधाराम् इत्यर्थः। अच्छिद्यमाना परैर्विच्छेत्तुम् अनर्हा जरदष्टिः जरावस्थापर्यन्तम् अष्टिः अशनं जरदष्टिः। सा ते अस्तु भवतेस्तु। तदर्थं ते तव असुम् प्राणं मृत्युना अपहृतम् आयुश्च

पुनः आ भरामि आहरामि । त्वं च रजः रागम् अस्माकं सत्त्वगुणप्रतिबन्धकं मोप गाः मा प्राप्नुहि । ❀ इण् गतौ । "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❀ । एवं तमः आवरकं हिताहितविवेकप्रतिरोधकं तम आख्यगुणं मोप गाः । न केवलं रजस्तमसोरप्राप्तिरेव प्रार्थ्यते किं तु मृतिनिवारणमपि मा प्र मेष्ठा इति । हिंसां च मा प्राप्नुहि । ❀ मीङ् हिंसायाम् । लुङि रूपम् ❀ ॥

हे आयुष्काम पुरुष ! इस हमारी कीहुई अमरणत्वकी प्रस्तुति का उपक्रम कर (अथवा–इस हमारी दी हुई जलधाराका अनुभव कर) यह तेरे निमित्त दूसरोंसे न टूटने योग्य, जरावस्था तक रहनेवाली हो । मैं तेरे निमित्त, मृत्युसे हरे हुए प्राण और आयुको फिर लाता हूँ । तू हममें सत्त्वगुणके प्रतिबंधक रज-राग-को प्राप्त न होना । इसप्रकार हिताहित विवेकके प्रतिबन्धक आवरक तमोगुणको प्राप्त न हो और हिंसाको प्राप्त न हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

जीव॑ता॒ं ज्योति॑र॒भ्येह्य॒र्वा॑ङा त्वा॑ हरामि श॒तशा॑रदाय ।
अ॒व॒मु॒ञ्चन् मृ॑त्युपा॒शानश॑स्ति॒ं द्राघी॑य॒ आयु॑ः प्रत॒रं ते॑
दधामि ॥ २ ॥

जी॑वताम् । ज्योति॑ः । अ॒भि॒ऽएहि॑ । अ॒र्वाङ् । आ । त्वा॒ । ह॒रा॒मि॒ ।
श॒त॑ऽशारदाय ।
अ॒व॒ऽमु॒ञ्चन् । मृ॒त्यु॒ऽपा॒शान् । अश॑स्तिम् । द्राघी॑यः । आयुः ।
प्र॒ऽत॒रम् । ते॒ । द॒धा॒मि॒ ॥ २ ॥

हे पुरुष त्वं जीवताम् मनुष्याणां ज्योतिः दीप्तिं ज्ञानम् अर्वाङ् अस्मदभिमुखः अभ्येहि अभ्यागच्छ । अहं तु त्वा त्वाम् आ

हरामि। मृत्युसकाशाद् इति शेषः। किमर्थम्। शतशारदाय। शतसंख्याकशरदवधिकम् आयुः शतशारदम्। शतायुषे। चिरकालजीवनायेत्यर्थः।मृत्युपाशबद्धस्य कथम् आगमनम् इति तत्राह। मृत्युपाशान् मृत्योः ज्वरशिरोरोगादिनानाविधान् पाशान् अवमुञ्चन् उत्सृजन्। तथा अशस्तिम् निन्दाम् अवमुञ्चन्। सा हि कोश इव आच्छादयति। एतत् सर्वं सत्यायुषि संभवतीत्याशङ्क्याह। द्राघीयः अतिदीर्घं शतसंवत्सरलक्षणम् आयुः।❀"प्रियस्थिर०" इत्यादिना दीर्घशब्दस्य द्राघादेशः ❀। ते त्वदर्थं प्रतरम् प्रकृष्टतरं दधामि स्थापयामि ॥

हे पुरुष ! तू जीवित पुरुषोंके ज्ञानको चिरकाल तक जीवित रहनेके लिये हमारे अभिमुख होता हुआ प्राप्त हो तू ज्वर शिरोरोग आदि मृत्युके अनेक प्रकारके पाशोंको त्यागता हुआ तथा निन्दाको त्यागता हुआ प्राप्त हो, मैं तेरी अतिदीर्घ प्रकृष्टतर आयुको स्थापित करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव ।
यत् ते मनस्त्वयि तद् धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद
जिह्वयालपन् ॥ ३ ॥

वातात्। ते। प्राणम्। अविदम्। सूर्यात्। चक्षुः।अहम्। तव।
यत्। ते। मनः। त्वयि। तत्। धारयामि। सम्। वित्स्व।
अङ्गैः। वद। जिह्वया। अलपन् ॥ ३ ॥

हे गतासो पुरुष ते तव प्राणं वातात् स्वाश्रयभूताद् बाह्यवायोः सकाशाद् अविदम् लब्धवान अस्मि। प्राणवायोर्मरणा-

वस्थायां वायुप्राप्तेः उत्पत्त्यवस्थायां तत एवोत्पत्तेश्च एवम् उच्यते। तथा च श्रूयते। "वातं प्राणम् अन्ववसृजतात्" इति [ऐ० ब्रा० २. ६] "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" [ऐ० आ० २. ४. २] इति च। अहं तव चक्षुश्च सूर्याद् अविदम्। पूर्ववन्मृतिसमये चक्षुषः सूर्यप्राप्तेः उत्पत्तिसमयेपि सूर्यादेवोत्पत्तेश्च एवम् उच्यते। "सूर्यं चक्षुर्गमयतात्" इति [ऐ० ब्रा० २. ६] "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" [ऐ० आ० २. ४. २] इति च। किं च यत् ते मनः उत्क्रमणसमये निर्गतं तत् त्वय्येव धारयामि स्थापयामि। त्वं तु यत एवम् अतो विश्वाङ्गैः कृत्स्नैरङ्गैरुपेतः सन् जिह्वया आलपन् व्यक्तम् उच्चरन् वद वाचम् उदीरय। जीवनस्य अभिवदनं स्पष्टं लिङ्गम् इति तत् प्रार्थ्यते॥

हे गतासु पुरुष! मैंने तेरे प्राणको स्वाश्रयभूत बाह्य वायुसे प्राप्त कर लिया है। प्राणवायु मरणावस्थामें वायुको प्राप्त हो जाता है और उत्पत्तिदशामें भी उससे ही उत्पन्न होजाता है अत एव यह कहा है। ऐतरेयब्राह्मण २। ६ में कहा है, कि–'वातं प्राणं अन्ववसृजतात्।-वात प्राणको रचता हुआ' तथा ऐतरेय ब्राह्मण २। ४। २ में भी कहा है, कि–'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।–वायु प्राण बन कर नासिकामें प्रवेश कर गया') और मैंने तेरे चक्षुको सूर्यसे प्राप्त कर लिया है (ऐतरेय ब्राह्मण २। ६ में कहा है, कि–'सूर्यं चक्षुर्गमयतात्।–चक्षु सूर्यको प्राप्त होगया' ऐतरेय ब्राह्मण २। ६ तथा ऐतरेय आरण्यक २। ४। २ में कहा है, कि–'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्।–आदित्यने चक्षु होकर नेत्रोंमें प्रवेश किया") और तेरा जो मन उत्क्रमणके समय निकल गया था उसको तुझमें ही स्थापित करता हूँ अत एव तू सम्पूर्ण अंगोंसे सम्पन्न होकर जिह्वासे स्पष्ट वाणीका उच्चारण कर॥ ३॥

चतुर्थी ॥

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि ।
नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेकरम् ॥ ४ ॥

प्राणेन । त्वा । द्विऽपदाम् । चतुःऽपदाम् । अग्निम्ऽइव । जातम् । अभि । सम् । धमामि ।

नमः । ते । मृत्यो इति । चक्षुषे । नमः । प्राणाय । ते । अकरम् ४

हे निर्यत्प्राण त्वा त्वां द्विपदाम् पुरुषादीनां चतुष्पदाम् गवाश्वादीनां च प्राणेन । सर्वप्राणिनां प्राणेनेत्यर्थः । तेन जातम् मथनाद् उत्पन्नम् अग्निमिव तं यथा अणीयांसं सन्तं नाल्यादिसाधनेन मुखवायुना अभिसंधमति तद्वद् अल्पप्राणं सन्तं सर्वप्राणिप्राणेन अभि सं धमामि संयोजयामि प्रभूतप्राणं करोमि । हे मृत्यो ते तव चक्षुषे क्रूराय नमः अकरम् । तथा ते प्राणाय प्रकृष्टाय बलायापि नमः अकरम् करोमि । ❀ करोतेर्लुङि "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति अङ् ❀ ॥

हे क्षीणप्राण ! तुझको द्विपद पुरुष आदिके तथा चतुष्पद गौ आदिके अर्थात् सकल प्राणियोंके प्राणोंसे तुझको इस प्रकार प्रभूत प्राण वाला करता हूँ जिस प्रकार मथनसे उत्पन्न हुए अल्प अग्निको मुखकी वायुसे बढ़ाते हैं, हे मृत्यो ! तेरी क्रूर चक्षुके लिये मैं नमस्कार करता हूँ, तथा तेरे प्राणबलके लिये भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि ।

कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥ ५ ॥

अयम् । जीवतु । मा । मृत । इमम् । सम् । ईरयामसि ।

कृणोमि । अस्मै । भेषजम् । मृत्यो इति । मा । पुरुषम् । वधीः ५

अयं गतासुः पुरुषो जीवतु । मा मृत मरणं मा प्राप्नुयात् । ❀ मृङ् प्राणत्यागे । "लुङ्" । "उश्च" इति सिचः कित्त्वम् । "ह्रस्वाद् अङ्गात्" इति सिचो लोपः ❀ । इमं पुरुषं समीरयामसि सम्यक् प्रेरयामः । यथा चेष्टते तथा प्रयतामहे । तद् एव एकवद् आह । अस्मै मुमूर्षवे पुरुषाय भेषजम् चिकित्सां कृणोमि करोमि । हे मृत्यो त्वं तु पुरुषम् अमुं मा वधीः मा जहि ॥

यह गतासु पुरुष जीवित रहे मरणको प्राप्त न हो, इस पुरुष को हम भली प्रकार प्रेरित करते हैं अर्थात् यह जिस प्रकार चेष्टा कर सके तैसा प्रयत्न करते हैं, मैं इस मुमूर्षु पुरुषके लिये चेष्टा करता हूँ । हे मृत्यो ! तू इस पुरुषका वध न कर ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । नघऽरिषाम् । जीवन्तीम् । ओषधीम् । अहम् ।

त्रायमाणाम् । सहमानाम् । सहस्वतीम् । इह । हुवे । अस्मै ।

अरिष्टऽतातये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । ❀ मत्वर्थीयो लः ❀ । जीववतीम् । जीवप्रदाम् इत्यर्थः । नघरुषाम् । न हन्तीति नघा । नघा रुषा रोषोऽस्यां

सा नघरुषा । यस्याः कोपोपि न घातकस्तादृशीम् इत्यर्थः । अथ वा घर्षरहिताम् अघकारिरोषरहितां वा । स्वयं जीवन्तीम् । कदाचिदपि अशुष्काम् इत्यर्थः । अथ वा सजीवाम् । त्रायमाणाम् रक्षन्तीं स्वसेविनां रोगपरिहारेण रक्षाकर्त्रीम् । सहमानाम् रोगस्याभिभवित्रीम् । सहस्वतीम् सहो बलं तद्वतीम् । एवंमहिमोपेताम् ओषधीम् पाठाख्याम् अहं व्याधिनाशकामः इह अस्मिन् शान्तिकर्मणि हुवे आह्वयामि । कस्मै प्रयोजनाय । उच्यते । अस्मै संनिहिताय पुरुषाय । रिष्टं हिंसा तदभावाय अरिष्टतातये अरिष्टकरणाय । उत्तरमन्त्रे अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीति मृत्युशब्दश्रवणाद् अत्रापि मृत्युः संबोध्यः । ❀ "शिवशमरिष्टस्य करे" इति करोत्यर्थे तातिल् ❀ । अथ वा जीवलादयः प्रत्येकम् ओषधिविशेषाः । ओषधीम् इत्येतत् प्रत्येकं संबध्यते । इह हुवे इति सर्वत्रान्वयः ॥

जीवन प्रदान करने वाली, कोप करने पर भी न मारने वाली, स्वयं जीवित रहने वाली–कभी शुष्क न होने वाली, अपना सेवन करने वालोंके रोगका अपहरण करके रक्षा करने वाली, रोगको दबाने वाली ऐसी पाठा नामक औषधिको मैं व्याधिको नष्ट करने वाला इस शान्तिकर्ममें आह्वान करता हूँ। इस संनिहित पुरुषकी अहिंसाकरणके लिये आह्वान करता हूँ ६

सप्तमी ॥

अधि॑ ब्रूहि॒ मा र॑भथाः सृ॒जेमं तवै॒व सन्त्सर्व॑हाया इ॒हास्तु॑
भवा॑शर्वौ॑ मृ॒डत॒ं शर्म॑ यच्छतमपा॒सिध्य॑ दुरि॒तं धत्त॒मायु॑ः

अधि॑ । ब्रू॒हि । मा । आ । र॒भ॒थाः॒ । सृ॒ज । इ॒मम् । तव॑ । ए॒व ।

सन् । सर्व॑ऽहायाः । इ॒ह । अ॒स्तु ।

भवाशर्वौ । मृडतम् । शर्म । यच्छतम् । अपऽसिध्य । दुःऽइतम् ।
धत्तम् । आयुः ॥ ७ ॥

हे मृत्यो त्वम् अधि ब्रूहि । पक्षपातेन वचनम् अधिवचनम् । मदीयोयम् इति वद । मा आ रभथाः आरम्भं मा कार्षीः । हन्तुम् इति शेषः । हननोद्योगो निषिध्यते । तवैव अयं जनस्तवैव । स्वम् इति शेषः । अतः इमं सं सृज । प्राणैरिति शेषः । अयम् इह अस्मिन् भूलोके सर्वहायाः सर्वगतिरस्तु । ❀ वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि [उ० ४. २२०] इति असुनि णिद्वद्भावाद् युगागमः ❀ । किं च हे भवाशर्वौ युवाम् भवश्च शर्वश्च भवाशर्वौ ईश्वरमूर्तिभेदौ । ❀ "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" इति आनङ् ❀ । मृडतम् सुखयतम् अमुष्मै शर्म सुखं यच्छतम् दत्तम् । ❀ "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀ । शर्म यच्छतम् इत्युक्तम् अर्थं विवृणोति । दुरितम् उपस्थितं व्याध्यादिलक्षणं पापम् अपसिध्य निराकृत्य आयुः धत्तम् स्थापयतं प्रयच्छतम् ॥

हे मृत्यो ! आप आग्रहपूर्वक कहिये, यह मेरा है । और इस को मारनेका आरम्भ न करिये । यह आपका ही जन है अतः इसके प्राण छोड़ दीजिये । यह इस भूलोकमें सब प्रकारकी गति वाला होवे । हे भव और शर्व देवताओं ! आप इसके लिये सुख दीजिये । इसके व्याधि आदिरूप पापको दूर करके इसको आयु दीजिये ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितो३यमेतु ।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥ ८ ॥

अस्मै । मृत्यो इति । अधि । ब्रूहि । इमम् । दयस्व । उत् । इतः ।
अयम् । एतु ।

अरिष्टः । सर्वऽअङ्गः । सुऽश्रुत् । जरसा । शतऽहायनः । आत्मना ।
भुजम् । अश्नुताम् ॥ ८ ॥

हे मृत्यो त्वम् अस्मै त्वत्तो मृतिम् आशङ्कमानाय अधि ब्रूहि असौ मदनुग्रहार्ह इति शब्दं कुरु । इमं प्रति दयस्व दयां कुरु इमं रक्ष वा । अयम् इतः अस्माद् मृत्योः उदेतु उद्गच्छतु । उक्तम् अर्थं स्पष्टम् आह । अरिष्टः अहिंसितः सर्वाङ्गः सर्वैरङ्गैश्चक्षुरादिभिः संपन्नः सुश्रुत् सुष्ठु श्रोता जरसा वार्धकावस्थया शतहायनः शतं हायना अस्य स तथोक्तः शतसंवत्सरं जीवन् आत्मना अनन्यापेक्षः सन् भुजम् भोगम् अश्नुताम् प्राप्नोतु ॥

हे मृत्यु ! तुमसे मृत्युकी आशंका करते हुए इस पुरुषके विषय में आप यह मेरे अनुग्रहका पात्र है–ऐसा शब्द करिये । इस पर दया करो । यह इस मृत्युसे उदय होवे, (स्पष्ट करते हैं, कि–) यह अहिंसित रहता हुआ, चक्षु अदि सकल अंगोंसे सम्पन्न होकर भली प्रकार सुनता हुआ, बुढ़ापेसे सौ वर्षका होता हुआ दूसरेकी अपेक्षा न रख स्वयं ही भोगोंको भोगे ॥ ८ ॥

नवमी ॥

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस
उत् त्वा मृत्योरपीपरम् ।
आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि

देवानाम् । हेतिः । परि । त्वा । वृणक्तु । पारयामि । त्वा । रजसः ।
उत् । त्वा । मृत्योः । अपीपरम् ।

आरात् । अग्निम् । क्रव्यऽअदम् । निःऽऊहन् । जीवातवे । ते ।
परिऽधिम् । दधामि ॥ ९

देवानाम् रुद्रादीनां हेतिः आयुधं त्वा त्वां परि वृणक्तु परिवर्जयतु हिंसां मा कुर्यात् । त्वा त्वां रजसः मूर्छालक्षणाद् आवरणात् पारयामि पालयामि वा । किं च त्वा त्वां मृत्योः सकाशाद् उदपीपरम् उद्धरामि । ❀ पॄ पालनपूरणयोः । ण्यन्तस्य लुङि रूपम् ❀ । आरात् दूरदेश एव क्रव्यादम् मांसाशनम् अग्निं निरौहम् निरूहामि निर्गमयामि च । ते तव जीवातवे जीवनाय परिधिम् प्राकारं दधामि स्थापयामि च । देवयजनम् अग्निम् इति शेषः । परिधिं दधामि ॥

देवताओंका आयुध तुझको त्याग देय–हिंसा न करे तेरा मूर्छारूप रजसे उद्धार करता हूँ । और तेरा मृत्युसे उद्धार करता हूँ । और मांसभक्षक अग्निको दूर ही निकाले देता हूँ और तेरे जीवनके लिये प्राकाररूपमें देवयजन अग्निको स्थापित करता हूँ ॥ ९ ॥

दशमी ॥

यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम् ।
पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि १०

यत् । ते । निऽयानम् । रजसम् । मृत्यो इति । अनवऽधर्ष्यम् ।
पथः । इमम् । तस्मात् । रक्षन्तः । ब्रह्म । अस्मै । वर्म । कृण्मसि

हे मृत्यो ते तव संबन्धि यत् नियानम् नियान्त्यत्रेति नियानं मार्गः । कीदृक् । रजसम् रजोमयम् अनवधृष्यम् केनापि धर्षितुम् अशक्यम् । तस्माद् उक्तलक्षणात् पथः मार्गाद् इमं मुमूर्षुं पुरुषं रक्षन्तो वयम् अस्मै मुमूर्षवे ब्रह्म परिवृढं शान्तिरूपं कर्म उदीरितलक्षणं मन्त्रसमूहं वा वर्म तनुत्रं कृण्मसि कृण्मः कुर्मः ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे मृत्यो ! तेरा मार्ग रजोमय है, कोई भी उसका धर्षण नहीं कर सकता, ऐसे मार्गसे इस मुमूर्षु पुरुषकी रक्षा करते हुए हम इस मुमूर्षु पुरुषके लिये मन्त्ररूप कवचको करते हैं ॥१०॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ॥

"कृणोमि ते प्राणापानौ" इति सूक्तस्य "आ रभस्व" [८,२] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

कलहरूपनिर्ऋतिगृहीते कुले तच्छान्त्यर्थम् "आरादरातिम्" इति त्र्यृचेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं च । "अथ यत्रैतत् कुलं कलहि भवति तन्निर्ऋतिगृहीतम् इत्याचक्षते । तत्र जुहुयाद् आरादरातिम् इति द्वे" इति [कौ० १३. ५] ॥

नैर्ऋतकर्मणि अनेन त्र्यृचेन इङ्गिडाज्यादीनि शर्करामिश्राणि कृत्वा जुहुयात् । "अथातो नैर्ऋतं कर्म" इति प्रक्रम्य नक्षत्रकल्पे सूत्रितम् । "आरादरातिम् इति द्वे । अपेत एतु निर्ऋतिरित्येतैः सममांसम् इङ्गिडम् आज्यम्" इत्यादि [न० क० १५] ॥

गोदानादिषु संस्कारकर्मसु "शिवे ते स्ताम्" इति त्र्यृचेन व्रीहियवशमीरभिमन्त्र्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात् । सूत्रितं हि । "शिवे ते स्ताम् [१४] इति द्यावापृथिवीभ्यां परिददाति" "शिवे ते स्ताम् इति परिदानान्तानि" इति च [कौ० ७. ५] ॥

बालकस्य निष्क्रमणकर्मणि "शिवे ते स्ताम्" इति त्र्यृचेन बालकं निष्क्रमयेत् । सूत्रितं हि । "शिवे ते स्ताम् इति कुमारं प्रथमं निर्णयति" इति [कौ० ७. ६] ॥

अद्भुतमहाशान्तौ "शिवास्ते सन्त्वोषधयः" इत्यृचा सूर्याचन्द्रमसौ यजेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । " 'उरु विष्णो वि क्रमस्व' [७. २७. ३] इति विष्णोः 'शिवास्ते सन्त्वोषधयः' [८. २. १५] इति सूर्याचन्द्रमसोः" इति [न० क० १४] ॥

तथा मिथ्याभिशापनिवृत्त्यर्थं "शिवास्ते" इत्यनया सक्तुमन्थम् ओदनं वा अभिमन्त्र्य अभ्याख्याताय दद्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि द्रुघणमणिं पलाशायोलोहहिरण्यानाम् अन्यतमं वा मणिम् अनया संपात्य अभिमन्त्र्य निन्दिताय बध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । "उतामृतासुः [५. १. ७] शिवास्ते [८. २. १५] इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति । द्रुघणशिरो रज्ज्वा बध्नाति । प्रतिरूपं पलाशायोलोहहिरण्यानाम्" इति [कौ० ५. १०] ॥

नामकरणे "यत् ते वासः" इत्यनया बालकं वस्त्रेण आच्छादयेत् । "यत् ते वास इत्यहतेनाच्छादयेत्" इति सूत्रम् [कौ७.९]॥

गोदानाख्यसंस्कारकर्मणि चौले उपनयने च "यत् क्षुरेण" इत्यनया क्षुरस्य अभ्युक्षणं मार्जनं च कुर्यात् । "यत् क्षुरेणेत्युदक्पत्रं क्षुरम् अभ्युक्ष्य त्रिः प्रमार्ष्टि" इति [कौ० ७. ४] "यत् क्षुरेणेत्युक्तम्" इति च कौशिकसूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

अन्नप्राशनकर्मणि "शिवौ ते स्तां व्रीहियवौ" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां व्रीहियवौ पिष्ट्वा अभिमन्त्र्य बालकं प्राशयेत् । "शिवौ ते स्ताम्" इति व्रीहियवौ प्राशयति" इति सूत्रम् [कौ० ७. ९]॥

तथा आभ्याम् ऋग्भ्यां व्रीहियवावभिमन्त्र्य गोदानादिषु कुमारस्य मूर्ध्नि परिदद्यात् । "शिवौ ते स्ताम् इति व्रीहियवाभ्याम्" इति ॥

गोदानादिषु संस्कारकर्मसु "अह्ने च त्वा" इत्यनया व्रीहियवावभिमन्त्र्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात् । "अह्ने च त्वेत्यहोरात्राभ्यां परिददाति" इति हि सूत्रम् [कौ० ७. ९] ॥

'कृणोमि ते प्राणापानौ' सूक्तका 'आरभस्व' इस ८। २ के साथ विनियोग कह दिया है।

कलहरूपा पापराक्षसीसे गृहीत कुलमें शान्ति करनेके लिये 'आरादरातिम्' इस द्व्यृचसे घृतकी आहुति देवे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'अथ यत्रैतत् कुलं कलहि भवति तन्निर्ऋतिगृहीतम् इत्याचक्षते। तत्र जुहुयादारादरातिम् इति द्वौ जिस कुलमें कलह मचता रहता है उसको निर्ऋति (पापराक्षसी) से गृहीत कहते हैं। ऐसे अवसर पर 'आरादरातिम्' इन दो ऋचाओंसे आहुति देवे।' (कौशिक सूत्र १३। ५)॥

नैर्ऋतकर्ममें इस द्व्यृचसे शर्करामिश्रित इंगिड घृत आदिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके आहुति देय। "अथातो नैर्ऋतकर्म" को कह कर नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"आरादरातिं इति द्वे। अपेत एतु निर्ऋतिरित्येतैः सममांसम् इङ्गिडं आज्यम्" ० (नक्षत्रकल्प १५)॥

गोदान आदि संस्कारकर्मोंमें 'शिवे ते स्ताम्' इस द्व्यृचसे धान जौं और जण्डको अभिमन्त्रित करके कुमारके मस्तक पर रक्खे। इस विषयका सूत्रमें भी प्रमाण है, कि–'शिवे ते स्ताम् (१४) इति द्यावापृथिवीभ्यां परिददाति' इति 'शिवे ते स्ताम् इति परिदानान्तानि' इति च (कौशिकसूत्र ७। ५)॥

बालकके निष्क्रमण कर्ममें 'शिवे ते स्ताम्' इस द्व्यृचसे बालकका निष्क्रमण करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७। ६ का प्रमाण भी है, कि–'शिवे ते स्ताम् इति कुमारं प्रथमं निर्णयति'॥

अद्भुतमहाशान्तिमें "शिवास्ते सन्त्वोषधयः" ऋचासे सूर्य और चन्द्रमाका यजन करे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"उरु विष्णो विक्रमस्व (७। २७। ३) इति विष्णोः

शिवास्ते सन्त्वोषधयः (८ । ५ । १५) इति सूर्याचन्द्रमसोः (नक्षत्रकल्प १४) ॥

तथा झूठे अभिशापकी निवृत्तिके लिये 'शिवास्ते' ऋचासे सक्तुमन्थको वा ओदनको अभिमन्त्रित करके अभ्याख्यातको देदेय

तथा इसी कर्ममें द्रुघणमणिको (कुल्हाड़े की मणिको) वा ढाक लोहा सुवर्णमेंसे एक की मणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके निन्दितके बाँध देय ।

नामकरणमें 'यत् ते वासः' ऋचासे बालकको वस्त्रसे आच्छादित करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ९ का प्रमाण भी है, कि–'यत् ते वास इत्यहतेनाच्छादयेत्' ॥

गोदाननामक संस्कारकर्ममें अथवा चौल तथा उपनयनमें भी 'यत् क्षुरेण' ऋचासे छुरेका अभ्युक्षण और मार्जन करे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि–'यत् क्षुरेणेत्युदकपत्रं क्षुरं अभ्युदय त्रिः प्रमार्ष्टि' इति (कौशिकसूत्र ७ । ४) 'यत् क्षुरेणेत्युक्तम्' इति (कौशिकसूत्र (७ । ६) ॥

अन्नप्राशनकर्ममें 'शिवौ ते स्तां व्रीहियवौ इन दो ऋचाओं से धान और जौंको पीस कर और अभिमन्त्रित करके बालक को चटा देवे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ९ का प्रमाण भी है, कि–'शिवौ ते स्ताम् इति व्रीहियवौ प्राशयति' ॥

तथा इन दोनों ऋचाओंसे धान और जौंको अभिमन्त्रित करके गोदान आदिमें कुमारके मस्तक पर लगावे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि-'शिवौ ते स्तां इति व्रीहियवाभ्याम्'॥

गोदान आदिसंस्कारकर्मोंमें "अह्ने च त्वा" ऋचासे धान और जौंको अभिमन्त्रित करके कुमारके मस्तक पर रक्खे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ९ का प्रमाण है, कि–'अह्ने च त्वेत्यहोरात्राभ्यां परिददाति' ॥

तत्र प्रथमा ॥

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोप सेधामि सर्वान्

कृणोमि । ते । प्राणअपानौ । जराम् । मृत्युम् । दीर्घम् । आयुः ।
स्वस्ति ।
वैवस्वतेन । प्रऽहितान् । यमऽदूतान् । चरतः । अप । सेधामि ।
सर्वान् ॥ ११ ॥

हे आयुष्काम पुरुष ते तव प्राणापानौ शरीरे ऊर्ध्वाधःसंचारिणौ वायू कृणोमि । प्रतिपदं कृणोमि त इति यथोचितं तत्तद्वाक्यशेषोऽध्याहर्तव्यः । ते प्राणापानौ स्थिरौ कृणोमि । जरां मृत्युं च । त्वां यथा न स्पृशतस्तथा कृणोमि । दीर्घम् आयुश्च ते कृणोमि । तथा कृत्वा स्वस्ति । अविनाशिनामैतत् । अविनाशं कृणोमि । कथम् एतत् सर्वं घटते यमदूतेष्वासन्नेषु इति तत्राह । वैवस्वतेन यमेन प्रहितान् प्रेषितान् चरतः आनयनाय व्यापारयतः सर्वान् यमदूतान् अप सेधामि दूरे निराकरोमि । मन्त्रसामर्थ्याद् इत्यभिप्रायः ॥

हे आयुष्काम पुरुष ! तेरे शरीरमें मैं ऊपर और नीचेको विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायुओंको स्थिर करता हूँ । जरा और मृत्युको भी स्पर्श न करनेवाले करता हूँ, तेरी आयुको दीर्घ करता हूँ । फिर तेरे लिये स्वस्ति करता हूँ (अब शङ्का होती है, कि–यमदूतोंके पास होने पर यह सब बातें कैसे संभव हैं, इस शंकाका उत्तर देनेकें लिये कहते हैं, कि–) यमराजके भेजे हुए लेजानेके लिये चेष्टा करते हुए सकल यमदूतोंको मैं मन्त्रशक्तिसे दूर करता हूँ ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

आ॒रादरा॑ति॒ं निर्ऋ॑तिं प॒रो ग्राहि॑ं क्र॒व्याद॑ः पिशा॒चान् ।
रक्षो॒ यत् सर्व॑ं दुर्भू॒तं तत् तम॑ इ॒वाप॑ हन्मसि ॥१२॥

आ॒रात् । अरा॑तिम् । निःऽऋ॑तिम् । प॒रः । ग्राहि॑म् । क्र॒व्य॒ऽअद॑ः
पि॒शा॒चान् ।

रक्ष॑ः । यत् । सर्व॑म् । दुःऽभू॒तम् । तत् । तम॑ःऽइव । अप॑ । हन्म॒सि॒

अरातिम् अदात्रीं शत्रुभूतां वा पुरोग्राहिम् पुरस्ताद् ग्रहणशीलाम् एवंविधां निर्ऋतिम् पापदेवतां कलहोत्पादिकाम् । "यत्रैतत् कुलं कलहि भवति तन्निर्ऋतिगृहीतम् इत्याचक्षते" इति सूत्रकारवचनात् [कौ० १३. ५] । आरात् हन्मसीति संबन्धः । निकृष्टं हन्मः । तथा क्रव्यादः मांसाशनान् पिशाचान् अप हन्मसि । एवं दुर्भूतम् दुष्टत्वम् आपन्नं यत् सर्वं रक्षोस्ति राक्षसजातिरस्ति । अथ वा दुष्टं च तद् भूतं च दुर्भूतं तादृग् रक्षः तत् तम एव तमोवद् आवरकमेव । तद् अप हन्मः ॥

हम शत्रुभूत पुरोग्रहण करने वाली पापदेवता कलहोत्पादिका निर्ऋतिको निकृष्टरूपसे मारते हैं । मांसभक्षी पिशाचोंको मारते हैं । और जो दुर्भावनारूप सब रक्षस्त्व है उसको पासमें ही मारते हैं,इन अन्धकारकी समान आवरक सबको हम मारते हैं१२

तृतीया ॥

अ॒ग्नेष्टे॑ प्रा॒णम॒मृता॒दायु॑ष्मतो वन्वे॒ जातवे॑दसः ।
यथा॒ न रिष्या॑ं अ॒मृत॑ः स॒जूरस॒स्तत् ते॑ कृणोमि॒ तदु॑ ते॒
समृ॑ध्यताम् ॥ १३ ॥

अ॒ग्नेः । ते॒ । प्रा॒णम् । अ॒मृता॑त् । आयु॑ष्मतः । व॒न्वे॒ । जा॒तऽवे॑दसः ।

यथा॑ । न । रिष्याः॑ । अमृतः॑ । स॒ऽजूः॑ । असः॑ । तत् । ते ।

कृ॒णो॒मि॒ । तत् । । ऊँ॒ इति॑ । ते॒ । सम् । ऋ॒ध्य॒ता॒म् ॥१३॥

अमृतात् अमरणाद् देवाद् आयुष्मतः चिरजीविनः । "अग्नि-रायुष्मान्" इति हि श्रुतिः [तै० सं० २. ३. १०. ३] । तथाविधमाहात्म्यवतः अग्नेः सकाशात् हे निर्ऋत्यादिना अपहतप्राण पुरुष ते प्राणं वन्वे याचे । पुनः कीदृशाद् अग्नेः । जातवेदसः जातप्रज्ञात् जातधनाद् वा । हे पुरुष त्वं च यथा न रिष्याः हिंसितो न भवेः । ❀ रुष रिष हिंसायाम् । अस्माद् दैवादिकात् लेटि आडागमः ❀ । अमृतः अमरणः सजूः सह प्रीयमाणश्च असः भवेः । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ । तत् तादृक् शान्तिकर्म ते त्वदर्थं कृणोमि करोमि । तदु तदेव ते तव समृध्यताम् समृद्धं भवतु ॥

हे निर्ऋति आदिके द्वारा अपहत प्राण वाले मनुष्य ! मैं अमृत अर्थात् न मरने वाले अमर देवता आयुष्मान् जातवेदा अग्निसे तेरे प्राणकी याचना करता हूँ । हे पुरुष ! तू भी जिस प्रकार हिंसित न हो, अमर और साथ ही साथ प्रसन्न होने वाला हो तिस प्रकार तेरे लिये शान्तिकर्मको करता हूँ, वही तेरे लिये समृद्ध होवे ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

शि॒वे ते॑ स्तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑संता॒पे अ॑भि॒श्रियौ॑ ।
शं ते॒ सू॒र्य॑ आ त॑पतु॒ शं वातो॑ वातु ते हृ॒दे ।
शि॒वा अ॒भि क्ष॑रन्तु॒ त्वापो॑ दि॒व्याः पय॑स्वतीः ।१४।

शि॒वे इति॑ । ते॒ । स्ता॒म् । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । अ॒सं॒ता॒पे इत्य॑स॒म्ऽता॒पे ।
अ॒भि॒ऽश्रियौ॑ ।

शम् । ते॒ । सूर्यः॑ । आ । त॒प॒तु॒ । शम् । वातः॑ । वा॒तु॒ । ते॒ । हृ॒दे ।
शि॒वाः । अ॒भि । क्ष॒र॒न्तु॒ । त्वा॒ । आपः॑ । दि॒व्याः । पय॑स्वतीः ॥

हे कुमार ते तव निष्क्रमणसमये । यद्वा गोदानादिभिः कर्मभिः सस्क्रियमाण पुरुष । ते तव द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ देव्यौ शिवे मङ्गले कल्याणकारिण्यौ स्ताम् भवताम् । तथा असंतापे संतापम् अकुर्वत्यौ स्ताम् । अधिश्रियौ प्राप्तश्रीके श्रीप्रदे स्ताम् । तथा सूर्यश्च ते त्वदर्थं शम् सुखं यथा भनति तथा आ तपतु प्रकाशयतु । एवं ते हृदे हृदयाय मनोऽनुकूलतायैः वातः वायुः शम् सुखं यथा भवति तथा वातु संचरतु । तथा त्वा त्वां प्रति दिव्याः दिवि भवाः पयस्वतीः बहुभिः पयोभिः स्वाद्वंशैरुपेता आपः शिवाः सत्यः अभि क्षरन्तु अभि स्रवन्तु ॥

हे कुमार ! तेरे निष्क्रमणके समयमें (अथवा हे गोदान आदि से संस्क्रियमाण पुरुष !) तेरे लिये द्यावापृथिवी कल्याणकारिणी होवें सन्तापको न देने वाली होवे, लक्ष्मी देने वाली होवें । और सूर्यदेव भी जिस प्रकार तुझको सुख मिले तिस प्रकार तपें, और तेरे हृदयकी अनुकूलता दिखाते हुए वायु भी सुखप्रद होकर वहें । और द्यौमें होने वाला स्वादु अंशोंसे सम्पन्न जल कल्याणकारक होते हुआ बहे ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

शि॒वास्ते॑ स॒न्त्वोष॑धय॒ उत् त्वा॑हार्ष॒मध॑रस्या॒ उत्त॑रां
पृथि॒वीम॒भि ।

तत्र॑ त्वादि॒त्यौ र॑क्षतां सूर्याचन्द्र॒मसा॑वु॒भा ॥ १५ ॥

शि॒वाः । ते॒ । स॒न्तु॒ । ओष॑धयः । उत् । त्वा॒ । अ॒हा॒र्ष॒म् ।

अध॑रस्याः । उत्त॑राम् । पृ॒थि॒वीम् । अ॒भि॑ ।

तत्र॑ । त्वा॒ । आ॒दि॒त्यौ । र॒क्ष॒ता॒म् । सू॒र्या॒च॒न्द्र॒मसौ॑ । उ॒भा ॥१५॥

हे कुमार ते [तव] ओषधयः आहारार्थम् उपयुज्यमाना व्रीह्यादयः शिवाः सुखकराः सन्तु भवन्तु । त्वा त्वाम् अधरस्याः पृथिव्याः सकाशाद् उत्तरां पृथिवीम् अभिलक्ष्य उदाहार्षम् उद्धरणम् अकार्षम् । पृथिव्या एकस्या अपि अधरोत्तरभावः अंशभेदेन त्रित्वाद् उपपद्यते । "तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून्" [ऋ० २. २७. ८.] "तिस्रो महीरुपराः" [ऋ० ७. ८७. ५] इत्यादिमन्त्रेषु त्रित्वस्याम्नानात् । अवममध्यमोत्तमभेदेन पृथिव्यास्त्रैविध्यम् आम्नायते मन्त्रान्तरे । "यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्याम् उत स्थः" [ऋ० १. १०८. ९] । अतः अवमस्याः सकाशात् परमाम् पृथिवीम् अभिलक्ष्य उद्धरणम् अत्र अभिधीयते । तत्र उत्तरस्यां पृथिव्याम् हे बालक त्वा त्वाम् आदित्यौ अदितेः पुत्रौ देवौ रक्षताम् पालयताम् । कौ तावादित्यौ इति तौ दर्शयति । उभा उभौ सूर्याचन्द्रमसौ । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति आनङ् आदेशः ❀ ॥

हे कुमार ! आहारके लिये उपयोगमें आने वाली व्रीहि आदि औषधियें तुझे सुख पहुँचाने वाली होवें, तुझको मैंने नीचेकी पृथिवीसे उत्तरकी पृथ्वीको लक्ष्य करके उद्धृत कर लिया है‡।

---

‡ पृथिवी एक है तब भी अधरोत्तरभाव अंशभेदवश त्रित्व के कारण उत्पन्न होता है । ऋग्वेदसंहिता २ । २७ । ८ में कहा है, कि-"तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून् ।-तीन भूमियोंको और

उस उत्तरकी भूमिमें हे बालक ! अदितिके पुत्र सूर्य चन्द्रमा नामक देवता तेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

यत् ते॒ वास॑ः परि॒धान॒ं यां नी॒विं कृ॑णु॒षे त्वम् ।
शि॒वं ते॑ त॒न्वे॒३॒ तत् कृ॑ण्मः संस्प॒र्शे॑ऽद्रूक्ष्णमस्तु ते १६

यत् । ते॒ । वास॑ः । प॒रि॒ऽधान॑म् । याम् । नी॒विम् । कृ॒णु॒षे॑ । त्वम् ।
शि॒वम् । ते॒ । त॒न्वे॒ । तत् । कृ॒ण्म॒ः । स॒म्ऽस्प॒र्शे॑ । अद्रूक्ष्णम् ।
अ॒स्तु॒ । ते॒ ॥ १६ ॥

हे बालक ते तव परिधानम् उपरि आच्छादनीयं यद्द वासोस्ति त्वं च यां नीविं कृणुषे । नाभिदेशे संबद्धं वस्त्रं नीविरित्युच्यते । मध्यदेशाच्छादनम् इत्यर्थः नीव्यपेक्षया याम् इति स्त्रीलिङ्गव्यपदेशः । तत् द्विप्रकारकं वस्त्रं ते तन्वे तव शरीराय शिवम् सुखकरं कृण्मः । तच्च वस्त्रं संस्पर्शे विषये अद्रूक्ष्णम् अरूक्षं यथा मार्दवम् अश्नुते व्याप्नोति गच्छति तथा कृण्मः ॥

हे बालक ! तेरा जो ऊपरके अङ्गको ढकने वाला परिधानवस्त्र है, और तू जिस वस्त्रको नीवी करता है (नाभि पर बँधा

तीन द्युको धारण किया" ॥ तथा ऋग्वेदसंहिता ७ । ८७ । ५ में भी कहा है कि–"तिस्रो मह्यीरुपराः" ॥ इत्यादि मन्त्रोंसे पृथ्वी के त्रित्वका वर्णन है । अन्य मन्त्रोंमें भी उत्तम मध्यम निकृष्टभेदसे पृथिवीके तीन भेदोंका वर्णन है, यथा–ऋग्वेदसंहिता १ । १०८ । ६ में कहा है, कि–"यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यां उत स्थः ।–हे इन्द्र और अग्नि देवताओं ! तुम उत्तर मध्यम और अवम पृथिवीमें हो" ॥

हुआ वस्त्र नीवी कहलाता है) उन दोनों प्रकारके वस्त्रोंको हम तेरे शरीरको सुख देने वाले करते हैं । और वे दोनों वस्त्र जिस प्रकार अद्रूक्षण (कोमल स्पर्श वाले) हों तैसा करते हैं ॥१६॥

सप्तमी ॥

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥

यत् । क्षुरेण । मर्चयता । सुऽतेजसा । वप्ता । वपसि । केशऽश्मश्रु ।
शुभम् । मुखम् । मा । नः । आयुः । प्र । मोषीः ॥ १७ ॥

यत् यदा हे देव सवितः संस्कारक पुरुष वा त्वं वप्ता केशानां छेत्ता नापितः सन् मर्चयता व्यापारयता सुतेजसा शोभनतेजोयुक्तेन क्षुरेण केशश्मश्रु शिरोरोमाणि मुखरोमाणि च वपसि । यद्यपि वपतिधातुर्बीजसंतानार्थस्तथापि केशसमभिव्याहारात् छेदने वर्तते । तदा वपनं कुर्वन् मुखम् गोदानचौलोपनयनैः संस्क्रियमाणस्य बालस्य मुखं शुभम् दीप्तं तेजस्वि कुरु । वपने सति मुखविकाशभावाद् एवं प्रार्थ्यते । नः अस्माकं पुत्रस्य आयुर्मा प्र मोषीः ॥

हे संस्कारक सवितः ! जब आप मुण्डन करने वाले होकर शोभन तेज वाले व्यापारमें प्रवृत्त छुरेसे शिर और मुखके बालों को मूँड रहे हैं उस समय गोदान उपनयन और चौलसे संस्क्रियमाण बालकके मुखको दमकता हुआ करिये और हमारे पुत्रकी आयुका अपहरण न करिये ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

शिवौ । ते । स्ताम् । व्रीहिऽयवौ । अबलासौ । अदोमधौ ।

एतौ । यक्ष्मम् । वि । बाधेते इति । एतौ । मुञ्चतः । अंहसः १८

हे अन्नम् अश्नन् बालक ते तव व्रीहियवौ अन्नत्वेन कल्पितौ शिवौ स्ताम् मङ्गलौ सुखकरौ भवताम् । अबलासौ शारीरबलस्य अक्षेप्तारौ । बलकरावित्यर्थः । तथाविधौ स्ताम् । तथा अदोमधू उपयोगानन्तरं मधुरौ ॥ एवम् इष्टप्राप्तिम् आशास्य अरिष्टपरिहारम् आशास्ते । एतौ व्रीहियवौ यक्ष्मम् शरीरगतं रोगं वि बाधेते विशेषेण पीडयतः । एतावेव व्रीहियवौ कुमारम् अंहसः पापाद् मुञ्चतः मोचयतः ॥

हे अन्नका भक्षण करते हुए बालक ! तेरे अन्नरूपसे कल्पित धान और जौं मंगल देने वाले होवें, शारीरिक बलका क्षय न करने वाले होवें अर्थात् बलको देने वाले होवें और उपयोगके अनन्तर मधुर होवें । ये धान और जौं शरीरगत रोगको विशेषरूपसे बाधा देते हैं, ऐसे ये धान और जौं बालकको पापसे मुक्त करें ॥ १८ ॥

नवमी ॥

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं१ यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि १९

यत् । अश्नासि । यत् । पिबसि । धान्यम् । कृष्याः । पयः ।

यत् । आद्यम् । यत् । अनाद्यम् । सर्वम् । ते । अन्नम् । अविषम् । कृणोमि ॥ १९ ॥

हे कुमार त्वं यद् धान्यं कृच्छ्राद् अश्नासि अभ्यवहरसि । तथा यद् धान्यं कृच्छ्रात् पयः पयोवत्सारभूतं पिष्टमयम् अन्नं

पयोमिश्रितं वा धान्यम् व्रीह्यादिरूपं पिबसि । यद् आद्यम् अदनीयं सुखेन भक्षणीयम् यच्च अनाद्यम् अदनानर्हं कठिनद्रव्यम् । अत्यन्तकटुतिक्तत्वाद् वा अनाद्यम् । सर्वम् यद् अश्नासीत्यादिना उक्तम् अन्नम् अविषम् निर्विषम् अमृतं कृणोमि करोमि ॥

हे कुमार ! तुम जिस धान्यको कठिनतासे खाते हो, और दुग्धकी समान सारभूत पिसे हुएको—वा दुग्धमिश्रित धान और जौंको पीते हो, और सुखसे खाने योग्य जिस वस्तुको खाते हो वा कटु तिक्त आदि होनेसे कठिन अतएव अनाद्य जिस अन्नको खाते हो तुम्हारे लिये उन सब अन्नोंको मैं निर्विष (अमृत) करता हूँ ॥ १९ ॥

दशमी ॥

अह्ने॑ च त्वा॒ रात्र॑ये चो॒भाभ्यां॒ परि॑ दद्मसि ।
अ॒राये॑भ्यो जि॒घत्सु॒भ्य॑ इ॒मं मे॒ परि॑ रक्षत ॥ २० ॥

अह्ने॑ । च॒ । त्वा॒ । रात्र॑ये । च॒ । उ॒भाभ्या॑म् । परि॑ । द॒द्म॒सि॒ ।
अ॒राये॑भ्यः । जि॒घ॒त्सु॒ऽभ्य॑ः । इ॒मम् । मे॒ । परि॑ । र॒क्ष॒त॒ ॥ २० ॥

हे कुमार त्वा त्वाम् अह्ने अहर्देवतायै रात्रये रात्रिदेवतायै च उभाभ्यां देवताभ्यां परि दध्मसि परिदद्मः । रक्षार्थं प्रयच्छामः । उक्तकालद्वयव्यतिरेकेण कालान्तराभावात् तदुभयाभिमानिदेवताके रक्षणे सति सर्वदा बालस्य रक्षा भवतीत्यभिप्रायः । परिदानप्रकार उच्यते । अरायेभ्यः अधनेभ्यो धनापहर्तृभ्यो वा जिघत्सुभ्यः अदनेच्छावद्भ्यो भक्षकेभ्यः रक्षःपिशाचादिभ्यः सकाशाद् इमं मे मदीयं बालं परि रक्षत परितः पालयत हे विश्वे देवाः अह्नि संचरद्भ्यो रात्रौ संचरद्भ्यश्च । ❀ जिघत्सुभ्य इति । अदेः

"लुङ्सनोर्घस्लृ" इति घस्लादेशे "एकाच उपदेशेनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः । "सस्यार्धधातुके" इति तत्वम् ❀ ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे कुमार ! हम तुझको रात्रिके अभिमानी देवताके लिये और दिनके अभिमानी देवताके लिये इस प्रकार दोनों देवताओंको रक्षा करनेके लिये देते हैं । हे सकल देवताओं ! आप धनापहारकोंसे, खजाना चाहने वालोंसे तथा दिन और रात्रियें घूमने वाले प्राणियोंसे भी इस बालककी रक्षा करो ॥ २० ॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त ॥

"शतं तेयुतम्" इत्यस्य सूक्तस्य "आ रभस्व" [८. २] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

गोदानादिषु कर्मसु व्रीहियवौ "शरदे त्वा" इत्यभिमन्त्र्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात् । "शरदे त्वेत्यृतुभ्यः" इति हि सूत्रम् [७. ६] ॥

"शतं तेयुतम्" सूक्तका "आरभस्व" (८ । २) के साथ विनियोग कह दिया है ।

गोदान आदि कर्मोंमें धान और जौंको "शरदे त्वा" से अभिमंत्रित करके कुमारके मस्तक पर रक्खे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण है, कि–'शरदे त्वेत्यृतुभ्यः' ।

तत्र प्रथमा ॥

शतं तेयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्तामहृणीयमानाः २१

शतम् । ते । अयुतम् । हायनान् । द्वे इति । युगे इति । त्रीणि । चत्वारि । कृण्मः ।
इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहृणीयमानाः ॥ २१ ॥

हे बालक ते तव शतं हायनान् शतसंख्याकान् संवत्सरान् । "शतायुः पुरुषः" [तै० ब्रा० १, ७. ६. २] इति श्रुतिविहितान् अयुतम् अयुतसंख्याकान् कृण्मः कुर्मः । तथा ते द्वे युगे । जायापतिलक्षणम् एकं युगम् । स्त्र्यपत्यपुमपत्यलक्षणम् अपरं युगम् । एवं द्वे युगले । त्रीणि युगानि चत्वारि युगानि च कुर्मः । उपलक्षणम् एतत् । पुत्रपौत्रादिद्वारा अनेकयुगलानि कुर्मः । यद्यपि एकशतपर्यन्तं जीवनमपि मनुष्याणां न संभवति तथापि आकल्पं जीव कल्पायुष्यम् अस्तु इत्याद्याशीर्दर्शनाद् दीर्घायुषि तात्पर्यं न विरुध्यते । अथवा एवं योजना । हे बालक ते शतं हायनान् कृण्मः । तानेव अयुतं च हायनान् कृण्मः । तानेव द्वे युगे कृण्मः । त्रीणि च युगानि कृण्मः । चत्वारि युगानि कृण्म इति । अयम् अभिप्रायः । तत्र प्रथमं क्रियमाणेन संस्कारविशेषेण सर्वमनुष्यसाधारणान् शतसंवत्सरान् कुर्मः । तानेव अयुतसंख्याकान् कुर्मः । चतुर्णां युगानां संधिसंवत्सरान् विहाय युगचतुष्टयस्य मिलित्वा अयुतं संवत्सराः स्युः । तान् विभज्य द्वे कलिद्वापराख्ये । त्रीणि त्रेतासहितानि । चत्वारि कृतयुगसहितानि कुर्म इति आशास्यते । एवंरूपां प्रार्थनां ते प्रसिद्धा इन्द्राग्नी विश्वे च देवा अहृणीयमानाः ईदृक्प्रार्थना कथं कर्तुं युज्यत इति हृणां लज्जा क्रोधं वा अकुर्वाणाः सन्तः अनु मन्यन्ताम् अनुमतिं कुर्वताम् ॥

हे बालक ! तेरे लिये हम ('शतायुः' पुरुषः ।–पुरुष सौ वर्ष की आयु वाला हो सकता है' तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ७ । ६ । २ की श्रुतिमें कहे हुए) सौ वर्षोंको करते हैं अयुत वर्षोंको करते हैं । तेरे लिये हम स्त्रीपुरुषरूप एक युग और पुत्रपुत्री सन्तारूप दो युग इस प्रकार दो युगोंको करते हैं और पुत्र पौत्र आदिके द्वारा दो तीन (आदि अनेक) युगोंको करते हैं इस प्रार्थना पर क्रोध वा लज्जा न करते हुए देवता अनुमति दें ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

श॒रदे॑ त्वा हे॒मन्ताय॑ व॒सन्ताय॑ ग्री॒ष्माय॒ परि॑ दद्मसि ।
व॒र्षाणि॒ तुभ्यं॑ स्यो॒नानि॒ येषु॒ वर्ध॑न्त॒ ओष॑धीः ॥२२॥

श॒रदे॑ । त्वा॒ । हे॒म॒न्राय॑ । व॒स॒न्ताय॑ । ग्री॒ष्माय॑ । परि॑ । द॒द्म॒सि॒ ।
व॒र्षाणि॑ । तुभ्य॑म् । स्यो॒नानि॑ । येषु॑ । वर्ध॑न्ते । ओष॑धीः ॥ २२ ॥

हे बालक त्वा त्वां शरदे ऋतवे परि दद्मसि परिदद्मः । परिदानं रक्षार्थं दानम् । हे शरदृतो अमुं रक्षेति प्रयच्छाम इत्यर्थः । तावत्पर्यन्तं जीवन्तं हेमन्ताय परिदद्मः । ततो वसन्ताय । ततो ग्रीष्माय च परिदद्मः । उपलक्षणम् एतत् । सर्वेभ्योपि ऋतुभ्यः प्रयच्छामीत्युक्तं भवति । सर्वेष्वपि ऋतुषु जीवनस्य अपेक्षितत्वात् । हे बालक तुभ्यं वर्षाणि जीवनकालमध्यपातीनि षष्ट्युत्तरशतत्रयदिनसंख्याकानि प्रभवादिरूपाणि स्योनानि सुखकराणि । भवन्त्विति शेषः । येषु वर्षेषु ओषधीः ओषध्यः भोगसाधनभूतव्रीह्यादयो वर्धन्ते अभिवृद्धिं प्राप्नुवन्ति । तानि वर्षाणीति पूर्वत्र संबन्धः । वर्षाणि स्वीयाभिरभिवृद्धाभिरोषधीभिस्तव सुखकराणि सन्तु इत्यर्थः ॥

हे बालक ! हम तुझको रक्षार्थ शरद् ऋतुके अर्पण करते हैं, हेमन्त वसंत और ग्रीष्म ऋतुके भी अर्पण करते हैं । प्रभव आदि नाम वाले तीनसौ पैंसठ दिन रूप वर्ष तुझको सुखद होवें, कि—जिन वर्षोंमें औषधियें बढ़ती हैं । तात्पर्य यह है, कि—अपनेमें बढ़ी हुई औषधियोंसे तेरे जीवनके मध्यमें आने वाले प्रभव आदि सम्वत्सर तुझको सुख देवें ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

मृ॒त्युरी॑शे द्वि॒पदां॑ मृ॒त्युरी॑शे॒ चतु॑ष्पदाम् ।

त॒स्मात् त्वां मृ॒त्योर्गोप॑ते॒रुद्भ॑रामि॒ स मा बिभेः २३

मृ॒त्युः । ई॒शे॒ । द्वि॒ऽपदा॑म् । मृ॒त्युः । ई॒शे॒ । चतुः॑ऽपदाम् ।

तस्मा॑त् । त्वाम् । मृ॒त्योः । गोऽप॑तेः । उत् । भ॒रा॒मि॒ । सः । मा ।

बि॒भेः ॥ २३ ॥

द्विपदाम् पदद्वयभूतानां मनुष्यपक्ष्यादीनां मृत्युः सर्वप्राणिसंहर्ता देवः ईशे ईष्टे स्वामी भवति । तथा चतुष्पदाम् गवाश्वादीनां मृत्युरेव ईष्टे । न हि मृत्युम् अपलपन् कश्चिदपि प्राणन् दृश्यते ऋते मुमुक्षोः । यस्मादेवं तस्मात् त्वां गोपतेः । गावः पराधीनत्वाद् यथा गोपालं नातियन्ति एवम् एतेपि मृत्योर्वशगा इति मृत्युर्गोपतिरित्युच्यते । अथवा गोशब्देनात्र पशवोऽभिधीयन्ते । पशवो द्विपादश्चतुष्पादश्च । तेषाम् उभयेषां पतिः । तादृशाद् मृत्योः सकाशाद् उद्भरामि उद्धरामि । मन्त्रवीर्याद् इत्यभिप्रायः । स मृत्युभीतस्त्वं मा बिभेः भीतिं मा कार्षीः ॥

मृत्यु मनुष्य पक्षी आदि दो पैर वालोंके स्वामी हैं तथा चार पैर वाले गौ घोड़े आदिके भी स्वामी हैं, इस प्रकारद्विपात् चतुष्पात् मुमुक्षुव्यतिरिक्त अज्ञानी जीवात्मक पशुरूप गौके ईश्वर मृत्युके पाससे मन्त्रशक्तिके प्रभावसे मैं तेरा उद्धार करता हूँ, अतएव मृत्युसे डरा हुआ तू डर मत ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

सो॑ऽरिष्ट॒ न म॑रिष्यसि॒ न म॑रिष्यसि॒ मा बि॑भेः ।
न वै तत्र॑ म्रियन्ते॒ नो य॑न्त्यध॒मं तमः॑ ॥ २४ ॥

सः । अ॒रि॒ष्ट॒ । न । म॒रि॒ष्य॒सि॒ । न । म॒रि॒ष्य॒सि॒ । मा । बि॒भेः॑ ।
न । वै । तत्र॑ । म्रि॒यन्ते॒ । नो इति॑ । य॒न्ति॑ । अ॒ध॒मम् । तमः॑ २४

हे अरिष्ट। न विद्यते रिष्टं दैवं यस्य सः अरिष्टः दैवविमुख इत्यर्थः। स संबोध्यते। अथवा रिष्टं रेषो हिंसा सा यस्य नास्ति सः अरिष्टः। निरस्तहिंस इत्यर्थः। मृत्युकर्तृकहिंसारहित इति यावत्। तादृश त्वं न मरिष्यसि मृतिं न प्राप्नोषि। दार्ढ्याय पुनराह। न मरिष्यसि त्वम् अतो मा बिभेः मरिष्यामीति भीतिं मा प्राप्नहि। भीत्यभावे कारणम् आह न वै तत्रेति। तत्र तस्मिन् शान्तिकर्मविषये तस्मिन् शान्तिकर्मयुक्ते देशे वा। उत्तरमन्त्रे "यत्रेदं ब्रह्म क्रियते" इति वक्ष्यमाणत्वात्। न म्रियन्ते वै न प्राणं त्यजन्ति खलु। वैशब्दः प्रसिद्धौ। सा च महाशान्तिकृत्सु पुरुषेषु सार्वजनीना। मा भून्मृतिः। अधमतमःप्राप्तिः किम् अस्ति सापि नेत्याह नो यन्त्यधमं तम इति। अधमं तमः मरणकालीना दुःसहा मूर्छा। तामपि नैव प्राप्नुवन्ति। यद्वा मृत्यनन्तरं दुष्कर्मभिः प्राप्तव्यं सवितृप्रकाशशून्यम् अधोलोकस्थं तमिस्रम्। तस्य प्राप्तिर्नैवेत्यर्थः॥

हे मृत्युकर्तृक हिंसारहित-अरिष्ट! तू मरेगा नहीं, तू मरेगा नहीं, अतः मैं मर जाऊँगा-ऐसा भय न कर। इस शांतिकर्म युक्त देशमें पुरुष मरते नहीं हैं और इस शांति करने वालोंको अधम तम अर्थात् मृत्युके समयकी मूर्छा नहीं होती है। अथवा-इस शान्तिकर्मको करने वाले मरणके अनन्तर दुष्कर्मोंसे प्राप्त होने वाले सूर्यके प्रकाशसे रहित नीचेके लोकमें स्थित तमिस्रको भी प्राप्त नहीं होते हैं॥ २४॥

पञ्चमी॥

सर्वो॒ वै तत्र॑ जीवति॒ गौरश्व॒ः पुरु॑षः प॒शुः।
य॒त्रेदं ब्रह्म॑ क्रि॒यते॑ परि॒धिर्जीव॑नाय॒ कम्॥ २५॥

सर्व॑ः। वै। तत्र॑। जी॒व॒ति॒। गौः। अश्व॑ः। पुरु॑षः। प॒शुः।

यत्र । इदम् । ब्रह्म । क्रियते । परिऽधिः । जीवनाय । कम् २५

पूर्वमन्त्रे सोरिष्ट न मरिष्यसि न वै तत्र म्रियन्त इति यद् उक्तं तदेव अस्मिन् मन्त्रे सोपपत्तिकं विस्पष्टीक्रियते । अर्थस्तु स्पष्ट एव । सर्वशब्दस्य विवरणं गौरश्व इत्यादि । ब्रह्म परिवृढं महाशान्त्याख्यं कर्म । परिधिः रक्षःपिशाचादिनिवारकः प्राकारः । यथा यज्ञे अग्नेः परिधिः एवम् । तच्च परिधानं किमर्थम् इति तत्राह जीवनाय कम् इति । जीवनायेत्येतावतो नाधिकम् कम् इत्यस्य पूरणार्थत्वात् । ❀ तथा च यास्कः । "मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिदु" इत्युक्त्वा उदाजहार । "शिशिरं जीवनाय कम् इति शिशिरं जीवनाय" इति [नि० १. १०] ॥

जहाँ यह महाशान्तिकर्म राक्षस पिशाच आदिको रोकनेवाले परकोटेरूपमें जीवनार्थ किया जाता है तहाँ गौ अश्व पुरुष पशु आदि सब ही जीवित रहते हैं ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः ।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम्

परि । त्वा । पातु । समानेभ्यः । अभिऽचारात् । सबन्धुऽभ्यः । अमम्रिः । भव । अमृतः । अतिऽजीवः । मा । ते । हासिषुः । असवः । शरीरम् ॥ २६ ॥

हे शान्त्यर्थिन् पुरुष त्वा त्वां मया कृतं शान्तिकर्म परि परितः पातु पालयताम् । कुतः सकाशात् । समानेभ्यः विद्यैश्वर्यपराक्रमैः सदृशेभ्योऽन्येभ्यः । तथा सबन्धुभ्यः समानबन्धुभ्यः । अभिचारात् तत्कृतात् हिंसाप्रयोगात् । त्वं च अमम्रिः अमरणशीलो

भव । तथा अमृतः मृतिरहितः अतिजीवः अतिशयितजीव भव । ते तव शरीरम् असवः प्राणाः चक्षुरादीन्द्रियरूपा अमुख्यप्राणाः प्रसिद्धा मुख्यप्राणाश्च मा हासिषुः मा जह्युः ॥

हे शान्तिको चाहने वाले पुरुष ! मेरा किया हुआ शान्तिकर्म चारों ओरसे तेरी रक्षा करे । विद्या ऐश्वर्य आदिमें समान अन्य पुरुषोंसे, समान बन्धुओंसे, उनके किये हुए अभिचारसे शांतिकर्म तेरी रक्षा करे । तू अमरणशील अमृत और चिरकाल तक जीवित रहने वाला हो, चक्षु आदि गौण प्राण और मुख्यप्राण तेरे शरीरको न छोड़ें ॥ २६ ॥

सप्तमी ॥

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥२७॥

ये । मृत्यवः । एकऽशतम् । याः । नाष्ट्राः । अतिऽतार्याः ।
मुञ्चन्तु । तस्मात् । त्वाम् । देवाः । अग्नेः । वैश्वानरात् । अधि ॥२७॥

ये प्रसिद्धा मृत्यवः हिंसका यमस्य हेतयः ज्वरशिरोव्यथादयः एकशतम् एकशतसंख्याका मुख्यभूताः सन्ति । याश्च नाष्ट्राः नाशकारिण्यः अतितार्याः अतितरीतव्या लङ्घनीया हिंसिकाः सन्ति । तस्मात् उक्ताद् द्विविधाद् मृत्युरूपाद् नाष्ट्रारूपाच्च त्वां देवाः इन्द्रादयो मुञ्चन्तु मोचयन्तु । तथा वैश्वानराद् अग्नेरधि । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । अग्नेः सकाशात् त्वां मुञ्चन्तु ॥

जो (यमकी आयुधरूप ज्वर, शिरकी पीड़ा आदिरूप) एक सौ (मुख्य) मृत्युएँ (नाशिका शक्तियें) हैं और जिनको लाँघा नहीं जासकता ऐसी नाशकारिणी नाष्ट्रा शक्तियें हैं । उन मृत्यु और नाष्ट्रा दोनों प्रकारकी शक्तियोंसे इन्द्र और देवता तुझको मुक्त करें । और वैश्वानर अग्निसे भी तुझको मुक्त रक्खें २७

अष्टमी ॥

अ॒ग्नेः शरी॑रमसि पारयि॒ष्णु र॑क्षो॒हासि॑ सपत्न॒हा ।
अथो॑ अमीव॒चात॑नः पू॒तुद्रु॒र्नाम॑ भे॒षजम् ॥ २६ ॥

अ॒ग्नेः । शरी॑रम् । अ॒सि॒ । पा॒र॒यि॒ष्णु॑ । र॒क्षः॒ऽहा । अ॒सि॒ । स॒प॒त्न॒ऽहा ।
अ॒थो इति॑ । अ॒मी॒व॒ऽचात॑नः । पू॒तुद्रुः॑ । नाम॑ । भे॒ष॒जम् ॥ २८ ॥

अनेन मन्त्रेण पूतद्रुनामकः सर्वारिष्टनिवर्तकस्य रक्षामण्युपादानभूतो वृक्षविशेषः कथ्यते । हे पूतद्रो त्वम् अग्नेः पारयिष्णु पारप्रापकं शरीरम् असि । वृक्षस्यान्तः अग्नेरवस्थानात् शरीरत्वव्यपदेशः । विशेषतः अस्य वृक्षस्य शरीरत्वाभिधानम् । अथवा पारयिष्णुरिति पृथग्विशेषणम् । स्वनिर्दिष्टव्यापारस्य पारप्रापकः रक्षोहा रक्षसां हन्ता असि भवसि । सपत्नहा शत्रुहन्ता च असि । अथो अपि च अमीवचातनः रोगस्य प्रच्यावकः । एवंमहिमा त्वं पूतद्रुर्नाम पूतद्रुसंज्ञकं भेषजम् औषधम् । तादृशस्त्वम् अभिमतं साधयेति शेषः ॥

इत्यथर्वसंहिताभाष्ये अष्टमकाण्डे प्रथमोनुवाकः ॥

हे (सर्वारिष्टनिवारक रक्षामणिके उपादान) पूतद्रु नामक वृक्ष ! तू अग्निका पारप्रापक शरीर है (अर्थात् तेरे भीतर अग्नि रहता है) और तू राक्षसोंका मारने वाला है और शत्रुओंका संहार करने वाला है और रोगोंका दूर करने वाला है और पूतद्रु औषध है । ऐसा पूतद्रु हमारे अभीष्टको सिद्ध करे ॥२८॥

अथर्ववेदसंहिताके अष्टम काण्डमें प्रथम अनुवाकमें समाप्त ॥

द्वितीयेनुवाके षट् सूक्तानि । अस्यानुवाकस्य चातनगणे पाठात् “चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्” [कौ० ४. १] इत्युक्तेषु कर्मसु विनियोगः । तानि कर्माणि कथ्यन्ते । रक्षोग्रहपिशा-

चादिभैषज्यार्थम् अनेनानुवाकेन फलीकरणतुषवृक्षशकलानाम् अन्यतमं जुहुयात् । एतैरेव धूपयेद् वा ॥

तथा अनेनानुवाकेन पिशाचादिग्रस्तं पुरुषम् अनुब्रूयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनानुवाकेन त्रपुसमुसलखदिरसर्षपाणाम् अन्यतमस्य समिध आदध्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि खादिरान् शंकून् लोहमयान् ताम्रमयान् वा विषमसंख्यान् निखननार्थं “रक्षोहणम्” इत्यनुवाकेन अभिमन्त्रयेत । तप्तशर्करा अभिमन्त्र्य शयनादौ परिकिरेद् वा ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनानुवाकेन सूत्रोक्तरीत्या यवसक्तून् जुहुयात् ॥

तथा असाध्यग्रहवशीकरणार्थम् अनेनानुवाकेन वीरणतूलसहितम् इङ्गिडाज्यं पलाशपर्णपृष्ठभागेन जुहुयात् ॥

तथा गृहादौ ग्रहपिशाचादिसद्भावासद्भावशङ्कायाम् अनेनानुवाकेन सर्षपेध्मं शरमयं बर्हिश्च अभिमन्त्र्य गृहस्योपरि स्थापयेत् । प्रभाते इध्माबर्हिषोर्विकारे ग्रहास्तित्वं जानीयात् ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि वैश्रवणनमस्कारानन्तरम् अनेनानुवाकेन उदकम् अभिमन्त्र्य ग्रहगृहीतम् आचामयेत् प्रोक्षयेद् वा रात्रौ उल्मुकद्वयम् अभिमन्त्र्य संघर्षयेद् वा ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । “चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम् । त्रपुसमुसलखदिरतार्ष्टाघानाम् आदधाति । अयुग्मान् खादिरान् शंकून् अक्ष्यौ नि विध्य [५. २६, ४] इति पश्चाद् अग्नेः समं भूमिं निखनति । एवम् आयस लोहान् । तप्तशर्कराभिः शयनं राशिपल्यानि परिकिरति । अमावास्यायां सकृद्गृहीतान् यवान् अनपहतान् अप्रतीहारपिष्टान् आभिचारिकं परिस्तीर्य तार्ष्टाघेध्म आगपति । य आगच्छेतं ब्रूयाच्छणशुल्वेन जिह्वां निमृजानः शालायाः प्रस्कन्देति । तथाऽकुर्वन्ननना । अघे हुवाने ।

वीरिणतूलमिश्रम् इङ्गिडं प्रपुटेन जुहोति । इध्माबर्हिः शालायाम् आसजति अपरेद्युर्विकृतौ पिशाचतो रुजति । उक्तो होमः । वैश्रवणायाञ्जलिं कृत्वा जपन्नाचामयत्यभ्युक्षति । निश्युल्मुके संघर्षति” इति [कौ० ४. १] ॥

तथा शान्त्युदकाभिमन्त्रणे “चातनैर्मातृनामभिर्जुहुयात्” [शा० क० १६]इत्यादिषु च अस्यानुवाकस्य गणप्रयुक्तो विनियोगोनुसंधेयः ॥

तथा वशाशमनकर्मणि पशुसंज्ञपनानन्तरं “रक्षोहणम्” इत्यनुवाकं जपेत् । सूत्रितं हि । “अथ प्राणान् आस्थापयति प्रजानन्तः [२. ३४. ५] इति दक्षिणतस्तिष्ठन् रक्षोहणम् [८.३] जपति” इति [कौ० ५. ८] ॥

तथा घृतकम्बलाख्ये महाभिषेके अभिषेकानन्तरं “रक्षोहणम्” इत्यनुवाकं जपेत् । “बृहस्पतिर्महेन्द्राय चकार घृतकम्बलम्” इति प्रक्रम्य उक्तम् अथर्वपरिशिष्टे ।

ब्राह्मणाः स्वस्ति वाच्याथ प्राङ्मुखः संविशेत् ततः।
रक्षोहणम् अनुवाकं जपेत् कर्ताथ ऋत्विजः । इति ॥

दूसरे अनुवाकमें छः सूक्त हैं। इस अनुवाकका चातनगणमें पाठ है, अत एव इसका “चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम् ।– चातनोंके कहनेसे व्याख्यात होगया” कौशिकसूत्र ४ । १ इत्यादिमें कहे हुए कर्मोंमें विनियोग होता है । वे कर्म ये हैं । राक्षस ग्रह पिशाच आदिकी चिकित्साके लिये इस अनुवाकसे फलीकरण तुष और वृक्षके टुकड़ेमेंसे एककी आहुति देय । वा इन्हीसे धूप देय ।

तथा इस अनुवाकसे पिशाच आदिसे ग्रस्त पुरुषसे उसके बातें करने पर पढ़े ।

तथा उसी कर्ममें इस अनुवाकसे राँग मूसल खैर और सरसों इनमेंसे एककी समिधाओंको रक्खे ।

तथा इसी कर्ममें खैरके वा लोहेके अथवा ताँबेके विषमसंख्यक (१।३।५ आदि) खूँटोंको खोदनेके अर्थ "रक्षोहणम्" अनुवाकसे अभिमन्त्रित करे। गरम रेतेको अभिमन्त्रित करके खाट आदि पर बखेर देय।

तथा इसी कर्ममें इस अनुवाकसे सूत्रमें कही हुई रीतिके अनुसार जौके सत्तुओंकी आहुति देय।

तथा असाध्य ग्रहको वशमें करनेके लिये इस अनुवाकसे खसके रेशेसहित इङ्गिडघृतकी पलाशके पत्तेकी पीठके द्वारा आहुति देय।

तथा घर आदिमें पिशाचके होने न होनेकी शंका होने पर इस अनुवाकसे सरसोंके ईंधनको तथा सेंटोंसहित कुशाको भी अभिमन्त्रित करके घरके ऊपर धर देय। प्रभातके समय ईंधन और कुशामें विकार हो जाय तो ग्रह आदि है—यह समझे।

इसी कर्ममें कुबेरको नमस्कार करनेके अनन्तर इस अनुवाकसे जलको अभिमन्त्रित करके ग्रहगृहीतको पिला देय वा प्रोक्षण करे अथवा—रात्रिमें दो उल्मुकोंको अभिमन्त्रित करके संघर्षण करे

इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—"चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम्। त्रपुसमुसलखदिरतार्ष्टाघानां आदधाति। अयुग्मान् खादिरान् शंकून् अक्ष्यौ निबध्य (५।२९।४) इति पश्चाद्ध अग्नेः समं भूमिं निखनति। एवं आयसलोहान्। तप्तशर्कराभिः शयनं राशिपल्यानि परिकिरति। अमावास्यायां सकृद्गृहीतान् यवान् अनपहतान् अप्रतीहारपिष्टान् आभिचारिकं परिस्तीर्य तार्ष्टाघेध्म आवपति। य आगच्छेत्तं ब्रूयाच्छणशुल्बेन जिह्वां निर्मृजानः शालायाः प्रस्कन्देति। तथाऽकुर्वन्नना। अघेद्धु वाने। वीरिणतूलमिश्रं इंगिडं प्रपुटेन जुहोति। इध्माबर्हिः शालायां आसेजति। अपरेद्युर्विकृतौ पिशाचतो रुजति। उक्तो होमः। वैश्रवणायाञ्जलिं कृत्वा जपन्नाचामत्यभ्युक्षति। निश्युल्मुके संघर्षति"। (कौशिकसूत्र ४।१)॥

तथा शान्त्युदकके अभिमन्त्रणमें "चातनैर्मातृनामभिर्जुहुयात्" (शान्तिकल्प १६) इत्यादिमें भी इस अनुवाकका गणप्रयुक्त विनियोग करना चाहिये ।

तथा वशाशमनकर्ममें पशुसंज्ञपनके अनन्तर 'रक्षोहणम्' अनुवाकका जप करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अथ प्राणान् आस्थापयन्ति प्रजानन्तः (२ । ३४ । ५) इति । दक्षिणतस्तिष्ठन् रक्षोहणम् (८।३) जपति" । (कौशिक ५।८)

तथा घृतकम्बल नामक महाभिषेकमें भी अभिषेकके अनन्तर "रक्षोहणम्" अनुवाकका जप करे । "बृहस्पतिर्महेन्द्राय चकार घृतकम्बलम् ।-बृहस्पतिजीने महेन्द्रके लिये घृतकम्बलको किया था" कह कर अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि-"ब्राह्मणाः स्वस्तिवाच्याथ प्राङ्मुखः संविशेत्ततः । रक्षोहणं अनुवाकं जपेत् कर्ताथ ऋत्विजः ॥-ब्राह्मण स्वस्तिवाचन कर पूर्वकी ओर मुख करके बैठें फिर कर्ता रक्षोहण अनुवाकका जप करे ।०" ॥

तत्र प्रथमा ॥

र॒क्षो॒हणं॑ वा॒जिन॒मा जि॑घर्मि मि॒त्रं प्रथि॑ष्ठ॒मुप॑ यामि॒ शर्म॑ ।
शिशा॑नो अ॒ग्निः क्रतु॑भिः॒ समि॑द्धः॒ स नो॒ दिवा॒ स
रिषः पा॑तु॒ नक्त॑म् ॥ १ ॥

र॒क्षः॒ऽहन॑म् । वा॒जिन॑म् । आ । जि॒घ॒र्मि॒ । मि॒त्रम् । प्रथि॑ष्ठम् ।
उप॑ । या॒मि॒ । शर्म॑ ।
शिशा॑नः । अ॒ग्निः । क्रतु॑ऽभिः । सम्ऽइ॑द्धः । सः । नः॒ । दिवा॑ ।
सः । रि॒षः । पा॒तु॒ । नक्त॑म् ॥ १ ॥

एतदनुवाकविनियोजकसूत्रोक्तफलकामोहं रक्षोहणम् रक्षसाम्

अपहन्तारं वाजिनम् वाजो बलं तत्साधनम् अन्नं वा तद्वन्तम् अग्निम् आ जिघर्मि घृतं सर्वतः क्षारयामि। जुहोमीत्यर्थः। यद्वा दीपयामि समिन्धे। आज्यादिनेति शेषः। तथा कृत्वा मित्रम् सखिभूतं प्रथिष्ठम् पृथुतरं तम् अग्निं शर्म शरणम् उप यामि उपगच्छामि। अथ वा शर्म सुखम्। लब्धुम् इति शेषः। सोऽग्निः शिशानः ज्वालास्तीक्ष्णीकुर्वन्। ❀ "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लौ अभ्यासस्य इत्त्वम्। आत्वम्। शानच् ❀। क्रतुभिः क्रत्वङ्गभूतैराज्यादिभिः कर्मभिर्वा समिद्धः सम्यग्दीप्तः। भवत्विति शेषः। स तादृशो रक्षोहा अग्निः नः अस्मान् रिषः हिंसकाद् दिवा अहनि पातु रक्षतु। स एव अग्निः नक्तम् रात्रौ रिषः सकाशात् पातु। सर्वेष्वहःसु सर्वासु च रात्रिषु पात्वित्यर्थः॥

इस अनुवाकका विनियोग करने वाला सूत्रोक्त फलको चाहने वाला मैं राक्षसोंको मारने वाले बलवान् अग्निदेव पर चारों ओर से घृत टपकाता हूँ। अग्निको दीप्त करता हूँ ऐसा करनेके उपरान्त मित्ररूप विशाल अग्निकी सुख पानेके लिये शरण लेता हूँ। वह अग्नि ज्वालाओंको तीक्ष्ण करता हुआ क्रतुके अंग घृत आदिसे भली प्रकार प्रदीप्त होवे। ऐसे अग्निदेव दिनके समय हमें हिंसकोंसे बचावें॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अयो॑दंष्ट्रो अ॒र्चिषा॑ यातु॒धाना॒नुप॑ स्पृश जातवे॑द॒ः
समि॑द्धः ।
आ जि॒ह्वया॒ मूर॑देवान् रभस्व क्र॒व्यादो॑ वृ॒ष्ट्वापि॑ धत्स्वा॒सन्

अय॑ःऽदंष्ट्रः । अ॒र्चिषा॑ । या॒तु॒ऽधाना॑न् । उप॑ । स्पृ॒श॒ । जा॒त॒ऽवे॒द॒ः ।
सम्ऽइ॑द्धः ।

आ । जिह्वया । मूरऽदेवान् । रभस्व । क्रव्यऽअदः । वृष्ट्वा । अपि ।
धत्स्व । आसन् ॥ २ ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने समिद्धः अस्मद्दत्तैराज्यादिभिः सम्यग्दीप्तस्त्वम् अयोदंष्ट्रः अयोमयदन्तयुक्तः सन् अर्चिषा ज्वालया क्रूरया यातुधानान् यातवो यातनास्ता एषु धीयन्ते यातुधानाः तान् उप स्पृश । संदहेत्यर्थः । तथा मूरदेवान् मूलेन औषधेन दीव्यन्ति परेषां हननाय क्रीडन्तीति मूरदेवाः तान् । अभिचरत इत्यर्थः । अथ वा "मूरा अमूर" इत्यत्र यास्केन "मूढा वयं स्मोऽमूढस्त्वम् असि" [नि० ६. ८] इत्युक्तत्वात् मूढाः कार्याकार्यविभागबुद्धिशून्याः सन्तो ये दीव्यन्ति ते मूरदेवाः तान् जिह्वया ज्वालया आ रभस्व स्पृश । दहेत्यर्थः । तथा क्रव्यादः मांसभक्षकान् रक्षःपिशाचादीन् वृष्ट्वा धर्षित्वा । ❀ इडभावश्छान्दसः ❀ । आसन् तव आस्ये । ❀ "पद्दन्०" इत्यादिना आस्यशब्दस्य आसन् आदेशः ❀ । अपि धत्स्व अपिधानं कुरु ओष्ठाभ्याम् आच्छादय । भक्षयेत्यर्थः ॥

हे जातवेदा अग्ने ! हमारे दिये हुए घृत आदिसे भली प्रकार बढ़े हुए आप लोहेके दाँत करके अपनी क्रूर ज्वालासे यातुधानों का स्पर्श करिये और औषधिसे क्रीड़ा करने वाले अर्थात् अभिचारक पुरुषोंको अपनी ज्वालासे भस्म करिये और मांसभक्षक राक्षस पिशाच आदिको दबा कर अपने मुखमें धर लीजिये ॥२॥

तृतीया ॥

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोवरं परं च ।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान्

उ॒भा । उ॒भ॒या॒वि॒न् । उप॑ । धे॒हि॒ । दंष्ट्रौ॑ । हिं॒स्रः । शिशा॑नः ।

अव॑रम् । पर॑म् । च॒ ।

उ॒त । अ॒न्तरि॑क्षे । परि॑ । या॒हि॒ । अ॒ग्ने॒ । जम्भैः॑ । सम् । धे॒हि॒ ।

अ॒भि । या॒तु॒ऽधाना॑न् ।। ३ ।।

हे उभयाविन् उभयवन् अयं रक्षणीयः अयं हन्तव्यः इत्युभयविधजनपरिज्ञानवन् । यद्वा अवरं परं चेति वक्ष्यमाणौ अवरपरौ उभयशब्देन उच्येते । तदुभयवन् हिंस्रः हिंसनशीलः शिशानः तीक्ष्णज्वालस्तीक्ष्णदन्तो वा अवरम् अस्मत्तो निकृष्टं द्वेष्यं परं च अस्मत्तोधिकं द्वेष्यं च उभा दंष्ट्रौ उभे दंष्ट्रे उप धेहि उपहिते कुरु दंष्ट्रान्तर्वर्तिनौ कुरु । खादेत्यर्थः ।। उत अपि च अन्तरिक्षे आकाशे परि याहि संचर । हे अग्ने संचर्य च मम बाधनाय तत्र संचरतो यातुधानान् रक्षःप्रभृतीन् जम्भैः दन्तैः अभि सं धेहि अभिसंहितान् संदष्टान् कुरु । यद्वा यातुधानान् अभि अन्तरिक्षे परि याहि । तान् एव जम्भैः सं धेहि ।।

हे यह मारने योग्य है और यह रक्षा करने योग्य है—इस प्रकार दोनोंको जानने वाले हिंसनशील, तीक्ष्ण ज्वाला वाले अग्ने ! आप अपनी ऊपरकी और नीचेकी दोनों डाढ़ोंको हमसे श्रेष्ठ और निकृष्ट शत्रुओंको मारनेके लिये बन्द करिये । और आकाशमें विचरण करिये और तहाँ विचरण करके हे अग्ने ! मुझे पीड़ा देनेके लिये विचरते हुए यातुधानोंको अपने दाँतोंसे काटिये ।। ३ ।।

चतुर्थी ।।

अग्ने॒ त्वचं॑ यातु॒धान॑स्य भिन्धि हिं॒स्राशनि॒र्हर॑सा

हन्त्वेनम् ।

प्र पर्वा॑णि जातवेदः शृणीहि क्र॒व्यात् क्र॑वि॒ष्णुर्वि
चि॑नोत्वेनम् ॥ ४ ॥

अग्ने॑ । त्वच॑म् । या॒तु॒ऽधान॑स्य । भि॒न्धि॒ । हिं॒स्रा । अ॒शनि॑ः । हर॑सा ।
ह॒न्तु॒ । ए॒न॒म् ।

प्र । पर्वा॑णि । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । शृ॒णी॒हि॒ । क्र॒व्य॒ऽअत् । क्र॒वि॒ष्णुः ।
वि । चि॒नो॒तु॒ । ए॒न॒म् ॥ ४ ॥

हे अग्ने त्वं यातुधानस्य रक्षआदेः त्वचम् बाह्यधातुं भिन्धि छिन्धि भिन्नां कुरु । तत्र च हिंस्रा अशनिः हिंसको वज्रो हरसा तापेन एनं यातुधानं हन्तु हिनस्तु । पूर्वं त्वचः कर्तनं प्रार्थ्य तावता अपरितुष्टमना आह प्र पर्वाणीति । हे जातवेदः जातधन जातप्रज्ञ वा अग्ने यातुधानस्य पर्वाणि शरीरग्रन्थीन् प्र शृणीहि प्रकर्षेण भिन्नानि कुरु । तथा कृते क्रव्यात् मांसभक्षको वृकादिः क्रविष्णुः क्रव्यम् इच्छन् एनं यातुधानं वि चिनोतु इतस्ततो भक्षणाय आकृष्य विप्रकीर्णं करोतु ॥

हे अग्ने ! आप यातुधानकी बाह्यधातु त्वचाको भेद दीजिये । और आपका हिंसक वज्र इस यातुधानको अपने तेजसे नष्ट कर डाले हे जातवेदा अग्ने ! आप यातुधानोंके जोड़ोंको बखेर दीजिये । ऐसा होनेके उपरान्त मांसभक्षक भेड़िया आदि मांसको चाहता हुआ इस यातुधानको इधर उधरको खचेड़े ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यत्रे॒दानीं॒ पश्य॑सि जातवेद॒स्तिष्ठ॑न्तमग्न उ॒त वा॒ चर॑न्तम्
उ॒तान्तरि॑क्षे॒ पत॑न्तं यातु॒धानं॒ तमस्ता॑ विध्य॒ शर्वा॒
शिशा॑नः ॥ ५ ॥

यत्र । इदानीम् । पश्यसि । जातऽवेदः । तिष्ठन्तम् । अग्ने । उत ।
वा । चरन्तम् ।
उत । अन्तरिक्षे । पतन्तम् । यातुऽधानम् । तम् । अस्ता । विध्य ।
शर्वा । शिशानः ॥ ५ ॥

हे जातवेदः अग्ने त्वं यत्र यस्मिन् देशे इदानीम् अस्मिन् काले अस्मदुपद्रवकाले पश्यसि यातुधानम् अस्मदुपद्रवकारिणं राक्षसादिकम् । कथंभूतम् इति तत्राह । तिष्ठन्तम् कस्मिंश्चिद् देशे स्थितिं कुर्वाणम् उत वा अपि वा चरन्तम् एकत्र अवस्थितिम् अकुर्वाणम् उत अपि च अन्तरिक्षे आकाशे पतन्तम् गच्छन्तं तं यातुधानम् अस्ता क्षेप्ता त्वं शिशानः तीक्ष्णः सन् शर्वा शरुणा विध्य ताडय ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप इस उपद्रवके समय जिस देशमें हम पर उपद्रव करने वाले राक्षस आदिको कहीं बैठे हुए वा विचरते हुए वा अन्तरिक्षमें विचरते हुए देखें तो आप उसको फेंक दीजिये और तीक्ष्ण होकर अपनी हिंसक ज्वालासे बींध डालिये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः ।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ग्ध्येषाम् ॥ ६ ॥

यज्ञैः । इषूः । सम्ऽनममानः । अग्ने । वाचा । शल्यान् । अशनिऽभिः । दिहानः ।

ताभि॑ः । वि॒ध्य॒ । हृद॑ये । या॒तु॒ऽधाना॑न् । प्र॒ती॒चः । बा॒हू॑न् । प्रति॑ ।
भ॒ङ्ग्धि॒ । ए॒षा॒म् ॥ ६ ॥

हे अग्ने यज्ञैः अस्मदनुष्ठितैर्यागैः प्रयोगैः इषूः तव बाणान् संनममानः ऋजूकुर्वन् वाचा स्तुत्यात्मकमन्त्ररूपया शल्यान् बाणाग्राणि दिहानः दिग्धान् कुर्वन् तीक्ष्णीकुर्वन् वा । अशनिभिरित्येतद् व्यवहितमपि सामर्थ्याद् यज्ञविशेषणम् । अशनिसदृशै रक्षोघातुकैर्यज्ञैरित्यर्थः । अथ वा वाचा अशनिभिः वाङ्मयैर्दीप्तैः शाणैः दिहानः तीक्ष्णीकुर्वन् ताभिरिषुभिर्बाणैः यातुधानान् हृदये हृदयप्रदेशे विध्य ताडय । ततः एषां यातुधानानां बाहून् भुजान् प्रतीचः प्रति भङ्ग्धि अस्माकं वधाय प्राचः सतः प्रतीचः कृत्वा भङ्ग्धि मर्दय भग्नान् कुरु ॥

हे अग्ने ! हमारे अनुष्ठित यागोंसे अपने बाणोंको सरल करते हुए, स्तुतिमन्त्ररूपा वाणीसे बाणोंके अग्रभागको तीक्ष्ण करते हुए आप शत्रुओंके हृदयोंको बींध डालिये । फिर इन यातुधानोंकी हमको ताड़ित करनेके लिये हमारी ओर चलती हुई भुजाओंको तोड़ डालिये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

उ॒तार॑ब्धान्त्स्पृणुहि जातवेद उ॒ता॒रे॑भा॒णाँ ऋ॒ष्टिभि॑र्या॑तु॒-
धाना॑न् ।
अ॒ग्ने पू॒र्वो नि ज॑हि॒ शोशु॑चान आ॒माद॒ः क्ष्विङ्का॒स्त-
म॑द॒न्त्वेनी॑ः ॥ ७ ॥

उत । आऽर॑ब्धान् । स्पृ॒णु॒हि॒ । जा॒त॒ऽवे॒द॒ः । उ॒त । आ॒ऽरे॒भा॒णान् ।
ऋ॒ष्टिऽभि॑ः । या॒तु॒ऽधाना॑न् ।

अग्ने । पूर्वः । नि । जहि । शोशुचानः । आमऽअदः । द्विवङ्क्षाः ।
तम् । अदन्तु । एनीः ॥ ७ ॥

उत अपि च हे जातवेदः अग्ने त्वम् आरब्धान् त्वां स्तोतुं प्रक्रान्तान् अस्मान् स्पृणुहि पालय । उत अपि च आरेभाणान् शब्दं कृतवतो यातुधानान् ऋष्टिभिः आयुधैर्घातय । किं च हे अग्ने त्वं पूर्वः शत्रुतः प्रथमभागः सन् शोशुचानः ज्वलन् तान् यातुधानान् नि जहि मारय । अथ एकवद् अभिधानम् । तं हतम् आमादः अपक्वमांसाशना एनीः एतवर्णाः शुभ्रवर्णाः संध्यावर्णा वा द्वङ्क्षाः पक्षिविशेषाः अदन्तु भक्षयन्तु ॥

हे अग्ने! आपकी स्तुति करते हुए हमारा आप पालन करिये । और शब्द करते हुए यातुधानोंको आयुधोंसे मारिये । और आप पहिले ही प्रदीप्त होकर उन यातुधानोंको मार डालिये । उन मरे हुए यातुधानोंको अपक्व मांसका भक्षण करने वाले द्वंक नामक शुभ्र वर्णके पक्षी मार कर खा जावें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम्

इह । प्र । ब्रूहि । यतमः । सः । अग्ने । यातुऽधानः । यः । इदम् ।
कृणोति ।

तम् । आ । रभस्व । सम्ऽइधा । यविष्ठ । नृऽचक्षसः । चक्षुषे ।
रन्धय । एनम् ॥ ८ ॥

हे अग्ने इह अस्मिन् प्रकृते शान्तिविषये यो यातुधानः राक्षसः

इदं शरीरपीडनादिकं कृणोषि। कृणोतीत्यर्थः । अथवा यस्त्वम् इदं प्रहरणं कृणोषि करोषि सः प्रहारविषयः प्रहारकर्ता वा यातुधानो यतम इति प्र ब्रूहि आचक्ष्व। अथ वा किं तेन तत्स्वरूपपरिज्ञानेन । तं घातकं पाप्मिनम् हे यविष्ठ्य युवतम। ❀ स्वार्थिको यत् ❀ । समिधा दाहिकया ज्वालया आ रभस्व स्पृश । दहेत्यर्थः । एतदेव भङ्ग्यन्तरेणाह । हे अग्ने एनं पापिनं नृचक्षसः नॄन् पश्यतीति नृचक्षाः सुकृतिनां पापिनां प्राणिनां च साक्षितया द्रष्टुस्तव चक्षुषे चक्षुषः रन्धय वशं प्रापय । दहेत्यर्थः ॥

हे अग्ने ! इस प्रकृत शान्तिविषयमें जो राक्षस इस शरीरपीड़न आदि कर्मको कर रहा है उसको बताइये। और उस घातकको हे यविष्ठ ! अपनी दाहिका ज्वालासे स्पर्श करिये। हे अग्ने ! उस पापीको सुकृती और दुष्कृती मनुष्योंको साक्षीरूपसे देखने वाली अपनी दृष्टिके वशमें करिये–भस्म करिये ॥ ८ ॥

नवमी ॥

ती॒क्ष्णेना॑ग्ने॒ चक्षु॑षा रक्ष य॒ज्ञं प्रा॒ञ्चं॑ वसु॒भ्यः॑ प्र ण॑य
प्र॒चेतः॑ ।
हिं॒स्रं रक्षां॑स्य॒भि शोशु॑चानं॒ मा त्वा॑ दभन् यातु॒धाना॑
नृचक्षः ॥ ९ ॥

ती॒क्ष्णेन॑ । अ॒ग्ने॒ । चक्षु॑षा । र॒क्ष॒ । य॒ज्ञम् । प्राञ्च॑म् । वसु॑ऽभ्यः ।
प्र । न॒य॒ । प्र॒ऽचे॒तः॒ ।
हिं॒स्रम् । रक्षां॑सि । अ॒भि । शोशु॑चानम् । मा । त्वा॒ । द॒भ॒न् ।
या॒तु॒ऽधाना॑ः । नृ॒ऽच॒क्षः॒ ॥ ९ ॥

हे अग्ने त्वं तीक्ष्णेन क्रूरेण चक्षुषा भयंकरेण दर्शनेन उक्तविधेन तेजसा वा यज्ञम् अस्मदीयं रक्ष पालय । हे प्रचेतः प्रकृष्टमनः अस्मासु कृपाचित्त त्वम् अस्मदीयं तं यज्ञं वसुभ्यः वासकेभ्यो देवेभ्यः प्राञ्चं प्रणय प्रगमय । हे नृचक्षः नृणां द्रष्टः अग्ने यज्ञरक्षासमये हिंस्रम् हिंसाशीलं रक्षांसि राक्षसान् वा अभिशोशुचानम् अभितो भृशं दीपयन्तं दहन्तम् । ❀ शुचेर्यङ्लुगन्ताच्छतरि रूपम् ❀ । तादृशं त्वा त्वां यातुधानाः राक्षसा मा दभन् मा हिंसिषुः ॥

आप अपने भयङ्कर नेत्रसे यज्ञकी रक्षा करिये । हे कृपायुक्त चित्त वाले अग्निदेव ! आप हमारे यज्ञको वासक देवताओंके लिये शीघ्रतासे पहुँचाइये । हे मनुष्योंको देखने वाले अग्ने ! यज्ञरक्षा के समय चारों ओरसे प्रदीप्त होकर राक्षसोंको मारते हुए तुम हिंसकको राक्षस न दबा सकें ॥ ९ ॥

दशमी ॥

नृ॒च॒क्षा र॒क्षः परि॑ पश्य वि॒क्षु तस्य॒ त्रीणि॒ प्रति॑
शृणी॒ह्यग्रा॑ ।
तस्या॑ग्ने पृ॒ष्टीर्हर॑सा शृणीहि त्रे॒धा मूल॑ं यातु॒धान॑स्य वृश्च

नृ॒ऽचक्षा॑ः । रक्षः॑ । परि॑ । प॒श्य॒ । वि॒क्षु । तस्य॑ । त्रीणि । प्रति॑ ।
शृ॒णी॒हि॒ । अग्रा॑ ।
तस्य॑ । अ॒ग्ने॒ । पृ॒ष्टीः । हर॑सा । शृ॒णी॒हि॒ । त्रे॒धा । मूल॑म् ।
या॒तु॒ऽधान॑स्य । वृ॒श्च ॥ १० ॥

हे अग्ने नृचक्षाः नृणाम् अनुग्राह्याणां निग्राह्याणां च द्रष्टा त्वं

विक्षु प्रजासु मध्ये पीडयद्ध रक्षः राक्षसं परि पश्य परितः अवलोकय । तथा कृत्वा तस्य रक्षसः त्रीणि अग्रा अग्राणि उपरिभागान् प्रति शृणीहि । प्रत्येकं छिन्धीत्यर्थः । तस्यैव पृष्टीः पार्श्वास्थीनि हे अग्ने हरसा तेजसा शृणीहि छिन्धि । तथा तस्य यातुधानस्य मूलम् पादप्रदेशं त्रेधा वृश्च छिन्धि । पादस्य त्रीणि पर्वाणीत्यर्थः ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे दण्ड और अनुग्रहके पात्र मनुष्योंको देखने वाले अग्ने । आप प्रजाओंको पीड़ित करने वाले राक्षसको चारों ओर देखिये और देखकर राक्षसके ऊपरके तीन अंगोंको छिन्न भिन्न करिये हे अग्ने ! उसकी पसलियोंको तेजसे छिन्न भिन्न कर डालिये । और उसके पैरके तीन अवयवोंको काट दीजिये ॥ १० ॥

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ॥

"त्रिर्यातुधानः" इति सूक्तस्य "रक्षोहणम्" इत्यनेन उक्तो विनियोगः ॥ गवां लोहितदोहलक्षणाद्भुतशान्त्यर्थं "यः पौरुषेयेण" [१५-१८] इति चतुर्ऋचेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "अथ यत्रैतद्ध धेनवो लोहितं दुहते यः पौरुषेयेणेत्येताभिश्चतसृभिर्जुहुयात्" इति [कौ० १३. २०] ॥

"त्रिर्यातुधानः" सूक्तका "रक्षोहणम्" सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

गौओंके रक्त दुहनेकी अद्भुतशान्तिके लिये "यः पौरुषेयेण" इन पन्द्रवेंसे अठारहवें तकके चार मन्त्रोंसे घृतकी आहुति देय । कौशिकसूत्र १३ । २० में कहा भी है, कि—"अथ यत्रैतद्ध धेनवो लोहितं दुहते यः पौरुषेयेयेत्येताभिश्चतसृभिर्जुहुयात्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

त्रि॒र्या॑तुधान॒ः प्रसि॑तिं त ए॒त्वृतं यो अ॑ग्ने अनृ॑ते॒न हन्ति॑ ।

त॒मर्चिषा॑ स्फू॒र्जय॑न् जातवे॑दः सम॒क्षमे॑नं गृण॒ते नि
यु॑ङ्ग्धि ॥ ११ ॥

त्रिः । या॒तु॒ऽधान॑ः । प्रऽसि॑तिम् । ते॒ । ए॒तु॒ । ऋ॒तम् । यः । अ॒ग्ने॒ ।
अ॑नृतेन । हन्ति॑ ।

तम् । अ॒र्चिषा॑ । स्फू॒र्जय॑न् । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । स॒म्ऽअ॒क्षम् । ए॒न॒म् ।
गृ॒ण॒ते । नि । यु॒ङ्ग्धि॒ ॥ ११ ॥

हे अग्ने यातुधानः राक्षसः ते तव प्रसितिम् । ज्वालां त्रिः त्रिवारम् एतु प्राप्नोतु । तावता निःशेषेण दग्धो भवतीत्यभिप्रायः। यातुधानं विशिनष्टि । यः ऋतम् मम सत्यवचनं यज्ञं वा अनृतेन असत्यवचनेन छद्मना वा हन्ति विनाशयति । हे जातवेदः जातप्रज्ञ अग्ने तम् एनं यातुधानम् अर्चिषा स्वकीयया ज्वालया स्फूर्जयन् गृणते तव स्तोत्रं कुर्वते मह्यं गृणतो मम समक्षम् दृष्टिसंमुख एव नि वृङ्ग्धि निगृह्य वर्जय विनाशय ॥

हे अग्ने ! राक्षस तुम्हारी ज्वालाको तीन वार प्राप्त होवे । जो मेरे सत्यवचनको वा यज्ञको असत्यवचनसे वा छद्मसे नष्टकरता है हे जातप्रज्ञ अग्ने स्तुति करने वाले मेरे सामने ही उस यातुधान को पकड़ कर अपनी ज्वालासे नष्ट करिये ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

य॑दग्ने अ॒द्य मि॑थु॒ना शपा॒तो यद् वा॒चस्तृ॒ष्टं ज॒नय॑न्त
रे॒भाः ।
म॒न्योर्मन॑सः श॒र॒व्या॒३ जाय॑ते॒ या तया॑ विध्य॒ हृद॑ये
यातु॒धाना॑न् ॥ १२ ॥

यत् । अग्ने । अद्य । मिथुना । शपातः । यत् । वाचः । तृष्टम् ।
जनयन्त । रेभाः ।
मन्योः । मनसः । शरव्याऽ । जायते । तया । विध्य । हृदये ।
यातुऽधानान् ॥ १२ ॥

हे [अग्ने] अद्य अस्मिन्नहनि यत् यस्मात् मिथुना स्त्रीपुंसौ शपातः शपतः परस्परम् आक्रोशतः यच्च वाचस्तृष्टम् तृषायुक्तम् । कटुकम् इत्यर्थः । जनयन्त जनयन्ति उत्पादयन्ति । के । रेभाः स्तोतारः । यातुधानेभ्यो निमित्तेभ्य इत्यभिप्रायः । मन्योः तव क्रोधयुक्ताद् दीप्ताद्ध वा मनसः सकाशाद्ध या शरव्या इषुः ज्वालारूपा जायते तया इष्वा यातुधानान् हृदये हृदयदेशे विध्य ताडय॥

हे अग्ने ! आज जिसके कारणसें स्त्री और पुरुष परस्पर आक्रोश मचा रहे हैं और जिसके निमित्त स्तोता कटु वाणीका उच्चारण कर रहे हैं उस यातुधानको आप अपने क्रोधयुक्त मनसे जिससे, कि—ज्वालारूपा वाणावली निकल रही है उससे हृदयमें ताड़ित करिये ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

परा भृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा
शृणीहि ।
परार्चिषा मूरदेवान्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः
शृणीहि ॥ १३ ॥

परा । भृणीहि । तपसा । यातुऽधानान् । परा । अग्ने । रक्षः ।
हरसा । भृणीहि ।

परा । अर्चिषा । मूरऽदेवान् । शृणीहि । परा । असुऽतृपः ।
शोशुचतः । शृणीहि ॥ १३ ॥

हे अग्ने यातुधानान् राक्षसान् तपसा तापकेन तेजसा परा शृणीहि पराङ्मुखं विनाशय । तथा रक्षः राक्षसं हरसा प्राणापहारकेण तेजसा परा शृणीहि । तथा मूरदेवान् मारणेन कर्मणा दीव्यन्तीति मूरदेवाः तान् अर्चिषा दीप्यमानया ज्वालया परा शृणीहि । असुतृपः असुभिः परप्राणैरात्मानं तर्पयन्तोऽग्ने तान् शोशुचतः भृशं दीप्तान् राक्षसान् परा शृणीहि । अथवा शोशुचतः भृशं दीप्यमानान् । तव ज्वालयेति शेषः ॥

हे अग्ने ! आप यातुधानोंको तापक तेजसे पराङ्मुख करके नष्ट कर डालिये तथा राक्षसोंको प्राणापहारक तेजसे पराङ्मुख करके नष्ट कर डालिये और मारण कर्मसे क्रीड़ा करने वाले—मूरदेव—अभिचारकोंको अपनी दमकती हुई ज्वालासे नष्ट कर डालिये दूसरेके प्राणोंसे अपनी तृप्ति करने वाले परम प्रदीप्त राक्षसोंको आप नष्ट करिये ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु
सृष्टाः ।
वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन् विश्वस्यैतु प्रसितिं
यातुधानः ॥ १४ ॥

परा । अद्य । देवाः । वृजिनम् । शृणन्तु । प्रत्यक् । एनम् ।
शपथाः । यन्तु । सृष्टाः ।

वाचाऽस्तेनम् । शरवः । ऋच्छन्तु । मर्मन् । विश्वस्य । एतु ।
प्रऽसितिम् । यातुऽधानः ॥ १४ ॥

अद्य अस्मिन्नहनि देवाः सर्वे वह्निप्रमुखा वृजिनम् प्राणानां वर्जकं राक्षसं पापं वा परा शृणन्तु यथा न प्रतिगच्छति तथा हिंसन्तु । एनं वृजिनं तृष्टाः कटुकाः शपथाः. अस्मान् प्रति तेन प्रयुक्तानि शपनानि प्रत्यक् प्रतिमुखं यन्तु गच्छन्तु । किं च वाचास्तेनम् । मृषावचनेन यः प्रहरति स वाचास्तेनः । तं शरवः देवशराः मर्मन् मर्मणि प्रदेशे ऋच्छन्तु गच्छन्तु । स यातुधानः विश्वस्य सर्वस्यापि देवस्य प्रसितिम् प्रकर्षेण अभिभवित्रीं हेतिम् एतु गच्छतु । अथवा विश्वस्य व्याप्तस्याग्नेः प्रसितिम् ज्वालाम् एतु । ❀ प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वेति यास्कः [नि॰ ६. १२] ❀ ॥

आज अग्नि आदि सकल देवता प्राणोंके वर्जक राक्षसको वा पापको जिस प्रकार वह फिर लौट कर आक्रमण न कर सके तिस प्रकार मार डालें । और इस राक्षसके पास उसके भेजे शाप लौट कर उसको ही लगें । और उस मिथ्या वाणीसे मारने वालेके मर्मोंमें देवताओंके बाण लगें, और वह यातुधान व्यापक अग्निदेवके ज्वालारूप आयुधको प्राप्त होवे ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ १५ ॥

यः । पौरुषेयेण । क्रविषा । सम्ऽअङ्क्ते । यः । अश्व्येन । पशुना ।

यातुऽधानः ।

यः । अघ्न्यायाः । भरति । क्षीरम् । अग्ने । तेषाम् । शीर्षाणि ।

हरसा । अपि । वृश्च ॥ १५ ॥

यो यातुधानः पौरुषेयेण पुरुषसंबन्धिना क्रविषा मांसेन । ❀ "सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ" इति ढञ् ❀ । समङ्क्ते सम्यग् अभिव्यनक्ति पोषयति आत्मानम् । यश्च यातुधानः अश्व्येन अश्वसंबन्धिना अश्वरूपेण क्रविषा पशुना अजादिरूपेण च समङ्क्ते । हे अग्ने यश्च अघ्न्यायाः । गोनामैतत् । अहन्तव्याया गोः क्षीरं भरति हरति । तेषाम् उक्तप्रकाराणां सर्वेषां यातुधानानां शीर्षाणि शिरांसि हरसा तेजसा ज्वालया अपि वृश्च छिन्धि ॥

जो यातुधान पुरुषके मांससे अपनी पुष्टि करता है, और जो यातुधान अश्वके मांससे अपनी पुष्टि करता है और जो गौके क्षीरका अपहरण करता है, हे अग्ने! इन सब प्रकारके यातुधानों के शिरको आप अपनी ज्वालासे छिन्न भिन्न करिये ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः।
परैणान् देवः सविताः ददातु परा भागमोषधीनां
जयन्ताम् ॥ १६ ॥

विषम् । गवाम् । यातुऽधानाः । भरन्ताम् । आ । वृश्चन्ताम् ।

अदितये । दुःऽएवाः ।

२५११

परा । एनान् । देवः । सविता । ददातु । परा । भागम् । ओषधीनाम् । जयन्ताम् ॥ १६ ॥

यातुधानाः राक्षसाः गवां क्षीरं कामयमानास्तासां विषं भरन्ताम् संगृह्णन्तु ॥ तथा दुरेवाः दुष्टं गन्तारः अदितये सर्वानुग्राहिकायै देव्यै । यद्वा "इयं वा अदितिः" इति [तैः सं० २. २. ६. १] अतः सर्वाश्रयभूतायै भूम्यै तस्या अर्थाय आ वृश्चन्ताम् छिन्ना भवन्तु । भूमौ यानि लब्धव्यानि तैर्विरहिता भवन्तु इत्यर्थः ॥ किं च एनान् यातुधानान् सविता सर्वानुज्ञाता देवः परा ददातु निरस्यतु घातकेभ्यः प्रयच्छतु । ओषधीनाम् व्रीह्यादीनां भागं परा जयन्ताम् अभागिनो जयन्तु ॥

गौओंके क्षीरकी कामना करनेवाले यातुधान गौओंके विषको ग्रहण करें, तथा दुर्गमन करने वाले राक्षस पृथिवीके लिये छिन्न भिन्न होजावें अर्थात् भूमिसे जो पदार्थ मिल सकते हों उनसे हीन होजावें और सविता देवता इनको घातकोंके अर्पण करें और यह व्रीहि आदिके भागको पाने वाले न होवें ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

संवत्सरीणं पय उस्रियायास्तस्य माशीद् यातुधानो नृचक्षः ।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्माणि ॥ १७ ॥

सम्ऽवत्सरीणम् । पयः । उस्रियायाः । तस्य । मा । आशीत् । यातुऽधानः । नृऽचक्षः ।

पीयूषम् । अग्ने । यतमः । तितृप्सात् । तम् । प्रत्यञ्चम् । अर्चिषा ।

विध्य । मर्मणि ॥ १७ ॥

हे नृचक्षः नृणां द्रष्टरग्ने यातुधानः राक्षसः उस्रियायाः अस्मदीयाया गोः संबन्धि संवत्सरीणम् संवत्सरे भवम् । ❀ "संपरिपूर्वात् ख च" इति खः ❀ । गर्भाधानादि प्रसवपर्यन्तम् ऊधस्युपचितम् इत्यर्थः । अथवा प्रायेण प्रसवदिनप्रभृति संवत्सरपर्यन्तं गावो दुहन्ति तदभिप्रायेणेदम् अभिधानम् । तथाविधं पयः क्षीरं यद् अस्ति तस्य तत् क्षीरम् मा आशीत् मा भक्षयतु पिबतु । तथा यतमः यातुधानः पीयूषम् हविर्लक्षणम् अमृतं गोरेव घृतलक्षणं पीयूषं [वा] तितृप्सात् तर्पयितुम् इच्छेद् आत्मानम् । ❀ तृप्यतेः सनि "एकाच उपदेशेनुदात्तात्" इति इण्निषेधः । तदन्तात् लेटि आडागमः ❀ । तं राक्षसम् अर्चिषा स्वकीयया ज्वालया प्रत्यञ्चम् प्रतिमुखं विध्य ताडय । कुत्र देश इति । मर्मणि मर्मप्रदेशे । यस्मिन् देशे वेधनेन शीघ्रं म्रियते तत्रेत्यर्थः ॥

हे मनुष्योंको देखने वाले अग्ने ! राक्षस हमारी गौके हमको वर्ष भर तक प्राप्त होने वाले दूधका पान न कर सके । जो राक्षस गौके घृतरूप हविसे अपनेको तृप्त करना चाहताहै उस राक्षसको आप अपनी ज्वालासे मर्मदेशमें ताड़ित करिये ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।

सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः

सनात् । अग्ने । मृणसि । यातुऽधानान् । न । त्वा । रक्षांसि ।
पृतनासु । जिग्युः ।

सहऽमूरान् । अनु । दह । क्रव्यऽअदः । मा । ते । हेत्याः । मुक्षत ।
दैव्यायाः ॥ १८ ॥

एषा प्राग् [५. २९. ११] व्याख्याता यद्यपि तथापि व्यवहितत्वात् पुनर्व्याख्यायते । हे अग्ने त्वं सनात् चिरकालप्रभृति यातुधानान् राक्षसान् मृणसि हंसि । तथापि त्वा त्वां रक्षांसि केपि राक्षसाः पृतनासु संग्रामेषु न जिग्युः न जितवन्तः । अतस्त्वं क्रव्यादः मांसाशनान् राक्षसान् सहमूरान् मूलसहितान् अनु दह क्रमेण भस्मीकुरु । तेपि दैव्यायाः देवस्य तव संबन्धिन्या । ते तव हेत्याः आयुधाद् मा मुक्षत मुक्ता मा भूवन् तद्वशं प्राप्नुवन्तु ॥

हे अग्ने ! आप चिरकालसे राक्षसोंको मारते रहते हैं, तथापि कोई भी राक्षस संग्रामोंमें आपको जीत नहीं सके हैं । अतः आप मांसभक्षक राक्षसोंको मूलसहित भस्म करिये । वे आप देवके आयुधसे न छूट सकें आपके वशमें होजावें ॥ १८ ॥

सप्तमी ॥

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो
दहन्तु ॥ १९ ॥

त्वम् । नः । अग्ने । अधरात् । उदक्तः । त्वम् । पश्चात् । उत ।
रक्ष । पुरस्तात् ।

प्रति॑ । त्ये॑ । ते॒ । अ॒जरा॑सः । तपि॑ष्ठाः । अ॒घशं॑सम् । शोशु॑चतः । द॒ह॒न्तु॒ ॥ १९ ॥

हे अग्ने त्वं नः अस्मान् अधरात् अधोदिशः सकाशात् तत्रस्थेभ्यः पीडकेभ्यो राक्षसेभ्यः रक्ष पाहि । तथा उदक्तः उदग्दिशः सकाशात् तत्रत्येभ्यो रक्ष । एतद्दक्षिणदिशोप्युपलक्षणम् । अथवा अधरादित्यनेन अवाची दक्षिणा दिग् विवक्ष्यते । किं च त्वं पश्चात् प्रतीच्या दिशः सकाशाद् रक्ष । उत अपि च पुरस्तात् पूर्वस्या दिशः सकाशाद्द रक्ष । तेषु तत्तद्देशेष्ववस्थितेषु कथं रक्षा भवतीत्याशङ्क्याह प्रति ते त इति । ते तव संबन्धिनस्ते प्रसिद्धास्तत्रतत्र वर्तमानाः स्फुलिङ्गाः । ज्वालारूपा इति शेषः । अघशंसम् अघं हिंसां शंसन्तं राक्षसं प्रति दहन्तु विनाशं कुर्वन्तु । कीदृशाः । अजरासः अजरा अजीर्णाः । तपिष्ठाः अतिशयेन तापकाः । शोशुचतः भृशं दीप्ताः ॥

हे अग्ने ! आप हमारी दक्षिण दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये । उत्तर दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये, पश्चिम दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये, पूर्वदिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये । आपके ज्वालारूप अजर तापक ज्वालारूप स्फुलिंग (चिनगारियें) हिंसारूप पापको कहने वाले राक्षसका संहार करें ॥ १९ ॥

दशमी ॥

प॒श्चात् पु॒रस्ता॑दध॒रादु॒तोत्त॒रात् क॒विः काव्ये॑न॒ परि॑
पाह्यग्ने ।
सखा॑ स॒खाय॑म॒जरो॑ जरि॒म्णे अग्ने॒ मर्ताँ॒ अम॑र्त्य॒स्त्वं नः

प॒श्चात् । पु॒रस्ता॑त् । अ॒ध॒रात् । उ॒त । उ॒त्त॒रात् । क॒विः । काव्ये॑न ।
परि॑ । पा॒हि॒ । अ॒ग्ने॒ ।
सखा॑ । सखा॑यम् । अ॒जर॑ः । ज॒रि॒म्णे । अग्ने॑ । मर्ता॑न् । अम॑र्त्यः ।
त्वम् । न॒ः ॥ २० ॥

हे अग्ने त्वम् अस्मान् पश्चादित्यादिना उक्ताभ्यश्चतसृभ्यो दिग्भ्यः सकाशात् कविः क्रान्तप्रज्ञः । तत्र [तत्र] बाधमानान् राक्षसान् जानन्नित्यर्थः । काव्येन कवेः कर्म काव्यम् तेन कवेस्तव रक्षणव्यापारेण परि पाहि सर्वतो रक्ष । रक्षकं रक्षणीयं च उभावपि विशिनष्टि । सखा मम सखिभूतस्त्वं सखायम् तव सखिभूतं रक्ष । अजरः जरारहितः जरिम्णे अत्यन्तजीर्णाय मह्यम् । रक्षां कुर्विति शेषः । हे अग्ने अमर्त्यस्त्वं मर्त्यान् मरणधर्मणः नः अस्मान् । पाहीत्यन्वयः ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! आप क्रान्तप्रज्ञ (जानने वाले) होनेसे पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशाके राक्षसोंसे हमको अपने रक्षणव्यापारसे रक्षित करिये मेरे मित्र बने हुए आप मुझ मित्रकी रक्षा करिये। आप अजर हैं अतः मुझ अत्यन्त जीर्णकी रक्षा करिये। हे अग्ने ! आप अमर्त्य हैं अतः मुझ मरणधर्मीकी रक्षा करिये ॥ २० ॥ (७)

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ॥

“तदग्ने चक्षुः” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यत्रोक्ता विनियोगा अनुसंधेयाः ॥

अग्निरहितप्रदेशे अग्निदर्शनलक्षणे अद्भुते तच्छान्त्यर्थम् “अग्नी रक्षांसि” इत्यनया आज्यं जुहुयात् । “अथ यत्रैतद् अनग्नावाभासो

भवति तत्र जुहुयात्" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । "अग्नी रक्षांसि सेधतीति प्रायश्चित्तिः" इति [कौ० १३. ३८] ॥

सशब्देऽग्नौ तच्छान्त्यर्थम् अनया अग्निम् उपतिष्ठेत । "अग्नी रक्षांसि सेधतीति सेधन्तम्" इति तत्र [कौ० ५. १०] सूत्रम् ॥

अग्न्याधाने पावकगुणकाग्नियागम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । तद् उक्तं वैताने । "अग्नी रक्षांसि [८. ३. २६] अदितिर्द्यौः [७. ६. १]" इति [वै० २. २] ॥

'तदग्ने चक्षुः' इस सूक्तके विनियोग 'रक्षोहणम्' में देखने चाहियें।

अग्निरहित स्थानमें अग्निदर्शनरूप अद्भुतकी शान्तिके लिये "अग्नी रक्षांसि" ऋचासे घृतकी आहुति देय । "अथ यत्रैतद् अनग्नावाभासो भवति तत्र जुहुयात्" को कह कर सूत्रमें कहा है, कि—'अग्नी रक्षांसि सेधतीति प्रायश्चित्तिः०' (कौशिकसूत्र १३।३८)

शब्दसहित अग्निके होने पर उसकी शान्तिके लिये इस ऋचासे अग्निका उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । १० का प्रमाण भी है, कि—

अग्न्याधानमें पावकगुणकाग्नियागका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र २ । २ का प्रमाण है, कि—"अग्नी रक्षांसि (८ । ३ । २६) अदितिर्द्यौः (७ । ६ । १)" इति ॥

तत्र प्रथमा ॥

तद॑ग्ने॒ चक्षु॒ः प्रति॑ धेहि रे॒भे श॑फा॒रुजो॒ येन॒ पश्य॑सि
यातु॒धाना॑न् ।
अ॒थ॒र्व॒वज्ज्योति॑षा दैव्ये॑न स॒त्यं धूर्व॑न्तम॒चित॒ं न्यो॑ष २ १

तत् । अ॒ग्ने॒ । चक्षु॑ः । प्रति॑ । धे॒हि॒ । रे॒भे । श॒फ॒ऽआ॒रुजः॑ । येन॑ ।
पश्य॑सि । या॒तु॒ऽधाना॑न् ।

अथर्वऽवत् । ज्योतिषा । दैव्येन । सत्यम् । धूर्वन्तम् । अचितम् ।

नि । ओष ॥ २१ ॥

हे अग्ने त्वं रेभे शब्दं कुर्वते रक्षसे तत् चक्षुः प्रति धेहि स्थापय। दहेत्युक्तं भवति वह्निदृष्टेर्दाहकत्वात् । शफारुजः शफवत् शफाः । नखा इत्यर्थः । अथ वा पशुरूपधारिणां शफा अपि संभवन्ति । तैरारुजन्तीति शफारुजः । तादृशान् यातुधानान् येन पश्यसि तच्चक्षुरित्यर्थः । किं च अथर्ववत् अथर्वाख्यो महर्षिरिव स एव प्रजापतिरिति ग्रन्थादौ च तस्य माहात्म्यं प्रतिपादितम् । स यथा तपोमन्त्रप्रभावाभ्यां कृत्स्नान् असुरान् निर्ददाह तद्वत् त्वमपि दैव्येन देवसंबन्धिना ज्योतिषा तेजसा सत्यम् यथार्थं धूर्वन्तम् हिंसन्तम् अचितम् अचेत्तारं संज्ञारहितं न्योष नितरां दह । ❀ उष दाहे । लोण्मध्यमरूपम् ॥

हे अग्निदेव ! आप शब्द करते हुए राक्षस पर चक्षुः स्थापित करिये अर्थात् उसको भस्म करिये । (क्योंकि—वह्निकी दृष्टि दाहक होती है) तथा पशुका रूप धारण करके सुमोंसे पीड़ा देने वाले राक्षसोंको आप जैसे नेत्रसे देखते हैं और अथर्वा (प्रजापति) महर्षि तप और मन्त्रके प्रभावसे जिस प्रकार असुरों को भस्म कर चुके हैं, इसी प्रकार आप दिव्य तेजसे यथार्थमें हिंसा करने वाले संज्ञारहित राक्षसको पूर्णरीतिसे भस्म करिये २१

द्वितीया ॥

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ २२ ॥

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ।

धृ॒षत्ऽव॑र्णम् । दि॒वेऽदि॑वे । ह॒न्तार॑म् । भ॒ङ्गु॒रऽव॑तः ॥ २२ ॥

व्याख्यातेयं प्राक् [७. ७४] । हे अग्ने सहस्य सहसे हित । अभिभवनशीलेत्यर्थः । अथवा सहो बलम् तेन जात । मथनाद् उत्पन्नत्वात् । वयं त्वा त्वां परि परितो धीमहि ध्यायेमहि परिधिं कर्मो वा । कीदृशम् । पुरम् कामानां पूरकम् । विप्रम् मेधाविनं विविधं प्रीणयितारं वा । धृषद्वर्णम् धर्षकवर्णयुक्तम् । दिवेदिवे प्रतिदिनं भङ्गुरावताम् भङ्गस्वभावोपेतबलयुक्तानां राक्षसानां हन्तारम् प्रविनाशयितारम् । अग्नेर्दर्शनेनैव असुराणां बलानि भङ्गुराणि भवन्तीत्यभिप्रायः । यद्वा सर्वप्राणिबलानां भङ्गुरीकरणसामर्थ्यवताम् इत्यर्थः ॥

हे बलपूर्वक मथन करनेसे उत्पन्न हुए अग्ने ! हम आपको परिधि बनाते हैं ! आप कामनाओंको पूर्ण करने वाले हैं, अनेक प्रकारसे तृप्त करने वाले हैं, धर्षकवर्णसे सम्पन्न हैं और प्रतिदिन भंगत्वके स्वभाव वाले राक्षसोंको मारने वाले हैं अर्थात् अग्नि के दर्शनमात्रसे ही असुरोंके बल भंग होजाते हैं ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

वि॒षेण॑ भङ्गु॒राव॑तः॒ प्रति॑ स्म र॒क्षसो॑ जहि ।
अग्ने॑ ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ तपु॑रग्राभि॒रर्चिभिः॑ ॥ २३ ॥

वि॒षेण॑ । भ॒ङ्गु॒रऽव॑तः । प्रति॑ । स्म॒ । र॒क्षसः॑ । ज॒हि॒ ।

अग्ने॑ । ति॒ग्मेन॑ । शो॒चिषा॑ । तपुः॑ऽअग्राभिः । अ॒र्चिऽभिः॑ ।२३।

हे अग्ने विषेण विषवद्विनाशकेन व्याप्तेन वा । एतत् शोचिषेत्यस्य विशेषणम् । तिग्मेन तीक्ष्णेन शोचिषा तेजसा भङ्गुरावतः । उक्तो भङ्गुरावच्छब्दार्थः । उक्तरूपान् रक्षसः राक्षसान्

प्रति जहि । स्मेति पूरणः । तथा तपुरग्राभिः तापकाग्रोपेताभिः अर्चिभिः ज्वालाभिरपि जहि ॥

हे अग्ने ! आप विषकी समान नाशक अपने तीक्ष्ण तेजसे भंगशील राक्षसोंका संहार करिये और तापक अग्रभागसे युक्त ज्वालाओंसे भी (शत्रुओंका) नाश करिये ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा ।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्ष्वे ॥ २४ ॥

वि । ज्योतिषा । बृहता । भाति । अग्निः । आविः । विश्वानि । कृणुते । महिऽत्वा ।
प्र । अदेवीः । मायाः । सहते । दुःऽएवाः । शिशीते । शृङ्गे इति । रक्षःऽभ्यः । विऽनिक्ष्वे ॥ २४ ॥

अयम् अग्निः बृहता महता ज्योतिषा तेजसा वि भाति प्रकाशते ॥ अथ प्रत्यक्षकृतः । हे अग्ने महित्वा महत्त्वेन तेजसाम् आधिक्येन विश्वानि सर्वाण्यपि भूतजातानि आविष्कृणुषे स्पष्टानि करोषि । विश्वानि प्रति आत्मानं वा आविष्कुरुषे प्रभूतेन तेजसा । अयम् अग्निः अदेवीः आसुरीः दुरेवाः दुःखेन गन्तव्या मायाः प्र सहते प्रकर्षेण अभिभवति । तथा रक्षोभ्यो विनिक्ष्वे विनाशाय । ❀ निक्ष चुम्बने । तुमर्थे केन् प्रत्ययः । वकारोपजनश्छान्दसः ❀ । शृङ्गे विषाणे शिशीते तीक्ष्णे करोति ॥

यह अग्निदेव बड़े भारी तेजसे प्रकाशित होते रहते हैं और अपने तेजकी अधिकतासे सब भूतोंको स्पष्ट करते रहते हैं और यह अग्निदेव असुरोंकी दुःखपूर्वक सहने योग्य मायाओंको नष्ट कर डालते हैं और राक्षसोंका नाश करनेके लिये अपने विषाणों (ज्वालाओं) को तीक्ष्ण करते हैं ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

ये ते॒ शृङ्गे॑ अ॒जरे॑ जातवेदस्ति॒ग्महे॑ती॒ ब्रह्म॑संशिते ।
ताभ्यां॑ दु॒र्हार्द॑मभि॒दास॑न्तं किमी॒दिनं॑ प्र॒त्यञ्च॑म॒र्चिषा॑
जातवेदो॒ वि नि॑क्ष्व ॥ २५ ॥

ये इति॑ । ते॒ । शृङ्गे॒ इति॑ । अ॒जरे॒ इति॑ । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । ति॒ग्महे॑ती॒
इति॑ ति॒ग्मऽहे॑ती । ब्रह्म॑संशिते॒ इति॒ ब्रह्म॑ऽसंशिते

ताभ्या॑म् । दुः॒ऽहार्द॑म् । अ॒भि॒ऽदास॑न्तम् । कि॒मी॒दिन॑म् । प्र॒त्यञ्च॑म् ।
अ॒र्चिषा॑ । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । वि । नि॒क्ष्व॒ ॥ २५ ॥

हे जातवेदः अग्ने ये प्रसिद्धे ते तव शृङ्गे विषाणे स्तः ताभ्याम् अर्चिषा प्रत्यञ्चं वि निक्ष्व विनाशयेत्युत्तरत्र संबन्धः । किंगुणके शृङ्गे इति तत्राह । अजरे जरारहिते अविनश्वरे तिग्महेती तीक्ष्णायुधभूते तीक्ष्णहननसाधने ब्रह्मसंशिते ब्रह्मणा मन्त्रेण अस्माभिः प्रयुक्तेन तीक्ष्णभूते । उक्तलक्षणाभ्यां शृङ्गाभ्यां हन्तव्यः क इति तं सविशेषम् आह । दुर्हार्दम् दुष्टहृदयम् अभिदासन्तम् सर्वत उपक्षपयन्तं किमीदिनम् किम् इदानीम् इति वदन्तं किम् इदं किम् इदम् इत्यन्विष्य चरन्तं वा राक्षसादिकम् ॥

हे अग्निदेव ! आपके जो प्रसिद्ध सींग हैं वे जरा रहित हैं,

तीक्ष्ण आयुधरूप हैं, हमारे द्वारा प्रयोग किये गए मन्त्रोंसे तीक्ष्ण होगए हैं उन सींगोंसे आप दूषित हृदय वाले चारों ओरसे क्षय करते हुए, इस समय क्या होरहा है, इस समय क्या होरहा है इस प्रकार छिद्रान्वेषी राक्षसको भली प्रकार नष्ट कर डालिये२५

षष्ठी ॥

अ॒ग्नी रक्षां॑सि सेधति शु॒क्रशो॑चि॒रम॑र्त्यः ।
शुचि॑ः पाव॒क ईड्यः॑ ॥ २६ ॥

अ॒ग्निः । रक्षां॑सि । से॒ध॒ति॒ । शु॒क्रऽशो॑चिः । अम॑र्त्यः ।
शुचि॑ः । पा॒व॒कः । ईड्॑यः ॥ २६ ॥

अनया सूक्तत्रयोक्तम् अर्थं संगृह्य अभिधत्ते । अयं अग्निः रक्षांसि सर्वप्रकारेण बाधमानान् नानाप्रकारान् राक्षसान् सेधति निवारयति विनाशयति । अग्निर्विशेष्यते । शुक्रशोचिः दीप्तप्रकाशः । अमर्त्यः मरणधर्मरहितः । शुचिः शुद्धः । पावकः पावयिता शोधयिता । ईड्यः स्तुत्यः ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

यह अग्निदेव सकल प्रकारसे पीड़ा देने वाले अनेक प्रकारके राक्षसोंको निवारण करते हैं । इन अग्निदेवका प्रकाश दमकता रहता है यह मरणधर्मरहित हैं, शुद्ध हैं और शुद्ध करने वाले हैं तथा स्तुतिके पात्र हैं ॥ २६ ॥ ॥ ८ ॥

अष्टम कांडके द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४४१) ॥

"इन्द्रासोमा" इति सूक्तस्य "रक्षोहणम्" इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

अत्र ऋक्संहितायां बृहद्देवतानुक्रमणी ।

संवत्सरं तु मण्डूकान् ऐन्द्रासोमं परं तु यत् ।

ऋषिर्ददर्श रक्षोघ्नं पुत्रशोकपरिप्लुतः ।
हते पुत्रशते क्रुद्धः सौदासैर्दुःखितस्तदा । इति ॥

"इन्द्रासोमा" सूक्तके विनियोग "रक्षोहणम्" सूक्तके साथ कह दिये हैं ।

इस विषयमें ऋग्वेदसंहिताकी बृहद्देवतानुक्रमणीमें कहा है, कि-"सम्वत्सरं तु मण्डूकान् ऐन्द्रासोमं परन्तु यत् । ऋषिर्ददर्श रक्षोघ्नं पुत्रशोकपरिप्लुतः ॥ हते पुत्रशते क्रुद्धः सौदासैर्दुःखितस्तदा ॥-सौ पुत्रोंके मारे जाने पर सौदासके उपद्रवोंसे दुःखी ऋषिने वर्ष भर तक माण्डूकमन्त्र और ऐन्द्रासोम मन्त्रोंको देखा फिर पुत्रशोकमें डूबे हुए मुनिने रक्षोघ्न मन्त्रोंको देखा" ॥

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रा॑सोमा॒ तप॑तं॒ रक्ष॑ उ॒ब्जतं॒ न्य॒र्पयतं वृषणा तमो॒वृधः॑ ।
परा॑ शृणीतम॒चितो॒ न्यो॑षतं ह॒तं नु॒दे॒थां॑ नि शि॑शीतम॒त्त्रिणः॑ ॥ १ ॥

इन्द्रा॑सोमा । तप॑तम् । रक्षः॑ । उ॒ब्जत॑म् । निं । अ॒र्प॒य॒त॒म् । वृ॒ष॒णा॒ ।
त॒मः॒ऽवृ॑धः ।

परा॑ । शृ॒णी॒त॒म् । अ॒चित॑ः । नि । ओ॒ष॒त॒म् । ह॒तम् । नु॒देथा॑म् ।
नि । शि॒शी॒त॒म् । अ॒त्त्रिणः॑ ॥ १ ॥

हे इन्द्रासोमा इन्द्रासोमौ इन्द्रश्च सोमश्च । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति आनङ् । आमन्त्रिताद्युदात्तः ❀ । रक्षः । ❀ जातावेकवचनम् ❀ । रक्षांसि तपतम् संतापयतम् । ❀ "आमन्त्रितं पूर्वम्०" इत्यविद्यमानत्वात् तपतम् इत्यस्य निघाताभावः ❀ । तथा उब्जतम्

हिंस्तम् ।❀ उब्जतिर्हिंसाकर्मा । वाक्यादित्वान्निघाताभावः ❀ । हे वृषणा कामानां वर्षितारौ युवां न्यर्पयतम् नीचैर्गमयतम् । कान् । तमोवृधः तमसि रात्रौ अन्धकारे तमसा मायया वा वर्धमानान् । एवम् अचितः अचित्तान् अज्ञानिनो राक्षसान् परा शृणीतम् पराङ्मुखं हिंस्तम् । तथा न्योषतम् नितरां दहतम् । ❀ उष दाहे ❀ । तथा अत्त्रिणः भक्षकान् राक्षसान् हतम् । तथा नुदेथाम् हतांस्तान् अस्मत्तः प्रेरयेथाम् । ❀ तिङः परत्वात् निघाताभावः ❀ । एवं नि शिशीतम् नितरां तनुकुरुतम् ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! आप राक्षसोंको सन्ताप दीजिये और उनको नष्ट कर डालिये। हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले इन्द्र और सोम देवताओं ! आप रात्रिमें अन्धकारमें—मायासे—बढ़ने वाले अज्ञानी राक्षसोंका भी संहार करिये और उनको खाक कर दीजिये । भक्षक राक्षसोंको मारिये और उन मारे हुओंको हमारी ओर धकेल दीजिये । इस प्रकार उनके पक्षको बहुत ही क्षीण कर दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्रा॑सोमा॒ सम॒घशं॑सम॒भ्य१॒॑घं तपु॒र्य॑यस्तु च॒रुर॑ग्नि॒माँ इ॑व
ब्र॒ह्म॒द्विषे॑ क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे॒ द्वेषो॑ धत्तमनवा॒यं
किमी॒दिने॑ ॥ २ ॥

इन्द्रा॑सोमा । सम् । अ॒घऽशं॑सम् । अ॒भि । अ॒घम् । तपुः॑ । य॒य॒स्तु॒ ।
च॒रुः । अ॒ग्नि॒मा॑न्ऽइव ।
ब्र॒ह्म॒ऽद्विषे॑ । क्र॒व्य॒ऽअदे॑ । घो॒रऽच॑क्षसे । द्वेषः॑ । ध॒त्त॒म् । अ॒न॒वा॒यम् ।
कि॒मी॒दिने॑ ॥ २ ॥

हे इन्द्रासोमौ अघशंसम् अघस्य अनर्थस्य शंसितारम् अघम् पापिनं सम्यग् अभि । ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । भवतम् इति शेषः । तिरस्कुरुतम् इत्यर्थः । स राक्षसः तपुः तापं ययस्तु गच्छतु । चरुः ओदनः । कीदृशः । अग्निमान् इव अग्निसंयुक्त इव । अग्नौ क्षिप्तश्चरुरिव तापं प्राप्नोतु । किंच युवां ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणद्वेष्ट्रे क्रव्यादे मांसाशनाय घोरचक्षसे भयंकरदर्शनाय किमीदिने किम् इदानीम् इति वा किम् इदं किम् इदम् इति चरते वा राक्षसाय । यास्केन उक्तोयम् अर्थः [नि० ६. ११] । तादृशाय द्वेषः अप्रीतिम् अनवायम् अव्यवधानं यथा भवति तथा धत्तम् धारयतम् । सर्वदा तस्मिन्नहितं कुरुतम् ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओं ! आप पापको कहने वालेका भली प्रकार पराभव करिये । वह राक्षस ऐसे तापको प्राप्त होवे, जिस प्रकार चरु अग्निसे संयुक्त होकर तपता है और आप ब्राह्मणद्वेषी मांसभक्षी भयंकर नेत्र वाले राक्षसमें द्वेष और अप्रीति करो अर्थात् सदा उसका अहित करो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रा॑सोमा दु॒ष्कृतो॑ व॒व्रे अ॒न्तर॑नारम्भ॒णे तम॑सि॒ प्र
वि॑ध्यतम् ।
य॒तो नैषां॒ पुन॒रेक॑श्च॒नोद॒यत् तद् वा॑मस्तु॒ सह॑से मन्यु॒-
मच्छव॑ः ॥ ३ ॥

इन्द्रा॑सोमा । दु॒ःऽकृत॑ः । व॒व्रे । अ॒न्तः । अ॒ना॒र॒म्भ॒णे । तम॑सि ।
प्र । वि॒ध्य॒त॒म् ।

यत॑ः । न । ए॒षा॒म् । पुन॑ः । एक॑ः । च॒न । उ॒त्ऽअय॑त् । तत् ।
वा॒म् । अ॒स्तु । सह॑से । म॒न्यु॒ऽमत् । शव॑ः ॥ ३ ॥

हे इन्द्रासोमौ दुष्कृतः दुष्टकारिणो राक्षसान् वव्रे आवरके अनारम्भणे अनालम्बने तमसि अन्तः प्र विध्यतम् प्रवेश्य ताडयतम् । यतः यस्माद् अन्धकाराद् एषां पतितानां राक्षसानां दुष्कृतां मध्ये पुनः एकश्चन एकोपि न उदयत् नोद्गच्छेत् । ❀ एतेर्लेटि अडागमः । "इतश्च लोपः०" इति इकारलोपः । गुणायादेशौ ❀ । तथा वाम् युवयोः तत् शवः बलं सहसे तेषाम् अभिभवाय मन्युमत् अस्तु क्रोधोपेतं भवतु ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं! आप दूषित कर्म करनेवाले राक्षसों को आलम्बनरहित अन्धकारमें लेजाकर ताड़ित करिये जिससे कि—इन अन्धकारमें पड़े हुए दुष्कर्मी राक्षसोंमेंसे एक भी न उदय होसके । आप दोनोंका बल इनका तिरस्कार करनेके लिये क्रोधसे सम्पन्न होजावे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्रा॑सोमा व॒र्तय॑तं दि॒वो व॒धं सं पृ॑थि॒व्या अ॒घशं॑साय॒
तर्ह॑णम् ।
उत् त॒क्षतं॑ स्व॒र्यं॑१॒ पर्व॑तेभ्यो॒ येन॒ रक्षो॑ वावृधा॒नं नि॒जूर्व॑थः

इन्द्रा॑सोमा । व॒र्तय॑तम् । दि॒वः । व॒धम् । सम् । पृ॒थि॒व्याः ।
अ॒घऽशं॑साय । तर्ह॑णम् ।

उत् । त॒क्ष॒तम् । स्व॒र्य॑म् । पर्व॑तेभ्यः । येन॑ । रक्षः॑ । व॒वृ॒धा॒नम् ।
नि॒ऽजूर्व॑थः ॥ ४ ॥

हे इन्द्रासोमौ दिवः अन्तरिक्षाद् द्युलोकाद् वा वधम् हननसाधनम् आयुधं सम् एकधैव वर्तयतम् । तथा पृथिव्याः सकाशा-

दपि सं वर्तयतम् । किमर्थम् । अघशंसाय अघं शंसतीति अघशंसो राक्षसः तदर्थं तद्वधार्थम् । कीदृशं वधम् । तर्हणम् हिंसकम् । तद् वज्रम् उत्तक्षतम् उत्तेजनं तीक्ष्णं कुरुतम् । स्वर्यम् स्वरणार्हम् आयुधम् । पर्वतेभ्यः मेघेभ्यः सकाशाद्ध येन वज्रेण वधशब्दवाच्येन वावृधानम् वर्धमानं रक्षः राक्षसं निजूर्वथः हथः ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! आप द्युलोकसे और पृथिवीसे हननके साधन आयुधको वधलक्षण पापकी प्रशंसा करने वाले राक्षस पर एक साथ प्रेरित करो हिंसक वज्रको तीक्ष्ण करो, जिससे कि—तुम पर्वत और मेघोंसे उठते हुए राक्षसको मार सको ४

पञ्चमी ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु
निस्वरम् ॥ ५ ॥

इन्द्रासोमा । वर्तयतम् । दिवः । परि । अग्निऽतप्तेभिः । युवम् ।
अश्महन्मऽभिः ।
तपुःऽवधेभिः । अजरेभिः । अत्त्रिणः । नि । पर्शाने । विध्यतम् ।
यन्तु । निऽस्वरम् ॥ ५ ॥

हे इन्द्रासोमौ युवम् युवां वर्तयतम् इतस्ततः प्रेरयतम् । सामर्थ्याद् आयुधानीति गम्यते । कस्मिन् देशे । दिवस्परि द्युलोकस्य अन्तरिक्षस्य परितः । किंच अग्नितप्तेभिः अग्निना संतप्तैः अश्महन्मभिः अश्मा अयःसारः अयःसारमयैर्हननसाधनैः तपुर्वधेभिः संतापकैरायुधैः । पुनः कीदृशैः । अजरेभिः जरारहितैर्दृढैः अत्त्रिणः

भक्षकान् असुरान् पर्शाने पार्श्वास्थिप्रदेशे नि विध्यतम् । ते च निःस्वरम् निःस्वनं निःशब्दं यथा भवति तथा यन्तु गच्छन्तु । म्रियन्ताम् इत्यर्थः ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! तुम अन्तरिक्षमें चारों ओर आयुधोंको घुमाओ और अग्निसे तपे हुए लोहेके सन्तापक अजर आयुधोंसे राक्षसोंकी पसलियोंको बीधडालो वे भी शब्दरहित दशाको प्राप्त होजावें अर्थात् मर जावें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

इन्द्रा॑सोमा॒ परि॑ वां भू॒तु वि॒श्वत॑ इ॒यं म॒तिः क॒क्ष्याश्वे॑व
वा॒जिना॑ ।
यां वां॒ होत्रां॑ परिहि॒नोमि॑ मे॒धये॒मा ब्रह्मा॑णि नृ॒पती॑
इव जिन्वतम् ॥ ६ ॥

इन्द्रा॑सोमा । परि॑ । वा॒म् । भू॒तु । वि॒श्वतः॑ । इ॒यम् । म॒तिः ।
क॒क्ष्या॑ । अश्वा॑ऽइव । वा॒जिना॑ ।
याम् । वा॒म् । होत्रा॑म् । प॒रि॒ऽहिनोमि॑ । मे॒धया॑ । इ॒मा । ब्रह्मा॑णि ।
नृ॒पती॑ इ॒वेति॑ नृ॒पती॑ऽइव । जि॒न्व॒त॒म् ॥ ६ ॥

हे इन्द्रासोमौ वाम् युवाम् इयम् अस्माभिः कृता मतिः मन्यत इति मतिः स्तुतिः विश्वतः सर्वतः परि भूतु परिगृह्णातु । विषयीकरोत्वित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । कक्ष्या कक्षबन्धनसाधनभूता रज्जुः वाजिना वाजिनौ बलवन्तौ अश्वेव अश्वाविव । तौ यथा रज्जुर्गृह्णाति तद्वत् । मतिं विशिनष्टि । यां होत्राम् आह्वानार्हां मेधया धारणयुक्तया बुद्ध्या वाम् युवाभ्यां युवयोरर्थाय परिहिनोमि प्रेर-

थामि ॥ इदानीम् अन्वयवश आह । इमा इमानि ब्रह्माणि मन्त्रान् नृपतीव राजानाविव तौ यथा बन्दिकृतवाक्यानि श्रुत्वा प्रीणयतस्तद्वत् जिन्वतम् प्रीणयतम् ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओ ! जैसे कक्षबंधनसाधनभूता रस्सी बलवान् घोड़ोंको पकड़ लेती है तिसी प्रकार हमारी की हुई स्तुति आपको पकड़ लेय जिस आह्वान करने योग्य धारणायुक्त बुद्धिसे आपको प्रेरित कर रहा हूँ वह बुद्धि (स्तुति–मति) आपको ग्रहण कर लेय जैसे बन्दियोंकी वाणियें दो राजाओंको प्रसन्न करती हैं, इसी प्रकार ये मन्त्र आपको प्रसन्न करें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

प्रति॑ स्मरेथां तु॒जय॑द्भि॒रेवै॑र्ह॒तं द्रु॒हो र॒क्षसो॑ भङ्गु॒राव॑तः ।
इन्द्रा॑सोमा दु॒ष्कृते॒ मा सु॒गं भू॒द् यो मा॑ क॒दा चि॑द-
भि॒दास॑ति द्रु॒हुः ॥ ७ ॥

प्रति॑ । स्म॒रे॒था॒म् । तु॒जय॑त्ऽभिः । एवैः॑ । ह॒तम् । द्रु॒हः । र॒क्षसः॑ ।
भ॒ङ्गु॒रऽव॑तः ।
इन्द्रा॑सोमा । दुः॒ऽकृते॑ । मा । सु॒ऽगम् । भू॒त् । यः । मा॒ । क॒दा ।
चि॒त् । अ॒भि॒ऽदास॑ति । द्रु॒हुः ॥ ७ ॥

हे इन्द्रासोमौ युवां तुजयद्भिः बलवद्भिः एवैः गमनसाधनैरश्वैः प्रति स्मरेथाम् । स्मृतिरत्र आगमनपर्यन्तव्यापारा । प्रतिगच्छतम् इत्यर्थः । आगत्य च द्रुहः द्रोणकारिणो भङ्ग रावतः भञ्जनशीलान् रक्षसः राक्षसान् हतम् हिंस्तम् ॥ किं च हे इन्द्रासोमौ दुष्कृते दुष्टकारिणे राक्षसाय सुगम् सुगमनं जीवद्गमनं सुखं वा मा भू॒त् ।

दुष्कृतं निशिनष्टि । यो दुष्कृत् द्रुहुः द्रोहशीलः सन् कदा चित् एकवारमपि मा माम् अभिदासति उपक्षपयति बाधते । तस्मा इति ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओं ! आप गमनके साधन बलवान् अश्वोंका (यहाँ आनेके निमित्त) स्मरण करिये और आकर द्रोहकारी भञ्जनशील राक्षसोंको मार डालिये । हे इन्द्र और सोम देवताओं ! दुष्कर्मी राक्षसोंका जीवन सुखमय न होवे । जो द्रोह रख कर एक वार भी हमको पीड़ा दे चुका हो उसका जीवन सुखमय न हो सके ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता

यः । मा । पाकेन । मनसा । चरन्तम् । अभिऽचष्टे । अनृतेभिः ।
वचःऽभिः ।
आपःऽइव । काशिना । सम्ऽगृभीताः । असन् । अस्तु । असतः ।
इन्द्र । वक्ता ॥ ८ ॥

हे इन्द्र यो राक्षसादिः पाकेन परिपक्वेन मनसा । अन्यायाचरणस्यापि मनोमूलत्वात् मन एव अत्राभिधीयते । चरन्तम् प्रवर्तमानं मा माम् अनृतेभिः अनृतरूपैः अयं ब्राह्मणं हतवान् अयं ब्रह्मस्वं हृतवान् इत्येवमाद्यात्मकैः वचोभिः वचनैः अभिचष्टे अभिशापं करोति स राक्षसादिः काशिना मुष्टिना संगृभीताः संगृहीता आप इव ता यथा अङ्गुलिविवरेभ्यो गच्छन्ति तद्वत् असतः अविद्यमानस्य अकृतस्यार्थस्य वक्ता स्वयमपि असन्नस्तु शून्यो भवतु ॥

हे इन्द्र ! जो राक्षस आदि परिपक्व मनसे मुझको अनृत वचनों के द्वारा अभिशाप लगता है, कि –यह ब्रह्महत्यारा है इसने ब्राह्मण

का धन चुराया है—वह राक्षस आदि, जैसे अञ्जलिमें लिये हुए जल अँगुलियोंके छिद्रोंमेंसे निकलजाते हैं, इसीप्रकार असत् होजावे

नवमी ॥

ये पा॑कशं॒सं वि॒हर॑न्त॒ एवै॒र्ये वा॑ भ॒द्रं दू॒षय॑न्ति स्व॒धाभिः॑ ।
अह॑ये वा॒ तान् प्र॒ददा॑तु॒ सोम॒ आ वा॑ दधातु॒ निर्ऋ॑-
तेरु॒पस्थे॑ ॥ ९ ॥

ये । पा॒क॒ऽशं॒सम् । वि॒ऽहर॑न्ते । एवैः॑ । ये । वा॒ । भ॒द्रम् । दू॒ष-
य॑न्ति । स्व॒धाभिः॑ ।

अह॑ये । वा॒ । तान् । प्र॒ऽददा॑तु । सोमः॑ । आ । वा॒ । द॒धा॒तु॒ ।
निःऽऋ॑तेः । उ॒पऽस्थे॑ ॥ ९ ॥

ये राक्षसाः पाकशंसम् परिपक्वशंसनं सत्यभाषिणं माम् एवैः प्राप्तव्यैरात्मीयैः कामैर्हेतुभिः विहरन्ते विशेषेण हरन्ति उपक्षपयन्ति । यथा कामं परिवदन्तीत्यर्थः । ये च भद्रम् कल्याणवर्तनं मां मदीयं भद्रम् भद्रं कर्म वा स्वधाभिः । स्वधेत्यन्ननाम । अन्नैर्निमित्तभूतैः दूषयन्ति तान् उभयविधान् अहये । सर्पे वृत्रासुरेप्यहिरित्यभिधानम् । वृत्राय सर्पाय वा प्रददातु प्रयच्छतु सोमः । वा अथवा निर्ऋतेः । निर्ऋतिः पापदेवता । हिंसित्र्याः पापदेवताया उपस्थे उत्सङ्गे आ दधातु आस्थापयतु ॥

जो राक्षस मुझ सत्यभाषीको अपने कारणसे पीड़ित करते हैं अर्थात् इच्छानुसार मेरे विषयमें कुवाक्य कहते हैं, और जो मुझ कल्याणकारीको स्वधासे अर्थात् अन्नके निमित्तसे दूषित करते हैं उनको सोम देवता सर्पके अर्पण कर दें अथवा उनको पापदेवता निर्ऋतिकी गोदीमें स्थापित कर दें ॥ ९ ॥

दशमी ॥

यो॑ नो॒ रसं॒ दिप्स॑ति पि॒त्वो अ॑ग्ने॒ अश्वा॑नां॒ गवां॒
यस्त॒नूना॑म् ।
रि॒पु स्ते॒न स्ते॑य॒कृद् द॒भ्रमे॑तु॒ नि ष ही॑यतां त॒न्वा॒३॒॑
तना॑ च ॥ १० ॥

यः । नः॒ । रस॑म् । दिप्स॑ति । पि॒त्वः । अ॒ग्ने॒ । अश्वा॑नाम् ।
गवा॑म् । यः । त॒नूना॑म् ।
रि॒पुः । स्ते॒नः । स्ते॒य॒ऽकृत् । द॒भ्रम् । ए॒तु॒ । नि । सः । ही॒य॒ता॒म् ।
त॒न्वा॑ । तना॑ । च॒ ॥ १० ॥

हे अग्ने यो राक्षसादिः नः अस्माकं रसम् मम शरीरसारं दिप्सति जिघांसति यश्च अश्वानां मदीयानां रसं दिप्सति यश्चापि गवां यो वा तनूनाम् आत्मीयपुत्रादिशरीराणां रसं दिप्सति स पूर्वोक्तप्रकारो रिपुः शत्रुः स्तेनः तस्करः स्तेयकृत् मोषकर्ता दभ्रम् एतु । ❀ दभि हिंसायाम् ❀ । हिंसां प्राप्नोतु । स एव तन्वा स्वकीयेन शरीरेण तना च तनयेन च नि हीयताम् वियुक्तो भवतु ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! जो राक्षस आदि हमारे शरीरके रसको नष्ट करना चाहता है । और जो मेरे घोड़ोंके गौओंके वा आत्मीय पुत्र शरीरके रसका अपहरण करना चाहता है वह तस्कर चोर हिंसाको प्राप्त होवे–मर जावे और वही अपने शरीर और पुत्रसे वियुक्त होजावे ॥ १० ॥ (९)

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त ॥

"परः सो अस्तु" इति सूक्तस्य "रक्षोहणम्" इत्यनुवाकप्रयुक्तो विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

"परः सो अस्तु" इस सूक्तका "रक्षोहणम्" अनुवाकके अनुकूल विनियोग होता है ।

तत्र प्रथमा ॥

प॒रः सो अ॑स्तु त॒न्वा॒३॒ तना॑ च ति॒स्रः पृ॑थि॒वीर॒धो
अ॑स्तु॒ विश्वाः॑ ।
प्रति॑ शुष्यतु॒ यशो॑ अस्य दे॒वा यो॑ मा॒ दि॒वा दिप्स॑ति॒
य॒श्च नक्त॑म् ॥११॥

प॒रः । सः । अ॒स्तु॒ । त॒न्वाऽ । तना॑ । च॒ । ति॒स्रः । पृ॒थि॒वीः ।
अ॒धः । अ॒स्तु॒ । विश्वाः॑ ।
प्रति॑ । शु॒ष्य॒तु॒ । यशः॑ । अ॒स्य॒ । दे॒वाः॒ । यः । मा॒ । दे॒वा॑ । दिप्स॑ति ।
यः । च॒ । नक्त॑म् ॥ ११ ॥

हे देवाः स राक्षसादिः तन्वा स्वकीयेन शरीरेण तना च पुत्रेण च । ❀ उभयत्र व्यत्ययेन तृतीया ❀ । तनोः पुत्रस्य चेत्यर्थः । उभयोः परः अन्यः विरोधी अथवा परस्ताद् वर्तमानो वियुक्तः अस्तु । तथा विश्वाः व्याप्तास्तिस्रः पृथिवीः त्रिप्रकारा भूमीः । भूमेर्लोकस्य च त्रैविध्यं मन्त्रान्तरेषु प्रसिद्धम् । "तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून्" [ऋ० २. २७. ८] । "तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः" इति [ऋ०. ७. ८७. ५.] । अधो अस्तु । तिसृणामपि पृथिवीनाम् अधस्तात् नरके वर्तमानोऽस्त्वित्यर्थः । अस्य पापिनो यशः

अन्नं कीर्तिर्वा प्रति शुष्यतु विनश्यतु । यस्य ईदृशो विनाशः तं दर्शयति । यो द्वेष्टा दिवा अहनि मा मां दिप्सति हन्तुम् इच्छति यश्च नक्तम् रात्रौ दिप्सति । तस्येति संबन्धः ।

हे देवताओं ! जो द्वेष्टा दिन और रात्रिमें हमको मारना चाहता है वह राक्षस आदि अपने शरीरसे और पुत्रसे वियुक्त होवे और तीन पृथिवियोंके नीचे होजावे अर्थात् तीनों पृथ्वियोंके नीचे वर्तमान नरकमें जा पड़े । उस पापीका यश शुष्क होजावे ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।

तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोवति हन्त्यासत् ॥ १२ ॥

सुऽविज्ञानम् । चिकितुषे । जनाय । सत् । च । असत् । च । वचसी इति । पस्पृधाते इति ।

तयोः । यत् । सत्यम् । यतरत् । ऋजीयः । तत् । इत् । सोमः । अवति । हन्ति । असत् ॥ १२ ॥

अस्याः "इन्द्रासोमा" इत्यादिसूक्तत्रयस्य ऋक्संहितायामपि समानत्वात् तदीयबृहद्देवतानुक्रमण्याम् उदाहृतं वचनम् एतत् ॥

हत्वा पुत्रशतं पूर्वं वसिष्ठस्य महात्मनः ।
वसिष्ठं राक्षसोसि त्वं वासिष्ठं रूपम् आस्थितः ॥
अहं वसिष्ठ इत्येवं जिघांसू राक्षसोब्रवीत् ।
अत्रोत्तरा ऋचो दृष्टा वसिष्ठेनेति नः श्रुतम् ॥

इति ॥ चिकितुषे विदुषे जनाय इदं सुविज्ञानम् विज्ञातुं सुशकं भवति । किं तत् । सच्च सत्यं च असच्च अनृतं च वचसी सत्यासत्यरूपे वचने पस्पृधाते मिथः स्पर्धेते । तयोः सदसतोर्मध्ये यत् सत्यम् यथार्थवचनं यतरच्च ऋजीयः ऋजुतरम् अकुटिलं तदित् तदेव सोमो देवः अवति रक्षति । असत् उक्तविलक्षणम् असत्यं हन्ति हिनस्ति । एवं सति आवयोर्मध्ये कोऽनृतवादीति विद्वद्भिः सुज्ञानम् इत्यर्थः । अतः अस्मासु असत्यभूतम् आरोपयन्तं राक्षसम् हे सोम त्वं घातयेत्यभिप्रायः ॥

विद्वान् प्राणी इस बातको भली प्रकार जान सकता है, कि-सत् और असत् वचन परस्पर स्पर्धा करते हैं । इस सत्य और असत्य वचनोंमें जो यथार्थवचन होता है वह सरल होता है और सोमदेवता उसीकी रक्षा करते हैं और असत्यवक्ताको मार देते हैं । इस दशामें हम दोनोंमें कौन झूठ बोलने वाला है यह भली भाँति जाना जा सकता है । तात्पर्य यह है, कि-हे सोम ! हम पर असत्यारोपण करते हुए राक्षसको आप मार दीजिये † १२

---

† यह ऋचा और "इन्द्रासोमा" आदि तीन सूक्त ऋग्वेदसंहितामें भी एकसे हैं अत एव उसकी बृहद्देवतानुक्रमणीमें जो वचन उद्धृत किया है उसको यहाँ पर भी उद्धृत करते हैं, कि-"हत्वा पुत्रशतं पूर्वं वसिष्ठस्य महात्मनः । वसिष्ठं राक्षसोऽसि त्वं वासिष्ठं रूपमास्थितः ॥ अहं वसिष्ठ इत्येवं जिघांसू राक्षसोऽब्रवीत् । अत्रोत्तरा ऋचो दृष्टा वसिष्ठेनेति नः श्रुतम् ॥-महात्मा वसिष्ठजीके सौ पुत्रोंको मारकर राक्षसने वसिष्ठजीका रूप धारण कर लिया और वसिष्ठजीको मारनेकी इच्छासे वसिष्ठजीसे कहने लगा, कि-मैं वसिष्ठ हूँ और तू राक्षस है, उस समय वसिष्ठजीने सुविज्ञानम् आदि ऋचाएँ देखी थीं । ऐसा हमने सुना है ॥"

तृतीया ॥

न वा उ॒ सोमो॑ वृजि॒नं हि॑नोति॒ न क्ष॒त्रियं॑ मिथु॒या
धा॒रय॑न्तम् ।
हन्ति॒ रक्षो॒ हन्त्यास॒द् वद॑न्तमु॒भाविन्द्र॑स्य॒ प्रसि॑तौ
शयाते ॥ १३ ॥

न । वै । ऊँ॒ इति॑ । सोमः॑ । वृ॒जि॒नम् । हि॒नो॒ति॒ । न । क्ष॒त्रिय॑म् ।
मि॒थु॒या । धा॒रय॑न्तम् ।
हन्ति॑ । रक्षः॑ । हन्ति॑ । अस॑त् । वद॑न्तम् । उ॒भौ । इन्द्र॑स्य । प्रऽसि॑तौ ।
श॒या॒ते॒ इति॑ ॥ १३ ॥

सोमो देवः वृजिनम् । पापवाचिना वृजिनशब्देन तद्वान् लक्ष्यते । पापवन्तं राक्षसं न हिनोति वा उ । वैशब्दः प्रसिद्धौ । उशब्दः अवधारणे । नैव मुञ्चति अयं जीवत्विति न परित्यजति । मिथुया मिथ्याभूतं अनृतं धारयन्तं क्षत्रियम् क्षत्रं बलम् तद्वन्तं बलिनं राक्षसादिकं च सोमो न हिनोति । तर्हि सोमः किं करोति । उच्यते । रक्षः राक्षसं वृजिनरूपं हन्ति हिनस्ति । तथा असत् अनृतं वदन्तं हन्ति । उभौ उक्तविधौ दुष्टौ इन्द्रस्य प्रसितौ बन्धनसाधने पाशे शयाते । अथवा प्रसितौ ❀ निष्ठान्तं पदम् ❀ । प्रकर्षेण बद्धौ सन्तौ शयाते । ❀ षिञ् बन्धने इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । क्तिन्पक्षे "तादौ च निति कृति०" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

सोम देवता पाप वाले राक्षसको नहीं छोड़ते, वे मिथ्याको धारण करने वाले क्षत्रबलसम्पन्न बली राक्षस आदिको नहीं

छोड़ते हैं, किंतु वह पापरूप राक्षसको मार डालते हैं और असत्यभाषीको भी मार डालते हैं, दोनों प्रकारके दुष्ट इन्द्रके पाशमें शयन करते हैं ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

यदि॑ वा॒हमनृ॑तदे॒वो अ॒स्मि मोघं॑ वा दे॒वाँ अ॑प्यू॒हे अ॑ग्ने
कि॒मस्मभ्यं॑ जातवेदो हृणीषे द्रो॒घवाचं॑स्ते निर्ऋ॒थं॑
सं॑चन्ताम् ॥ १४ ॥

यदि॑ । वा॒ । अ॒हम् । अनृ॑तऽदेवः । अस्मि॑ । मोघ॑म् । वा॒ । दे॒वान् ।
अ॒पि॒ऽऊ॒हे । अ॒ग्ने॒ ।

किम् । अ॒स्मभ्य॑म् । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । हृ॒णी॒षे॒ । द्रो॒घ॒ऽवा॑चः । ते॒ । निः॒ऽऋ॒थम् । स॒च॒न्ता॒म् ॥ १४ ॥

हे अग्ने अहं यदि वा अनृतदेवः अनृतेन दीव्यतीत्यनृतदेवः अथ वा अनृताः असत्यभूता देवा अस्य । देवशून्य इत्यर्थः । तादृशोस्मि वा । अथ वा मोघम् व्यर्थं देवान् स्तोतव्यान् यष्टव्यांश्च अप्यूहे वहामि । उभयविधोपि न भवामीत्यर्थः । अतः कारणात् किम् कथंकारम् अस्मभ्यम् हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने हृणीषे क्रुध्यसि । क्रोधो न कार्यः । अस्मद्विलक्षणा द्रोघवाचः देवताद्रोहविषयवचनोपेताः ते राक्षसाः निर्ऋथम् निकृष्टाम् आर्तिं नाशं सचन्ताम् समवयन्तु गच्छन्तु ॥

हे अग्ने ! यदि मैं अनृतसे खेलता होऊँ अथवा देवताओंसे हीन होऊँ वा स्तोतव्य और पूज्य देवताओंको व्यर्थ ही बुलाता होऊँ कष्ट देता होऊँ (परन्तु मैं दोनों प्रकारका नहीं हूँ) फिर हे अग्ने ! आप मुझ पर क्रोध क्यों कर रहे हैं । किंतु जो मुझसे

नहीं है देवताओंके लिये द्रोह भरे वचनोंका उच्चारण करते हैं वे राक्षस निकृष्ट आर्तिको प्राप्त होजावें ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

अ॒द्या मु॑रीय॒ यदि॑ यातु॒धा॒नो अस्मि॒ यदि॒ वायु॑स्त॒तप॒
पूरु॑षस्य ।
अधा॒ स वी॒रै॒र्द॒शभि॒र्वि यू॑या॒ यो मा॒ मोघं॒ यातु॑धा॒ने-
त्याह॑ ॥ १५ ॥

अ॒द्य । मु॒री॒य॒ । यदि॑ । या॒तु॒ऽधानः॑ । अस्मि॑ । यदि॑ । वा॒ । आयुः॑ ।
ततप॑ । पुरु॑षस्य ।
अध॑ । सः । वी॒रैः॑ । द॒शऽभिः॑ । वि । यू॒याः॒ । यः । मा॒ ।
मोघ॑म् । यातु॑ऽधानः । इति॑ । आह॑ ॥ १५ ॥

प्रायेण अयं मन्त्रः पूर्वश्च अराक्षसम् अहिंसकं त्वं हिंसको राक्षसोसीत्येवं यो मिथ्याभियोगं करोति तं प्रति मिथ्याभिशस्तस्य शपथरूपौ मन्त्रौ । हे आरोपक पुरुष अहं यदि यातुधानः यातनानां विधायकः पीडाकृद् अस्मि । यदि वा पुरुषस्य आयुः जीवनं ततप संतापं हिंसाम् अकार्षम् । तर्हि अद्य अस्मिन्नेव दिने मुरीय म्रियेय । अध अथ मा अनागसं मां यस्त्वं मोघम् व्यर्थं यातुधानेति आह । पुरुषव्यत्ययः । स त्वं च दशभिः दशसंख्याकैः वीरैः पुत्रैः वि यूयाः वियुक्तो भवेः ॥

(प्रायः यह मन्त्र और पहिला मन्त्र "अराक्षस अर्थात् अहिंसक तुरुषसे तू राक्षस अर्थात् हिंसक है" इस प्रकार जो मिथ्या अभियोग लगाता है उसके निमित्त मिथ्या अभिशस्तके शपथरूप हैं) हे आरोपक मैं यदि यातुधान हूँ अर्थात् पीड़ादायक हूँ

अथवा पुरुषोंके जीवनको सन्तप्त करता होऊँ तो आज ही मर जाऊँ अन्यथा यदि तू मुझ निरपराधको व्यर्थ ही यातुधान कहता हो तो तू दश पुत्रोंसे हीन होजावे ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट

यः । मा । अयातुम् । यातुऽधान । इति । आह । यः । वा ।
रक्षाः । शुचिः । अस्मि । इति । आह ।
इन्द्रः । तम् । हन्तु । महता । वधेन । विश्वस्य । जन्तोः । अधमः ।
पदीष्ट ॥ १६ ॥

यः अध्यारोपयिता मा माम् अयातुम् अराक्षसं सन्तम् हे यातुधान राक्षस इत्याह यो वा यश्च परमार्थतो रक्षाः राक्षसः शुचिः शुद्धोहम् अयातुः इत्याह ब्रूते तम् उभयविधम् असत्यवादिनम् इन्द्रो देवः महता अतिशयितप्रभाववता वधेन हननसाधनेन वज्रेण हन्तु हिनस्तु । स उभयविधो जनः विश्वस्य सर्वस्यापि जन्तोः प्राणिनः अधमः निकृष्टः सन् पदीष्ट पततु नश्यतु ॥

जो मुझ अराक्षसको हे राक्षस ! इस प्रकार कहता है और जो वास्तवमें राक्षस होने पर भी अपनेको शुद्ध कहता है अर्थात् कहता है, कि—मैं राक्षस नहीं हूँ । इस प्रकार दोनों रीतिसे झूँठ बोलने वालेको इन्द्रदेव अपने परमप्रभावान् हननसाधन वज्रसे मार डालें और ऐसा प्राणी सब प्राणियोंमें अधम होकर पतित होजावे ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

प्र या जिगा॑ति ख॒र्गले॑व॒ नक्त॒मप॑ द्रु॒हुस्त॒न्वं॑१॒ गूह॑माना
व॒व्रम॑न॒न्तमव॒ सा प॑दीष्ट॒ ग्रावा॑णो घ्नन्तु॒ र॒क्षस॑ उप॒ब्दैः

प्र । या । जिगा॑ति । ख॒र्गला॑ऽइव । नक्त॑म् । अप॑ । द्रु॒हुः । त॒न्व॑म् ।
गूह॑माना ।
व॒व्रम् । अ॒न॒न्तम् । अव॑ । सा । प॒दी॒ष्ट॒ । ग्रावा॑णः । घ्न॒न्तु॒ । र॒क्षसः॑ ।
उ॒प॒ब्दैः ॥ १७ ॥

या राक्षसी नक्तम् रात्रौ खर्गलेव उलूकीव प्र जिगाति प्रकृष्टं गच्छति अस्मान् हन्तुम् । या च द्रुहुः द्रोहकारिणी राक्षसी तन्वम् स्वकीया तनुं गूहमाना संवृण्वती अप्रकाशयन्ती उप । ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । उपगच्छति । सा उक्तलक्षणा दुष्टराक्षसी अनन्तम् अन्तरहितम् अनवधिकम् असंख्यातं वा वव्रम् गर्तम् अव अवाङ्मुखं पदीष्ट पततु । किं च ग्रावाणः सोमम् अभिषुण्वन्तः पाषाणाः उपब्दैः स्वकीयैः सोमाभिषवध्वनिभिः रक्षसः राक्षसान् घ्नन्तु विनाशयन्तु ॥

जो राक्षसी ! रात्रिमें उलूकीकी समान हमारा संहार करनेके लिये झपटती है और जो द्रोहकारिणी राक्षसी अपने शरीरको अप्रकट रखती हुई आती है वह दुष्ट राक्षसी अथाह गड्ढेमें उल्टे मुख होकर गिरे और सोमको पेलते हुए पत्थर सोमाभिषवकी ध्वनिसे राक्षसोंको नष्ट कर डालें ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

वि ति॑ष्ठध्वं मरुतो॑ वि॒क्ष्वी॒३॑च्छत॑ गृ॒भाय॑त र॒क्षसः॒ सं
पि॑नष्टन ।

वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे
देवे अध्वरे ॥ १८ ॥

वि । तिष्ठध्वम् । मरुतः । विक्षु । इच्छत । गृभायत । रक्षसः ।
सम् । पिनष्टन ।

वयः । ये । भूत्वा । पतयन्ति । नक्तऽभिः । ये । वा । रिपः ।
दधिरे । देवे । अध्वरे ॥ १८ ॥

हे मरुतः यूयं विक्षु प्रजासु मध्ये वि तिष्ठध्वम् विविधं तिष्ठत । रक्षसः राक्षसान् इच्छत हन्तुम् इच्छां कुरुत । तदनन्तरं गृभायत गृह्णीत । गृहीत्वा च सं पिनष्टन सम्यक् चूर्णं यथा भवति तथा पेषणं कुरुत । ये वा राक्षसाः वयः पक्षिणो भूत्वा नक्तभिः रात्रिभिः रात्रिषु पतयन्ति गच्छन्ति संचरन्ति । ये वा ये च देवे दैवे देवसंबन्धिनि दीप्ते प्रकाशमाने वा अध्वरे यागे रिपः हिंसाः दधिरे धारयन्ति । तान् राक्षसान् संपिनष्टनेति संबन्धः ॥

हे मरुत् देवताओं ! तुम प्रजाओंमें अनेक प्रकारसे स्थित रहो, राक्षसोंको मारनेकी इच्छा करो उनको पकड़ कर उनका चूरा कर डालो और जो राक्षस पक्षी बन कर रात्रिमें विचरण करते हैं और जो प्रकाशमय देवयागमें हिंसा करते हैं उन राक्षसोंका आप चूरा कर डालिये ॥ १८ ॥

नवमी ॥

प्र वर्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि
प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तोऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन

प्र । वर्तय । दिवः । अश्मानम् । इन्द्र । सोमऽशितम् । मघऽवन् ।
सम् । शिशाधि ।

प्राक्तः । अपाक्तः । अधरात् । उदक्तः । अभि । जहि । रक्षसः ।
पर्वतेन ॥ १९ ॥

हे मघवन् इन्द्र दिवः द्युलोकाद् अन्तरिक्षाद् अश्मानम् अशनिलक्षणं वज्रं प्र वर्तय परिस्फारय । तदेव सोमशितम् सोमेन तीक्ष्णीकृतं यथा भवति तथा सं शिशाधि सम्यक् तीक्ष्णीकुरु । तादृशेन पर्वतेन पर्ववता वज्रेण प्राक्तः अपाक्तः अधरात् उदक्तः प्राक्पश्चाद्दक्षिणोत्तराभ्यो दिग्भ्यः । सर्वस्माद् देशाद् इत्यर्थः । रक्षसः राक्षसान् अभि जहि मारय ॥

हे मघवन् ! आप अन्तरिक्षसे अश्माको अर्थात् अशनिरूप वज्रको प्रेरित करिये । फिर हे इन्द्र ! जिस प्रकार वह सोमसे तीक्ष्ण होसकता हो तिस प्रकार तीक्ष्ण करिये । फिर उस पर्व वाले वज्रसे पूर्व पश्चिम उत्तर दिशाके राक्षसोंका संहार करिये१९

दशमी ॥

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोदाभ्यम् ।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २० ॥

एते । ऊं इति । त्ये । पतयन्ति । श्वऽयातवः । इन्द्रम् । दिप्सन्ति । दिप्सवः । अदाभ्यम् ।
शिशीते । शक्रः । पिशुनेभ्यः । वधम् । नूनम् । सृजत् । अशनिम् । यातुमत्ऽभ्यः ॥ २० ॥

त्ये । तच्छब्दसमानार्थस्त्यच्छब्दः । त्ये ते एते उक्तप्रकाराः

श्वयातवः श्ववत् खादन्तो यातुधानाः श्वरूपधारिणः श्वसहिता वा पतयन्ति गच्छन्ति । आगत्य च दिप्सवः हिंसेच्छवः सन्तः अदाभ्यम् अहिंस्यम् इन्द्रं दिप्सन्ति जिघांसन्ति । स च शक्रः शक्त इन्द्रः पिशुनेभ्यः राक्षसेभ्योर्थाय तान् हन्तुं वधम् वज्रं शिशीते निशितं करोति । स एवेन्द्रः यातुमद्भ्यः हिंसावद्भ्यो राक्षसेभ्यो नूनम् निश्चयम् अशनिम् वज्रं सृजत् सृजतु सृजति वा ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

ये जो कुत्तेकी समान खाने वाले राक्षस आते हैं और आकर हिंसाकी इच्छा कर अहिंस्य इन्द्रको मारना चाहते हैं उन राक्षसों को मारनेके लिये इन्द्रदेव वज्रको तीक्ष्ण किया करते हैं, वही इन्द्र इन हिंसाशील राक्षसों पर वज्रको अवश्य छोड़ें ॥ २० ॥ (१०)

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

“इन्द्रो यातूनाम्” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यनुवाकेन उक्तो विनियोगः ॥

“इन्द्रो यातूनाम्” सूक्तका “रक्षोहणम्” अनुवाकके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्या३विवासताम् ।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्सत एतु रक्षसः ॥ २१ ॥

इन्द्रः । यातूनाम् । अभवत् । पराऽशरः । हविःऽमथीनाम् । अभि । आऽविवासताम् ।

अभि । इत् । ऊं इति । शक्रः । परशुः । यथा । वनम् । पात्राऽइव । भिन्दन् । सतः । एतु । रक्षसः ॥ २१ ॥

इन्द्रो देवः यातूनाम् हिंसकानां राक्षसानां पराशरः पराशातयिता प्रक्षिप्तशरो वा अभवत् भवतु । कीदृशाम् । हविर्मथीनाम् हवींषि देवतार्थानि पुरोडाशादीनि मथ्नतां तथा अभ्याविवासताम् अभिमुखं गच्छताम् । उ अपि च । इदिति पूरणः । शक्रः इन्द्रः राक्षसान् हन्तुम् अभ्येतु । यथा परशुः कुठारो वनम् वृक्षसमूहं छेत्तुम् एति । पात्रेव पात्राणि मृन्मयानीव भिन्दन् यथा लकुट एति । तद्वत् सतः प्राप्तान् रक्षसः रक्षसान् भिन्दन् । ❀ तिरः सत इति प्राप्तस्येति यास्कः [नि० ३. २०] ❀ । एतु गच्छतु ॥

इन्द्र देवता हविका मथन करनेके लिये अभिमुख आने वाले राक्षसोंको बाण फेंककर मार डालें । जैसे कुठार वृक्षोंको काटने के लिये आता है और जैसे दण्डे वाला पुरुष मट्टीके वर्तनोंको फोड़नेके लिये आता है, इसी प्रकार इन्द्रदेव राक्षसोंको मारते हुए आवें ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र २२

उलूकऽयातुम् । शुशुलूकऽयातुम् । जहि । श्वऽयातुम् । उत । कोकऽयातुम् ।

सुपर्णऽयातुम् । उत । गृध्रऽयातुम् । दृषदाऽइव । प्र । मृण । रक्षः । इन्द्र ॥ २२ ॥

हे इन्द्र उलूकयातुम् उलूकैर्घूकैः परिवारैः सह यातयतीति वा उलूकैर्यातीति वा उलूकयातुः तं जहि विनाशय । तथा शिशुलूकयातुम् अल्पोलूकाकारेण यान्तम् अल्पोलूकैः उलूकजातिविशेषैर्यान्तं वा जहि । एवं श्वयातुम् इत्यादीनि व्याख्येयानि । श्वा प्रसिद्धः । कोकश्चक्रवाकः । सुपर्णो गरुत्मान् पक्षिराट् । गृध्रस्तदवान्तरजातीयः । सर्वत्र जहीति संवन्धः । किं बहुना । दृषदा पाषाणेन मृत्पात्रमिव रक्षः नानाकारेण वर्तमानं राक्षसं प्र मृण प्रकर्षेण मारय । अत्र ऋक्संहिताबृहद्देवतानुक्रमणिका ।

उलूकयातुं जह्येतान् नानारूपान् निशाचरान् ।
स्त्रीपुंरूपांश्च जह्येतान् जिघांसून् इन्द्र मे जहि ।

इति ॥

हे इन्द्र ! आप उलूकके आकारमें, उल्लूके बच्चेके आकारमें, कुत्तेके आकारमें, चक्रवाकके आकारमें, गरुड़के आकारमें आते हुए राक्षसको इस प्रकार मार डालिये जिस प्रकार पत्थरसे मट्टीके वर्तनको फोड़ डालते हैं † ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

मा नो॒ रक्षो॑ अ॒भि न॑ड् यातु॒माव॒दपो॑च्छन्तु मिथु॒ना
ये कि॑मी॒दिनः॑ ।

† ऋग्वेदसंहिताकी बृहद्देवतानुक्रमणिकामें इस पर लिखा है, कि—"उलूकयातुं जह्येतान् नानारूपान् निशाचरान् । स्त्रीपुरूपांश्च जह्येतान् जिघांसून् इन्द्र मे जहि ॥—हे इन्द्रदेव ! उलूक परिवारके साथ आते हुए वा उलूकके रूपमें वा उलूककी समान आते हुए इन अनेक रूपधारी राक्षसोंका आप संहार करिये । हे इन्द्र ! इन वध करना चाहने वाले स्त्रीपुरुषरूपधारी राक्षसोंको आप नष्ट करिये" ॥

पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् ॥ २३ ॥

मा । नः । रक्षः । अभि । नट् । यातुऽमावत् । अप । उच्छन्तु । मिथुनाः । ये । किमीदिनः ।

पृथिवी । नः । पार्थिवात् । पातु । अंहसः । अन्तरिक्षम् । दिव्यात् । पातु । अस्मान् ॥ २३ ॥

नः अस्मान् यातुमावत् यातुमत् हिंसकं रक्षः राक्षसजातिः मा अभि नट् मा प्राप्नोतु । ❀ नशतिर्व्याप्तिकर्मा । तस्माल्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "न माङ्योगे" इति अडभावः ❀ । तथा किमीदिनः किम् इदानीम् इति वा किम् इदं किम् इदम् इति वा चरन्तो राक्षसा ये मिथुनाः मिथुनभूताः स्त्रीपुंसाः सन्ति ते अपोच्छन्तु अपगच्छन्तु । किं च पृथिवी देवी नः अस्मान् पार्थिवात् पृथिवीसंबन्धात् स्वसंबन्धिनः अंहसः रक्षःपिशाचादिकृतात् पीडनात् पापाद् वा पातु रक्षतु । एवम् अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षदेवता अस्मान् दिव्यात् दिवि भवात् स्वसंबन्धाद् अंहसः पातु ॥

हमको यातना देने वाली हिंसक राक्षस जाति प्राप्त न होवे और किमीदिन नामक स्त्रीपुरुष दम्पती राक्षस दूर होजावें । और पृथिवीदेवी हमको राक्षस पिशाच आदिके उपद्रवसे बचावें और अन्तरिक्ष देवता भी हमको अन्तरिक्षसंबंधी पीड़ासे बचावें

चतुर्थी ॥

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥

इन्द्र । जहि । पुमांसम् । यातुऽधानम् । उत । स्त्रियम् । मायया ।
शाशदानाम् ।
विऽग्रीवासः । मूरऽदेवाः । ऋदन्तु । मा । ते । दृशन् । सूर्यम् ।
उत्ऽचरन्तम् ॥ २४ ॥

हे इन्द्र त्वं पुमांसम् पुंरूपधारिणं यातुधानम् यातनाकारिणं राक्षसं जहि नाशय । उत अपि च मायया परव्यामोहिन्या क्रियया शाशदानाम् हिंसतीं स्त्रियम् राक्षसीं जहि । किं च मूरदेवाः मारणक्रीडाः मूलेन विषौषध्या दीव्यन्तीति वा मूरदेवाः ते विग्रीवासः विच्छिन्नग्रीवाः सन्तः ऋदन्तु नश्यन्तु । ते मूरदेवाः उच्चरन्तं सूर्यं मा दृशन् मा द्राक्षुः ॥

हे इन्द्रदेव ! आप पुरुषरूपधारी यातनादायक राक्षसका संहार करिये और दूसरेको मोहमें डालने वाली क्रियासे हिंसा करती हुई स्त्रीको भी नष्ट करिये और मूल आदिसे अभिचारकर्म करने वाले अभिचारक गरदन टूट कर नष्ट होजावें और वे उदित होते हुए सूर्यको न देख सकें ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥

प्रति । चक्ष्व । वि । चक्ष्व । इन्द्रः । च । सोम । जागृतम् ।
रक्षःऽभ्यः । वधम् । अस्यतम् । अशनिम् । यातुमत्ऽभ्यः ॥२५॥

हे सोम त्वम् इन्द्रश्च प्रत्येकं हिंसकराक्षसान् प्रति चक्ष्व प्रतिकूलं प्रत्येकं वा पश्य । तथा वि चक्ष्व विविधं विपरीतं वा राक्ष-

सान् पश्य। युवां जागृतम् अस्मद्रक्षाविषये अपनिद्रौ भवतम्। किं च रक्षोभ्यो यातुमद्भ्यः हिंसावद्भ्यः अशनिम् अशनिलक्षणं वधम् हननसाधनम् आयुधम् अस्यतम् क्षिपतम् ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

समाप्तश्च द्वितीयोनुवाकः ॥

हे सोम! आप और इन्द्रदेव भी प्रत्येक हिंसक राक्षस पर दृष्टि डालिये और उन पर प्रतिकूल दृष्टि डालिये। आप दोनों हमारे रक्षाके काममें जागते रहिये—सावधान रहिये। और यातना देने वाले हिंसक राक्षसों पर अपना वज्र मारिये ॥२५॥

अष्टमकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (४४२)

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि। तत्र “अयं प्रतिसरः” इति सूक्तद्वयम् अर्थसूक्तम् अभिलषितार्थसिद्ध्यर्थम्। अनेनार्थसूक्तेन दध्नि मधुनि च त्रिरात्रं वासितं तिलकमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। सूत्रितं हि। “आयमगन् [३. ५] अयं प्रतिसरः [८. ५] अयं मे वरणः [१०. ३] अरातीयोः [१०. ६] इति मन्त्रोक्तान् वासितान् बध्नाति” इति [कौ० ३. २]॥

तथा अस्य सूक्तद्वयस्य कृत्याप्रतिहरणगणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणहोमादौ विनियोगः। सूत्रितं हि। “अयं प्रतिसरः [८. ५] यां कल्पयन्ति [१०. १] इति महाशान्तिम् आवपते” इति [कौ० ५. ३]। “अथ शान्तिकृत्यादूषणैश्चातनैर्मातृनामभिः” इति [शा० क० १६]। “कृत्यादूषण एव च। चातनो मातृनामा च” इति [न० क० २३]॥

तथा “रौद्रीं रोगार्तस्य” [न० क० १७] इति विहितायां रौद्र्याख्यायां महाशान्तौ तिलकमणिबन्धने एतत् सूक्तं विनियुक्तम्। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे। “अयं प्रतिसर इति मन्त्रोक्तं रौद्र्याम्” इति [न० क० १९]॥

पिष्टरात्रीविधाने प्रतिसरबन्धनेपि एतत् सूक्तम्। "अथातः पिष्टरात्र्याः कल्पं व्याख्यास्यामः" इति उपक्रम्य उक्तम् अथर्वपरिशिष्टे। "अयं प्रतिसर इति प्रतिसरम् आवध्य" इति [प० ६. १]॥

तीसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें "अयं प्रतिसरः" यह दो सूक्त अर्थसूक्त कहलाते हैं, इस अर्थसूक्तका अभिलषित प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये प्रयोग किया जाता है। इस अर्थसूक्तसे दही और शहदमें तीन रात बसाई हुई तिलकमणिको संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"आयमगन् (३ । ५) अयं प्रतिसरः (८।५) अयं मे वरणः (१० । ३) अरातीयो (१० । ६) इति मन्त्रोक्तान् वासितान् बध्नाति" (कौशिकसूत्र ३ । २)॥

और इस सूक्तद्वयका कृत्याप्रतिहरणगणमें भी पाठ है अत एव इसका शान्तिजलके अभिमन्त्रण आदिमें विनियोग होता है। इस विषयमें सूत्रप्रमाण भी है, कि—"अयं प्रतिसरः (८ । ५) यां कल्पयन्ति (१० । १) इति महाशान्तिं आवपते।-दोनों सूक्त महाशान्तिमें पढे जाते हैं" (कौशिकसूत्र (५ । ३)॥ "अथ शान्तिकृत्यादूषणैश्चातनैर्मातृनामभिः" (शान्तिकल्प १६)॥ "चातनो मातृनामा च कृत्यादूषण एव च" (नक्षत्रकल्प २३)॥

तथा "रौद्रीं रोगार्तस्य।—रोगार्तके लिये रौद्रीशान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित रौद्री नामक महाशान्तिके तिलकबन्धनमें इस सूक्तका विनियोग किया जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"अयं प्रतिसर इति मन्त्रोक्तं रौद्र्याम्" (नक्षत्रकल्प (१९)॥

पिष्टरात्रिविधानके प्रतिसरबंधनमें भी इस सूक्त का पाठ है। इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें "अथातो पिष्टरात्र्याः कल्पं व्याख्यास्यामः।—अब पिष्टरात्रिके कल्पकी व्याख्या करते हैं" का

आरम्भ करके कहा है, कि—"अयं प्रतिसर इति प्रतिसरं आबध्य ।—अयं प्रतिसरः सूक्तसे रक्षासूत्रको बाँध कर" (अथर्वपरिशिष्ट ६ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अ॒यं प्र॑तिस॒रो म॒णिर्वी॒रो वी॒राय॑ बध्यते ।
वी॒र्य॑वान्त्सपत्न॒हा शूर॑वीरः परि॒पाणः॑ सुम॒ङ्गलः॑ ॥१॥

अ॒यम् । प्र॒ति॒ऽस॒रः । म॒णिः । वी॒रः । वी॒राय॑ । ब॒ध्य॒ते॒ ।
वी॒र्य॑ऽवान् । स॒प॒त्न॒ऽहा । शूर॑ऽवीरः । प॒रि॒ऽपानः॑ । सु॒ऽम॒ङ्गलः॑ १

अयं तिलकवृक्षनिर्मितो मणिः प्रतिसरः प्रतिसरणसाधनः । यः कृत्याः करोति तं प्रति सरतीति प्रतिसरस्तादृशः । वीरः विविधम् ईरयति अपसारयति शत्रुप्रभृतीनि इति वीरः वीराय वीर्याय वीर्याख्याय सामर्थ्याय विक्रान्ताय पुरुषाय वा बध्यते । मणिर्विशेष्यते । वीर्यवान् वीरस्य कर्म वीर्यम् तद्वान् अतिशयितवीर्यः । सपत्नहा शत्रुघातकः । शूरवीरः शूरान् वीरयति संग्रामे इति वा शूरश्चासौ वीरश्चेति वा शूरवीरः । परिपाणः परिपात्यनेन साधनेन प्रयोक्ता यजमानम् इति परिपाणः परिरक्षासाधनभूतः परितो रक्षिता वा । ❀ परिपूर्वात् पातेः करणे ल्युट् । "वा भावकरणयोः" इति णत्वविकल्पः । नन्द्यादित्वात् ल्युर्वा ❀। सुमङ्गलः शोभनेन मङ्गलेन उपेतः ॥

यह तिलकवृक्षकी बनी हुई प्रतिसरमणि प्रतिसर है अर्थात् जो कृत्या करता है उसकी ओर सरने वाली है । यह शत्रु आदि को अनेक प्रकारसे खदेड़ती है अत एव वीर है। और यह समर्थ पुरुषके बाँधी जाती है । यह मणि वीरतासे भरी हुई है शत्रुओं की घातक है शूरोंमें वीरता लाने वाली है और इसके प्रयोगसे

प्रयोग करने वाला यजमानकी रक्षा करता है अत एव यह परिपाण है और सुन्दर मङ्गल करने वाली है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी
सहमान उग्रः ।
प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥

अयम् । मणिः । सपत्नऽहा । सुऽवीरः । सहस्वान् । वाजी ।
सहमानः । उग्रः ।
प्रत्यक् । कृत्याः । दूषयन् । एति । वीरः ॥ २ ॥

अयं स्राक्त्यो मणिः सपत्नहा वैरिघातकः सुवीरः शोभनैर्वीरैरुपेतः । पुत्रादिप्रदातेत्यर्थः । सहस्वान् बलवान् वाजी वेजनवान् सहमानः शत्रूणाम् अभिभविता उग्रः उद्गूर्णबलः कृत्याः परोत्पादिताः प्रत्यक् कर्त्रभिमुखं दूषयन् विनाशयन् एति गच्छति बाहुदण्डम् आरोहति । अथ वा प्रत्यक् अस्मदभिमुखम् एति वीरः विविधम् ईरयिता शत्रूणाम् ॥

यह स्राक्त्य मणि शत्रुओंको नष्ट करने वाली, पुत्र, आदि शोभन वीरोंको देने वाली, बलवती, अन्न आदिसे भरने वाली, शत्रुओंका तिरस्कार कराने वाली और प्रचण्ड बलमयी है और कर्ताकी कृत्याको उसीकी ओर दूषित कर्म करनेके लिये प्रेरित करती हुई भुजदण्ड पर आरोहण करनेके लिये आरही है ।२।

तृतीया ॥

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभावयन्मनीषी ।

अ॒नेना॑जय॒द् द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे इ॒मे अ॒नेना॑जयत्
प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥ ३ ॥

अ॒नेन॑ । इ॑न्द्रः । म॒णिना॑ । वृ॒त्रम् । अ॒ह॒न् । अ॒नेन॑ । असु॑रान् ।
परा॑ । अ॒भा॒व॒य॒त् । म॒नी॒षी ।
अ॒नेन॑ । अ॒ज॒य॒त् । द्याद्वा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । इ॒मे इति॑ ।
अ॒नेन॑ । अ॒ज॒य॒त् । प्र॒ऽदिश॑ः । चत॑स्रः ॥ ३ ॥

अनेन स्राक्त्येन मणिना पूर्वम् इन्द्रः वृत्रम् असुरम् अहन् केनापि उपायेन जेतुम् अशक्यमपि अमुं मणिं बद्ध्वा तत्सामर्थ्येन हतवान् । तथा अनेनैव मणिना मणिबन्धनसामर्थ्येन मनीषी जयोपायज्ञानवान् इन्द्रः असुरान् अन्यान् पराभावयत् पराभूतान् विनष्टान् अकरोत् । किं च अनेनैव मणिना इमे प्रसिद्धे उभे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अजयत् । द्यावापृथिव्योर्विजयो नाम तदाधिपत्यम् । किं च अनेनैव मणिना चतस्रः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्रागाद्याः अजयत् स्वाधीनं कृतवान् ॥

इस स्राक्त्य मणिसे ही पहिले समयमें इन्द्रदेवने वृत्रासुरको जीत लिया था । इस मणिबन्धनके प्रभावसे ही मनीषी इन्द्रने जयके उपायको जान कर दूसरे असुरोंको विनष्ट कर डाला था । इसी मणिके द्वारा इन्द्रने द्यावा पृथिवीका अधिपतित्व पाया था । और इसी मणिके प्रभावसे इन्द्रने पूर्व आदि चार श्रेष्ठ दिशाओं को जीता था ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अ॒यं स्रा॒क्त्यो म॒णिः प्र॑तीव॒र्तः प्र॑तिस॒रः ।

ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः

अयम् । स्राक्त्यः । मणिः । प्रतिऽवर्तः । प्रतिऽसरः ।

ओजस्वान् । विऽमृधः । वशी । सः । अस्मान् । पातु । सर्वतः ४

अयं स्राक्त्यः तिलकविकारो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिकूलं प्रतिमुखं वर्तयत्यनेनेति प्रतीवर्तः । ❀ प्रतिपूर्वाद् वृतेः करणे घञ् । "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः । "थाथघञ्० इत्यादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । प्रतिसरः रोगादेः प्रतिसरणसाधनभूतः ओजस्वान् शत्रुनिरासक्षमतेजोयुक्तः विमृधः विगतसंग्रामः मणिधारकदर्शनेनैव शत्रूणां पलायनात् संग्रामस्यैव अभावात् । विमृधो विमर्दयिता वा । वशी सर्वस्य वशयिता स तादृशो मणिः अस्मान् सर्वतः सर्वस्मात् अभिभवात् पातु रक्षतु ॥

यह स्राक्त्यमणि प्रतिकूल व्यक्तियोंको उलटा मुख करवा कर भगाने वाली प्रतीवर्त है, रोग आदिको हटाने वाली प्रतिसर है, शत्रुओंका तिरस्कार करने वाले तेजसे सम्पन्न ओजस्वान् है, इस मणिको धारण करने वाले पुरुषको देखते ही शत्रु भाग जाते हैं इस प्रकार संग्रामका अभाव करनेसे यह विमृध है। और सबको वशमें करने वाली है, ऐसी यह मणि सब प्रकारके अपमानोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु

तत् । अग्निः । आह । तत् । ऊं इति । सोमः । आह । बृहस्पतिः ।
सविता । तत् । इन्द्रः ।

ते । मे॒ । दे॒वाः । पुरःऽहि॑ताः । प्र॒तीची॑ः । कृ॒त्याः । प्र॒ति॒ऽस॒रैः ।

अ॒ज॒न्तु॒ । ५ ॥

तत् वक्ष्यमाणं प्रतीचीः कृत्या इत्यादिकम् अग्निर्देवो मे आह उक्तवान् । प्राणिनः प्रतिसरैः प्रतिसरणसाधनैर्मणिभिः कृत्याः प्रतीचीः अजन्ति इत्येतत् मे मह्यम् अस्माकम् अग्निराहेत्यर्थः । तदु तद् एव सोमोप्याह । एवं बृहस्पतिः बृहतो मन्त्रजातस्य स्वामी एतन्नामको देवोप्याह । तथा सविता सर्वप्राणिनां प्रेरकः एतन्नामको देवोप्याह । किं बहुना । तत् साधनम् इन्द्रः मे आह । ते प्रसिद्धा अन्येपि देवाः पुरोहिताः पुरतः संनिधापिताः पुरोहितवत् हितकारिणो वा । आहुरिति विपरिणामः कर्तव्यः ॥ अथ वा तत् स्राक्त्यमणिबन्धनस्य सर्वसंपत्साधनत्वम् अग्निराह । तदु तद् एव सोमोप्याह एवं बृहस्पत्यादिष्वपि योज्यम् । ते ये अग्न्यादयो मणेः सर्वफलसाधनत्वम् आहुः त एव पुरोहिताः फलनिष्पादनविषये पुरतः स्थापिताः सन्तो मे मदर्थम् अन्यैरुत्पादिताः कृत्याः प्रतिसरैः फलसाधनत्वेन अभिहितैर्मणिभिः साधनैः प्रतीचीः अजन्तु गमयन्तु इति व्याख्येयम् ॥

स्राक्त्यमणिबन्धन सब सम्पत्तियोंका साधन है इस बातको अग्निदेवने कहा है, बृहस्पतिदेवने कहा है, सब प्राणियोंके प्रेरक सवितादेवने भी कहा है और इन्द्रदेवने भी कहा है । मणिके सर्वफलसाधनत्वको कहने वाले अपने सामने फलनिष्पादनके लिये स्थापित ये अग्नि आदिदेवता, मेरे निमित्त शत्रुओंकी उत्पादित कृत्याओंको, प्रतिसरोंके प्रभावसे, उलटे मुख करके अभिचारकोंके पास भेजदें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अ॒न्तर्द॒धे द्यावा॑पृ॒थिवी उ॒ताह॒रुत सूर्य॑म् ।

ते मे॑ दे॒वाः पु॒रोहि॑ताः प्र॒तीचीः॑ कृ॒त्याः प्र॑तिस॒रैर॑जन्तु

अ॒न्तः । द॒धे॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒त । अहः॑ । उ॒त । सूर्य॑म् ।

ते । मे॒ । दे॒वाः । पु॒रःऽहि॑ताः । प्र॒तीचीः॑ । कृ॒त्याः । प्र॒ति॒ऽस॒रैः । अ॒ज॒न्तु॒

द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवीं च अन्तर्दधे कृत्यायाश्च मम च अन्तरालदेशे दधे स्थापयामि व्यवधानं करोमि । उत अपि च अहरपि अन्तर्दधे । उत अपि च सूर्यमपि अन्तर्दधे । ते मे देवाः द्यावापृथिव्यादयः । शिष्टं पूर्ववत् ॥

मैं अपने और कृत्याके बीचमें द्यावापृथिवीको स्थापित करता हूँ, दिन और सूर्यदेवको भी अपने और कृत्याके बीचमें रोकने वालोंके रूपमें स्थापित करता हूँ । फल–विषयमें हित करनेके लिये सामने स्थापित किये हुए वे देवता, प्रतिसरमन्त्रोंके प्रभाव से कृत्याको विमुख करके लौटा दें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

ये स्रा॒क्त्यं म॒णिं जना॒ वर्मा॑णि कृ॒ण्वते॑ ।
सूर्य॑ इ॒व दिव॑मा॒रुह्य॒ वि कृ॒त्या बा॑धते व॒शी ॥ ७ ॥

ये । स्रा॒क्त्यम् । मणिम् । जनाः॑ । वर्मा॑णि । कृ॒ण्वते॑ ।

सूर्यः॑ऽइव । दिव॑म् । आ॒ऽरुह्य॑ । वि । कृ॒त्याः । बा॒ध॒ते॒ । व॒शी ॥७॥

ये जनाः कृत्यापरिहारार्थिनो मनुष्याः स्राक्त्यम् मणिं वर्माणि तनुत्राणि कृण्वते कुर्वते । स मणिः सूर्य इव दिवम् आरुह्य दिवम् आरूढः सूर्यो यथा तमांसि बाधते एवं वशी वशयिता सन् कृत्याः अन्योत्पादिता वि बाधते विशेषेण नाशयति ॥

कृत्याका परिहार करना चाहने वाले जो मनुष्य स्राक्त्य-

मणिको कवच बनाते हैं तो यह शत्रुओंको वशमें करने वाली मणि, सूर्यदेव जिस प्रकार आकाशमें चढ़कर (अंधकारको नष्ट करदेते हैं) इस प्रकार दूसरोंकी उत्पन्न की हुई कृत्याको नष्ट कर डालती है ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

स्राक्त्येनं मणिना ऋषिंणेव मनीषिणां ।
अजैषं सर्वाः पृतंना वि मृधों हन्मि रक्षसंः ॥ ८ ॥

स्राक्त्येन । मणिना । ऋषिणाऽइव । मनीषिणा ।
अजैषम् । सर्वाः । पृतनाः । वि । मृधः । हन्मि । रक्षसः ॥ ८ ॥

अहं साधकः स्राक्त्येन तिलकवृक्षकारेण मणिना मनीषिणा विपश्चिता ऋषिणेव अतीन्द्रियार्थद्रष्ट्रा अथर्वाख्येन महर्षिणा यथा तथा । अथ वा ऋषिर्मन्त्रः । उक्तरूपेण मन्त्रेणेव मन्त्रेण यथा तथा सर्वाः पृतना अजैषम् जितवान् अस्मि जयानि वा । तथा मृधः प्रमाथिनो रक्षसः राक्षसान् स्राक्त्येन मणिनैव वि हन्मि घातयामि ॥

मैं साधक अतीन्द्रियार्थद्रष्टा विद्वान् महर्षि अथर्वाकी समान इस स्राक्त्यमणिसे सब सेनाओंको जीत चुका हूँ और प्रमाथी राक्षसोंको स्राक्त्यमणिसे ही मार रहा हूँ ॥ ८ ॥

नवमी ॥

याः कृत्याः आङ्गिरसीर्याः कृत्याः आसुरीर्याः कृत्याः
स्वयंकृता या उं चान्येभिराभृताः ।
उभयीस्ताः परां यन्तु परावतों नवतिं नाव्या३ अति

याः । कृ॒त्याः । आ॒ङ्गि॒र॒सीः । याः । कृ॒त्याः । आ॒सु॒रीः । याः ।
कृत्याः । स्व॒यम्ऽकृ॑ताः । याः । ऊं॒ इति॑ । च॒ । अ॒न्येभि॑ः । आऽभृ॑ताः
उ॒भ॑यीः । ताः । परा॑ । य॒न्तु॒ । प॒रा॒ऽव॑तः । न॒व॒ति॑म् । ना॒व्याः॑ । अति॑ ॥

आङ्गिरसीः आङ्गिरस्यः अङ्गिरसा प्रयुक्ता याः प्रसिद्धाः कृत्याः सन्ति । अङ्गिरसो महर्षेः कृत्याप्रयोगविधातृत्वम् आङ्गिरसकल्पाख्यसूत्रनिर्माणादेव प्रसिद्धम् । तथा आसुरीः आसुर्यः असुरैर्निर्मिता याः कृत्याः सन्ति । एवं स्वयंकृताः परार्थप्रयोगे सति केनचिद् वैकल्येन स्वस्मिन्नेव पर्यवसिताः स्वयंकृता इत्युच्यन्ते । स्वस्मिन्नेव कृत्यापर्यवसानम् "यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्" [शि० १०] इत्यादिषु प्रसिद्धम् । या उ च याः काश्चन अन्येभिः अन्यैर्मत्सरिभिः आभृताः आहृताः प्रयुक्ताः कृत्याः सन्ति ता उक्तरूपा उभयीः उभय्यः उभयप्रकारा अपि परावतः दूरदेशात् परा यन्तु परागच्छन्तु । ननु चतुष्प्रकारा निर्दिष्टाः कथम् उभयविधत्वम् इति चेत् उच्यते । आङ्गिरस्यः आसुर्यश्च अमानुष्यः एका कोटिः स्वयंकृता अन्यैः कृताश्च मानुष्यः इत्यपरा इत्युभयविधत्वम् । परागमनस्य अवधिं दर्शयति नवतिम् इत्यादिना । नाव्याः नावा तार्या महानद्यः । ताश्च नवतिसंख्याकाः । ता अति । अतिक्रम्येत्यर्थः ॥

जो अंगिरा ऋषिसे आविष्कृत कृत्याएँ हैं, जो असुरोंसे आविष्कृत कृत्याएँ हैं, जो स्वयंकृत कृत्याएँ हैं (दूसरों के लिये प्रयोग करने पर किसी त्रुटिके कारण अपने ऊपर ही पड़ने वाली कृत्या स्वयंकृत कृत्या कहलाती है। इसका उदाहरण शिक्षा १० में इस प्रकार लिखा है, कि—"यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्") और जो दूसरे शत्रुओंके द्वारा डाली हुई कृत्याएँ

हैं। ये दोनों प्रकारकी कृत्याएँ नव्वै नदियोंके पार दूरसे भी दूर देशमें चली जावें ‡ ॥ ९ ॥

दशमी ॥

अ॒स्मै म॒णिं वर्म॑ बध्नन्तु दे॒वा इन्द्रो॒ विष्णुः॑ सवि॒ता
रु॒द्रो अ॒ग्निः।
प्र॒जाप॑तिः परमे॒ष्ठी वि॒राड् वै॑श्वान॒रः ऋष॑यश्च॒ सर्वे॑ १०

अ॒स्मै। म॒णिम्। वर्म॑। ब॒ध्न॒न्तु॒। दे॒वाः। इन्द्रः॑। विष्णुः॑।
स॒वि॒ता। रु॒द्रः। अ॒ग्निः।
प्र॒जाऽप॑तिः। प॒र॒मे॒ऽस्थी। वि॒ऽराट्। वै॒श्वा॒न॒रः। ऋष॑यः। च॒।
सर्वे॑ ॥ १० ॥

अस्मै यजमानाय कृत्यापरिहारादिफलकामाय मणिम् स्राक्त्यं वर्म परकृतकृत्यादिप्रहारपरिहारकं कवच तत्स्थानीयं कृत्वा बध्नन्तु। के देवास्तान् विशिनष्टि इन्द्रो विष्णुरित्यादिना। प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा स च परमेष्ठी परमे निरतिशये स्थाने वर्तमानः विराट् कृत्स्न-ब्रह्माण्डाभिमानी देवः वैश्वानरः विश्वेषां नराणां हितो जाठरोग्निः हिरण्यगर्भो वा। स्पष्टम् अन्यत् ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

---

‡ यहाँ यह शंका होती है, कि—मंत्रमें चार प्रकारकी कृत्याएँ कहीं हैं, तो फिर दो प्रकारकी कैसे कहा, इसका उत्तर यह है, कि—आंगिरसी और आसुरी इन अमानुषी कृत्याओंकी एक कोटी है और स्वयंकृत तथा अन्यकृत मानुषी कृत्याओंकी एक कोटी है। इस प्रकार दो प्रकारकी कृत्याएँ कहीं हैं ॥

इस कृत्यापरिहार आदि फल चाहनेवाले यजमानके लिये इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र, अग्नि, प्रजाओंके स्रष्टा प्रजापति परमेष्ठी, विराट्, वैश्वानर हिरण्यगर्भदेवता तथा सकल ऋषि परकृत-कृत्यापरिहारक मणिरूप कवचको बाँधे ॥१० ॥ (१२)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

"उत्तमो असि" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः॥

"उत्तमो असि" इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव ।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥ ११ ॥

उत्ऽतमः । असि । ओषधीनाम् । अनड्वान् । जगताम्ऽइव । व्याघ्रः । श्वपदाम्ऽइव ।
यम् । ऐच्छाम । अविदाम । तम् । प्रतिऽस्पाशनम् । अन्तितम् ॥

हे मणे मण्युपादान वृक्ष वा त्वम् उत्तमोसि सर्वाभिमतफलसाधनत्वेन कतिपयफलसाधिकानाम् ओषधीनां मध्ये श्रेष्ठोसि । उत्तमत्वे दृष्टान्तम् आह । अनड्वान् अनोवहनसमर्थः पुंगवो जगतामिव गच्छतां चतुष्पदां मध्ये यथा उत्तमस्तद्वत् । अनडुह उत्तमत्वम् "अनड्वान् दाधार पृथिवीम्" [४, ११] इत्यत्र प्राग् उक्तम् । उपकारकत्वे दृष्टान्तम् अभिधाय शत्रुहिंसादिक्रूरकर्मणि दृष्टान्तम् आह व्याघ्रः श्वपदामिवेति । श्वपदः वृकसृगालाद्या अरण्यदुष्टमृगाः । तेषां मध्ये व्याघ्र इव । ❀ व्याघ्रो व्याघ्राणाद्

व्यादाय हन्तीति वेति यास्कः [नि० ३. १८] ❀ । यम् ईदृग्विधं सर्वपुरुषार्थसाधनाय ऐच्छाम तम् अविदाम लब्धवन्तः स्मः । अथ वा यं त्वया साध्यं पुरुषार्थम् ऐच्छाम तम् अविदाम । ❀ विन्दतेर्लुङि च्लेः अङ् ❀ । तं विशिनष्टि । प्रतिस्पाशिनम् अभिचरतः प्रतिमुखं बाधकम् । अन्तितम् अत्यन्तसंनिहितम् । अथवा तं तमेव प्रतिस्पाशिनं प्रतिकूलं बाधनावन्तं द्वेष्टारम् अन्ति अन्तिके अविदाम ॥

हे मणिके उपादानभूत वृक्ष ! तू थोड़ेसे फलको साधने वाली ओषधियोंमें उत्तम है । जैसे बोझा ढोने वाले चौपायोंमें बैल श्रेष्ठ होता है, † (उपकारकत्वमें दृष्टान्त देकर शत्रुहिंसादि क्रूरकर्ममें दृष्टान्त देते हैं, कि-) जैसे भेड़िये गीदड़ आदि वनके दुष्ट पशुओंमें व्याघ्र श्रेष्ठ है । इसी प्रकार तू श्रेष्ठ हमने तुझसे जिस पुरुषार्थ को पाना चाहा था उसको पा लिया है अर्थात् अभिचार करने वाले अत्यन्त संनिहित प्रतिकूल बाधा देने वाले शत्रुको समीप में (पकड़वा कर) पालिया है ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

स इद् व्या॒घ्रो भ॑व॒त्यथो॑ सिं॒हो अथो॒ वृषा॑ ।
अथो॑ सप॒त्नक॑र्शनो॒ यो बि॑भ॒र्तीमं म॒णिम् ॥ १२ ॥

सः । इत् । व्या॒घ्रः । भ॒व॒ति॒ । अथो॒ इति॑ । सिं॒हः । अथो॒ इति॑ । वृषा॑ ।
अथो॒ इति॑ । स॒प॒त्न॒ऽक॑र्शनः । यः । बिभ॑र्ति । इ॒मम् । म॒णिम् १२

---

† बैलकी उत्तमताके विषयमें चतुर्थ काण्डके ग्यारहवें सूक्तमें कहा था, कि "अनड्वान् दाधार पृथिवीम् ।-बैल पृथ्वीको धारण कर रहा है" ॥

उपमाप्रधाना व्याघ्रादिनिर्देशाः । व्याघ्र इव सिंह इव च पराभिभवनशीलो भवति स इत् । स एवेत्यर्थः । अथो अपि च वृषेव स यथा गोषु स्वच्छन्दसंचारी भवति तद्वत् स भवतीत्यर्थः । अथो अपि च स एव सपत्नकर्षणः शत्रुविनाशकश्च भवति । स इत्युक्तम् क इत्याह । यः पुरुषः इमम् उक्तमहिमोपेतं मणि बिभर्ति धारयति स इद् इति संबन्धः ॥

जो पुरुष उक्तमहिमासे सम्पन्न मणिको धारण करता है, वह व्याघ्रकी समान पराभव करने वाला होता है और जैसे साँड गौओंमें स्वच्छन्दचारी होता है तैसा होता है और शत्रुओंका विनाशक होता है ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

नैनं॑ घ्नन्त्यप्स॒रसो॒ न ग॑न्ध॒र्वा॑ न मर्त्या॑ः ।
सर्वा॒ दिशो॒ वि रा॑जति॒ यो बिभ॑र्ती॒मं म॒णिम् ॥१३॥

न । ए॒न॒म् । घ्न॒न्ति॒ । अ॒प्स॒रस॑ः । न । ग॒न्ध॒र्वाः । न । मर्त्या॑ः ।
सर्वा॑ः । दिश॑ः । वि । रा॒ज॒ति॒ । यः । बिभ॑र्ति । इ॒मम् । म॒णिम् १२

सर्वाः । दिशः प्रति । सर्वासु दिक्षित्यर्थः । वि राजति । सर्वदिक्स्वामी भवतीत्यर्थः । स्पष्टम् अन्यत् ।

जो पुरुष इस मणिको धारण करता है उस पर अप्सरायें प्रहार नहीं करती हैं गंधर्व और मनुष्य भी उस पर प्रहार नहीं करते हैं और वह सकल दिशाओंमें शोभा पाता है अर्थात् सब दिशाओंको जीत लेता है ॥ ३ ॥

क॒श्यप॒स्त्वाम॑सृजत क॒श्यप॑स्त्वा॒ समै॑रयत् ।
अबि॑भ॒स्त्वेन्द्रो॒ मानु॑षे॒ बिभ्र॑त् संश्रेषि॒णेऽजयत् ।

म॒णिं स॒हस्र॑वीर्यं॒ वर्म॑ दे॒वा अ॑कृण्वत ॥ १४ ॥

क॒श्य॑पः । त्वाम् । अ॒सृ॒ज॒त॒ । क॒श्य॑पः । त्वा॒ । सम् । ऐ॒र॒य॒त् ।

अबि॑भः । त्वा॒ । इन्द्र॑ः । मानु॑षे । बिभ्र॑त् । स॒म्ऽश्रे॒षि॒णे । अ॒ज॒य॒त् ।

म॒णिम् । स॒हस्र॑ऽवीर्यम् । वर्म॑ । दे॒वाः । अ॒कृ॒ण्व॒त ॥ १४ ॥

चतुर्थी ॥ कश्यपः प्रजापतिः हे मणे त्वाम् असृजत स्रष्टवान् । अनेन जन्मतः प्राशस्त्यम् उक्तम् । तथा स एव कश्यपः त्वा त्वां समैरयत् सर्वोपकारकत्वाय प्रेरितवान् । अनेन प्रयोक्तृगौरवद्वारा प्राशस्त्यम् उक्तं भवति । अथ धारयितृगौरवादपि प्राशस्त्यं दर्शयति अबिभस्त्वेन्द्र इति । हे प्रशस्तमणे त्वा त्वाम् इन्द्रः सर्वदेवाधिपतिः स्वकीयवृत्रहननादिसिद्धये स्वाराज्यप्राप्तये च अबभिः भरणं कृतवान् । यस्माद् एवं तस्मात् त्वां मानुषे । जातावेकवचनम् ॥ मानुषेषु मध्ये बिभ्रत् पुरुषः संश्रेषणे परस्परसंश्लेषणसाधने संग्रामे अजयत् जयति ॥

पञ्चमी ॥ सहस्रवीर्यम् अपरिमितसामर्थ्यं मणिम् स्राक्त्यं देवाः पुरा वर्म कवचम् अकृण्वत कृतवन्तः वर्मवद् रक्षाकरम् अकुर्वन् ॥

हे मणे ! कश्यप प्रजापतिने तेरा आविष्कार किया है और उन्होंने ही सर्वोपकारके लिये तुझको प्रेरित किया है और हे प्रशस्त मणे ! सब देवताओंके अधिपति इन्द्रदेवने वृत्रहनन आदि आदि कार्यकी सिद्धिके लिये और स्वराज्यप्राप्तिके लिये तुझको धारण किया था । इस कारण मनुष्यसमाजमें जो पुरुष तुझको धारण करता है वह परस्पर टकरानेके साधन संग्राममें विजय पाता है ॥

अपरिमित शक्तिसम्पन्न स्राक्त्यमणिको पूर्वकालमें देवताओंने कवचकी समान रक्षा करने वाला बनाया था ॥ १४ ॥

षष्ठी ॥

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति ।
प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥

यः । त्वा । कृत्याभिः । यः । त्वा । दीक्षाभिः । यज्ञैः । यः । त्वा ।
जिघांसति ।
प्रत्यक् । त्वम् । इन्द्र । तम् । जहि । वज्रेण । शतऽपर्वणा ।१५।

हे शान्तिकाम पुरुष यः पुमान् त्वा त्वां कृत्याभिः हिंस्राभिः क्रियाभिः जिघांसति हन्तुम् इच्छति यश्च त्वा त्वां दीक्षाभिः यज्ञियैर्वाग्यमनादिनियमविशेषैः जिघांसति । तथा यश्च त्वां यज्ञैः हिंसासाधनैः श्येनेष्वादिभिर्यागैः जिघांसति तं पुमांसं घातकम् हे इन्द्र इन्द्रात्मक त्वं शतपर्वणा शतसंधिकेन वज्रेण प्रत्यक् प्रतिमुखं जहि घातय ॥

हे शान्तिकाम ! जो पुरुष तुझको हिंसक क्रिया (कृत्या)ओं से मारना चाहता है, दीक्षाओंसे मारना चाहता है, हिंसासाधन श्येनयाग आदिसे मारना चाहता है, उस घातकपुरुषको हे इन्द्र ! सौ पर्व वाले वज्रसे प्रतिमुख मार डालिये ॥ १५ ॥

सप्तमी ॥

अयमिद् वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयो मणिः ।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

अयम् । इत् । वै । प्रतिऽवर्तः । ओजस्वान् । सम्ऽजयः । मणिः ।
प्रऽजाम् । धनम् । च । रक्षतु । परिऽपानः । सुऽमङ्गलः ।।१६।।

अयं मणिः प्रतीवर्त इद्ध वै कृत्यादिप्रतिवर्तनसाधन एव खलु ।

❀ प्रतिपूर्वाद् वृतेः करणे घञ्। ‘उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्” इति दीर्घः। “थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्” इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀। ओजस्वान् अतिशयितौजाः संजयः संगतजयः सम्यग् जेता वा। स मणिः प्रजाम् पुत्रादिरूपां धनं च रक्षतु पालयतु। पुनर्विशेष्यते। परिपाणः परिपातीति परिपाणः मां परितो रक्षकः। ❀ नन्द्यादित्वात् ल्युः। णत्वं छान्दसम् ❀। सुमङ्गलः शोभनमाङ्गल्यसाधनभूतः॥

यह मणि कृत्या आदिको हटानेका साधन है और यह परम बलप्रद, भली प्रकार जीतने वाली है ऐसी यह मणि प्रजा और धनकी रक्षा करे। यह मणि चारों ओरसे मेरी रक्षा करने वाला है और शोभन मङ्गलोंका साधन है॥ १६॥

अष्टमी॥

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात्।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि॥१७॥

असपत्नम्। नः। अधरात्। असपत्नम्। नः। उत्तरात्।
इन्द्र। असपत्नम्। नः। पश्चात्। ज्योतिः। शूर। पुरः। कृधि॥

हे इन्द्र शूर त्वम्। मणिर्वा इन्द्रशब्देन उच्यते। नः अस्माकम् अधरात्। उत्तरसाहचर्याद् अत्र अधरशब्दो दक्षिणदेशवाची। “पश्चात् पुरस्ताद् अधरात्” इति हि प्रागुक्तम् [८. ३. २०]। दक्षिणदिग्भागाद् असपत्नम् सपत्नविघातकम्। ज्योतिरिति संबन्धः। तत् पुरः पुरोदेशे कृधि कुरु। एवम् उत्तरात् पश्चात् इति वाक्यद्वयमपि व्याख्येयम्। अथ वा अधरात् उत्तरतः पश्चात् इति देशत्रयस्य उपादानात् पुरो ज्योतिरिति पूर्वदेशो विवक्षितः। अथ वा दिक्त्रयदेशेभ्योपि असपत्नम् सपत्नाभावम् पुरोदेशे ज्योतिश्च हे इन्द्र शूर त्वं कृधि कुर्विति व्याख्येयम्॥

हे शूरवीर इन्द्र ! हमारे उत्तर दक्षिण और पश्चिमकी ओर असपत्न अर्थात् शत्रुविनाशक ज्योति रहे और आप हमारे सामने ज्योतिको करिये ॥ १७ ॥

नवमी ॥

वर्म॑ मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी वर्मा॒हर्वर्म॒ सूर्यः॑ ।
वर्म॑ म॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒ वर्म॑ धा॒ता द॑धातु मे ॥ १८ ॥

वर्म॑ । मे॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । वर्म॑ । अहः॑ । वर्म॑ । सूर्यः॑ ।

वर्म॑ । मे॒ । इन्द्रः॑ । च॒ । अ॒ग्निः । च॒ । वर्म॑ । धा॒ता । द॒धा॒तु॒ । मे॒ ॥

मे मह्यं द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ देवते वर्म तनुत्रं धत्ताम् कुरुताम् । तथा अहः अहरभिमानिदेवतापि मे वर्म दधातु । एवं सूर्येन्द्राग्निधातृवाक्यान्यपि योज्यानि ॥

द्यावापृथिवी देवता मेरे लिये कवचको धारण करें–दें । दिन के अभिमानी देवता सूर्य मुझको कवच दें, इन्द्र अग्नि और धाता देवता भी मुझको कवच दें॥ १८ ॥

दशमी ॥

ऐ॒न्द्रा॒ग्नं वर्म॑ ब॒हु॒लं यदु॒ग्रं विश्वे॑ दे॒वा नाति॒ विध्य॑न्ति॒ सर्वे॑ ।
तन्मे॑ त॒न्वं त्रायतां स॒र्वतो॑ बृ॒हदायु॑ष्मां ज॒रद॑ष्टि॒र्यथा-
सा॑नि ॥ १९ ॥

ऐ॒न्द्रा॒ग्नम् । वर्म॑ । ब॒हु॒लम् । यत् । उ॒ग्रम् । विश्वे॑ । दे॒वाः । न ।

अ॒ति॒ऽविध्य॑न्ति । सर्वे॑ ।

तत् । मे । तन्वम् । त्रायताम् । सर्वतः । बृहत् । आयुष्मान् ।

जरत्ऽअष्टिः । यथा । असानि ॥ १९ ॥

यत् मणिलक्षणम् ऐन्द्राग्नम् इन्द्राग्निदेवताकम् इन्द्राग्निभ्याम् अभिमानितं बहुलम् प्रभूतम् उग्रम् उद्गूर्णबलं वर्म कवचम् तद्द विश्वे देवाः एतत्संज्ञया व्यवह्रियमाणा देवाः सर्वेपि नातिविध्यन्ति अतिवेधनं न कुर्वन्ति । किं तु सर्वेपि पालयन्तीत्यर्थः । तत् तथाविधं मणिलक्षणं वर्म मे तन्वम् तनूं शरीरं सर्वतः त्रायताम् पालयतु । कीदृक् तत् । बृहत् प्रभूतम् । अहं च यथा आयुष्मान् शतसंवत्सरेण आयुष्येण तद्वान् जरदष्टिः जीर्णावस्थापर्यन्तम् अशनवान् असानि भूयासं तथा त्रायताम् ॥

जो मणिरूप इन्द्र और अग्नि देवता वाला प्रचण्ड कवच है उसका इन्द्र आदि सब अतिवेधन नहीं करते हैं अर्थात् पालन करते हैं । ऐसा मणिरूप कवच मेरे शरीरकी चारों ओरसे रक्षा करें कि–जिससे मैं बड़ी आयु वाला और बुढ़ापे तक रहने वाला होऊँ ॥ १९ ॥

एकादशी ॥

आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे २०

आ । मा । अरुक्षत् । देवऽमणिः । मह्यै । अरिष्टऽतातये ।

इमम् । मेथिम् । अभिऽसंविशध्वम् । तनूऽपानम् । त्रिऽवरूथम् ।

ओजसे ॥ २० ॥

देवमणिः देवेन इन्द्रेण धृतत्वाद् वा देवैः इन्द्राग्न्यादिभिरभिमानितत्वाद् वा देवमणिः । स मा माम् आरुक्षत् भुजादिप्रदेशम्

आरूढवान् । किमर्थम् । महै महत्यै । मह्यम् इति वा । अरिष्टतातये । रिष्टं नाशस्तदभावः अरिष्टम् अरिष्टकरणाय । क्षेमायेत्यर्थः । किं च हे नराः यूयमपि इमं मेथिम् शत्रूणां विलोडयितारं विनाशयितारम् । यद्वा मेथी खले यथा उच्छ्रिता वर्तते एवम् अयमपीति मेथीवत् मेथिः । तम् अभिसंविशध्वम् अभितः सम्यग् आश्रयध्वम् । अथ वा इमं मेथीस्थानीयं मणिम् हे इन्द्रादिदेवा यूयम् अभिसंविशध्वम् अधितिष्ठत । कीदृशम् । तनूपानम् तन्वाः शरीरस्य पातारम् त्रिवरूथम् त्रिविधावरणोपेतम् आद्यन्तमध्यभागैस्त्र्यात्मकं वा । किमर्थम् अभिसंवेशनम् इति उच्यते । ओजसे बलाय बलाभिवर्धनाय ॥

इन्द्र आदि देवताओंकी धारणकी हुई देवमणि मेरा क्षेम करने के लिये मेरे भुजा आदि प्रदेश पर आरूढ़ हुई है । हे मनुष्यों ! तुम भी इस शत्रुओंका विलोडन करने वाली शरीररक्षक, तीन आवरण वाली मणिको बलके निमित्त धारण करो ॥ २० ॥

द्वादशी ॥

अ॒स्मिन्निन्द्रो॒ नि द॑धातु नृ॒म्णमि॒मं दे॑वासो अभि-
संवि॑शध्वम् ।
दी॒र्घा॒यु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदा॒यायु॑ष्मान् ज॒रद॑ष्टि॒र्यथास॑त् ॥

अ॒स्मिन् । इन्द्रः॑ । नि । द॒धा॒तु॒ । नृ॒म्णम् । इ॒मम् । दे॒वा॒सः॒ ।
अ॒भि॒ऽसंवि॑शध्वम् ।
दी॒र्घा॒यु॒ऽत्वाय॑ । श॒तऽशा॑रदाय । आयु॑ष्मान् । ज॒रत्ऽअ॑ष्टिः ।
यथा॑ । अस॑त् ॥ २१ ॥

अस्मिन् मणौ इन्द्रो देवो नृम्णम् सुखम् अस्मदभिमतं नि

दधातु स्थापयतु । इमं मणिम् हे देवासः देवा यूयम् अभिसंविशध्वम् अभितः अधितिष्ठत । किमर्थम् एवं प्रार्थनेति चेत् उच्यते । दीर्घायुत्वाय प्रभूतस्य आयुषः प्राप्तये । एतस्यैव व्याख्यानं शतशारदायेति । शरच्छब्देन तदुपलक्षितः संवत्सरोभिधीयते । शतसंख्याकाः शरदः शतशरदः । शतशरत्संख्यायुः शतशारदम् तस्मै । तस्यैव तात्पर्यम् आह । आयुष्मान् उक्तशतसंवत्सरलक्षणेन आयुष्येण युक्तः । न केवलम् आयुर्वृद्धिरेव पर्याप्ता किंतु तावत्कालम् अशिष्टेनापि भवितव्यम् इत्यभिप्रेत्याह जरदष्टिरिति । उक्तो जरदष्टिशब्दार्थः । उक्तगुणद्वयविशिष्टो यथा येन प्रकारेण असत् भवेत् तथास्मिन्निन्द्रो नृम्णं दधातु । देवा अपि इमम् अभिसंविशध्वम् इति संबन्धः ॥

इस मणिमें इन्द्रदेवता हमारे अभिमत सुखको स्थापित करें, हे देवताओं ! आप भी इस मणिमें अधिष्ठित होवें । जिस प्रकार यह यजमान सौ वर्ष तककी दीर्घायु वाला आयुष्मान् और बुढ़ापे तक रहने वाला हो तिस प्रकार देवता मणिमें सुखको स्थापित करें

त्रयोदशी ॥

स्व॒स्ति॒दा वि॒शां पति॑र्वृत्र॒हा वि॑मृ॒धो व॒शी ।
इन्द्रो॑ बध्नातु ते म॒णिं जि॑गी॒वाँ अप॑राजितः सोम॒पा
अ॑भयंक॒रो वृषा॑ ।
स त्वा॑ रक्षतु स॒र्वतो॑ दि॒वा नक्तं॑ च वि॒श्वतः॑ ॥ २२ ॥

स्व॒स्ति॒ऽदाः । वि॒शाम् । पतिः॑ । वृ॒त्र॒ऽहा । वि॒ऽमृ॒धः । व॒शी ।
इन्द्रः॑ । ब॒ध्ना॒तु॒ । ते॒ । म॒णिम् । जि॒गी॒वान् । अप॑राऽजितः ।
सोम॒ऽपाः । अ॒भ॒य॒म्ऽक॒रः । वृषा॑ ।

सः । त्वा । रक्षतु । सर्वतः । दिवा । नक्तम् । च । विश्वतः ॥ २२ ॥

इन्द्रो देवः ते तव उक्तमहिमोपेतं मणिं बध्नातु इति वाक्यार्थः । कीदृश इन्द्र इति तं विशिनष्टि । स्वस्तिदाः स्वभक्तानाम् अविनाशिलक्षणक्षेमप्रदाता । स्वयं च विशाम् देवमनुष्यादिलक्षणानां प्रजानां पतिः पालयिता स्वामी । वृत्रहा वृत्रस्य असुरस्य हन्ता । विमृधः विगतयुद्धः विविधं शत्रुविनाशकारी वा । वशी सर्वस्य वशयिता । जिगीवान् जयशीलः । अपराजितः स्वयम् अन्यैरनभिभूतः । सोमपाः सर्वेष्वपि सोमयागेषु स्वयमेव मुख्यत्वेन सोमस्य पाता । अभयंकरः अभयं भयराहित्यं तस्य कर्ता । वृषा सेक्ता अतिशयितपुंस्त्वस्य अभिमतफलस्य वर्षिता वा । स तादृशो देवो मणिं बद्ध्वा त्वा त्वां सर्वतः सर्वस्मादपि भयनिमित्ताद् रक्षतु । किम् एकदा । नेत्याह । दिवा नक्तं च । सर्वदेत्यर्थः । सर्वत इत्युक्तमेवार्थम् आदरार्थं पुनराह विश्वत इति ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

अपने भक्तोंको क्षेमरूप कल्याणके देने वाले देवता और मनुष्य आदि प्रजाओंके स्वामी, वृत्रासुरके संहारक, अनेक प्रकारसे युद्ध करने वाले और सबको वशमें रखने वाले इन्द्रदेव तेरे मणिको बाँधें । विजयी, दूसरोंसे अपराजित सोमपान करने वाले, अभयप्रद और अभिमत फलकी वर्षा करने वाले वह इन्द्रदेव रात दिन चारों ओरसे तेरी रक्षा करें ॥ २२ ॥ (१३)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४४३) ॥

"यौ ते माता" इति सूक्तत्रयम् अर्थसूक्तम् । अस्य अर्थसूक्तस्य "दिव्यो गन्धर्वः [२ . २] इमं मे अग्ने [६. १११] यौ ते माता [८. ६] इति मातृनामानि" इति [कौ० १. ८] मातृगणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणाद्भुतहोमशान्तिहोमादौ गण-

प्रयुक्तो विनियोगोवगन्तव्यः। सूत्रितं हि।। "वास्तोष्पत्यादीनि महाशान्तिम् आवपते" इति [कौ० ५. ७]। "दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात्" इति [कौ० १३. २]। "चातनैर्मातृनामभिर्वास्तोष्पत्यैराज्यं जुहुयात्" इत्यादि [शा० क० १६]।।

सीमन्तोन्नयनकर्मणि अनेन अर्थसूक्तेन श्वेतपीतसर्षपान् संपात्य अभिमन्त्र्य गर्भिण्या बध्नीयात्। तथा च सूत्रम्। "यौ ते मातेति मन्त्रोक्तौ बध्नाति" इति [कौ० ४. ११]।।

"यौ ते माता" आदि तीन सूक्तोंका समुदाय अर्थसूक्त कहलाता है। इस अर्थसूक्तका "दिव्यो गन्धर्वः (२। २) इमं मे अग्ने (६। १११) यौ ते माता (८। ६) इति मातृनामानि" इस कौशिकसूत्र १। ८ के अनुसार मातृनामगणमें पाठ होनेसे शान्त्युदकाभिमन्त्रण और अद्भुत होमशान्ति आदिमें गण के कारण विनियोग समझना चाहिये। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"वास्तोष्पत्यादीनि महाशान्ति आवपते" (कौशिकसूत्र ५। ७)। "दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात्" (कौशिकसूत्र १३। २) "चातनैर्मातृनामभिर्वास्तोष्पत्यैराज्यं जुहुयात्" (शांतिकल्प १६)।।

सीमन्तोन्नयनकर्ममें इस अर्थसूक्तसे पीली और सफेद सरसोंको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके गर्भिणीके बाँध देवे इस विषयमें कौशिकसूत्र ४। ११ का प्रमाण भी है, कि–"यौ ते मातेति मन्त्रोक्तौ बध्नाति।–यौं ते माता से मन्त्रमें कहे हुए दोनों प्रकारके सरसोंको बाँधे।।"

तत्र प्रथमा।।

यौ ते॑ मा॒तोन्म॒मार्ज॑ जा॒ताया॑ं प॒तिवेद॑नौ।
दु॒र्णामा॒ तत्र॒ मा गृ॑धद॒लिंश॑ उ॒त व॒त्सप॑ः।। १।।

यौ । ते॒ । मा॒ता । उ॒त्ऽम॒मार्ज॑ । जा॒ताया॑ः । प॒ति॒ऽवे॑दनौ ।

दु॒ःऽना॑मा । तत्र॑ । मा । गृ॒ध॒त् । अ॒लिश॑ः । उ॒त । व॒त्सऽपः ॥१॥

हे गर्भिणि जातायाः उत्पन्नाया उत्पत्तिसमनन्तरमेव ते तव माता जनयित्री यौ प्रसिद्धौ दुर्नामसुनामाख्यौ दुर्नामवत्सपाख्यौ वा पतिवेदनौ तव पत्युर्दुःखवेदनोत्पादकौ परिह्रियमाणौ सन्तौ पतिलम्भकौ वा । दुर्नामसुनामानाविति पक्षे सुनामा अनुकूलत्वात् पतिलम्भकः । दुर्नामा तु प्रतिक्रियया पतिलम्भक इति । पक्षान्तरे अलीश इत्येतद्ध वत्सपविशेषणम् । उक्तस्वरूपौ यौ उन्ममार्ज ऊर्ध्वमुखं मार्जनम् उन्मार्जनम् । तत् कृतवती परिहृतवती । पत्युः परिग्रहायेति शेषः । तत्र तयोर्मध्ये दुर्नामा त्वग्दोषाख्यः मा गृधत् अभिकाङ्क्षां मा करोतु । ❁ गृधु अभिकाङ्क्षायाम् । माङि लुङि पुषादित्वात् अङ् ❁ । तथा अलीशः अलयो भ्रमराकारेण वर्तमानाः केचन रोगाः तदभिमानिदेवा वा तेषाम् ईशः स्वामी वत्सपः वत्सानां पाता संवर्तव्याध्यभिमानी देवः । सोपि त्वां मा गृधत् । दुर्नामसुनामानौ यदि यच्छब्दार्थौ तथा उक्तव्यक्तिरिक्तः अलीशोपि त्वां मा गृधत् । उत अपि च वत्सपोपि मा गृधत् इति व्याख्येयम् ॥

हे गर्भिणि ! तेरे उत्पन्न होने पर तेरी माताने तेरे पतिको प्राप्त करानेवाले जिनका उन्मार्जन किया था उनमेंसे दुर्नामा (त्वग्दोष) तेरी अभिकांक्षा न करे और भ्रमराकारसे वर्तमान अलि नामक रोगोंके स्वामी अभिमानी देवता तुझको न पकड़ें और सम्वर्त व्याधियोंका अभिमानी देवता वत्सप तुझको न पकड़े ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

प॒ला॒ला॒नु॒प॒ला॒लौ श॒र्कुं कोकं॑ मलि॒म्लुचं॑ प॒लीजं॑कम् ।

आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ॥ २ ॥

पलालऽअनुपलालौ । शर्कुम् । कोकम् । मलिम्लुचम् । पलीजकम् ।

आऽश्रेषम् । वव्रिऽवाससम् । ऋक्षऽग्रीवम् । प्रऽमीलिनम् ॥ २ ॥

पलालानुपलालौ पलालवत् पलालः । अतितुच्छाङ्ग इत्यर्थः । अनुपलालोपि तादृशः । तौ द्वावपि नाशयामीति शेषः । शर्कुरेकः शर्शर् इति कौति शब्दयत इति शर्कुः । तं च विनाशयामि । एवम् उत्तरत्रापि । कोकम् । कोकश्चक्रवाकः । तदाकारेण वर्तमानः कोकः । यद्वा । ❀ कुक वृक आदाने । पचाद्यजन्तः ❀ । बलादेः आदातारं संहर्तारम् । मलिम्लुचः अत्यन्तमलिनः तं च । पलीचकम् पल्या पलितेन चकत इति पलीचकः जरठवद् वर्तमानः पलितकारी वा । आश्रेषम् आश्लिष्यतीत्याश्रेषः आश्लिष्य हन्तारं पीडयितारम् । वव्रिवाससम् वव्रिः रूपनाम । रूपोपेतवसनवन्तम् । ऋक्षग्रीवम् ऋक्षस्य वानरविशेषस्य ग्रीवेव ग्रीवा यस्य तादृशम् । प्रमीलिनम् प्रमीलः अक्षिसंकोचः । प्रतिक्षणं संकुचन्नेत्रम् इत्यर्थः । एते सर्वे गर्भिण्यादीनां पीडकाः । तान् प्रत्येकं नाशयामीत्यर्थः ॥

पलाल (पिराल) की समान अति तुच्छ अङ्ग वाले गर्भिणी-पीड़क राक्षसको और अनुपलालको नष्ट करता हूँ । शर् शर् शब्द करने वाले शर्कुको मारता हूँ चक्रवाककी समान आकार वाले कोक राक्षसको मारता हूँ । मलिम्लुच (अतीव मलिन रहने वाले) को, झुर्रियें डालने वाले पलीजकको, अड़ कर पीड़ित करने वाले आश्रेषको, रूपवान् वस्त्र पहिरने वाले वव्रिवासको, ऋक्ष-एक प्रकारके वन्दरकी समान ग्रीवा वाले ऋक्षग्रीवको, प्रतीक्षण आँखोंको संकुचित करते रहने वाले प्रमीलिन नामक गर्भिणीपीड़क राक्षसको मैं नष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मा सं वृ॑तो॒ मोप॑ सृप ऊ॒रू माव॑ सृ॒पोन्त॒रा ।
कृ॒णोम्य॑स्यै भे॒षजं॑ ब॒जं दु॑र्णाम॒चात॑नम् ॥ ३ ॥

मा । सम् । वृ॒त॒ः । मा । उप॑ । सृ॒प॒ः । ऊ॒रू इति॑ । मा । अव॑ ।
सृ॒प॒ः । अ॒न्त॒रा ।
कृ॒णोमि॑ । अ॒स्यै॒ । भे॒ष॒जम् । ब॒जम् । दु॒र्ना॒म॒ऽचात॑नम् ॥ ३ ॥

हे दुर्नामाख्यरोगाभिमानिन् अस्या ऊरू अन्तरा ऊर्वोर्मध्ये । ❀ "अन्तरान्तरेण युक्ते" इति द्वितीया ❀ । मा सं वृतः संवृतिं संकोचं वा मा कार्षीः । ❀ वृतु वर्तने । "द्युद्भ्यो लुङि" इति परस्मैपदम् । द्युतादित्वाद् अङ् ❀ । तथा मोप सृपः उपसर्पणम् अन्तःप्रवेशं मा कार्षीः । ❀ गम्लृ सृप्लृ गतौ । माङि लुङि लृदित्वात् च्लेः अङ् ❀ । तथा ऊरू अन्तरा माव सृपः अवाक् सर्पणं मा कार्षीः । किमर्थम् एवम् इति चेद् उच्यते । अस्यै गर्भिण्यै दुर्नामचातनम् दुर्नामाख्यस्य दोषस्य विनाशकं बजम् श्वेतसर्षपरूपं भेषजम् औषधं कृणोमि कृणोमि करोमि । उत्तरत्र बजः पिङ्ग इति विशेष्यमाणत्वात् अत्र केवलबजग्रहणेपि श्वेतोभिमतः । श्वेतपीतोभयविधसर्षपाणां गर्भिण्या बन्धनं सूत्र उक्तम् ॥

हे दुर्नाम नामक रोगके अभिमानी देवते ! तू इस गर्भिणीके ऊरुओंके मध्यमें संकोचको न कर तथा अन्तःप्रवेश भी न कर तथा ऊरुओंमें नीचेको भी मत सरक, क्योंकि–मैं इस गर्भिणीके लिये दुर्नाम नामक दोषकी विनाशक श्वेत सरसोंरूप औषधि को कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

दु॒र्णामा॑ च सु॒नामा॑ चो॒भा सं॒वृत॑मिच्छतः ।

अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम् ॥ ४ ॥

दुःऽनामा । च । सुऽनामा । च । उभा । सम्ऽवृतम् । इच्छतः ।

अरायान् । अप । हन्मः । सुऽनामा । स्त्रैणम् । इच्छताम् ॥४॥

दुःखेन नमयितुं शक्यो दुर्नामा । सुखेन अल्पप्रयत्नेन नमयितुं वशीकर्तुं शक्यः सुनामा । सुभगो दुर्भगश्चेत्यर्थः । तौ उभा उभौ संवृतम् संवर्तनं सहैव प्राप्तिं संचरणं वा इच्छतः । ❀ वृणोतेः संपदादिलक्षणः क्विप् ❀ । तत्र अरायान् न विद्यन्ते रायो येषां ते अराया अलक्ष्मीकास्तान् दुर्नामप्रभृतीन् अप हन्मः विनाशयामः । सुनामा द्वितीयः स्त्रैणम् स्त्रियाः संबन्ध्यङ्गं स्त्रीसमूहं वा इच्छताम् इच्छतु । ❀ स्त्रीशब्दात् "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" इति नञ् । इच्छताम् इति । "इषुगमियमां छः" । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ ॥

दुर्नाम (दुर्भग) और सुनाम (सुभग) दोनों एक साथ रहना चाहते हैं। इनमेंसे धनरहित दुर्नाम आदिको हम नष्ट करते हैं और दूसरा स्त्रियोंकी इच्छा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥ ५ ॥

यः । कृष्णः । केशी । असुरः । स्तम्बऽजः । उत । तुण्डिकः ।

अरायान् । अस्याः । मुष्काभ्याम् । भंससः । अप । हन्मसि ५

यः प्रसिद्धः कृष्णः कृष्णवर्णः केशी केशवान् प्रकृष्टकेशः एतन्नामा असुरः । तथा स्तम्बजः स्तम्बे जातः असुरः । उत अपि

च तुण्डिकः तुण्डं मुखम् । कुत्सितमुखः एतन्नामा असुरः एते सर्वे अरायाः दुर्भगास्तान् अरायान् अस्या गर्भिण्याः मुष्काभ्याम् । स्त्रीणामपि मुष्कम् अस्ति । “व्यक्तं पुंसो न तु स्त्रियाः” इति स्मरणात् । मुष्काख्यप्रदेशाभ्यां तत्रापि भंससः कटिसंधिप्रदेशाद् अप हन्मसि अपहन्मः ॥

जो कृष्णवर्णका केशी नामक असुर है, और जो स्तम्बमें हुआ स्तम्बज नामक असुर है, और जो कुत्सित मुखवाला तुण्डिक नामक असुर है, ये सब दुर्भाग हैं इनको हम गर्भिणीके मुष्कों से और कटिसंधिप्रदेशसे नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अ॒नु॒जि॒घ्रं प्र॒मृ॒शन्तं॑ क्र॒व्याद॑मु॒त रे॑रि॒हम् ।
अ॒रायां॑छ्व॒किष्कि॑णो ब॒जः पि॒ङ्गो अ॑नीनशत् ॥६॥

अ॒नु॒ऽजि॒घ्रम् । प्र॒ऽमृ॒शन्त॑म् । क्र॒व्य॒ऽअद॑म् । उ॒त । रे॒रि॒हम् ।
अ॒राया॑न् । श्व॒ऽकि॒ष्किण॑ः । ब॒जः । पि॒ङ्गः । अ॒नी॒न॒श॒त् ॥ ६ ॥

अनुजिघ्रम् अनुजिघ्रतीति अनुजिघ्रः । ❀ घ्रा गन्धोपादाने । “पाघ्राध्माधेट्दृशः शः” इति शः । “पाघ्रा०” इत्यादिना जिघ्रादेशः ❀ । आघ्रायैव हिंसकम् इत्यर्थः । तथा प्रमृशन्तम् प्रमृश्यैव हन्तारं क्रव्यादम् मांसभक्षकम् । उत अपि च रेरिहम् लीढ्वैव हन्तारम् । उक्तव्यतिरिक्तान् अन्यान् अरायान् अधनान् अलक्ष्मीकरांश्च । अरायविशेषणं किष्किण इति । किष्किष् इति शब्दं कुर्वन्तस्तान् । यद्वा । ❀ किष्क हिंसायाम् इति चुरादौ पठ्यते ❀ । नित्यं हिंसकान् पिङ्गः पिशङ्गवर्णो बजः सर्षपः अनीनशत् भृशं नाशितवान् नाशयतु वा । “श्वेतांश्च पीतांश्च सर्ष-

पान् संपात्य अभिमन्त्र्य गर्भिण्या बध्नीयात्" इति [कौ० ४, ११] विनियोगाभिधानाद् अत्र पीतसर्षपाणां विधानयोग उक्तः ॥

सूँघ कर ही मार डालने वाले अनुजिघ्रको और स्पर्श करके मार डालने वाले प्रमृशको, मांसभक्षक क्रव्यादको और चाटकर मारने वाले रेरिहको, इनके अतिरिक्त भी दूसरे अलक्ष्मीक राक्षसों को और किष् किष् शब्द करने वाले नित्यहिंसक राक्षसको पीला सरसों नष्ट करे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥

यः । त्वा । स्वप्ने । निऽपद्यते । भ्राता । भूत्वा । पिताऽइव । च ।
बजः । तान् । सहताम् । इतः । क्लीबऽरूपान् । तिरीटिनः ॥७॥

हे गर्भिणि यो राक्षसादिः त्वा त्वां स्वप्ने निद्रावस्थायां भ्राता सहोत्पन्न इव भूत्वा विश्वासं जनयन् निपद्यते निपतति अभिगच्छति । तथा यश्च पितेव जनक इव तद्रूपधारी भूत्वा स्वप्ने त्वां निपद्यते । यद्वा तान् इति बहुवचनेन निर्देशात् यः कश्चित् स्वप्ने स्वकीयसहजरूपेण निपद्यते यश्च भ्राता भूत्वा यस्तु पितेव भूत्वेति योज्यम् । भ्रात्रादिरूपेण आगत्य गर्भध्वंसनम् अन्यत्राप्याम्नायते "यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तम् इतो नाशयामसि" इति [ऋ० १०, १६२.५] । तान् सर्वान् बजः श्वेतसर्षपः सहताम् अभिभवतु इतः अस्माद् गर्भिणीसकाशात् । तथा क्लीबरूपान् षण्ढरूपं धृत्वा आगतान् तिरीटिनः अन्तर्धानेन अटतश्च । सहताम् इति संबन्धः ॥

हे गर्भिणि ! जो राक्षस आदि स्वप्नमें भ्राताकासा विश्वास दिला कर तेरे शरीरमें प्रवेश करता है और पिताकी समान बन कर तुझको कष्ट देता है † । उनको यह श्वेत सरसों इस गर्भिणी के समीपसे तिरस्कृत करे । और हिजड़ेका रूप धारण करके आने वाले राक्षसोंको और अन्तर्धान होकर घूमने वाले राक्षसों को यह सरसों गर्भिणीके समीपमें तिरस्कृत करे ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥

यः । त्वा । स्वपन्तीम् । त्सरति । यः । त्वा । दिप्सति । जाग्रतीम् ।
छायाम्ऽइव । प्र । तान् । सूर्यः । परिऽक्रामन् । अनीनशत् ८

हे गर्भिणि त्वा त्वां यः राक्षसादिः स्वपन्तीम् प्रबोधरहितां स्वापकाले चरति गच्छति । यश्च जाग्रतीम् प्रबुद्धां प्रबोधकाले दिप्सति दम्भितुम् इच्छति । ❀ दन्भु दम्भे । "सनीवन्तर्ध०" इत्यादिना इड्विकल्पः । "दन्भ इच्च" इति अचः स्थाने इत्त्वम् ❀ । अत्र तान् इति बहुवचननिर्देशाद् यो यः स्वपन्तीम् यो यो जाग्रतीम् इति वीप्सार्थो द्रष्टव्यः । तान् सर्वान् यथा सूर्यः परिक्रामन् आकाशे परिभ्रमन् छायाम् अन्धकारं नाशयति तद्वद् अयं सर्षपः

---

† भ्राता आदिके रूपमें आकर गर्भको ध्वंस करनेका वर्णन अन्यत्र भी है । यथा—"यस्त्वा भ्राता भूत्वा पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तम् इतो नाशयामसि ॥—जो भ्राता पति वा जारके रूपमें तेरे पास आता है और तेरी सन्तानको नष्ट करना चाहता है उसको हम यहाँसे दूर भगाते हैं" (ऋग्वेदसंहिता १० । १६२ । ५) ॥

सर्वम् अमङ्गलम् आक्रम्य प्रानीनशत् प्रकर्षेण विनाशितवान् नाशयतु वा ॥

हे गर्भिणी ! जो राक्षस आदि स्वप्नके समय तुझ प्रबोधरहित पर आक्रमण करता है और जो तुझ जागती हुईको मारना चाहता है, उन सबको यह सरसों इस प्रकार नष्ट कर देय, जिस प्रकार आकाशमें भ्रमण करता हुआ सूर्य अन्धकारको नष्ट कर डालता है ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवन् ॥ ९ ॥

यः । कृणोति । मृतऽवत्साम् । अवऽतोकाम् । इमाम् । स्त्रियम् ।
तम् । ओषधे । त्वम् । नाशय । अस्याः । कमलम् । अञ्जिऽवम् ९

यो राक्षसादिः स्त्रियम् इमां गर्भिणीं मृतवत्साम् मृतपुत्रां कृणोति करोति । तथा अवतोका अवपन्नगर्भां वा कृणोति तं दुष्टम् हे ओषधे सर्षपरूपे त्वं नाशय । अस्याः कमलम् गर्भद्वारम् अञ्जिवम् अभिव्यक्तिमत् स्वलक्षणोपेतं वा । कुर्विति शेषः ॥

हे सर्षपरूप औषध ! जो राक्षस आदि इस स्त्रीको मृतवत्सा करता है तथा अवपन्न (विपत्तिग्रस्त) गर्भ वाली करता है, उस दुष्टको तू नष्ट कर इसके गर्भद्वारको अभिव्यक्ति वाला कर ९

दशमी ॥

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः ।

तानो॑षधे॒ त्वं ग॒न्धेन॑ विषू॒चीना॒न् वि ना॑शय ॥१॥०

ये । शाला॑ः । प॒रि॒ऽनृत्य॑न्ति । सा॒यम् । ग॒र्द॒भ॒ऽना॒दिनः॑ ।

कु॒सू॑लाः । ये । च॒ । कु॒क्षि॒लाः । क॒कु॒भाः । क॒रु॒माः॑ । स्रि॒माः॑ ।

तान् । ओ॒ष॒धे॒ । त्वम् । ग॒न्धेन॑ । वि॒षू॒ची॑नान् । वि । ना॒श॒य॒ १०

ये पिशाचाः सायं समये गर्दभनादिनः गर्दभवद् आक्रोशन्तः सन्तः । ❀ "कर्तर्युपमाने" इति णिनिः ❀ । शालाः परिनृत्यन्ति शालानां गृहाणां परितो नृत्यन्ति । एवं ये च कुसूलाः कुसूलाकृतयः परिनृत्यन्ति । ये च कुक्षिलाः बृहत्कुक्षयः । ककुभाः अर्जुनवृक्षवद् भयंकराकृतयः । एवं खरुमाः श्रुमाश्च नानाकारैर्ध्वनिभिश्च विशिष्टाः सन्तः शालायाः परितो नृत्यन्ति तान् सर्वान् हे ओषधे गौरसर्षप पीतसर्षप वा त्वं गन्धेन तव परिमलेनैव विषूचीनान् विष्वगञ्चनान् कृत्वा वि नाशय ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जो पिशाच सायंकालके समय गधेकी समान रेंकते हुए घरोंमें नाचते हैं और जो कुसूल (कुठिया) की आकृतिमें चारों ओर नाचते हैं । और जो अर्जुन वृक्षकी समान भयंकर आकृति वाले बड़ी कोख वाले खरुम श्रुम आदि अनेक प्रकारकी ध्वनि करते हुए शालाके चारों ओर नाचते हैं, उन सबको हे गौर और पीत सर्षपरूप औषधे ! तू अपनी गंधसे ही चारों ओर भगाती हुई नष्ट कर ॥ १० ॥ (१४)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ॥

"ये कृकन्धाः" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"ये कृकन्धाः" इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति ।
क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो
नाशयामसि ॥ ११ ॥

ये । कुकुन्धाः । कुकूरभाः । कृत्तीः । दूर्शानि । बिभ्रति ।
क्लीबाःऽइव । प्रऽनृत्यन्तः । वने । ये । कुर्वते । घोषम् । तान् ।
इतः । नाशयामसि ॥ ११ ॥

ये प्रसिद्धाः कुकन्धाः एतत्संज्ञकाः पिशाचाः । कीदृशाः। कुकूरवाः कुकू इत्येवमात्मकेन रवेण युक्ताः कुक्कुटवद्ध्वनिं कुर्वाणाः कृत्यैः हिंसाकर्मभिः दूष्याणि दूषणीयानि हिंसारूपाणि कर्माणि बिभ्रति धारयन्ति । क्लीबा इव उन्मत्ता इव प्रनृत्यन्तः हस्तपादशिरआदिचालनं कुर्वन्तो ये च पिशाचाः वने अरण्ये घोषम् शब्दं कुर्वते तान् उभयविधानपि इतः गर्भिण्यादेः सकाशात् नाशयामसि नाशयामः॥

जो कुकंध नामक पिशाच कुक्कुटकी समान कुकू ध्वनि करते हुए हिंसाकर्मोंसे दूषितकर्मोंको धारण करते हैं और जो उन्मत्तों की समान हाथ पैर आदि फेंकते हुए वनमें शब्द करते फिरते हैं उन दोनों प्रकारके पिशाचोंको हम गर्भिणीके पाससे नष्ट करते हैं ॥

द्वितीया ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।
अरायान् बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मककान् नाशयामसि ॥ १२ ॥

ये । सूर्यम् । न । तितिक्षन्ते । आऽतपन्तम् । अमुम् । दिवः

अरायान् । बस्तऽवासिनः । दुःऽगन्धीन् । लोहितऽआस्यान् ।

मक्कान् । नाशयामसि ॥ १२ ॥

ये भूतविशेषा दिवः द्युलोकाद् आतपन्तम् सर्वतस्तापं कुर्वन्तम् अमुं सूर्यं न तितिक्षन्ते न सहन्ते । घूका इव रात्रौ गिरिगुहादौ वा वर्तन्त इत्यर्थः । तान् अरायान् अश्रीकान् बस्तवासिनः अविचर्मवसनान् दुर्गन्धीन् दुष्टेन पुराणकुणपादिसदृशेन गन्धेन उपेतान् लोहितास्यान् सर्वदा नवमांसभक्षणेन लोहितोपेतमुखान् लोहितवर्णमुखान् वा मक्कान् । ❀ मस्कतिर्गत्यर्थः । सलोपश्छान्दसः ❀ । कुत्सितगतीन् पिशाचान् । यद्वा । ❀ मकिरलंकारार्थः । नुमभावः पूर्ववत् ❀ । कुत्सितालंकारान् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो भूत द्युलोकसे सब ओर ताप देते हुए सूर्यको नहीं सह सकते तात्पर्य यह है, कि–रात्रिमें उल्लुओंकी समान गिरिगुहा आदिमें विचरण करते रहते हैं उन अश्रीक, बकरीके चमड़ेके वस्त्र वाले, दुर्गन्धित सदा नवीन मांसका भक्षण करनेसे रक्तसे सने हुए मुख वाले, कुत्सित अलंकारोंको धारण करने वाले राक्षसों को हम नष्ट करते हैं ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति ।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥१३॥

ये । आत्मानम् । अतिऽमात्रम् । अंसे । आऽधाय । बिभ्रति ।

स्त्रीणाम् । श्रोणिऽप्रतोदिनः । इन्द्र । रक्षांसि । नाशय ॥ १३ ॥

ये पिशाचाः स्त्रीणाम् आत्मानम् शरीरम् । कीदृशम् आत्मा-

नम्। अतिमात्रम् गर्भिणीत्वाद् अतिस्थूलम् अंसे आधाय स्थापयित्वा बिभ्रति। अथ वा क्रियाविशेषणम् एतत्। अतिवेलं बिभ्रतीत्यर्थः। अथ वा वस्तुतः अल्पमपि आत्मानम् अतिमात्रम् आकाशस्पर्शिनम् अंसे स्वस्कन्धप्रदेशे आधाय मायाबलेन स्थापयित्वा बिभ्रति सर्वदा धारयन्ति। स्त्रीणां गर्भिणीनां श्रोणिप्रतोदिनः कटिप्रदेशं प्रकर्षेण व्यथयतस्तान् रक्षांसि राक्षसान् हे इन्द्र नाशय घातय ॥

जो पिशाच गर्भिणी होनेके कारण बहुत स्थूल भी स्त्रियों के शरीरको अपने कंधे पर रख कर घूमने लगते हैं हे इन्द्र! उन स्त्रियोंके कटिप्रदेशको व्यथित करने वाले राक्षसोंको आप नष्ट करिये ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

ये पू॑र्वे व॒ध्वो॒३ यन्ति॒ हस्ते॒ शृङ्गा॑णि॒ बिभ्र॑तः।
आ॒पा॒के॒ष्ठाः प्र॑हा॒सिनं॑ स्त॒म्बे ये कु॒र्वते॒ ज्योति॒स्ताने॒तो
ना॑श॒यामसि ॥ १४ ॥

ये। पूर्वे॑। व॒ध्वः॑। यन्ति॑। हस्ते॑। शृङ्गा॑णि। बिभ्र॑तः।
आ॒पा॒के॒ऽस्थाः। प्र॒ऽहा॒सिनः॑। स्त॒म्बे। ये। कु॒र्वते॑। ज्योतिः॑।
तान्। इ॒तः। ना॒श॒या॒म॒सि॒ ॥ १४ ॥

ये पिशाचाः वध्वः वधूनां स्वस्त्रीणां पूर्वे पूर्वभाविनः सन्तो यन्ति सस्त्रीका गच्छन्ति। कथंभूताः। हस्ते स्वस्वहस्तेषु शृङ्गाणि विषाणानि वादनार्थानि पानार्थानि वा बिभ्रतः धारयन्तः। ये च आपाकेष्ठाः आपाकेषु पाकशालासु कुलालगृहेषु वा तिष्ठन्तीति आपाकेष्ठाः। प्रहासिनः प्रकृष्टहासयुक्ताः अट्टहासं कुर्वतः। ये च

स्तम्बे आर्द्रेषु व्रीह्यादिस्तम्बेषु गृहस्तम्बेषु वा ज्योतिः अग्निरूपं कुर्वते उत्पादतन्ति तान् सर्वान् इतः अस्माद् गर्भिण्याद्यावासनात् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो पिशाच अपनी स्त्रियोंके आगे २ हाथमें सींगोंको लेकर घूमते हैं और जो पाकशालाओंमें स्थित होकर अट्टहास्य करते हैं और जो गीले व्रीहिस्तम्बोंमें वा गृहस्तम्भ आदिमें अग्निरूप ज्योतिको उत्पन्न करते हैं उन सबको हम गर्भिणीके आवासस्थानसे भगाते हैं ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा ।
खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः ।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय ॥ १५ ॥

येषाम् । पश्चात् । प्रऽपदानि । पुरः । पार्ष्णीः । पुरः । मुखा ।
खलऽजाः । शकधूमऽजाः । उरुण्डाः । ये । च । मट्मटाः । कुम्भऽमुष्काः । अयाशवः ।

तान् । अस्याः । ब्रह्मणः । पते । प्रतिऽबोधेन । नाशय ॥ १५ ॥

येषां रक्षःप्रभृतीनां पश्चात् पश्चाद्भागे प्रपदानि पादाग्रप्रदेशाः पुरः पुरोभागे पार्ष्णीः पार्ष्णयः । ननु पश्चात् प्रपदानि सन्तु मुखान्यपि पश्चाच्चेत् किं वैकृतम् इति तत्राह । पुरः पूर्वस्मिन् देशे मुखा मुखानि प्रपदप्रतिकूलानि मुखानि । उक्तविकारान्

तान्। तथा ये खलजाः खलो धान्यशोधनप्रदेशस्तत्र जाताः। ये च शकधूमजाः गवाश्वादिपुरीषपिण्डोत्पन्नाः। ये च अरुण्डाः रुण्डरहिता अशिरस्काः। ये च मुट्मुटाः मुट्मुट इति शब्दं कुर्वन्तः छिन्नसर्वावयवा इव वर्तमाना वा। कुम्भमुष्काः कुम्भोपमेन मुष्केण उपेताः। अयाशवः अयो वायुः वायुवद् आशुगामिनः। एवम् उक्तप्रकारा ये सन्ति तान् सर्वान् हे ब्रह्मणस्पते बृहतो वेदराशेः स्वामिन् एतन्नामक देव अस्या ओषधेर्बजरूपायाः प्रतीबोधेन। प्रतीबोधसाधनेन सामर्थ्येनेत्यर्थः। प्रतिनियतेन ज्ञानेन वा। ❀ "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः ❀। तेन नाशय विनष्टान् कुरु ॥

जिन राक्षस आदिके पश्चिमकी ओर पैरकी अँगुलियें होती हैं और सामने एड़ियें होती हैं और मुख पूर्वकी ओर होता है ऐसे राक्षसोंको, और धान्यशोधनदेश—खलमें होने वाले राक्षसों को गौके गोबर और घोड़ेकी लीद आदिसे होने वाले राक्षसों को, मुण्डरहित राक्षसोंको, मुट् मुट् शब्द करने वाले राक्षसोंको घड़ेकी समान अण्डकोशों वाले राक्षसोंको और वायुकी समान शीघ्रगामी राक्षसोंको हे वेदराशिके स्वामिन्! बृहस्पति नामक देव! आप सरसोंके बलसे नष्ट करिये, ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

प॒र्य॒स्ता॒क्षा अप्र॑चङ्कशा अस्त्रै॒णाः स॑न्तु॒ पण्ड॑गाः ।
अव॑ भेषज पाद॒य य इ॒मां सं॒वि॑वृत्स॒त्यप॑तिः स्वप॒तिं
स्त्रिय॑म् ॥ १६ ॥

प॒र्य॒स्त॒ऽअ॒क्षाः । अप्र॑ऽचङ्कशाः । अ॒स्त्रै॒णाः । स॒न्तु॒ । पण्ड॑गाः ।

अव । भेषज । पादय । यः । इमाम् । सम्ऽविवृत्सति । अपतिः ।

स्वपतिम् । स्त्रियम् ॥ १६ ॥

पर्यस्ताक्षाः इतस्ततो विप्रकीर्णलोचनाः प्रचङ्कशाः प्रक्षीणोरुप्रदेशाः । यद्वा प्रगतमतयः । पन्नगाः पादेन न गच्छन्तः । एवंरूपा ये सन्ति ते अस्त्रैणाः स्त्रीसमूहविरोधिनः स्त्रीरहिताः सन्तु भवन्तु । अथ वा पन्नगाः सर्पा भवन्तु । किं च हे भेषज सर्षपरूप त्वम् अव पातय अवाङ्मुखं विनाशय । कम् । यो राक्षसादिः इमां गर्भिणीं स्त्रियं संविवृत्सति संवर्तनं कर्तुम् इच्छति । यच्छब्दनिर्दिष्टं विशिनष्टि अपतिरिति । न विद्यते पतिः स्वामी यस्य स तथोक्तः अनियन्त्रितः । स्त्रियं विशिनष्टि स्वपतिम् इति । स्वाधीनपतिकाम् । यद्वा अपतिः पतिराहित्येन स्वपतीं निद्रां कुर्वतीम् इमां स्त्रियं संवर्तितुम् इच्छति । ❀ वर्ततेः सनि "वृद्भ्यः स्यसनोः" इति परस्मैपदम् ❀ ॥

फैले हुए नेत्रों वाले, क्षीण ऊरु वाले, जो राक्षस हैं वे स्त्री समूहविरोधी स्त्रियोंसे रहित होजावें वा सर्प होजावें हे सर्षपरूप औषधे ! जो अनियन्त्रित राक्षस इस सोती हुई स्त्रीको घेरना चाहता है उसको तू नष्ट कर ॥ १६ ॥

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् !
उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम् ।
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना १७

उत्ऽहर्षिणम् । मुनिऽकेशम् । जम्भयन्तम् । मरीमृशम् ।

उपऽएषन्तम् । उदुम्बलम् । तुण्डेलम् । उत । शालुडम् ।

प॒दा । प्र । वि॒ध्य॒ । पार्ष्ण्या॑ । स्था॒लीम् । गौः॑ऽइव । स्प॒न्द॒ना १७

यस्ते॒ गर्भं॑ प्रति॒मृशा॒ज्जातं॑ वा॑ मा॒रया॑ति ते ।
पि॒ङ्गस्तमु॒ग्रध॑न्वा कृ॒णोतु॑ हृद॒याविध॑म् ॥ १८ ॥

यः । ते॒ । गर्भ॑म् । प्र॒ति॒ऽमृ॒शात् । जा॒तम् । वा॒ । मा॒रया॑ति । ते॒ ।
पि॒ङ्गः । तम् । उ॒ग्रऽध॑न्वा । कृ॒णोतु॑ । हृ॒द॒या॒विध॑म् ॥ १८ ॥

सप्तमी ॥ उद्धर्षिणम् उत्कृष्टेन अतिप्रवृद्धेन धर्षणेन उपेतं मुनिकेशम् मुनिवज्जटात्मककेशवन्तम् एतन्नामानम् । तथा जम्भयन्तम् हिसन्तं हिंस्रकं मरीमृशम् पुनःपुनः मृशन्तम् एतन्नामानं च । तथा उपैषन्तम् सर्वत इच्छन्तम् । गर्भिणी कुत्रास्त इत्यन्विष्यन्तम् इत्यर्थः । तथाविधम् उदुम्बलम् एतन्नामकं च । उत अपि च तुण्डेलम् प्रकृष्टतुण्डवन्तं शालडम् एतन्नामानम् असुरम् । अथ वा उद्धर्षिप्रभृतीनि प्रत्येक योगरूढानि असुरनामानि । पदा प्रविध्येत्युत्तरत्र संबन्धः ॥

अष्टमी ॥ सर्षपाख्यौषधिः पदा पादेन प्रविध्य सम्यक् ताडयित्वा प्रास्यात् प्रास्यतु तत्र । दृष्टान्तः । स्थालीम् दोहनसाधनं मृत्पात्रं गौरिव दुष्टा गौर्यथा स्पन्दनात् पश्चात्पादयोश्चालनात् । सा यथा पात्रं भिनत्ति तद्वत् । कं प्रति एवम् उच्यत इति तम् आह । यस्ते गर्भम् इति । यो राक्षसादिः हे गर्भिणि ते गर्भं प्रतिमृशात् प्रतिमृशेत् पीडयेत् यथा सजीवो न जायते तथा कुर्याद् वा । अथ वा जातम् उत्पन्नं ते पुत्रं मारयाति मारयेत् । तं पदा प्रविध्येति पूर्वत्रान्वयः । किं च पिङ्गः गौरसर्षपः तं गर्भघातकं राक्षसम् उग्रधन्वा । ❀ धन्वतिर्गतिकर्मा ❀ । उद्गूर्णगतिः सन् हृदयाविधम् हृदयप्रदेशे विद्धं ताडितं कृणोतु करोतु । अथ वा

वेधलिङ्गात् उग्रधन्वशब्दो भयंकरेण धनुषोपेतम् आचष्टे सर्षपस्य औषधस्य देवताभिप्रायेण उग्रधन्वत्वं न विरुध्यते ॥

प्रचण्डतासे धर्षण करने वाले मुनिकी समान जटात्मक केश वाले मुनिकेश नामक असुरको, तथा हिंसा करने वाले मरीमृश को तथा गर्भिणी कहाँ है इस प्रकार सर्वत्र खोज करते हुए उदुम्बल को, प्रकृष्ट तुण्ड वाले शालड नामक असुरको, सरसों पैरसे इस प्रकार मारे जिस प्रकार दूध दुहानेके बाद (दुष्ट) गौ दूधके पात्रमें लात मार देती है ॥ १७ ॥

हे गर्भिणी ! जो तेरे गर्भको पीड़ित करता है अर्थात् सजीव उत्पन्न न हो ऐसा कर देता है अथवा तेरे उत्पन्न हुए पुत्रको मारने के लिये उद्यत रहता है उसको यह औषधि पैरसे मारे । गौर-सर्षप ! उस गर्भघातक राक्षसको तू प्रचण्ड गति वाला होकर हृदय में ताड़ित कर ॥ १८ ॥

नवमी ॥

ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।
स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु १९

ये । अम्नः । जातान् । मारयन्ति । सूतिकाः । अनुऽशेरते ।
स्त्रीऽभागान् । पिङ्गः । गन्धर्वान् । वातः । अभ्रम्ऽइव । अजतु १९

ये रक्षःपिशाचाद्याः अम्नो जातान् अर्धोत्पन्नान् गर्भान् मारयन्ति विनाशयन्ति ये च सूतिकाः अभिनवप्रसवा अनुशेरते स्वयमपि योषिद्रूपेण शयनं कुर्वन्ति तान् स्त्रीभागान् स्त्रियो गर्भिण्यो भागो येषां ते स्त्रीभागाः स्त्रीग्रहीतॄन् गन्धर्वान् रक्षः-पिशाचाद्यान् पिङ्गः गौरसर्षपः वातः वायुः अभ्रमिव निरुदकं मेघमिव अजतु निरस्यतु ॥

जो राक्षस पिशाच आदि आधे उत्पन्न हुए गर्भोंको मार डालते हैं और जो स्त्रीरूप धारण कर सूतिका बनकर शयन करते हैं उन गर्भिणी स्त्रियोंको अपना भाग समझने वाले गंधर्व राक्षस पिशाच आदिको गौरसर्षप इस प्रकार मारे जिस प्रकार जलरहित मेघको वायु मारता है ॥ १९ ॥

दशमी ॥

परि॑सृष्टं धारयतु॒ यद्धि॒तं माव॑ पादि॒ तत् ।
गर्भं॑ त उ॒ग्रौ र॑क्षतां भे॒षजौ नी॑विभा॒र्यौ॑ ॥ २० ॥

परि॑ऽसृष्टम् । धा॒र॒य॒तु॒ । यत् । हि॒तम् । मा । अव॑ । पा॒दि॒ । तत् ।
गर्भ॑म् । ते॒ । उ॒ग्रौ । र॒क्ष॒ता॒म् । भे॒ष॒जौ । नी॒वि॒ऽभा॒र्यौ॑ ॥ २० ॥

परिशिष्टम् होमादिविनियोगावशिष्टं सर्षपद्वयं धारयतु न परित्यजतु गर्भिणी स्त्री । धारणस्य अभिप्रायम् आह । यत् यत् पुत्रादिलक्षणं वस्तु हितम् अभिमतं तत् माव पादि अवपन्नं विस्रस्तं मा भूत् । अनेन अभिप्रायेण धारयतु । हे गर्भिणि ते गर्भम् उग्रौ उद्गूर्णबलौ भेषजौ भेषजरूपौ श्वेतपीतोभयविधसर्षपौ नीविभार्यौ नीव्यां भर्तव्यौ वस्त्राञ्चलेन धार्यौ रक्षताम् पालयताम् । "श्वेतपीतसर्षपौ संपात्य अभिमन्त्र्य गर्भिण्या बध्नीयात्" इति हि अत्र विनियोगः ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

होम विनियोग आदिसे बचे हुए दोनों प्रकारके सरसोंको यह गर्भिणी स्त्री न त्यागे धारण करे, धारण करनेका अभिप्राय यह है, कि–जो पुत्र आदिरूप वस्तु अभिमत है वह गिरे नहीं । हे मर्भिणी ! प्रचण्ड बली औषधरूप दोनों सरसों नीवीमें धारण करने पर तेरी रक्षा करें ॥ २० ॥ (१५)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त

"पवीनसात्" इति सूक्तस्य "यौ ते माता" [८. ६] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"पवीनसौ" सूक्तका "यौ ते माता" (८ । ६) के साथ विनियोग कह दिया है ।

प॒वी॒न॒सात् त॑ङ्ग॒ल्वा॒३॒॑च्छाय॑कादुत नग्न॑कात् ।

प्र॒जायै॒ पत्ये॑ त्वा पि॒ङ्गः परि॑ पातु कि॒मीदिन॑ः ॥२१॥

प॒वि॒ऽन॒सात् । त॒ङ्ग॒ल्वा॒त् । छाय॑कात् । उ॒त । नग्न॑कात् ।

प्र॒ऽजायै॑ । पत्ये॑ । त्वा॒ । पि॒ङ्गः । परि॑ । पा॒तु॒ । कि॒मी॒दिन॑ः ॥२१॥

पवीनसात् पविर्वज्रः । पवज्रसदृशनासिकोपेतात् किमीदिनः असुरादेः सकाशात् तङ्गल्वात् एतन्नामकाच्च किमीदिनः सायकात् विनाशकारिणः सकाशात् उत अपि च नग्नकात् नग्नात् । एतन्नामकेभ्यः असुरेभ्यः सकाशात् हे गर्भिणि त्वा त्वां पिङ्गः पिङ्गवर्णः सर्षपः परि पातु परितो रक्षतु । कस्मै प्रयोजनायेति उच्यते । प्रजायै प्रजार्थं पुत्रलाभार्थं पत्ये पत्यर्थं पत्युरानुकूल्यार्थं च ॥

हे गर्भिणी ! प्रजा उत्पन्न करनेके लिये और पतिके अनुकूल रहनेके लिये यह पीली सरसों तुझको वज्रकी समान नासिका वाले असुरसे, तङ्गल्व नामक असुरसे विनाशक सायक नामक असुर से और नग्नक नामक असुर सेरक्षा करे ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

द्व्या॑स्याच्चतु॒रक्षात् पञ्च॑पादादनङ्गुरेः ।

वृन्ता॑द॒भि प्र॒सर्प॑तः॒ परि॑ पाहि वरीवृ॒तात् ॥ २२ ॥

द्विऽआस्यात् । चतुःऽअक्षात् । पञ्चऽपादात् । अनङ्गुरेः ।
वृन्तात् । अभि । प्रऽसर्पतः । परि । पाहि । वरीवृतात् ॥ २२ ॥

द्व्यास्यात् द्वे आस्ये पुरः पश्चाच्चेति वा पुरत एव वा यस्य स्तः स द्व्यास्यः । तस्मात् । यत एवम् अतोसौ चतुरक्षः अक्षचतुष्टयवान् । तस्मात् । पञ्चपादात् पादपञ्चकोपेतात् अनङ्गुरेः अङ्गुलिरहिताद् वृन्तात् लतापुञ्जात् अभिप्रसर्पतः अभिमुखं गच्छतः । अथ वा वृन्तात् वृन्तवद् वृन्तं शिरः पादाग्रं वा तस्मात् । अवाग्भूयाभिगच्छतः पश्चात् वरीवृतात् भृशं सर्वाङ्गं व्याप्य वर्तमानात् हे ओषधे त्वं परिपाहि परितो रक्ष । ❀ वृतु वर्तने। अस्माद् यङ्लुगन्तात् पचाद्यचि "रीगृदुपधस्य च" इत्यभ्यासस्य रीगागमः । "न धातुलोप आर्धधातुके" इति गुणप्रतिषेधः ❀ ॥

हे ओषधे ! तू आगे पीछे इस प्रकार दो मुख वाले, चार नेत्र वाले पाँच पैर वाले अंगुलिरहित लताजालकी समान पैर वाले नीचेको मुख करके चलने वाले और सब अंगोंमें व्याप्त होकर वर्तमान राक्षससे रक्षा कर ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि २३

ये । आमम् । मांसम् । अदन्ति । पौरुषेयम् । च । ये । क्रविः ।
गर्भान् । खादन्ति । केशऽवाः । तान् । इतः । नाशयामसि २३

ये पिशाचा आमम् अपक्वं मांसम् अदन्ति भक्षयन्ति ये च पौरुषेयम् पुरुषस्य संबन्धि क्रविः । क्रविस्शब्दो मांसवचनः । "य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति" इति हि मन्त्रान्तरम् [ऋ०

१. १६२. १०]। मनुष्यमांसभक्षणं न प्रचुरम् इत्यभिप्रेत्य पृथगभिधानम् । ये च केशवाः प्रकृष्टकेशाः पिशाचविशेषाः गर्भान् मायारूपेण प्रविश्य खादन्ति भक्षयन्ति तान् त्रिविधानपि इतः अस्मात् गर्भिण्यादेः सकाशात् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो राक्षस कच्चे मांसको खाते हैं और पुरुषके भी कच्चे मांस को खाजाते हैं । और जो बड़े २ बाल वाले राक्षस मायासे प्रवेश करके गर्भोंका भक्षण करते हैं उन तीनोंको हम गर्भिणीके पास से हटाते हैं ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

ये सूर्या॑त् परि॒सर्प॑न्ति स्नु॒षेव॒ श्वशु॑रा॒दधि॑ ।
ब॒ज॒श्च तेषां॑ पिङ्गश्च॒ हृद॒येधि॒ नि विंध्यताम् ॥२४॥

ये । सूर्या॑त् । प॒रि॒ऽसर्प॑न्ति । स्नु॒षाऽइ॑व । श्वशु॑रात् । अधि॑ ।
ब॒जः । च॒ । तेषा॑म् । पि॒ङ्गः । च॒ । हृद॑ये । अधि॑ । नि । वि॒ध्य॒ता॒म् २४

ये पीडयितारः सूर्यात् सर्वस्य प्रेरकाद् देवाद् अनुज्ञाताः सन्तः परिसर्पन्ति परिगच्छन्ति भूलोकं गच्छन्ति पीडयितुम् । तत्र दृष्टान्तम् आह । स्नुषेव यथा स्नुषा श्वशुरादधि । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । श्वशुरात् स्वपतेर्जनकाद् अनुज्ञाता त्वं पत्युः सकाशं गच्छ इत्येवम् अनुज्ञाता सती तत्समीपं परिसर्पति तद्वत् । तेषां सूर्याद् आगतानां हृदये हृदयदेशे बजश्च बजः श्वेतसर्षपः स च पिङ्गश्च गौरसर्षपश्च । उभयत्र चशब्दः परस्परापेक्षः । अधि नि विध्यताम् अधिष्ठाय ताडयताम् ॥

जो पीडक सूर्यदेवकी अनुज्ञासे भूलोकमें पीड़ा देनेको इस प्रकार आते हैं, जिस प्रकार श्वशुरकी अनुज्ञासे पुत्रवधू पतिके

पास जाती है । उन सूर्यसे आये हुओंके हृदयमें यह पीली सफेद सरसों जाकर ताड़ना करे ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

पिङ्ग॒ रक्ष॒ जाय॑मान॒ं मा पुमां॑स॒ं स्त्रियं॑ क्रन् ।
आ॒ण्डा॒दो॒ गर्भा॒न्मा द॑भ॒न् बाध॑स्वे॒तः कि॑मी॒दिनः॑ २५

पिङ्ग॑ । रक्ष॑ । जाय॑मानम् । मा । पुमां॑सम् । स्त्रिय॑म् । क्र॒न् ।
आ॒ण्ड॒ऽअदः॑ । गर्भा॑न् । मा । द॒भ॒न् । बाध॑स्व । इ॒तः । कि॒मी॒दिनः॑ २५

हे पिङ्ग गौरसर्षप त्वं जायमानम् उत्पद्यमानं शिशुं रक्ष । जायमानम् इति सामान्येन अभिधाय विशेषेणाह । जायमानं पुमांसं जायमानां स्त्रियं वा मा क्रन् मा कुर्वन्तु । पीडायाम् इति शेषः । अथ वा जायमानं पुमांसं वस्तुतः पुंगर्भं स्त्रियं मा क्रन् स्त्र्यपत्यं मा कुर्वन्तु । यथा एवं न भवति तथा रक्ष । केचन भूतविशेषाः पुंगर्भं स्त्रीगर्भं कुर्वन्ति स्वसामर्थ्यात् । ❀ करोतेर्माङि लुङि "मन्त्रे घस०" इत्यादिना च्लेर्लुक ❀ । किं च अपरे आण्डादाः आण्डप्रदेशभक्षकाः । ❀ "अदोनन्ने" इति विट् ❀ । ते पिशाचाः गर्भान् मा दभन् मा हिंसन्तु । तान् उभयविधान् किमीदिनः किम् इदं किम् इदम् इति चरतो रक्षःप्रभृतीन् हे पिङ्ग इतः गर्भिणीसकाशाद् बाधस्व पीडय ॥

हे गौर सर्षप ! तू उत्पन्न हुई संततिकी रक्षा कर, और उत्पन्न होते हुए पुंगर्भको वा स्त्रीगर्भको भूत पीड़ामें न डालें और अण्डप्रदेश भक्षक आण्डाद गर्भको न मार सके इन दोनों प्रकारके राक्षसोंको हे सर्षप ! गर्भिणीके पाससे दूर कर ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

अ॒प्र॒जा॒स्त्वं मार्त॑वत्स॒माद् रोद॑म॒घमा॑व॒यम् ।

वृ॒क्षादि॑व॒ स्रजं॑ कृ॒त्वाप्रि॑ये॒ प्रति॑ मु॒ञ्च तत् ॥ २६ ॥

अ॒प्र॒जाः॒ऽत्वम् । मा॒र्त॑ऽवत्सम् । आत् । रोद॑म् । अ॒घम् । आ॒ऽव॒यम् ।
वृ॒क्षात्ऽइ॑व । स्र॑जम् । कृ॒त्वा । अ॒प्रि॑ये । प्रति॑ । मु॒ञ्च॒ । तत् ॥२६॥

हे पिङ्ग त्वम् अस्या गर्भिण्या यद् अप्रजास्त्वम् अपत्यविधुरत्वम् यच्च मार्तवत्सम् मृतवत्सत्वं दौर्भाग्यम् आत् अपि च रोदम् सर्वदा उत्पद्यमानं दुखं हृदोदनं वा । अघवावयम् अघानां पापानां तत्फलभूतानां दुःखानां वा असकृद् वयनम् । एतानि सर्वाणि । वृक्षादिव स्रजं कृत्वा यथा वृक्षाद् बहूनि पुष्पाणि आदाय मालां निर्माय प्रियतमे प्रतिमुञ्चति तद्वत् अप्रजास्त्वादिकानां स्रजं कृत्वा तत् माल्यम् अप्रिये द्वेष्ये प्रति मुञ्च संयोजय ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥
समाप्तश्च तृतीयोनुवाकः ॥

हे गौर सर्षप ! तू इस गर्भिणीकी अपत्यहीनताको, मृतवत्सतारूप दुर्भाग्यको और सदा हृदयके रोदनको और पापोंके ताने बानेको इस प्रकार शत्रुके डाल जिस प्रकार वृक्ष परसे फूल चुन उनकी मालाको प्रियतमके गलेमें डालते हैं ॥ २६ ॥ (१६)

अष्टमकाण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

यक्ष्मादिसर्वव्याधिभैषज्ये कर्मणि "या बभ्रवः" इत्यर्थसूक्तेन दशवृक्षशकलानां लाक्षाहिरण्येन वेष्टितं मणिं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य पुनः सूक्तं जपित्वा बध्नाति । तद् उक्तं कौशिकेन । "उत्तमेन शाकलम्" इति [कौ० ४. २] ॥ पालाशः उदुम्बरः जम्बुः काम्पीलः स्रक् वङ्गः शिरीषः स्रक्त्यः वरणः विल्वः जङ्गिडः कुटकः गृह्यः गलावलः वेतसः शिम्बलः सिपुनः स्यन्दनः अरणिका अश्मयोक्तः तुन्युः पूतदारुरिति शान्ता वृक्षाः । एतेषां कतमानामपि दशानां शकलैर्निर्मितः शाकलो मणिः ॥

तथा सौत्रामणीयागे अनेन सूक्तेन ओषधीभिः संधीयमानां सुराम् अनुमन्त्रयेत। तद् उक्तं वैताने। "रशप्राशनया [५. २.३] या बभ्रव इत्योषधीभिः सुरां संधीयमानाम्" इति [वै० ५. ३]॥

यक्ष्मा आदि सकल व्याधियोंकी चिकित्साके लिये "या बभ्रवः" इस अर्थसूक्तसे दश वृक्षोंके टुकड़ोंको लाख और सुवर्ण से मढ़ मणि बनाकर संपातन और अभिमन्त्रित करे फिर सूक्त को जप कर बाँधे। इसी बातको कौशिकने कहा है, कि-"उत्तमेन शाकलम्" (कौशिकसूत्र ४ । २.)। पलाश, गूलड़, जामन, कबीला, स्रक्, वङ्क, सिरस, स्रयक्त, वरण, वेल, जंगिड़, कुटक, गृह्य, गलागल, वेत, शिम्बल, सिपुन, तिनश, अरणिका, अश्मयोक्त, तुन्यु, और पूतदारु ये शान्तवृक्ष कहलाते हैं। इनमेंसे किन्हीं भी दश वृक्षोंके टुकड़ोंसे निर्मित मणि शाकलमणि कहलाती है॥

तथा सौत्रामणियागमें इस सूक्तके द्वारा औषधियोंसे खिचती हुई सुराका अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"रसप्राशन्या (५ । २ । ३) या बभ्रव इत्योषधिभिः सुरां संधीयमानाम्" (वैतानसूत्र ५ । ३)॥

या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि॥ १॥

याः। बभ्रवः। याः। च। शुक्राः। रोहिणीः। उत। पृश्नयः।
असिक्नीः। कृष्णाः। ओषधीः। सर्वाः। अच्छऽआवदामसि॥१॥

जो बभ्रुवर्णकी औषधियें हैं, जो श्वेतवर्णकी औषधियें हैं, जो लालवर्णकी औषधियें हैं और जो छोटे शरीर वाली औषधियें और जो नीली तथा काली औषधियें हैं उन सबसे हम अभिमुख होकर (रोगको दूर करनेकी) प्रार्थना करते हैं॥१॥

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवेषितादधि ।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां
बभूव ॥ २ ॥

त्रायन्ताम् । इमम् । पुरुषम् । यक्ष्मात् । देवऽइषितात् । अधि ।
यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् । वीरुधाम् । बभूव ॥ २ ॥

वर्षारूप वीर्यका सेचन करनेसे द्यौ जिनका पिता है और उत्पन्न करनेसे पृथिवी जिनकी माता है और समुद्र (जलस्थान) जिनका मूल है वे औषधियें इस पुरुषको दैवप्रेरित यक्ष्मारोगसे बचावें ॥ २ ॥

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः ।
तास्ते यक्ष्ममेनस्य१मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

आपः । अग्रम् । दिव्याः । ओषधयः ।
ताः । ते । यक्ष्मम् । एनस्यम् । अङ्गात्ऽअङ्गात् । अनीनशन् ३

जो जल सामने वर्तमान हैं और जो दिव्य औषधियें हैं, हे रोगिन् ! वे तेरे पापकर्मोंके कारण उत्पन्न हुए यक्ष्मारोगको अंग प्रत्यंगोंसे निकाल कर फेंक दें ॥ ३ ॥

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो

वैश्वदे॒वीरु॒ग्राः पु॑रु॒षजीव॑नीः ॥ ४ ॥

प्र॒ऽस्तृ॒ण॒तीः । स्त॒म्बि॑नीः । एक॑ऽशुङ्गाः । प्र॒ऽत॒न्व॒तीः । ओष॑धीः ।
आ । व॒दा॒मि॒ ।

अं॒शु॒ऽम॑तीः । का॒ण्डि॑नीः । याः । विऽशा॑खाः । ह्वया॑मि । ते॒ ।
वी॒रुधः॑ । वै॒श्व॒ऽदे॒वीः । उ॒ग्राः । पु॒रु॒ष॒ऽजीव॑नीः ॥ ४ ॥

फैलने वालीं, स्तम्ब वालीं, मुख्य करके पाकरका आश्रय लेने वाली, छायी हुई औषधियोंकी मैं प्रार्थना करता हूँ, किरणों (टहनियों) वाली, गुद्दे वाली और अनेक प्रकारकी शाखाओं वाली, समस्त देवताओंसे सम्बन्ध रखने वालीं, प्रचण्ड बलमयी और रोगी पुरुषको जीवन देने वालीं औषधियोंको हे रोगिन्! मैं तेरे लिये आह्वान करता हूँ ॥ ४ ॥

यद् व॒ः सह॑ः सहमाना वी॒र्य॒ं१ यच्च॑ वो॒ बल॑म् ।
ते॒नेम॒मस्माद् यक्ष्मा॒त् पुरु॑षं मुञ्चतौषधी॒रथो॑ कृणोमि
भेष॒जम् ॥ ५ ॥

यत् । व॒ः । सह॑ः । स॒ह॒मा॒नाः॒ । वी॒र्य॑म् । यत् । च॒ । व॒ः । बल॑म् ।
तेन॑ । इ॒मम् । अ॒स्मात् । यक्ष्मा॑त् । पुरु॑षम् । मु॒ञ्च॒त॒ । ओ॒ष॒धीः॒ ।
अ॒थो॑ इति । कृ॒णो॒मि॒ । भे॒ष॒जम् ॥ ५ ॥

हे रोगको दबाने वाली औषधियों! तुममें जो रोगको दबानेकी शक्ति है और तुममें जो बल है उससे आप इस पुरुषको यक्ष्मा-रोगसे मुक्त करो, क्योंकि-मैं (मन्त्रशक्तिसम्पन्न) औषधिको कर रहा हूँ ॥ ५ ॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेस्मा
अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । नघऽरिषाम् । जीवन्तीम् । ओषधीम् । अहम् ।
अरुन्धतीम् । उत्ऽनयन्तीम् । पुष्पाम् । मधुऽमतीम् । इह । हुवे ।
अस्मै । अरिष्टऽतातये ॥ ६ ॥

मैं कल्याण करनेके लिये जीवनप्रदा और जिसका रोष भी कभी घातक नहीं होता ऐसी, रोपण करने वाली ऊपरको जाने वाली पुष्पमती मधुमती जीवन्ती (लता) का आह्वान करता हूँ६

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥

इह । आ । यन्तु । प्रऽचेतसः । मेदिनीः । वचसः । मम ।
यथा । इमम् । पारयामसि । पुरुषम् । दुःऽइतात् । अधि ॥ ७॥

प्रकृष्ट ज्ञान वाली मेरे मन्त्ररूप वचनको स्निग्ध करने वाली औषधियें यहाँ आवें, जिससे कि—हम इस पुरुषको रोगरूप पाप से पार उतार सकें ॥ ७ ॥

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः ।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥ ८ ॥

अग्नेः । घासः । अपाम् । गर्भः । याः । रोहन्ति । पुनःऽनवाः ।

ध्रुवाः । सहस्रऽनाम्नीः । भेषजीः । सन्तु । आऽभृताः ॥ ८ ॥

जल जिनका गर्भ है और जो अग्निकी भक्ष्य हैं तथा बारम्बार नवीनरूपमें उत्पन्न होती हैं, इस प्रकार (गुणतः) स्थिर रहने वालीं, सहस्रों नाम वालीं औषधियें यहाँ लाई हुई होवें ८

अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः ।
व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

अवकऽउल्बाः । उदकऽआत्मनः । ओषधयः ॥ ९ ॥
वि । ऋषन्तु । दुःऽइतम् । तीक्ष्णऽशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

जल ही जिनका आत्मा है, सिवार जिनका गर्भवेष्टन है, उग्र गंध वाले शृंगाकार दो फल जिनमें होते हैं ऐसी औषधियें (रोगरूप) पापको नष्ट करें ॥ ९ ॥

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा
यन्त्वोषधीः ॥ १० ॥

उत्ऽमुञ्चन्तीः । विऽवरुणाः । उग्राः । याः । विषऽदूषणीः ।
अथो इति । बलासऽनाशनीः । कृत्याऽदूषणीः । च । याः । ताः ।
इह । आ । यन्तु । ओषधीः ॥ १० ॥

रोगसे उन्मुक्त करने वाली, झूँठ बोलने पर होनेवाले वरुणकर्तृक जलोदर आदि रोगोंसे रहित करने वाली, रोगका प्रभाव दूर करनेमें प्रचण्ड, विषको दूर करने वालीं और बलक्षय करने

वाले कफरोगका नाश करने वालीं और कृत्याओंको दूषित करने वालीं औषधियें यहाँ आवें ॥ १० ॥ (१७)

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।
त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥

अपऽक्रीताः । सहीयसीः । वीरुधः । याः । अभिऽस्तुताः ।
त्रायन्ताम् । अस्मिन् । ग्रामे । गाम् । अश्वम् । पुरुषम् । पशुम्

खरीदी हुई नहीं किंतु स्वयं लाई हुई रोगोंको दबाने वालीं, मन्त्रोंसे स्तुत जो औषधियें हैं वे इस ग्राममें गौ अश्व पुरुष और पशुकी रक्षा करें ॥ ११ ॥

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव
मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृ-
तस्य भक्षो घृतमन्नं दुहतां गोपुरोगवम् ॥१२॥

मधुऽमत् । मूलम् । मधुऽमत् । अग्रम् । आसाम् । मधुऽमत् ।
मध्यम् । वीरुधाम् । बभूव ।
मधुऽमत् । पर्णम् । मधुऽमत् । पुष्पम् । आसाम् । मधोः ।
सम्ऽभक्ताः । अमृतस्य । भक्षः । घृतम् । अन्नम् । दुहताम् ।
गोऽपुरोगवम् ॥ १२ ॥

इन वीरुधोंका मूल मधुमय होता है अग्रभाग और मध्यभाग भी मधुमय होता है, इनका पत्ता मधुमय—रोग दूर करनारूप मिष्ट फलको देने वाला होता है, और इनका पुष्प भी मधुमय

होता है उस मधुका सेवन करने वाला अमृतका भक्षक होता है नीरोग रहता है–पुत्र पौत्र आदि रूपमें अमर रहता है वह पुरुष गौको आगे रख कर घृत और अन्नको दुहता रहे ॥ १२ ॥

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

यावतीः । कियतीः । च । इमाः । पृथिव्याम् । अधि । ओषधीः ।
ताः । मा । सहस्रऽपर्ण्यः । मृत्योः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १३ ॥

पृथिवीमें जितनी भी औषधियें हैं वे अनन्त पत्तों वाली औषधियें मुझे मृत्युदायक पापसे मुक्त करें ॥ १३ ॥

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः ।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ॥ १४ ॥

वैयाघ्रः । मणिः । वीरुधाम् । त्रायमाणः । अभिशस्तिऽपाः ।
अमीवाः । सर्वा । रक्षांसि । अप । हन्तु । अधि । दूरम् । अस्मत् ॥

औषधियोंसे रक्षित यह वैयाघ्रमणि आरोपित रोगरूप पापोंसे रक्षा करने वाला है, वह रोग और राक्षसोंको हमसे दूर लेजाकर नष्ट कर डाले ॥ १४ ॥

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः ।
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ॥ १५ ॥

सिंहस्यऽइव । स्तनथोः । सम् । विजन्ते । अग्नेःऽइव । विजन्ते ।
आऽभृताभ्यः ।

गवाम् । यक्ष्मः । पुरुषाणाम् । वीरुत्ऽभिः । अतिऽनुत्तः । नाव्याः ।
एतु । स्रोत्याः ॥ १५ ॥

सिंहकी दहाड़से प्राणी जिस प्रकार उद्विग्न होने लगते हैं और अग्निसे जिस प्रकार घबड़ाने लगते हैं तैसे ही इन लाई हुई औषधियोंसे खेदड़ा हुआ पशुओंका और पुरुषोंका रोग नौका से तरने योग्य नदीके पार चला जावे ॥ १५ ॥

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि ।
भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

मुमुचानाः । ओषधयः । अग्नेः । वैश्वानरात् । अधि ।

भूमिम् । सम्ऽतन्वतीः । इत । यासाम् । राजा । वनस्पतिः १६

जिनका राजा वनस्पति है और जो भूमिको आच्छादित कर लेती हैं ऐसी ये रोगसे मुक्त करने वाली औषधियें वैश्वानर अग्निसे भी श्रेष्ठ हैं ॥ १६ ॥

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे १७

याः । रोहन्ति । आङ्गिरसीः । पर्वतेषु । समेषु । च ।

ताः । नः । पयस्वतीः । शिवाः । ओषधीः । सन्तु । शम् । हृदे १७

महर्षि अंगिराकी वर्णित जो औषधियें पर्वतोंमें और सम-

स्थानोंमें उत्पन्न होती हैं वे दुग्धकी समान सारमयीं कल्याणकारिणी औषधियें हमारे हृदयको सुख देने वाली होवें ॥१७॥

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् १८

याः । च । अहम् । वेद । वीरुधः । याः । च । पश्यामि । चक्षुषा ।
अज्ञाताः । जानीमः । च । याः । यासु । विद्म । च । सम्ऽभृतम्

जिन औषधियोंको मैं जानता हूँ और जिनको मैं नेत्रसे देख रहा हूँ । और जिन अज्ञात औषधियोंको हम जानें और इनमें इन २ रोगोंको दूर करनेका तत्व भरा हुआ है इस रूपमें हम जिन औषधियोंको जानते हैं ॥ १८ ॥

सर्वा समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥

सर्वाः । सम्ऽअग्राः । ओषधीः । बोधन्तु । वचसः । मम ।
यथा । इमम् । पारयामसि । पुरुषम् । दुःऽइतात् । अधि ॥१९॥

वे समग्र औषधियें मेरे वचनको जान लें, कि-जिस प्रकार मैं इस पुरुषको रोगरूप पापके पार पहुँचा सकूँ (तैसा करें) १९

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हवि ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥ २० ॥

अश्वत्थः । दर्भः । वीरुधाम् । सोमः । राजा । अमृतम् । हविः ।
व्रीहिः । यवः । च । भेषजौ । दिवः । पुत्रौ । अमर्त्यौ ॥ २० ॥

अश्वत्थ औषधियोंका दर्भ है, सोम राजा है, अमृत हवि (भक्ष्य पदार्थ) है, धान और जौं औषधियें हैं ये दोनों अन्तरिक्षके पुत्र हैं अन्तरिक्षमेंसे वृष्टिके द्वारा होते हैं। और अमर्त्य हैं ॥ २० ॥ (१८)

उज्जि॑हीध्वे स्त॒नय॑त्यभि॒क्रन्द॑त्योषधीः ।
य॒दा वः॑ पृश्निमातरः प॒र्जन्यो॒ रेत॒साव॑ति ॥ २१ ॥

उत् । जि॒ही॒ध्वे॒ । स्त॒नय॑ति । अ॒भि॒ऽक्रन्द॑ति । ओ॒ष॑धीः ।
य॒दा । वः॒ । पृ॒श्नि॒ऽमा॒त॒रः॒ । प॒र्जन्यः॑ । रेत॑सा । अव॑ति ॥ २१ ॥

हे औषधियो ! जब (बिजली) कड़कती है (मेघ) गरजता है और वायु तथा पर्जन्य वर्षारूप वीर्यसे तुम्हारी रक्षा करता है तब तुम अनेक प्रकारसे चलती-हिलती-हो ॥ २१ ॥

तस्या॒मृत॒स्येमं बल॒ं पुरु॑षं पाययामसि ।
अथो॑ कृणोमि भेष॒जं यथास॑च्छ॒तहायनः ॥ २२ ॥

तस्य॑ । अ॒मृत॑स्य । इ॒मम् । बल॑म् । पुरु॑षम् । पा॒य॒या॒म॒सि॒ ।
अथो॒ इति॑ । कृ॒णो॒मि॒ । भे॒ष॒जम् । यथा॑ । अस॑त् । श॒तऽहा॑यनः २२

उस औषधसमूहके अमृत रूप बलको हम इस पुरुषको पिलाते हैं इस प्रकार मैं इसकी औषधिको करता हूँ, जिस प्रकार ये सौ वर्षका हो जाय ॥ २२ ॥

व॒रा॒हो वे॑द वी॒रुधं॑ नकु॒लो वे॑द भेष॒जीम् ।
स॒र्पा ग॑न्ध॒र्वा या वि॒दुस्ता अ॒स्मा अ॑वसे हुवे २३

वराहः । वेद । वीरुधम् । नकुलः । वेद । भेषजीम् ।

सर्पाः । गन्धर्वाः । याः । विदुः । ताः । अस्मै । अवसे । हुवे २३

वराह जिन लताओंको जानता है, और नौला जिस औषधिको जानता है तथा सर्प और गंधर्व जिन औषधियोंको जानते हैं उनका हम इस रुग्ण पुरुषकी रक्षाके लिये आह्वान करते हैं ॥ २३ ॥

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः ।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥२४॥

याः । सुऽपर्णाः आङ्गिरसीः । दिव्याः । याः । रघटः । विदुः ।

वयांसि । हंसाः । याः । विदुः । या । च । सर्वे । पतत्रिणः ।

मृगाः । याः । विदुः । ओषधीः । ताः । अस्मै । अवसे । हुवे २४

जितनी सुन्दर पत्तों वाली औषधियोंका अंगिरा मुनिने प्रयोग किया है, और जिन दिव्य औषधियोंको रघट जानते हैं पक्षी और हंस जिन औषधियोंको जानते हैं और जिनको सकल पक्षी जानते हैं और पशु भी जिन औषधियोंको जानते हैं उन सकल औषधियोंका मैं इसकी रक्षाके लिये आह्वान करता हूँ ॥ २४ ॥

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥ २५॥

यावतीनाम् । ओषधीनाम् । गावः । प्रऽअश्नन्ति । अघ्न्याः ।
यावतीनाम् । अजऽअवयः ।
तावतीः । तुभ्यम् । ओषधीः । शर्म । यच्छन्तु । आऽभृताः २५

जितनी औषधियोंको अवध्य गौएँ (रोगनिवृत्ति के लिये) खाती हैं और जिनको भेड़ बकरियें खाती हैं, लाई हुईं वे सब औषधियें तुझे कल्याण दें ॥ २५ ॥

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥

यावतीषु । मनुष्याः । भेषजम् । भिषजः । विदुः ।
तावतीः । विश्वऽभेषजीः । आ । भरामि । त्वाम् । अभि २६

लताओंमेंसे जितनी लताओंमें वैद्य औषधिको जानते हैं उन सकल औषधियोंको हम कल्याण करनेके लिये तेरे सन्मुख ला चुके हैं ॥ २६ ॥

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

पुष्पऽवतीः । प्रसूऽमतीः । फलिनीः । अफलाः । उत ।
संमातरःऽइव । दुह्राम् । अस्मै । अरिष्टऽतातये ॥ २७ ॥

पुष्प वाली, (नीरोगताके) प्रसव वाली, फल वाली और फलरहित औषधियें इस पुरुषका कल्याण करनेके लिये आरोग्यफलको दुहें ॥ २७ ॥

उत त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात्

उत् । त्वा । अहार्षम् । पञ्चऽशलात् । अथो इति । दशऽशलात् । उत ।
अथो इति । यमस्य । पड्वीशात् । विश्वस्मात् । देवऽकिल्बिषात्

इति चतुर्थेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे रोगिन् ! मैंने (मन्त्रशक्तिसे) तुझको पाँचशलाका वाले और दश शलाका वाले काठके पादबंधनसे यमदेवके पादबंधनसे अधिक क्या सम्पूर्ण देवताओंका अपराध करने पर भोगने पड़ने वाले पादबंधनरूप रोगसे उद्धृत कर लिया है ॥ २८ ॥ (१९)

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥ (४४५)

"इन्द्रो मन्थतु" इति अर्थसूक्तस्य शत्रुक्षयशत्रुभयनाशनशत्रुजयस्वकीयबलवर्धनकर्मसु विनियोगः । तानि कर्माणि सेनाकर्माणि नाम भवन्ति । तत्र सेनाग्निसिद्ध्यर्थं "पूतिरज्जुः" [२] इत्यर्धर्चेन अग्निपातदेशे जीर्णां रज्जुम् अवधाय अश्वत्थबधकयोर्नाम पिप्पलकरिमालकयोः काष्ठयोः "इन्द्रो मन्थतु" इति ऋचा अग्निं मन्थति । धूमं दृष्ट्वा अग्निपदरहितेनार्धर्चेन अनुमन्त्रयते । "अग्निं परादृश्य" [२] इत्यादिनार्धर्चेन धूमपदरहितेन अग्निम् अनुमन्त्रयते । तादृशेग्नौ सेनाकर्माणि स्युः । तान्येवम् ।

"इन्द्रो मन्थतु" इति सूक्तेन प्रत्यृचम् अश्वत्थसमिध आदधाति । शत्रुक्षयो भवति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं करिमालकसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचम् एरण्डसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं पलाशसमिध आदधाति । तिर्णिसमिध इति केशवः ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं खदिरसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं शरसमिध आदधाति ॥ शत्रभयं न भवति । कर्मविकल्पः ॥ सपत्नक्षयणी समाप्ता ॥

तथा अभ्यातानान्तं कृत्वा अनेन सूक्तेन भाङ्गपाशान् संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति । सर्वत्र क्रुद्धेनाभिमन्त्रणं पाशादिषु । तत उत्तरतन्त्रम् ॥

तथा तन्त्रं कृत्वा अनेन सूक्तेन मौञ्जान् पाशान् संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति । तन्त्रं च ॥

तथा अनेन सूक्तेन बाधकदण्डानि आश्वत्थानि कूटानि संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति ॥

तथा अनेन सूक्तेन बाधकदण्डानि भाङ्गानि जालानि संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति ॥ समाप्तानि जयकर्माणि ॥

उक्तेषु सर्वकर्मसु अङ्गभूतानि वक्ष्यमाणानि त्रीणि कर्माणि भवन्ति । "स्वाहैभ्यः" [२४] इति पदद्वयेन स्वमित्रबलवृद्ध्यर्थम् आज्यं जुहोति दक्षिणहस्तेन बाधककाष्ठप्रज्वालितेग्नौ । "दुराह्यामीभ्यः" [२४] इति पदद्वयेन परबलविनाशार्थं सव्येन हस्तेन इङ्गिडं जुहोत्युक्ताग्नौ । कर्माग्नेरुत्तरस्मिन् देशे रक्तपिप्पलशाखां भूम्युदरे ऊर्ध्वां कृत्वा नीललोहितवर्णाभ्यां सूत्राभ्यां सर्वां वेष्टयित्वा "नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि" [२४] इत्यनेन दक्षिणा दूरे प्रकर्षेण त्याजयति ॥

सेनाकर्माणि अरण्ये कार्याणि न ग्रामे । युद्धप्रदेशे वा यथाप्रसङ्गम् तद्ध उक्तं कौशिकेन । "इन्द्रो मन्थत्विति पूतिरज्जुरिति पूतिरज्जुम् अवधायाश्वत्थबधकयोरग्निं मन्थति । धूमम् इति धूमम् अनुमन्त्रयते । अग्निम् इत्यग्निम् । तस्मिन्नरण्ये सपत्नक्षयणीरादधाति अश्वत्थबधकताजद्भङ्गाह्वखदिरशराणाम् । उक्ताः पाशाः । आश्वत्थानि कूटानि भाङ्गानि जालानि बाधकदण्डानि । स्वाहैभ्य इति

मित्रेभ्यो जुहोति दुराहामीभ्य इति सव्येनेङ्गिडम् अमित्रेभ्यो बाधके। उत्तरतोऽग्नेर्लोहिताश्वत्थस्य शाखां निहत्य नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां परितत्य नीललोहितेनामून् इति दक्षिणा प्रहापयति" इति [कौ० २. ७]॥ ताजद्भङ्ग एरण्डः। कूटं निषादानां प्राणिबन्धनम् ॥ आह्वः पलाश इति दारिलः। तिर्णिरिति केशवः। वृक्षविशेषपर्यायार्थे आह्वपदं सूत्रेऽपपाठो न चेत् प्राक्तनेन प्रमादेन भवितव्यम्। परुष इत्येव नाम्ना भवितव्यम् सूक्ते परुषाह्वपददर्शनात्। परुषाह्वः परुष इति आह्वा यस्य स इति विग्रहः॥

"इन्द्रो मन्थतु" इस अर्थसूक्तका शत्रुक्षय, शत्रुभयनाश शत्रुजय और अपने बलको बढ़ानेमें विनियोग किया जाता है। ये कर्म सेनाकर्म कहलाते हैं। इनमें सेनाग्निसिद्धिके लिये "पूतिरज्जुः" इस दूसरी आधी ऋचासे अग्निपातदेशमें जीर्ण रज्जुको रख कर पीपल और करिमालक काष्ठोंमें "इन्द्रो मन्थतु" ऋचासे अग्निको मथे। धूमको देखकर अग्निपदरहित शेष आधी ऋचासे अनुमन्त्रण करे। "अग्निं परादृश्य" (२) इस धूमपदरहित अर्धर्चसे अग्निका अनुमन्त्रण करे। और ऐसे अग्निमें सेनाकर्म करे। वे कर्म ये हैं।

"इन्द्रो मन्थतु" इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर अश्वत्थकी समिधाओंको रक्खे। ऐसा करनेसे शत्रुका क्षय होता है।

तथा इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर करिमालककी समिधाओं को रक्खे।

तथा इस सूक्तकी प्रत्येक ऋचासे अण्डकी समिधाओंको रक्खे। तथा इस सूक्तकी प्रत्येक ऋचासे पलाशकी समिधाओंको रक्खे। केशवका मत है, कि–तिर्णिसमिधाओंको रक्खे।

तथा इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर सैंटोंकी समिधाओंको

रक्खे तो शत्रुका भय नहीं होता यहाँ कर्मका विकल्प है । यह शत्रुक्षयिणी विधि पूर्ण हुई ।

तथा अभ्यातान तक करके इस सूक्तसे भंगके पाशोंको संपातित करके और अभिमन्त्रित सेनाके चलनेके मार्गमें डाल देय। पाश आदि सबका क्रोधमें भरकर अनुमन्त्रण करे । इसके बाद उत्तर तन्त्र होता है ।

इसी प्रकार तन्त्रको करके इस सूक्तसे मूँजके पाशोंको संपातित और अभिमन्त्रित करके सेनाके पादसञ्चारस्थलमें बखेर देय । तन्त्र भी करे ।

तथा इस सूक्तसे बाधक दण्डोंको, पीपलके काष्ठको और निषादोंके प्राणिबंधनको संपातित और अभिमन्त्रित करके सेनाके सञ्चारस्थलमें बखेर देय । ये जय कर्म समाप्त होगए ।

पूर्वोक्त सब कर्मोंमें अङ्ग भूत तीन कर्म होते हैं । वे तीन कर्म ये हैं, कि–"स्वाहैभ्यः" (२४) इन दो पदोंसे अपने मित्रके बलकी वृद्धि करनेके लिये बाधक–काष्ठसे प्रज्वालित अग्निमें दाहिने हाथसे घृतकी आहुति देय । "दुराहामीभ्यः" (२४) इन दो पदोंसे शत्रुके बलका विनाश करनेके लिये पूर्वोक्त अग्निमें वायें हाथसे इंगिड़की आहुति देय। कर्माग्निमें उत्तर देशमें लाल पीपलकी शाखाको भूमिरूप उदरमें ऊपरको करके लाल और नीले डोरोंसे सारी शाखाको लपेटे । फिर "नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि" (२४) से दक्षिण दिशामें दूर फिकवा देय ।

सेनाकर्मोंको जङ्गलमें करावे, ग्राममें न करावे । वा प्रसङ्गानुसार युद्धप्रदेशमें करावे ॥

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–"इन्द्रो मन्थत्विति पूतिरज्जुरिति पूतिरज्जुं अवधायाश्वत्थबधकयोरग्निं मन्थति । धूमं इति धूमं अनुमन्त्रयते अग्निं इत्यग्निम् । तस्मिन्नरण्ये सपत्नक्ष-

यणी रादधाति अश्वत्थबधक ताजद्भङ्गाहूखरिर शराणाम् । उल्काः पाशाः । आश्वत्थानि कूटानि भांगानि जालानि बाधकदण्डानि । स्वाहैभ्य इति मित्रेभ्यो जुहोति । दुराहामीभ्य इति सव्येनेङ्गिडम् अमित्रेभ्यो बाधके । उत्तरतोऽग्नेर्लोहिताश्वत्थस्य शाखां निहत्य नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां परितत्य नीललोहितेनामून् इति दक्षिणा प्रह्वावयति” (कौशिकसूत्र २ । ७) ॥ सूत्रके ताजद्भंगका अर्थ एरण्ड है । कूटका अर्थ निषादोंका प्राणिबंधन है । दारिलका मत है, कि–आढ पलाशको कहते हैं । और केशवका मत है, कि–तिर्णिको कहते हैं ॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

इन्द्रः । मन्थतु । मन्थिता । शक्रः । शूरः । पुरम्ऽदरः ।
यथा । हनाम । सेनाः । अमित्राणाम् । सहस्रऽशः ॥ १ ॥

पुरन्दर इन्द्रदेव शूर और समर्थ हैं तथा शत्रुओंकी सेनाओंको मथने वाले हैं (वह इन्द्रदेव हममें अधिष्ठित होकर) अग्निको मथें, जिससे, कि–हम शत्रुओंकी सेनाओंको अनेक प्रकारसे मार सकें ॥ १ ॥

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥२॥

पूतिऽरज्जुः । उपऽध्मानीः । पूतिम् । सेनाम् । कृणोतु । अमूम् ।
धूमम् । अग्निम् । पराऽदृश्य । अमित्राः । हृत्ऽसु । आ । दधताम् । भयम् ॥ २ ॥

अग्नि संयोग वाली पूतिरज्जु जीर्णरस्सी) इस सेनाको जीर्ण करे । धूमको और अग्निको देखकर शत्रु हृदयमें डरने लगें ।२।

अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून् खदिराजिरम् ।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः ।३।

अमून् । अश्वत्थ । निः । शृणीहि । खाद । अमून् । खदिर । अजिरम् ।

ताजद्भङ्गःऽइव । भज्यन्ताम् । हन्तु । एनान् । वधकः । वधैः ।३।

हे अश्वत्थ ! तू इन शत्रुओंको मारडाल और हे खदिर ! तू इन शत्रुओंमेंसे प्रत्येक गमनशील शत्रुको खाजा । ये ताजद्भंग (एरण्ड) की समान टूट जावें और बधक काष्ठ इनको प्रहारों से मार डाले ॥ ३ ॥

परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः ।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥४॥

परुषान् । अमून् । परुषऽआह्वः । कृणोतु । हन्तु । एनान् । वधकः । वधैः ।

क्षिप्रम् । शरःऽइव । भज्यन्ताम् । बृहत्ऽजालेन । सम्ऽदिताः ४

परुष नामक वस्तु इनको परुष-प्राणहीन होनेसे अकड़े हुए कठोर–करे और वधक काष्ठ हिंसाके उपायोंसे इनको मारडाले । और जैसे बड़े भारी जालसे तोड़े हुए शर टूट जाते हैं तिसी प्रकार शत्रु टूट जावें ॥ ४ ॥

अ॒न्तरि॑क्षं जा॒ल॑मासीज्जालद॒ण्डा दिशो॑ म॒हीः ।
तेना॑भि॒धाय॒ दस्यू॑नां श॒क्रः सेना॑मपा॑वपत् ॥ ५ ॥

अ॒न्तरि॑क्षम् । जा॒ल॑म् । आ॒सी॒त् । जा॒ल॒ऽद॒ण्डाः । दिशः॑ । म॒हीः ।
ते॑न । अ॒भि॒ऽधाय॑ । दस्यू॑नाम् । श॒क्रः । सेना॑म् । अप॑ । अ॒व॒प॒त् ।

अन्तरिक्ष जाल हुआ था और महनीय दिशाएँ जालकी दण्डरूप हुई थी उससे दस्युओंकी सेनाको धारण करके इन्द्रने उनका खण्डन कर डाला था ॥ ५ ॥

बृ॒हद्धि जा॒लं बृ॑ह॒तः श॒क्रस्य॑ वा॒जिनी॑वतः ।
तेन॒ शत्रू॑न॒भि सर्वा॒न् न्यु॑ब्ज॒ यथा॒ न मुच्या॑तै कत॒मश्च॒नैषा॑म् ॥ ६ ॥

बृ॒हत् । हि । जा॒ल॑म् । बृ॒ह॒तः । श॒क्रस्य॑ । वा॒जिनी॑ऽवतः ।
ते॑न । शत्रू॑न् । अ॒भि । सर्वा॑न् । नि । उ॒ब्ज॒ । यथा॑ । न । मु॒च्या॑तै ।
क॒त॒मः । च॒न । ए॒षा॒म् ॥ ६ ॥

हविर्युक्त यज्ञक्रिया वाले महान् इन्द्रदेवका (शत्रुओंको पकड़नेका) जाल विशाल है, हे इन्द्र ! उससे आप शत्रुओंको औंधे मुख करके गिराइये जिससे इन शत्रुओंमेंसे कोई न छूट सके ॥ ६ ॥

बृ॒हत् ते॒ जा॒लं बृ॑ह॒त इन्द्र शूर सहस्रा॒र्घस्य॑ श॒तवी॑र्यस्य ।
तेन॑ श॒तं स॒हस्र॑म॒युतं॒ न्य॑र्बु॒दं ज॒घान॑ श॒क्रो दस्यू॑ना॒मभि॒धाय॒ सेन॑या ॥ ७ ॥

बृहत् । ते । जालम् । बृहतः । इन्द्र । शूर । सहस्रऽअर्घस्य ।
शतऽवीर्यस्य ।
तेन । शतम् । सहस्रम् । अयुतम् । निऽअर्बुदम् । जघान । शक्रः ।
दस्यूनाम् । अभिऽधाय । सेनया ॥ ७ ॥

हे शूर इन्द्र ! यज्ञोंमें सहस्रों अर्थ पाने वाले, सैंकड़ों पराक्रम करने वाले आपका जाल (वैरियोंको फँसानेकी शक्ति) विशाल है । इन्द्रदेवने सेनाके द्वारा उसी जालसे वैरियोंको पकड़ कर सैंकड़ों हजारों लाखों और अर्बुदों दस्युओंको मार डाला था ७

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥८॥

अयम् । लोकः । जालम् । आसीत् । शक्रस्य । महतः । महान् ।
तेन । अयम् । इन्द्रऽजालेन । अमून् । तमसा । अभि । दधामि ।
सर्वान् ॥ ८ ॥

महिमामय इन्द्रदेवका यह महान् लोक ही विशाल जाल है मैं उस इन्द्रजालसे इन सब वैरियोंको अंधकारसे आच्छादित करता हूँ ८

सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना ।
श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥९॥

सेदिः । उग्रा । विऽऋद्धिः । आर्तिः । च । अनपऽवाचना ।
श्रमः । तन्द्रीः । च । मोहः । च । तैः । अमूम् । अभि । दधामि
सर्वान् ॥ ९ ॥

निर्ऋति राक्षसी, भयंकर व्यृद्धि, आर्ति, अनपवाचना-अवश्य होने वाली निन्दा, श्रम तन्द्रा तथा मोह इनसे मैं उन शत्रुओंको नष्ट करता हूँ ॥ ९ ॥

मृत्यवेमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि बद्ध्वा

मृत्यवे । अमून् । प्र । यच्छामि । मृत्युऽपाशैः । अमी इति । सिताः ।
मृत्योः । ये । अघलाः । दूताः । तेभ्यः । एनान् । प्रति । नयामि ।
बद्ध्वा ॥ १० ॥

मैं इन शत्रुओंको मृत्युके अर्पण करता हूँ, ये मृत्युके पाशसे बँध गये हैं, दुःख देने वाले मृत्युके जो दूत हैं उनकी ओर मैं इन शत्रुओंको (मन्त्रशक्तिसे) बाँध कर लिये जाता हूँ १० (२०)

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।
परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मर्त्यं भवस्य ११

नयत । अमून् । मृत्युऽदूताः । यमऽदूताः । अप । उम्भत ।
परःऽसहस्राः । हन्यन्ताम् । तृणेढु । एनान् । मर्त्यम् । भवस्य ११

हे मृत्युदूतों ! तुम इनको लेजाओ और हे यमदूतों ! (इनसे तुम नरकको) पूर्ण करो, फिर इनके सहस्रों (सैनिकों) को मार डालो । और महादेवका मननीय संहार इनको मार डाले ११

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा ।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥

साध्याः । एकम् । जालऽदण्डम् । उत्ऽयत्य । यन्ति । ओजसा ।
रुद्राः । एकम् । वसवः । एकम् । आदित्यैः । एकः । उत्ऽयतः

साध्यदेवता एक जालदण्डको उद्यत कर बलपूर्वक शत्रुओं पर जा रहे हैं । तथा रुद्र–देवता एक जालदण्डको, वसुदेवता एक जालदण्डको उठा रहे हैं और आदित्योंने एक जालदण्ड को उठा लिया है ॥ १२ ॥

विश्वे देवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा ।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥

विश्वे । देवाः । उपरिष्टात् । उब्जन्तः । यन्तु । ओजसा ।
मध्येन । घ्नन्तः । यन्तु । सेनाम् । अङ्गिरसः । महीम् ॥ १३ ॥

अतः अब विश्वेदेवता भी ऊपरसे ही बलपूर्वक मारते हुए चलें और रुद्रदेवता मध्यमें सेनाको मारकर पृथ्वी पर डाल दें १३

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥१४॥

वनस्पतीन् । वानस्पत्यान् । ओषधीः । उत । वीरुधः ।
द्विऽपात् । चतुःऽपात् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूम् । हनन् ।

मैं वनस्पतियोंको और वनस्पतिसे बनने वाली औषधियोंको तथा लताओंको तथा दो पैर और चार पैरों वाले (जीवों)को (मन्त्रशक्तिसे) अनवरत प्रेरित करता हूँ, जिससे ये इस सेना को मार डालें ॥ १४ ॥

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥

गन्धर्वऽअप्सरसः । सर्पान् । देवान् । पुण्यऽजनान् । पितॄन् ।
दृष्टान् । अदृष्टान् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूम् । हनन् १५

मैं गन्धर्व अप्सरा सर्प देवता राक्षस और देखे हुए तथा न देखे हुए पितरोंको (मन्त्रशक्तिसे) इस प्रकार प्रेरित करता हूँ, कि-जिस प्रकार वे इस सेनाको नष्ट कर डालें ॥ १५ ॥

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥

इमे । उप्ताः । मृत्युऽपाशाः । यान् । आऽक्रम्य । न । मुच्यसे ।
अमुष्याः । हन्तु । सेनायाः । इदम् । कूटम् । सहस्रऽशः ॥१६॥

हे शत्रो ! जिनको लाँघने पर तू बच न सके ऐसे ये सहस्रों मृत्युपाश लगा दिये हैं, यह कूट इस शत्रुसेनाको सहस्रों प्रकार से मारे ॥ १६ ॥

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

घर्मः । सम्ऽइद्धः । अग्निना । अयम् । होमः । सहस्रऽहः ।
भवः । च । पृश्निऽबाहुः । च । शर्व । सेनाम् । अमूम् । हतम् १७

घर्म नामक हवि अग्निसे भली प्रकार तप रहा है, यह होम

सहस्रों शत्रुओंको मारनेकी शक्ति रखता है । श्वेत भुजा वाले भव और शर्व देवताओं आप इस सेनाको मार डालिये ॥१७॥

मृ॒त्योरा॒षमा प॑द्यन्तां॒ क्षुधं॑ से॒दिं व॒धं भ॒यम् ।
इन्द्र॑श्चाक्षुजा॒लाभ्यां॒ शर्व॒ सेना॑म॒मूं ह॑तम् ॥ १८ ॥

मृ॒त्योः । आष॑म् । आ । प॒द्य॒न्ता॒म् । क्षुध॑म् । से॒दिम् । व॒धम् । भ॒यम् ।
इन्द्रः॑ । च॒ । अ॒क्षु॒ऽजा॒ला॑भ्याम् । शर्व॑ । सेना॑म् । अ॒मूम् । ह॒त॒म् १८

ये शत्रु मृत्युके (आष-आस्य) मुखको प्राप्त होवें, क्षुधाको, अवसाद करने वाली अलक्ष्मी सेदिको, वध और भयको प्राप्त होवें । इन्द्र देवता और हे शर्वदेवता ! आप भी इस सेनाको मार डालिये ॥ १८ ॥

परा॑जि॒ताः प्र त्र॑सतामित्रा नु॒त्ता धाव॑त॒ ब्रह्म॑णा ।
बृ॒हस्पति॑प्रणुत्ता॒नां मामीषां॑ मोचि॒ कश्च॒न ॥ १९ ॥

परा॑ऽजिताः । प्र । त्र॒स॒त॒ । अ॒मि॒त्राः॒ । नु॒त्ताः । धा॒व॒त॒ । ब्रह्मणा ।
बृ॒हस्प॑तिऽप्रनुत्ता॑नाम् । मा । अ॒मीषा॑म् । मो॒चि॒ । कः । च॒न १९

हे शत्रुओं ! तुम मन्त्रशक्तिसे पराजित होजाओ, त्रस होओ और इस मन्त्रशक्तिके खदेड़ने पर भागने लगो । बड़े २ मन्त्रोंके अधिष्ठात्री देवता बृहस्पतिसे खदेड़े हुए इन शत्रुओंमेंसे कोई भी न छूटने पावे ॥ १९ ॥

अव॑ पद्यन्तामेषा॒मायु॑धानि॒ मा श॑कन् प्रति॒धामिषु॑म् ।
अथै॑षां ब॒हु बिभ्य॑ता॒मिष॑वो घ्नन्तु॒ मर्म॑णि ॥ २० ॥

अव । पद्यन्ताम् । एषाम् । आयुधानि । मा । शकन् । प्रतिऽधाम् ।
इषुम् ।
अथ । एषाम् । बहु । बिभ्यताम् । इषवः । घ्नन्तु । मर्मणि २०

इन शत्रुओंके आयुध नीचेको गिर पड़ें, ये बाणको फिर धनुष पर चढ़ानेको समर्थ न होसकें । फिर इन परम भयभीत होते हुओंके मर्मस्थलमें बाण चोट करें ॥ २० ॥

सं क्रोशतामेनान् द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ २१ ॥

सम् । क्रोशताम् । एनान् । द्यावापृथिवी इति । सम् । अन्तरिक्षम् ।
सह । देवताभिः ।
मा । ज्ञातारम् । मा । प्रतिऽस्थाम् । विदन्त । मिथः । विऽघ्नानाः ।
उप । यन्तु । मृत्युम् ॥ २१ ॥

द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष और देवता इनको शाप दें तब ये शत्रु प्रतिष्ठाको न पाते हुए और किसी अथर्ववेदके ज्ञाताको न पाते हुए परस्परमें ही विघ्न डालते हुए मृत्युको प्राप्त होजावें २१

दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः ।

द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोभीशवोन्तर्देशाः किंकरा
वाक् परिरथ्यम् ॥ २२ ॥

दिशः । चतस्रः । अश्वतर्यः । देवऽरथस्य । पुरोडाशाः । शफाः ।
अन्तरिक्षम् । उद्धिः ।
द्यावापृथिवी इति । पक्षसी इति । ऋतवः । अभीशवः । अन्तःऽदेशाः ।
किम्ऽकराः । वाक् । परिऽरथ्यम् ॥ २२ ॥

अग्निदेवरथकी चार दिशाएँ ही खिच्चरियें हैं, पुरोडाश ही सुम है, अन्तरिक्ष ही उद्धि–ऊपर रहनेका स्थान–है, द्यावापृथिवी पक्षसी हैं, ऋतुएँ लगामें हैं, अन्तर्देश ही किंकर हैं, और वाणी परिरथ्य है ॥ २२ ॥

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम्
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

सम्ऽवत्सरः । रथः । परिऽवत्सरः । रथऽउपस्थः । विऽराट् ।
ईषा । अग्निः । रथऽमुखम् ।
इन्द्रः । सव्यऽस्थाः । चन्द्रमाः । सारथिः ॥ २३ ॥

इन्द्र बाईं ओर बैठने वाले हैं, चन्द्रमा सारथि हैं सम्वत्सर रथ है, परिवत्सर रथकी बैठक है, विराट् ईषा है, अग्नि रथका मुख है ॥ २३ ॥

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा ।

इ॒मे ज॑यन्तु प॒रामी ज॑य॒न्तां स्वाहै॒भ्यो दु॒राहा॒मीभ्यः॑ ।
नी॒ल॒लो॒हि॒तेना॒मू॒नभ्यव॑तनोमि ॥ २४ ॥

इ॒तः । ज॒य॒ । इ॒तः । वि । ज॒य॒ । सम् । ज॒य॒ । जय॑ । स्वाहा॑ ।

इ॒मे॑ । ज॒य॒न्तु॒ । परा॑ । अ॒मी इति॑ । ज॒य॒न्ता॒म् । स्वाहा॑ । ए॒भ्यः॑ ।

दु॒राहा॑ । अ॒मीभ्यः॑ ।

नी॒ल॒ऽलो॒हि॒तेन॑ । अ॒मून् । अ॒भि॒ऽअ॒व॒तनोमि ॥ २४ ॥

चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

हे राजन् ! इधरसे जीत, इधरसे विशेषरूपसे जीत ! जीत जीत ! यह आहुति स्वाहुत हो । हमारे ये यजमान आदि जीतें, और ये शत्रु पराजित होजावें इन मित्रोंकी विजयके लिये यह आहुति स्वाहुत हो और इन शत्रुओंके लिये बुरी प्रकारसे आहुत हो मैं नीले और लाल डोरेसे इनको लपेटता हूँ ॥ २४ ॥ (२१)

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ॥ (४४६)

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

कुतस्ताविति सूक्ते विराडादिविषयः संवादो विचारश्च ॥

“कुतस्तौ” “विराड् वै” इति सूक्ताभ्यां जपं करोति स्वर्गकाम इति विनियोगमाला ॥

‘कुतस्तौ’ सूक्तमें विराट् आदिके विषयका सम्वाद और विचार है। विनियोगमालामें कहा है, कि—स्वर्गको चाहने वाला ‘कुतस्तौ’ “विराड् वै” सूक्तोंसे जप करे ॥

कु॒तस्तौ॒ जा॒तौ क॑त॒मः सो अर्ध॒ः कस्मा॑ल्लो॒कात्
क॑त॒मस्याः॑ पृथि॒व्याः ।

व॒त्सौ वि॒राज॑ः सलि॒लादुदै॑ता॒ं तौ त्वा॑ पृच्छामि
कत॒रे॑ण दु॒ग्धा ॥ १ ॥

कु॑तः । तौ । जा॒तौ । क॒त॒मः । सः । अर्ध॑ः । कस्मा॑त् । लो॒कात्
क॒त॒मस्या॑ः । पृ॒थि॒व्याः ।

व॒त्सौ । वि॒ऽराज॑ः । स॒लि॒लात् । उत् । ऐ॒ता॒म् । तौ । त्वा॒
पृ॒च्छा॒मि॒ । क॒त॒रेण॑ । दु॒ग्धा ॥ १ ॥

जो विराट्के वत्स हैं वे कहाँसे उत्पन्न हुए हैं, वह समृद्धि सम्पन्न किस लोक और किस पृथिवीसे प्रकट हुआ है। विरा के वत्स जलसे उदित हुए हैं, उनका ही विषय में आपसे बूझत हूँ आपने उनको किस मार्गसे समझा है (दुहा है) ॥ १ ॥

यो अक्र॑न्दयत् सलि॒लं म॑हि॒त्वा योनिं॑ कृ॒त्वा त्रि॒भुज॒ं
शया॑नः ।
व॒त्सः का॑म॒दुघो॑ वि॒राज॒ः स गुहा॑ चक्रे त॒न्व॑ः परा॒चैः

यः । अक्र॑न्दयत् । स॒लि॒लम् । म॒हि॒ऽत्वा । योनि॑म् । कृ॒त्वा
त्रि॒ऽभु॑जम् । शया॑नः ।

व॒त्सः । का॒म॒ऽदुघः । वि॒ऽराजः । सः । गुहा॑ । च॒क्रे॒ । त॒न्व॑ः
प॒रा॒चैः ॥ २ ॥

जिन्होंने त्रिभुजरूपसे जलमें शयन कर जलको कारण बना कर अपनी महिमासे जलको क्रन्दित कर दिया था, विराट्का

वत्स इच्छाको पूर्ण करने वाला है, उसने प्रत्यङ्मुख गमन करके शरीरकी गुहा बनाई है ॥ २ ॥

यानि॒ त्रीणि॑ बृ॒हन्ति॒ येषां॑ च॒तु॒र्थं वि॑यु॒नक्ति॒ वाचं॑म् ।
ब्र॒ह्मैनं॑द् वि॒द्यात् तपसा विप॒श्चिद् यस्मि॒न्नेकं॑ यु॒ज्यते॒
यस्मि॒न्नेकम् ॥ ३ ॥

यानि॑ । त्रीणि॑ । बृ॒हन्ति॑ । येषा॑म् । च॒तु॒र्थम् । वि॒यु॒ऽनक्ति॑ । वाच॑म् ।
ब्र॒ह्म । ए॒न॒त् । वि॒द्या॒त् । त॑पसा । वि॒पः॒ऽचित् । यस्मि॑न् । एक॑म् ।
यु॒ज्य॑ते । यस्मि॑न् । एक॑म् ॥ ३ ॥

जो तीन विशाल हैं-महिमामय हैं इनमेंसे (एक) चौथी वाणीको और जिसमें एकाकी होने पर ही पुरुष संगत होसकता है उसको ब्रह्म जाने ॥ ३ ॥

बृ॒ह॒तः परि॒ सामा॑नि ष॒ष्ठात् पञ्चाधि॒ निर्मि॑ता ।
बृ॒हद् बृ॒ह॒त्या निर्मि॑तं॒ कुतोऽधि॑ बृ॒ह॒ती मि॒ता ॥ ४ ॥

बृ॒ह॒तः । परि॑ । सामा॑नि । ष॒ष्ठात् । पञ्च॑ । अधि॑ । निःऽमि॑ता ।
बृ॒हत् । बृ॒ह॒त्याः । निःऽमि॑तम् । कुत॑ः । अधि॑ । बृ॒ह॒ती । मि॒ता ४

बृहत्‌से श्रेष्ठ पाँच साम निर्मित हैं उनसे षष्ठात् निर्मित है, और बृहती-महती द्यावःपृथिवीने बृहत्‌को निर्मित किया है तो बृहती कहाँसे मित हैं ॥ ४ ॥

बृ॒ह॒ती परि॒ मात्रा॑या मा॒तुर्मात्राधि॒ निर्मि॑ता ।
मा॒या ह॑ जज्ञे मा॒याया॑ मा॒याया॒ मात॒ली परि॑ ॥५॥

बृहती । परि । मात्रायाः । मातुः । मात्रा । अधि । निःऽमिता ।
माया । ह । जज्ञे । मायायाः । मायायाः । मातली । परि ॥ ५ ॥

बृहतीकी मात्रासे माताकी मात्रा अधिनिर्मित है, माया (माता) से माया उत्पन्न हुई मातलि मायासे उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे
अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि
षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥

वैश्वानरस्य । प्रतिऽमा । उपरि । द्यौः । यावत् । रोदसी इति
विऽबबाधे । अग्निः ।
ततः । षष्ठात् । आ । अमुतः । यन्ति । स्तोमाः । उत् । इतः ।
यन्ति । अभि । षष्ठम् । अह्नः ॥ ६ ॥

जहाँ तक द्यावापृथिवी हैं तहाँ तक अग्नि बाधा देसकते हैं । वैश्वानर अग्निदेवकी प्रतिमा पर ही द्यौ प्रतिष्ठित है अर्थात् अग्निसाध्य याग आदि करने पर ही स्वर्गकी प्राप्ति होती है । और दिनके छटे भागमें स्तोम यहाँसे षष्ठात्को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे
योग्यं च ।
विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा
सखिभ्यः ॥ ७ ॥

षट् । त्वा । पृच्छाम । ऋषयः । कश्यप । इमे । त्वम् । हि ।
युक्तम् । युयुक्षे । योग्यम् । च ।
विऽराजम् । आहुः । ब्रह्मणः । पितरम् । ताम् । नः । वि ।
धेहि । यतिऽधा । सखिऽभ्यः ॥ ७ ॥

हे कश्यप ! आप युक्त और योग्यका उचितरीतिसे योग करना जानते हैं अतः हम छः ऋषि आपसे बूझते हैं, कि–विराट्को ब्रह्माका पिता कहते हैं अतः हम मित्रोंके अर्थ आप उस विराट्का यतियोंकी रीति पर उपदेश दीजिये ॥ ७ ॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम् ।
यस्यां व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥ ८ ॥

याम् । प्रऽच्युताम् । अनु । यज्ञाः । प्रऽच्यवन्ते । उपऽतिष्ठन्ते ।
उपऽतिष्ठमानाम् ।
यस्याः । व्रते । प्रऽसवे । यक्षम् । एजति । सा । विऽराट् ।
ऋषयः । परमे । विऽओमन् । ॥ ८ ॥

जिस विराट्के प्रच्युत होने पर यज्ञ प्रच्यावित होने लगते हैं। और उपतिष्ठित होने पर उपतिष्ठित होते हैं अर्थात् जब पुरुष विराट्की भक्ति करना छोड़ देते हैं तब यज्ञोंका भी करना छोड़ देते हैं और जब विराट्का उपस्थान करते हैं तब यज्ञोंको भी

करते हैं। कर्ममें जिसका (स्तुतिरूपसे) प्रसव होने पर पूज्यभाव होने लगता है हे ऋषियों ! वह विराट् परमाकाशमें है ।८।

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात् ।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥ ९ ॥

अप्राणा । एति । प्राणेन । प्राणतीनाम् । विऽराट् । स्वऽराजम् । अभि । एति । पश्चात् ।
विश्वम् । मृशन्तीम् । अभिऽरूपाम् । विऽराजम् । पश्यन्ति । त्वे इति । न । त्वे इति । पश्यन्ति । एनाम् ॥ ९ ॥

हे ऋषियों ! अप्राणाविराट् प्राणन करने वाली प्रजाओंके प्राणरूपमें आता है, फिर विराट् स्वराट्को प्राप्त होजाता है। सबका स्पर्श करते हुए विराट्को पुरुष तुझमें ही देख सकते हैं (और मायासे मोहित हों तो) तुझमें नहीं देख सकते ॥ ८ ॥

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याः ।
क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥ १० ॥

कः । विऽराजः । मिथुनऽत्वम् । प्र । वेद । कः । ऋतून् । कः । ऊं इति । कल्पम् । अस्याः ।

क्रमान् । कः । अस्याः । कतिऽधा । विऽदुग्धान् । कः । अस्याः ।

धाम । कतिऽधा । विऽउष्टीः ॥ १० ॥

प्रजापति ही विराट्के मिथुनत्व ऋतु और कल्पोंको जानते हैं, वही इसके क्रमोंको विदुग्धोंको धामोंको और तमोविवासनको जानते हैं ॥ १० ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा

महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ११ ॥

इयम् । एव । सा । या । प्रथमा । विऽऔच्छत् । आसु । इतरासु । चरति । प्रऽविष्टा ।

महान्तः । अस्याम् । महिमानः । अन्तः । वधूः । जिगाय । नवऽगत् । जनित्री ॥ ११ ॥

यह विराट् उषारूपमें प्रथम उत्पन्न होता है, (इस प्रकार इसका परम महत्व सूचित होता है) यह उषारूपमें सृष्टिकी आदि में उत्पन्न होकर अंधकारको दूर कर चुका है । यह विराडात्मक उषा दीखती हुई दूसरी उषाओंमें प्रविष्ट होकर उदित होती है, ऐसी विराडात्मक उषामें बड़े २ माहात्म्य हैं, सूर्य सोम अग्नि आदि बड़े २ देवता इस विराट्में रहते हैं तात्पर्य यह है, कि— सूर्य आदि इसके अधीन होकर ही प्रकाश करते हैं । यह विराडात्मक उषा सूर्यकी वधू है और यह दिनके नौ भागोंमें जाने वाली नवगत् उषा प्राणियोंको प्रकाशका दान देकर उनको उत्पन्न करती हुई सर्वोत्कृष्ट भावसे वर्तमान रहती है ॥ ११ ॥

छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते ।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानतीः केतुमती अजरे भूरिरेतसा

छन्दःपक्षे इति छन्दःऽपक्षे । उषसा । पेपिशाने इति । समानम् ।
योनिम् । अनु । सम् । चरेते इति ।
सूर्यपत्नी इति सूर्यऽपत्नी । सम् । चरतः । प्रजानती इति प्रऽजानती । केतुमती इति केतुऽमती । अजरे इति । भूरिऽरेतसा

अजर छन्दपक्ष उषःस्वरूप विराट्से रूपके स्पष्ट होने पर एक से ही कारणका अनुसरण करते हैं । सूर्यपत्नी ज्ञानवती उषा अपने प्रकाशरूप बड़े भारी वीर्यसे उनको जानती है ॥ १२ ॥

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्

ऋतस्य । पन्थाम् । अनु । तिस्रः । आ । अगुः । त्रयः । घर्माः ।
अनु । रेतः । आ । अगुः ।
प्रऽजाम् । एका । जिन्वति । ऊर्जम् । एका । राष्ट्रम् । एका ।
रक्षति । देवऽयूनाम् ॥ १३ ॥

सत्यके मार्गमें अग्नि सूर्य और चन्द्रमा ये तीन जाते हैं ये तीनों अपने तेजरूप वीर्यके साथ जाते हैं । इनमेंसे एककी शक्ति ऋत्विजोंकी तृप्ति करती है एक बलकी पुष्टि करती है और एक ऋत्विजोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः
कल्पयन्तः ।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय
स्वराभरन्तीम् ॥ १४ ॥

अग्नीषोमौ । अदधुः । या । तुरीया । आसीत् । यज्ञस्य । पक्षौ ।
ऋषयः । कल्पयन्तः ।
गायत्रीम् । त्रिऽस्तुभम् । जगतीम् । अनुऽस्तुभम् । बृहत्ऽअर्कीम् ।
यजमानाय । स्वः । आऽभरन्तीम् ॥ १४ ॥

जो चौथी शक्ति है उसको अग्नि और सोम और ऋषियोंने धारण कर लिया, फिर ऋषियोंने गायत्री त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप्, और यजमानको स्वर्ग देने वाली अर्की और बृहत् इस प्रकार यज्ञके पक्षोंकी कल्पना की ॥ १४ ॥

पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोनु पञ्च ।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि
लोकमेकम् ॥ १५ ॥

पञ्च । विऽउष्टीः । अनु । पञ्च । दोहाः । गाम् । पञ्चऽनाम्नीम् ।
ऋतवः । अनु । पञ्च ।
पञ्च । दिशः । पञ्चऽदशेन । क्लृप्ताः । ताः । एकऽमूर्ध्नीः ।
अभि । लोकम् । एकम् ॥ १५ ॥

पाँच तमोविवासिनी शक्तियोंके अनुकूल पाँच दोह हैं, पञ्चनाम्नी गौके अनुकूल पाँच ऋतुएँ हैं। पाँच दिशाएँ पञ्चदशसे समर्थ होकर किसी एक योगीके निमित्त एकरूप होजाती हैं १५

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः
षडुर्वीः ॥ १६ ॥

षट्। जाता। भूता। प्रथमऽजा। ऋतस्य। षट्। ऊ इति।
सामानि। षट्ऽअहम्। वहन्ति।
षट्ऽयोगम्। सीरम्। अनु। सामऽसाम। षट्। आहुः। द्यावापृथिवीः। षट्। उर्वीः॥ १६॥

ऋतसे पहिले छः प्राणी उत्पन्न हुए, छः साम दिनके छः भागोंका वहन करते हैं, षड्योग सीरके पीछे सामसाम हैं, द्यावापृथिवीके और उर्वियोंकेछः भेदोंका वर्णन विद्वान् पुरुष करते हैं १६

षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोतिरिक्तः।
सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त
दीक्षाः ॥ १७ ॥

षट्। आहुः। शीतान्। षट्। ऊ इति। मासाः। उष्णान्।
ऋतुम्। नः। ब्रूत। यतमः। अतिऽरिक्तः।

सप्त । सुऽपर्णाः । कवयः । नि । सेदुः । सप्त । छन्दांसि । अनु ।
सप्त । दीक्षाः ॥ १७ ॥

छः मासोंको शीतके मास कहते हैं और छः को उष्ण ऋतु कहते हैं, इनके अतिरिक्त और जो है उसका हमसे वर्णन करिये । विद्वान् पुरुष जानते हैं, कि—सात सुपर्ण हैं, सात छन्द हैं और सात दीक्षायें हैं ॥ १७ ॥

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त ।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा-
वयम् ॥ १८ ॥

सप्त । होमाः । सम्ऽइधः । ह । सप्त । मधूनि । सप्त । ऋतवः ।
ह । सप्त ।

सप्त । आज्यानि । परि । भूतम् । आयन् । ताः । सप्तऽगृध्राः ।
इति । शुश्रुम । वयम् ॥ १८ ॥

सात होम हैं, सात मधु हैं, सात समिधायें हैं और सात ऋतुएँ हैं, सात प्रकारके घृत पुरुषको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार सात ‡ गृध्र वस्तुओंको हमने सुना है ॥ १८ ॥

सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पि-
तानि ।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथ-
मार्पितानि ॥ १९ ॥

सप्त । छन्दांसि । चतुःऽउत्तराणि । अन्यः । अन्यस्मिन् । अधि ।
आर्पितानि ।
कथम् । स्तोमाः । प्रति । तिष्ठन्ति । तेषु । तानि । स्तोमेषु ।
कथम् । आर्पितानि ॥ १९ ॥

सात छन्द हैं, चार उत्तर हैं, एक दूसरेमें अर्पित हैं, स्तोम उनमें किस प्रकार प्रतिष्ठित होते हैं और वे स्तोमोंमें किस प्रकार अर्पित हैं ॥ १९ ॥

कथं गायत्री त्रिवृतं व्याप कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन कल्पते ।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप् कथमेकविंशः २०

कथम् । गायत्री । त्रिऽवृतम् । वि । आप । कथम् । त्रिऽस्तुप् ।
पञ्चऽदशेन । कल्पते ।
त्रयःऽत्रिंशेन । जगती । कथम् । अनुऽस्तुप् । कथम् । एकऽविंशः २०

गायत्री त्रिवृत्से किस प्रकार व्याप्त है, और त्रिष्टुप् पञ्चदश से किस प्रकार समर्थ होता है, त्रयस्त्रिंशसे जगती, अनुष्टुप् और एकविंश किस प्रकार समर्थ होता है ॥ २० ॥

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति २१

अष्ट । जाता । भूता । प्रथमऽजा । ऋतस्य । अष्ट । इन्द्र ।
ऋत्विजः । दैव्याः । ये ।

अष्टऽयोनिः । अदितिः । अष्टऽपुत्रा । अष्टमीम् । रात्रिम् ।
अभि । हव्यम् । एति ॥ २१ ॥

हे इन्द्र ! ऋतके आठ मुख्य भूत हुए, वे दिव्य आठ ऋत्विज् हैं । आठ (दिक्पाल रूप) पुत्र वाली अत एव आठकी कारण अष्टमीकी रात्रिके दिन हव्यको स्वीकार करती है ॥ २१ ॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा ।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् ॥ २२ ॥

इत्थम् । श्रेयः । मन्यमाना । इदम् । आ । अगमम् । युष्माकम् ।
सख्ये । अहम् । अस्मि । शेवा ।
समानऽजन्मा । क्रतुः । अस्ति । वः । शिवः । सः । वः । सर्वाः ।
सम् । चरति । प्रऽजानन् ॥ २२ ॥

इस प्रकार इस शास्त्ररूप कल्याणको मानता हुआ तुम्हारी मित्रतामें तुम्हारी समान जन्म वाला मैं सुखी हूँ । क्रतु ही तुम्हारा कल्याण करने वाला है वह तुम सबको जानता हुआ विचरण करता रहता है ॥ २२ ॥

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ।
अपो मनुष्या३ नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥२३॥

अष्ट । इन्द्रस्य । षट् । यमस्य । ऋषीणाम् । सप्त । सप्तऽधा ।

अपः । मनुष्यान् । ओषधीः । तान् । ऊं इति । पञ्च । अनु । सेचिरे ॥ २३ ॥

इन्द्रकी आठ, यमकी छः और ऋषियोंकी सतत्तर औषधियें हैं । उनको और मनुष्योंको पाँच प्रकारके जल सिञ्चन करते हैं २३

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥ २४ ॥

केवली । इन्द्राय । दुदुहे । हि । गृष्टिः । वशम् । पीयूषम् । प्रथमम् । दुहाना ।

अथ । अतर्पयत् । चतुरः । चतुःऽधा । देवान् । मनुष्यान् । असुरान् । उत । ऋषीन् ॥ २४ ॥

पहिले दुहाती हुई असाधारण प्रथमप्रसूता गौने कान्तिमय दुग्ध इन्द्रके निमित्त दूध दुहा फिर देवता मनुष्य असुर और ऋषि इन चारोंको चार प्रकारसे तृप्त किया ॥ २४ ॥

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥

कः । नु । गौः । कः । एकऽऋषिः । किम् । ऊं इति । धाम । काः । आऽशिषः ।

यक्षम् । पृथिव्याम् । एकऽवृत् । एकऽऋतुः । कतमः । नु । सः ।

वह कौनसी गौ है, वह एक ऋषि कौन है, धाम क्या है और आशीर्वादात्मक वचन क्या है, पृथिवीमें एकवृत् ही पूज्य है, वह (मुख्य) एकर्तु कौनसी है ॥ २५ ॥

एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६ ॥

एकः । गौः । एकः । एकऽऋषिः । एकम् । धाम । एकऽधा । आऽशिषः ।

यक्षम् । पृथिव्याम् । एकऽवृत् । एकऽऋतुः । न । अति । रिच्यते ॥

इति पञ्चमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

वह एक ही गौ है, एक-मुख्य ऋषि भी एक हैं, एक ही स्थान है और एक ही प्रकारकी आशीष हैं । पृथिवीमें एक वृत् ही पूज्य है और एकर्तु बढ़ती नहीं है ॥ २६ ॥ (२४)

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४४७)

"विराड् वै" इति षट्पर्यायात्मकं सूक्तम् । तस्य विनियोगविचारादि पूर्वसूक्त उक्तम् ॥

"विराड् वै" यह षट्पर्यायात्मक सूक्त है । इसका विनियोग विचार आदि पहिले ही कह दिया है ।

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥

विऽराट् । वै । इदम् । अग्रे । आसीत् । तस्याः । जातायाः । सर्वम् । अविभेत् । इयम् । एव । इदम् । भविष्यति । इति १

यह जगत् पहिले विराट् ही था, इस विराट्के प्रकट होने पर सब डरे, कि–यही यह जगत् होगा ॥ १ ॥

सोद॑क्राम॒त् सा गार्ह॑पत्ये॒ न्य॑क्रामत् ॥ २ ॥

सा । उत् । अ॒क्रा॒म॒त् । सा । गार्ह॑ऽपत्ये । नि । अ॒क्रा॒म॒त् ॥२॥

तब विराट्ने उत्क्रमण किया और वह गार्हपत्यमें प्रविष्ट होगया २

गृ॒ह॒मे॒धी गृह॒प॑तिर्भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ३ ॥

गृ॒ह॒ऽमे॒धी । गृ॒हऽप॑तिः । भ॒व॒ति॒ । यः । ए॒वम् । वेद॑ ॥ ३ ॥

जो गृहमेधी इस प्रकार जानता है वह गृहपति होता है ॥३॥

सोद॑क्राम॒त् साह॑व॒नीये॒ न्य॑क्रामत् ॥ ४ ॥

०सा । आ॒ऽह॒व॒नीये॑ । नि ।०॥ ४ ॥

फिर वह उत्क्रमण करके आहवनीयमें प्रविष्ट होगया ॥ ४ ॥

यन्त्य॑स्य दे॒वा दे॒वहू॑तिं प्रि॒यो दे॒वानां॑ भवति॒ य ए॒वं
वेद॑ ॥ ५ ॥

यन्ति॑ । अ॒स्य॒ । दे॒वाः । दे॒वऽहू॑तिम् । प्रि॒यः । दे॒वाना॑म् । भ॒व॒ति॒ ।०॥५

जो इस बातको जानता है देवता उसके बुलाने पर आते हैं और वह देवताओंका प्रिय होजाता है ॥ ५ ॥

सोद॑क्राम॒त् सा द॑क्षि॒णाग्नौ न्य॑क्रामत् ॥ ६ ॥

०सा । द॒क्षि॒ण॒ऽअ॒ग्नौ । नि ।०॥ ६ ॥

फिर उस विराट्ने उत्क्रमण करके दक्षिणाग्निमें प्रवेश किया ६

यज्ञर्तो॑ दक्षि॒णीयो॒ वास॑तेयो भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ।७।

य॒ज्ञऽऋ॑तः । द॒क्षि॒णी॑यः । वासते॑यः । भ॒व॒ति॒ ।०॥ ७ ॥

जो इस बातको इस प्रकार जानता है, वह यज्ञर्त दक्षिणीय वास्तेय होता है ॥ ७ ॥

सोद॑क्राम॒त् सा स॒भायां॒ न्य॑क्रामत् ॥ ८ ॥

०सा । स॒भाया॑म् । नि ।०॥ ८ ॥

तदनन्तर वह विराट् उत्क्रमण करके सभामें प्रवेश कर गया ८

यन्त्य॑स्य॒ स॒भां सभ्यो॑ भव॒ति य ए॒वं वेद॑ ॥ ९ ॥

यन्ति॑ । अ॒स्य॒ । स॒भाम् । सभ्यः॑ । भ॒व॒ति॒ ।०॥ ९ ॥

जो इस बातको जानता है वह सभ्य होता है और इसकी सभामें (प्राणी) आते हैं ॥ ९ ॥

सोद॑क्राम॒त् सा समि॑तौ॒ न्य॑क्रामत् ॥ १० ॥

०सा । सम्ऽइ॑तौ । नि ।०॥ १० ॥

वह उत्क्रमण करके समितिमें पहुँच गया ॥ १० ॥

यन्त्य॑स्य॒ समि॑तिं सामि॒त्यो भव॑ति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ११ ॥

०अ॒स्य॒ । सम्ऽइ॑तिम् । साम्ऽइ॒त्यः॑ । भ॒व॒ति॒ ।०॥ ११ ॥

जो इस प्रकार जानता है वह सामित्य (युद्धमें प्रतिष्ठा पाने वाला) होता है और उसकी समितिमें सैनिक आते हैं ॥ ११ ॥

सोद॑क्राम॒त् साम॑न्त्रणे॒ न्य॑क्रामत् ॥ १२ ॥

०सा । आ॒ऽम॑न्त्रणे । नि । अ॒क्रा॒म॒त् ॥ १२ ॥

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह आमन्त्रण में प्रवेश कर गया ॥ १२ ॥

यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद १३

यन्ति । अस्य । आऽमन्त्रणम् । आऽमन्त्रणीयः । भवति । यः ० ॥ १३

इति पञ्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जो इस बातको जानता है वह आमन्त्रणीय (बुलाने योग्य) होजाता है । और पुरुष इसके बुलाने पर इसके पास जाते हैं ॥ १३ ॥ (२५)

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४४८) ॥

सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥१॥

०सा । अन्तरिक्षे । चतुःऽधा । विऽक्रान्ता । अतिष्ठत् ॥ १ ॥

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह अन्तरिक्षमें चार रूपमें विक्रान्त होकर स्थित होगया ॥ १ ॥

तां देवमनुष्याऽ अब्रुवन्नियमेव तद् वेद यदुभयं उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति ॥ २ ॥

ताम् । देवऽमनुष्याः । अब्रुवन् । इयम् । एव । तत् । वेद । यत् । उभये । उपऽजीवेम । इमाम् । उप । ह्वयामहै । इति ॥ २ ॥

उससे देवता और मनुष्योंने कहा, कि–यह उसको जानता है जिससे हम दोनों उपजीवन करते हैं, इसलिये हम इसका समीप में आह्वान करें ॥ २ ॥

तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥

ताम् । उप । अह्वयन्त ॥ ३ ॥

(तब उन्होंने) उसका उपाह्वान किया ॥ ३ ॥

ऊर्ज॒ एहि॒ स्वध॒ एहि॒ सूनृ॑त॒ एहीरा॑व॒त्येहीति॑ ॥४॥

ऊर्जे॑ । आ । इ॒हि॒ । स्वधे॑ । आ । इ॒हि॒ । सूनृ॑ते । आ । इ॒हि॒ ।

इरा॑ऽवति । आ । इ॒हि॒ । इति॑ ॥ ४ ॥

कि—हे ऊर्जे प्राणस्थापक बलकर अन्नकी अधिष्ठात्री) देवते ! हे पितरोंकी तृप्तिसम्पादिके स्वधे ! हे प्रियवाणीरूपे सूनृते ! हे इरावती ! आइये ॥ ४ ॥

तस्या॒ इन्द्रो॑ व॒त्स आसी॑द् गाय॒त्र्य॑भि॒धान्य॒भ्रमूधः॑ ५

तस्याः॑ । इन्द्रः॑ । व॒त्सः । आसी॑त् । गा॒य॒त्री । अ॒भि॒ऽधानी॑ ।

अ॒भ्रम् । ऊधः॑ ॥ ५ ॥

उस समय इन्द्र उसका बछड़ा बना, गायत्री अभिधानी हुई और मेघ ऊध (ऐन) हुए ॥ ५ ॥

बृ॒हच्च॑ रथं॒तरं॑ च॒ द्वौ स्तना॒वास्तां॑ यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च

वामदे॒व्यं॑ च॒ द्वौ ॥ ६ ॥

बृ॒हत् । च॒ । र॒थ॒म्ऽत॒रम् । च॒ । द्वौ । स्तनौ॑ । आस्ता॑म् ।

य॒ज्ञा॒य॒ज्ञिय॑म् । च॒ । वा॒म॒ऽदे॒व्यम् । च । द्वौ ॥ ६ ॥

बृहत्साम और रथन्तर साम ये दो स्तन हुए तथा यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य साम नामक भी दो स्तन हुए ॥ ६ ॥

ओष॑धीरे॒व र॑थंत॒रेण॑ दे॒वा अ॑दुह॒न् व्यचो॑ बृह॒ता ७

ओष॑धीः । ए॒व । र॒थ॒म्ऽत॒रेण॑ । दे॒वाः । अ॒दु॒ह॒न् । व्यचः॑ । बृ॒ह॒ता ७

देवताओंने रथन्तर सामसे ओषधियोंको ही दुहा, बृहत्सामसे व्यचको दुहा ॥ ७ ॥

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

अपः । वामऽदेव्येन । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

वामदेव सामसे जलको दुहा और यज्ञायज्ञिय सामसे यज्ञको दुहा ॥ ८ ॥

ओषधीरेवास्मै रथंतरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥

ओषधीः । एव । अस्मै । रथम्ऽतरम् । दुहे । व्यचः । बृहत् ९

(जो इस बातको जानता है) रथन्तर साम उसके लिये ओषधियोंको ही दुहता है और बृहत्साम व्यचको दुहता है ॥ ९ ॥

अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥१०॥

अपः । वामऽदेव्यम् । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियम् । यः ।०॥ १० ॥

इति पञ्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जो इस प्रकारसे जानता है उसके लिये वामदेव साम जलको और यज्ञियायज्ञिय यज्ञको दुहता है ॥ १० ॥ (२६)

पञ्चम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४४९) ॥

सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् तां वनस्पतयोऽघ्नत सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥

०सा । वनस्पतीन् । आ । अगच्छत् । ताम् । वनस्पतयः । अघ्नत । सा । सम्ऽवत्सरे । सम् । अभवत् ॥ १ ॥

तदनन्तर विराट् फिर उत्क्रमण करके वनस्पतियोंके पास

पहुँचा, उसको वनस्पतियोंने हनन कर डाला तब वह सम्वत्सर में होगया ॥ १ ॥

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति
वृश्चतेस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

तस्मात् । वनस्पतीनाम् । सम्ऽवत्सरे । वृक्णम् । अपि । रोहति । वृश्चते । अस्य । अप्रियः । भ्रातृव्यः । यः ।०॥ २ ॥

इसलिये वनस्पतियोंका कटा हुआ अंग भी वर्षभरमें उग आता है, जो इस बातको जानता है उसका अप्रिय शत्रु नष्ट होजाता है ॥ २ ॥

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोघ्नत सा मासि
समभवत् ॥ ३ ॥

० सा । पितॄन् । आ । अगच्छत् । ताम् । पितरः । अघ्नत । सा । मासि । सम् ।० ॥ ३ ॥

तब विराट् ने फिर उत्क्रमण किया और पितरोंके पास पहुँचा, उसका पितरोंने हनन कर डाला-अपनेमें लीन कर लिया, तब वह मास मासमें होने लगा ॥ ३ ॥

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं
पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

तस्मात् । पितृऽभ्यः । मासि । उपऽमास्यम् । ददति । प्र । पितृऽयानम् । पन्थाम् । जानाति । यः ।०॥ ४ ॥

इसलिये पुरुष पितरोंके निमित्त प्रत्येक मासमें मुखके पासकी वस्तु–भोजन–देते हैं जो इस बातको इस प्रकार जानता है वह पितृयानमार्गको जान जाता है ॥ ४ ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत सार्धमासे समभवत ॥ ५ ॥

०सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः । अघ्नत । सा । अर्धऽमासे । सम् ।०॥ ५ ॥

वह विराट् उत्क्रमण करके देवताओंके पास पहुँचा, देवताओं ने उसका हनन कर डाला, वह अर्धमासमें फिर प्रादुर्भूत होगया ५

तस्माद् देवेभ्योर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥

तस्मात् । देवेभ्यः । अर्धऽमासे । वषट् । कुर्वन्ति । प्र । देवऽयानम् । पन्थाम् । जानाति । यः ।०॥ ६ ॥

इस लिये देवताओंके लिये अर्धमासमें वषट् करते हैं जो इस बातको जानता है वह देवयानके मार्गको जान सकता है ॥ ६ ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्या३नागच्छत् तां मनुष्या अघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥

सा । मनुष्यान् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । अघ्नत । सा । सद्यः । सम् । अभवत् ॥ ७ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह मनुष्योंके पास पहुँचा, उसका मनुष्योंने हनन किया, वह तुरत ही प्रादुर्भूत होगया

तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति
य एवं वेद ॥ ८ ॥

तस्मात् । मनुष्येभ्यः । उभयऽद्युः । उप । हरन्ति । उप । अस्य ।
गृहे । हरन्ति । यः । ० ॥ ८ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

इसलिये मनुष्योंके लिये दूसरे दिन उपहरण करते हैं-जो इस बातको जानता है तो (देवता) उसके घरमें प्रतिदिन (अन्न) पहुँचाते रहते हैं ॥ ८ ॥ (२७)।

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (४५०) ॥

सोदक्रामत् सासुरानागच्छत् तामसुरा उपाह्वन्त माय
एहीति ॥ १ ॥

०सा । असुरान् । आ । अगच्छत् । ताम् । असुराः । उप । अह्व-
यन्त । माये । आ । इहि । इति ॥ १ ॥

उस विराट्ने उत्क्रमण किया और वह असुरोंके पास पहुँचा, असुरोंने उसका समीपमें आह्वान किया, कि-हे माये ! आओ १

तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् २

तस्याः । विऽरोचनः । प्राह्लादिः । वत्सः । आसीत् । अयःऽपात्रम् ।
पात्रम् ॥ २ ॥

उसका प्रह्लादका पुत्र विरोचन वत्स हुआ और लोहेका पात्र पात्र हुआ ॥ २ ॥

तां द्विमूर्धार्त्व्योऽधोक् तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥

ताम् । द्विऽमूर्धा । अर्त्व्यः । अधोक् । ताम् । मायाम् । एव । अधोक् ॥ ३ ॥

उसको द्विमूर्धा अर्त्व्यने दुहा और मायाको ही दुहा ॥ ३ ॥

तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

ताम् । मायाम् । असुराः । उप । जीवन्ति । उपऽजीवनीयः । भवति । यः ।० ॥ ४ ॥

उस मायासे असुर उपजीवन करते हैं, जो ऐसा जानता है वह उपजीवनीय होता है ॥ ४ ॥

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ ५ ॥

०सा । पितॄन् । आ । अगच्छत् । ताम् । पितरः । उप । अह्वयन्त । स्वधे । आ । इहि । ० ॥ ५ ॥

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और पितरोंके पास पहुँचा, उसको पितरोंने 'हे स्वधे ! आओ' कहकर आह्वान किया ॥ ५ ॥

तस्या यमो राजा वत्स आसीद् रजतपात्रं पात्रम् ६

तस्याः । यमः । राजा । वत्सः । आसीत् । रजतऽपात्रम् । पात्रम् ६

उस समय उसका वत्स राजा यम हुआ और चाँदीका पात्र पात्र हुआ ॥ ६ ॥

तामन्तको मार्त्यवोधोक् तां स्वधामेवाधोक् ॥ ७ ॥

ताम् । अन्तकः । मार्त्यवः । अधोक् । ताम् । स्वधाम् । एव । अधोक् ७

उसको मृत्युके अधिपति देवता अन्तकने दुहा, और उससे स्वधाको ही दुहा ॥ ७ ॥

तां स्वधां पितर उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

ताम् । स्वधाम् । पितरः । उप । जीवन्ति । उपऽजीवनीयः ०॥८

उस स्वधासे पितर उपजीवन करते हैं, जो इस बातको जानता है वह उपजीवनीय होता है ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्याँ३ नागच्छत् तां मनुष्याँ३ उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥ ९ ॥

०सा । मनुष्यान् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । उप । अह्वयन्त । इराऽवती । आ । इहि । ० ॥ ९ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और मनुष्योंके पास पहुँचा मनुष्योंने 'इरावती ! आओ' कहकर उसको समीपमें बुलाया ९

तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् १०

तस्याः । मनुः । वैवस्वतः । वत्सः । आसीत् । पृथिवी । पात्रम् १०

उस समय विवस्वान्के पुत्र मनु उसके बछड़े बने और पृथिवी पात्र बनी ॥ १० ॥

तां पृथी वैन्योधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ११

ताम् । पृथी । वैन्यः । अधोक् । ताम् । कृषिम् । च । सस्यम् । च । अधोक् ॥ ११ ॥

उसको राजा वेनके पुत्र पृथुने दुहा और कृषि तथा सस्य (रूप दुग्ध) को दुहा ॥ ११ ॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३ उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ते । कृषिम् । च । सस्यम् । च । मनुष्याः । उप । जीवन्ति । कृष्टऽराधिः । उपऽजीवनीयः । ० ॥ १२ ॥

उस कृषि और धान्यसे ही मनुष्य अपनी आजीविका चलाते हैं। जो इस बातको जानता है वह जुते हुए पदार्थोंमें सिद्धि पानेवाला होता है और प्राणी उससे आजीविका चलाते हैं ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत् तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥

० सा । सप्तऽऋषीन् । आ । अगच्छत् । ताम् । सप्तऽऋषयः । उप । अह्वयन्त । ब्रह्मण्ऽवति । आ । इहि । ० ॥ १३ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और सात ऋषियोंके पास पहुँचा, उसको सप्तर्षियोंने 'हे ब्रह्मण्वती ! आओ' कह कर समीपमें बुलाया ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् १४

तस्याः । सोमः । राजा । वत्सः । आसीत् । छन्दः । पात्रम् १४

उस समय राजा सोम उसके वत्स बने और छन्दः पात्र बने १४

तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्म च तपश्चाधोक् ॥ १५

ताम् । बृहस्पतिः । आङ्गिरसः । अधोक् । ताम् । ब्रह्म । च । तपः । च । अधोक् ॥ १५ ॥

उसको आंगिरस बृहस्पतिने दुहा और उससे ब्रह्म और तप को दुहा ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

तत् । ब्रह्म । च । तपः । च । सप्तऽऋषयः । उप । जीवन्ति । ब्रह्मऽवर्चसी । उपऽजीवनीयः । ० ॥ १६ ॥

इति पञ्चमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

अत एव उस तप और वेदसे सप्तऋषि आजीविका चलाते हैं, जो इस बातको जानता है वह ब्रह्मवर्चस्वी होता है और प्राणी उससे आजीविका चलाते हैं। (१६)। (२८)

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (४५१) ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥ १ ॥

० सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः उप । अह्वयन्त । ऊर्जे । आ । इहि । ० ॥ १ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और देवताओंके पास पहुँचा। देवताओंने 'हे ऊर्जे । आओ' कहकर उसको समीपमें बुलाया १

तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥ २ ॥

तस्या । इन्द्रः । वत्सः । आसीत् । चमसः । पात्रम् ॥ २ ॥

उस समय इन्द्र उसका बछड़ा बना और चमसपात्र हुआ ॥२॥

तां देवः सविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥

ताम् । देवः । सविता । अधोक् । ताम् । ऊर्जाम् । एव । अधोक् ३

सविता देवता उसके दुहने वाले बने और उन्होंने ऊर्जाको ही दुहा । ३ ॥

तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद

ताम् । ऊर्जाम् । देवाः । उप । जीवन्ति । उपऽजीवनीयः ।० ४

उस ऊर्जासे देवता अपनी आजीविका चलाते हैं । जो इस बातको जानता है उससे प्राणी आजीविका चलाते हैं ॥ ४ ॥

सोदक्रामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत् तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥

०सा । गन्धर्वऽअप्सरसः । आ । अगच्छत् । ताम् । गन्धर्वऽअप्सरसः । उप । अह्वयन्त । पुण्यऽगन्धे । आ । इहि ।०॥ ५ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और गंधर्व तथा अप्सराओं के पास पहुँचा, उसको गंधर्व तथा अप्सराओंने “हे पुण्यगंधे ! आओ’ कहकर समीपमें बुलाया ॥ ५ ॥

तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम् ॥ ६ ॥

तस्याः । चित्रऽरथः । सौर्यऽवर्चसः । वत्सः । आसीत् । पुष्करऽपर्णम् । पात्रम् ॥ ६ ॥

उसका सूर्यवर्चाका पुत्र चित्ररथ बछड़ा बना और पुष्करपर्ण पात्र हुआ ॥ ६ ॥

तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक्

ताम् । वसुऽरुचिः । सौर्यऽवर्चसः । अधोक् । ताम् । पुण्यम् । एव । गन्धम् । अधोक् ॥ ७ ॥

उसको सूर्यवर्चाके पुत्र वसुरुचिने दुहा, और उसने पवित्र गंध को ही दुहा ॥ ७ ॥

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

तम् । पुण्यम् । गन्धम् । गन्धर्वऽअप्सरसः । उप । जीवन्ति । पुण्यऽगन्धिः । उपऽजीवनीयः ।०॥ ८ ॥

उस पवित्र गंधसे अप्सरा और गंधर्व आजीविका चलाते हैं, जो इस बातको जानता है वह पवित्र गंध वाला होजाता है और प्राणी उससे आजीविका चलाते हैं ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥

०सा । इतरऽजनान् । आ । अगच्छत् । ताम् । इतरऽजनाः । उप । अह्वयन्त । तिरःऽधे । आ । इहि ।०॥ ९ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और इतरके पास पहुँचा, उसको इतरजनोंने उपाह्वान किया, कि–"हे तिरोधे" आओ ९

तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम्

तस्याः । कुबेरः । वैश्रवणः । वत्सः । आसीत् । आमऽपात्रम् । पात्रम् ॥ १० ॥

उसके विश्रवा मुनिके पुत्र कुबेर वत्स हुए और कच्चा पात्र पात्र हुआ ॥ १० ॥

तां रजतनाभिः काबेरको धोक् तां तिरोधामेवाधोक्

ताम् । रजतऽनाभिः । काबेरकः । अधोक् । ताम् । तिरःऽधाम् । एव । अधोक् ॥ ११ ॥

उसको रजतनाभि काबेरकने दुहा और तिरोधाको ही दुहा ११

तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं
पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥१२॥

ताम् । तिरःऽधाम् । इतरऽजनाः । उप । जीवन्ति । तिरः । धत्ते । सर्वम् । पाप्मानम् । उपऽजीवनीयः । ० ॥ १२ ॥

उस तिरोधासे ही इतरजन आजीविका चलाते हैं। जो इस प्रकार जानता है वह अपने सब पापको तिरोहित कर देता है और मनुष्य उससे आजीविका चलाते हैं ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त
विषवत्येहीति ॥ १३ ॥

सा । उत् । अक्रामत् । सा । सर्पान् । आ । अगच्छत् । ताम् ।

सर्पाः । उप । अह्वयन्त । विषऽवति । आ । इहि । इति १३

उस विराट्ने उत्क्रमण किया और सर्पोंके पास पहुँचा, सर्पों ने उसको समीपमें बुलाया, कि-'हे विषवति ! आओ' ॥१३॥

तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम्

तस्याः । तक्षकः । वैशालेयः । वत्सः । आसीत् । अलाबुऽपात्रम् ।

पात्रम् ॥ १४ ॥

वैशालेय तक्षक उसका वत्स हुआ और अलाबुपात्र (रामतुरईका तोंवा) पात्र हुआ ॥ १४ ॥

तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक् ॥१५॥

ताम् । धृतऽराष्ट्रः । ऐराऽवतः । अधोक् । ताम् । विषम् । एव ।

अधोक् ॥ १५ ॥

उसको ऐरावतवंशी धृतराष्ट्र नामक सर्पने दुहा और उससे विषको ही दुहा ॥ १५ ॥

तद् विषं सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

तत् । विषम् । सर्पाः । उप । जीवन्ति । उपऽजीवनीयः । भवति । यः ।०

इति पञ्चमेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

उस विषसे सर्प उपजीवन करते हैं । जो इस बातको यथार्थ रीतिसे जानता है प्राणीउससे आजीविका करते हैं ॥ १६ ॥

पञ्चम अनुवाकमें छटा सूक्त समाप्त (४५२)

तद् यस्मा एवं विदुषेलाबुनाभिषिञ्चेत् प्रत्याहन्यात् १

तत् । यस्मै । एवम् । विदुषे । अलाबुना । अभिऽसिञ्चेत् ।
प्रतिऽआहन्यात् ॥ १ ॥

इस कारण जिस ऐसा जानने वालेके ऊपर रामतुरईसे सिञ्चन करता है तो मार डालता है ॥ १ ॥

न च प्रत्याहन्यान्मनसा त्वा प्रत्याहन्मीति प्रत्याहन्यात्

न । च । प्रतिऽआहन्यात् । मनसा । त्वा । प्रतिऽआहन्मि । इति ।
प्रतिऽआहन्यात् ॥ २ ॥

किन्तु मनसे मारता हूँ ऐसा विचार न करे तो मार डालता है२

यत् । प्रत्याहन्ति विषमेव तत् प्रत्याहन्ति ॥ ३ ॥

यत् । प्रतिऽआहन्ति । विषम् । एव । तत् । प्रतिऽआहन्ति ॥३॥

जो मारता है वह विषको ही मारता है ॥ ३ ॥

विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ४

विषम् । एव । अस्य । अप्रियम् । भ्रातृव्यम् । अनुऽविसिच्यते ।
यः । एवम् । वेद ॥ ४ ॥

जो ऐसा जानता है उसका अप्रिय शत्रुरूप विष ही अनुविषिञ्चित होता है ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (४५३)

पञ्चम अनुवाक समाप्त

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका अष्टमकाण्ड ऋ० कु०
प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका
सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र
शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल
भाषानुवाद सहित

श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-५
4453

श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-५

वैदिक-ग्रन्था :

१	**ऋग्वेद प्रातिशाख्यम्** । उव्वंट्-भाष्य-हिन्दी टीका सहित । डॉ॰ वीरेन्द्रकुमार वर्मा	(चौ. प्रति. ११)	१५०-००
२	**हिन्दी ऋग्वेदभाष्य-भूमिका** । श्री जगन्नाथ पाठक ।	(वि. सं. ४५)	१५-००
३	**ऋग्वेदसंहिता** । (प्रथम अध्याय, सूक्त १-१९) सम्पादक — प्रो॰ उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'	(वि. सं. १६३)	६०-००
४	**ऋग्वेद :** । पदपाठ । **सायणभाष्य हिन्दी टीका सहित** (१-९ भाग सम्पूर्ण)		२५००-००
५	ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् । सायणाचार्यकृत भाष्य सहित । सम्पा. —आनन्दचन्द्रवेदान्तवागीश १-२ भाग	(व्रज.प्रा. ३८)	१०००-००
६	**निरुक्त :** १-७ अध्याय । विवेचनात्मक बृहत् हिन्दी व्याख्या, भूमिकादि सहित । व्याख्याकार — डॉ॰ उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि'	(वि. सं ५७)	[illegible]-००
७	अथर्ववेदः । सायणाचार्य कृत भाष्य सह हिन्दी व्याख्या सहित । रामस्वरूप शर्मा 'गौड़' १-८ भाग सम्पूर्ण	(वि.प्रा. १८)	१५००-००
८	**मूल-संस्कृत-उद्धरण** । (ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स) लेखक — प्रो॰ जे॰ मूइर । हिन्दी अनुवादक — डॉ॰ रामकुमार राय । (१-५ भाग)	(वि. रा. ६७)	५००-००
९	**वेदकालीन समाज** । डॉ॰ शिवदत्त शर्मा	(वि. रा. १०७)	७५-००
१०	सामवेदः । सायणाचार्यकृत भाष्य सह हिन्दी व्याख्या सहित ।	(वि.प्रा. ७)	२००-००
११	**शुक्लयजुर्वेदसंहिता** । मूलमात्र । (निर्णयसागर संस्करण (पत्रात्मक १००-०० सजिल्द		१२५-००
१२	निरुक्तम् । दुर्गाचार्यकृत ऋज्वर्थाख्य व्याख्यानुसारिणी	संस्कृत व्याख्या	२००-००
१३	**वैदिक इण्डेक्स** । (वैदिक-कोष) मैकडोनेल और कीथ । (हिन्दी रूपान्तर) अनुवादक — डॉ॰ रामकुमार राय । (१-२ भाग सम्पूर्ण)	(वि. रा. ४६)	४००.००
१४	**वैदिक एवं वेदोत्तर भारतीय संस्कृति** । श्रीगङ्गाधरमिश्र	(चौ. भा. ५)	३०-००
१५	**वैदिक निबन्धावली** । डॉ॰ मुन्शीराम शर्मा	(वि. रा. ६१)	२०-००
१६	**वैदिक माइथोलॉजी** । (वैदिक पुराकथाशास्त्र) प्रो॰ ए॰ ए॰ मैकडोनल । (हिन्दी रुपान्तर) अनुवादक — डॉ॰ रामकुमार राय नवीन संस्करण	(वि. रा. ४०)	८०-००
१७	**वैदिक युग के भारतीय आभूषण** । डॉ॰ रायगोविन्दचन्द	(वि. रा. ८४)	७५-००
१८	**वैदिक योगसूत्र** । श्री हरिशंकर जोशी ।	(चौ. रा. ३)	७५-००
१९	प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन		५०-००
२०	**(हिन्दी) वैदिक व्याकरण** । श्री उमेशचन्द्र पाण्डेय	(वि. रा. ३७)	८-००
२१	**वैदिक साहित्य और संस्कृति** । वाचस्पति गैरौला	(चौ. प्रति. १४)	७५-००
२२	**वैदिक साहित्य का इतिहास** । डॉ॰ पारसनाथ द्विवेदी	(चौ. भा. ७)	३०-००
२३	**वैदिक साहित्य की रूपरेखा** । प्रो॰ हंसराज अग्रवाल	(वि. रा. ८७)	१०-००
२४	वैदिक वाङ्मयस्येतिहासः । आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र	(चौ.सु. १५१)	६०-००
२५	**शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्यम् अथवा वाजसनेयिप्रातिशाख्यम्** । भाष्यद्वयसहित । टीकाकार — डॉ॰ वीरेन्द्रकुमार वर्मा	(चौ. प्रति. १६)	८०-००

जनीश पाण्डेय

Sup. ६२

युक्त्यनुशासन

३९५९

स्वामी समन्तभद्र